पातञ्जल महाभाष्य में प्रत्याख्यात सूत्र

एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० भीमसिंह वेदालङ्कार
प्राध्यापक संस्कृत विभाग
पंजाबी विश्वविद्यालय
पटियाला

प्रस्तावना-लेखक
डॉ० जार्ज कार्डोना
प्रोफेसर भाषा विज्ञान
पेन्नसिलवानिया विश्वविद्यालय
फिलाडेलफिया (अमेरिका)

वितरकः
परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८ शक्तिनगर दिल्ली-११०००७

प्रकाशक :—

निर्मल बुक एजेन्सी

३२२/८ इन्दिरा कॉलोनी

कुरुक्षेत्र-१३२११८

प्रथम संस्करण : १९८७ ई०

मूल्य : १७५-०० रुपये

मुद्रक : नवीन प्रिन्टर्स,

ई-१५०, कृष्णविहार, दिल्ली-११००४१

Pātañjala Mahābhāṣya Meṅ Pratyākhyāta Sūtra :
Eka Samīkṣātmaka Adhyayana (Skt. Grammar)
By Bhim Singh Vedalankar



आचार्य विद्यानिधि शास्त्री

व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य, विद्याप्रभाकर,
सिद्धान्तशिरोमणि, दर्शनाचार्य तथा वेदाचार्य

समर्पणम्

प्रणम्य परमात्मानं पाणिन्यादिमुनींस्तथा ।
नागेशकैय्यटादीन् स्मृत्वेमं च ग्रन्थमारभे ॥१॥

यस्यानुकम्पासम्पादात् पाणिनेः सपतञ्जलेः ।
जन्मनैव मया बाल्ये पीतं स्फीतं पयोऽमृतम् ॥२॥

बालस्वभावचाञ्चल्येऽप्यभूद् यस्य दयोदयः ।
यदीयो मधुरः स्नेहः प्रत्यहं समवर्धत ॥३॥

तातपादाश्च मे सन्तोऽप्यभूवन् गुरवो मम ।
तदाचार्यकृतान्नूनमृणान्मोक्षमवाप्नवम् ॥४॥

वस्तुतस्त्वस्त्यनिर्मोक्षो ममाचार्यऋणादपि ।
विद्यादातुरतः शास्त्रे न क्वचिन्निनिष्क्रयो मतः ॥५॥

तदीयं वस्तु तत्पादपद्मेष्वेव समर्प्यते ।
प्रीयतां तेन देवेशः स श्रीमान् भगवानपि ॥६॥

यत्किञ्चिदुत्तमं वस्तु ग्रन्थेऽस्मिन् प्रतिपादितम् ।
तत्सर्वं हि गुरोरेव त्रुटयस्तु ममाखिलाः ॥७॥

विद्यानिधिः स भगवान् मम **विद्यानिधेर्गुरोः** ।
अभीमं भीमसनाथ्य दयां कृत्वा प्रसीदतु ॥८॥

सम्मतयः

अस्मत्स्नेहसमादरोभयभाजा श्रीमता डॉ० भीमसिंहेन सद्यः प्रणीतमिमं प्रबन्धं केषुचित् प्रदेशेषु दृक्पातविषयतामनैषम्, मुदं चोत्तमामापम् । ···सर्वत्र श्लक्ष्णा मधुराऽस्य वाक् परमतनिराक्रियायामपि मार्दवं नोज्झति । नायं प्रबन्धा क्वचिच्छिष्टशैलीं विजहाति । पाणिनीयाष्टके क्वाचित्कं वर्णाक्षर-प्रक्षेपमुररसिकृत्यापि सन्दर्भ प्रक्षेपविरह एव सम्यक् प्रतिष्ठापित इति प्रशस्यः प्रयासः भाष्येऽपि प्रक्षेपं व्युदस्यता विदुषा क्वाचित्कः पाठभ्रंशः साधूपदर्शितः, अष्टाध्यायीगतः क्रमव्यत्यासश्च विरलो भाष्यदिशा निर्दशितः । भाष्यकारस्य प्रत्याख्यानशैलीमधिकृत्य विततमुदितं भ्रान्तयश्च तास्ता यथा प्रस्तावं प्रत्युदिताः । प्रत्याख्यानस्य खण्डनस्य चार्थे विशेष **इदम्प्रथमतया** व्यक्ति नीतः संमोहश्च विदामपनीतः । आशंसे सर्वोलोको भाष्यहृदयं जिघृक्षुः समादरिष्यत इमं प्रबन्धं सोत्सुकं चाध्येष्यते ।

चारुदेवः शास्त्री

"पातञ्जल महाभाष्य में प्रत्याख्यात सूत्र"···शीर्षक ग्रन्थ संस्कृत व्याकरण के गम्भीर और गहन अध्ययन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम है । कात्यायन, पतञ्जलि और इस परम्परा के नागेश आदि मूर्धन्य आचार्यों की गहन मान्यताओं को हृदयङ्गम कर लेखक ने पौर्वापर्य का ध्यान रखते हुए उन पर निर्भीक किन्तु तर्कसम्मत समीक्षा प्रस्तुत की है । पतञ्जलि के द्वारा पूर्णतः खण्डित सूत्रों को लक्ष्य बनाकर डॉ० सिंह ने पाणिनि और पतञ्जलि का पक्ष ईमानदारी के साथ प्रस्तुत कर फिर स्वतन्त्र रूप से उन पर अपना मत व्यक्त किया है और निजी निष्कर्ष स्थाप्ति किये हैं—ऐसे निष्कर्ष जिनसे असहमत हो पाना कठिन है । व्याकरण जैसे नीरस और दुरूह विषय को सरल, सुबोध शैली में इस प्रकार प्रस्तुत करना कि विषय से अपरिचित व्यक्ति भी बात को समझ सके, डॉ० सिंह की विशिष्ट उपलब्धि है ।

डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री

शोध के ह्रास के इस युग में व्याकरण जैसे क्लिष्ट विषय पर सारगर्भित तथा सरल विश्लेषण अत्यन्त दुर्लभ है । परन्तु डॉ० भीमसिंह की यह कृति दोनों गुणों से युक्त है । मैंने इस ग्रन्थ के कुछ अंश पढ़े हैं तथा अनेक अंशों पर लेखक के साथ चर्चा भी हुई है । मुझे पूरा विश्वास है कि इस प्रकाशन से व्याकरण के जिज्ञासुओं को त्रिमुनि के विवादास्पद अंशों को समझने में यथेष्ट सहायता मिलेगी । मुझे उस दिन की अभी से प्रतीक्षा है जब डॉ० सिंह की अग्रिम कृति के सम्बन्ध में कुछ लिखने का या उसे पढ़ने का अवसर प्राप्त होगा ।

डॉ० बलदेव सिंह

PROLOGUE

In his doctoral dissertation, पातञ्जल महाभाष्य में प्रत्याख्यात सूत्र: एक समीक्षात्मक अध्ययन, now being published, Dr. Bhim Singh of the Panjabi University in Patiala deals in some detail with the pāṇinian sūtras which Kātyāyana and Patañjali consider possibly to be rejected. The major part of this work consists of eight chapters, in which are considered the pertinent Mahābhāṣya discussions according to the types of sūtra in question: saṁjñāsūtra, paribhāṣāsūtra, vidhisūtra, niyamasūtra, atideśasūtra, adhikārasūtra, Vedic rules, and nipātanasūtra. This is followed by a brief section in which the author summarizes the results of his investigation. In addition there is a rather long introduction in which Dr. Singh considers various aspects concerning questions such as the possibility of interpolations in the Aṣṭādhyāyī and the Mahābhāṣya and the points of view taken by Kātyāyana and Patañjali with respect to sūtras possibly to be rejected.

For each sūtra at issue, the author gives a summary of what is said in the Mahābhāṣya, considers the intent of the discussion, and gives, as far as possible, his conclusions. Dr. Singh's treatment of the issues is clear and well informed: He considers not only what Pāṇinīyas, including later ones, have to say, but also what modern scholars have contributed to the question under discussion. His conclusions are also generally well founded. For example, after a fairly thorough treatment (pp. 101-108) of the arguments concerning Aṣṭādhyāyī 3.1.32: सनाद्यन्ता धातव: ।, Dr. Singh concludes (p. 108) : वस्तुत: सनादि प्रत्ययान्तों की धातुसंज्ञा करने के लिये यह सूत्र रहना ही चाहिये । अन्यथा 'पुत्रीय' आदि की 'धातुसंज्ञा' के बोध में क्लिष्टता रहेगी । इसीलिये अर्वाचीन वैयाकरण पूज्यपाद देवनन्दी ने प्रकृत पाणिनीय सूत्र प्रतिरूप स्थानापन्न "तदन्ता धव:" यह सूत्र बनाया है । ऐसी स्थिति में प्रकृत सूत्र का अन्वाख्यान न्याय्य ही है ।। It is also noteworthy that in his Uddyota

(Rohatak edition, III· 109) Nāgeśa explicitly says the argument given in the Mahābhāṣya to show that the sūtra in question is shown to be unnecessary emanates from an ekadeśin भगवतो भाष्यकारस्येति । एकदेशिन इति शेषः । अनेन इमेऽपि तर्हि यद्यपीत्यादिभाष्यग्रन्थ एकदेशिनोरुक्तिप्रत्युक्तिपरतया प्रौढिवाद एवेति ध्वनितम् । The sūtra is indeed necessary.

In sum, Dr. Bhim Singh has produced a research work that merits the careful attention of all scholars interested in Pāṇini's work.

George Cardona
Professor of Linguistics
University of Pennsylvania
Philadelphia (U. S. A.)

प्रस्तावना

डाक्टरित्युपाध्यलङ्कृतस्य भीमसिंहमहाभागस्य **'पाताञ्जल महाभाष्य** में प्रत्याख्यात **सूत्र—एक समीक्षात्मक अध्ययन'** नामा शोधप्रबन्धस्वरूपो ग्रन्थोऽयमिदानीं प्राकाश्यं नीयते विदुषां षरितोषाय। प्रस्तुते ग्रन्थे क्रमशः संज्ञासूत्राणि, परिभाषासूत्राणि, विधिसूत्राणि, नियमसूत्राणि, अतिदेश-सूत्राणि, अधिकारसूत्राणि, निपातनसूत्राणि चाधिकृत्याध्यायाष्टके वार्त्तिककार-भाष्यकारयोः प्रत्याख्यानपरोक्तीः समीक्ष्य विविच्य च पाणिनीयपरम्परानुसारेण सिद्धान्तास्तिष्ठापयिषिताः। अपि चाधुनिकानां भारतीयानां पाश्चात्यानाञ्च विदुषां मतानि समीक्षितवान् भीमसिंहमहोदयः। किञ्च भूमिकायां प्रत्या-ख्यानशब्दस्याभिप्रायं प्रत्याख्यानप्रसङ्गे वार्त्तिककारभाष्यकृतोः दृष्टिकोणौ, अष्टाध्यायीमहाभाष्ययोः प्रक्षेपसंभवम् अन्यांश्च विविधान् विषयान् विचार-यतो ग्रन्थकारस्य सूक्ष्मबुद्धित्वं प्रकटीभवति।

भीमसिंहमहाभागेन स्थापिताः सिद्धान्ताः प्रायेण स्वीकरणीया एव। तद्यथा 'सनाद्यन्ता धातवः' इति सूत्रभाष्यस्थं प्रत्याख्यानसन्दर्भं समीक्ष्योक्तम् (पृ० १०८) "वस्तुतः सनादि प्रत्ययान्तों की धातुसंज्ञा करने के लिये यह सूत्र रहना ही चाहिये अन्यथा 'पुत्रीय' आदि की 'धातुसंज्ञा' के बोध में क्लिष्टता रहेगी। इसीलिये अर्वाचीन वैयाकरण पूज्यपाद देवनन्दी ने प्रकृत-सूत्र का प्रतिरूप स्थानापन्न "तदन्ता धवः" यह सूत्र बनाया है। ऐसी स्थिति में प्रकृत सूत्र का अन्वाख्यान न्याय्य ही है इति"। न केवलं जैनेन्द्रपरम्परायामपितु पाणिनीयपरम्परायामपि सनाद्यन्ता धातवः इति सूत्रस्यावश्यकता अप्रत्याख्येय-त्वञ्च स्वीकृतम्। तथा हि महाभाष्यप्रदीपोद्द्योते (गुरुकुलझज्झरसंस्करणस्य तृतीये भागे पृ० १०९) सूत्रप्रत्याख्यानस्य एकदेश्युक्तत्वं स्पष्टं प्रतिपादयता भगवतो भाष्यकारस्येति। एकदेशिन इति शेषः। अनेन इमेऽपि तर्हि यद्यपी-त्यादिभाष्यग्रन्थ एकदेशिनोरुक्तिप्रत्युक्तिपरतया प्रौढिवाद एवेति ध्वनित-मित्युक्तं नागेशेन।

अलमतिविस्तरेण। इयं कृतिः वैयाकरणानामुपयोगित्वं गमिष्यतीति श्रद्दधे।

जॉर्ज कार्दोना
प्रोफेसर भाषाविज्ञान
पेनसिलवानिया विश्वविद्यालय
फिलाडेलफिया (अमेरिका)

FOREWORD

The present work embodies the results of an intensive study of a well-defined subject. The book discusses Pāṇinian rules rejected by Patañjali. The discussion shows that the author has a profound knowledge of the grammatical tradition: in-particular he has thoroughly studied the Mahābhāṣya as well as other grammatical schools like those of Candragomin, Devanandin, Śākaṭāyana etc. This is borne out by the fact that in rejecting or justifying the arguments of the Bhāṣyakāra he has taken recourse to the other schools of Sanskrit grammar.

While discussing the subject he has classified the rules which are rejected by Patañjali, into several groups, namely. '*samjñā-sūtrom kā pratyākhyāna*', *vidhisūtroṁ kā Pratyākhyāna* etc. In each case he gives both sides of the argument namely, sthāpanā (establishment) and Pratyākhyāna (rejection). His method of dealing with the subject is quite clear and systematic. He has stated the principles on which he (The author or Patañjali) has based his rejection. These include '*jñāpakamūlaka Pratyākhyāna*' '*paribhāṣāmūlaka Pratyākhyāna*' etc.

It is quite clear that the gradual development and the evolving form of the Sanskrit language might have prompted Patañjali to consider the redundancy of some of Pāṇini's rules or forms. But there are some cases where Patañjali adopted the view of *naikam udāharaṇam prayojayati* or *lāghavadṛṣti*. Consequently, there remains the worthwhile task of determining in each case what prompted Patañjali to reject a particular rule. The groundwork for this task has been laid by the author's examination of the rules in Pāṇini which Patañjali rejects.

Apart from presenting what the tradition has said about these rejections, he has given his own thought in the critical discussions of the following rules: P. 1. 1. 29, *na bahuvrīhau*, P. 1. 1. 109 *purah samnikarṣah Saṁhitā* P. 3. 1. 91 *dhātoh* p. 2. 3. 1, *anabhihite*, P. 1. 1. 46 *Sthānivadādeś'onal vidhāu*

etc. With critical analysis of the examples of these rules (given by Patañjali) and with the comparative study of the arguments taken from the other schools of grammar, the author has established the necessity of the rules of Pāṇini.

It is also important that the author has taken into consideration not only the rules which are directly rejected by Patañjali but also those which are indirectly rejected by him (e. g. P. 4. 1. 79 gotrāvayavāt.)

The author seems to be in favour of Patañjali when Patañjali rejects the *apādāna* rules (ie. rules from P. 1. 4. 25 to P. 1. 4. 31.) and *ekaśeṣa* rules. It would have been better if he had discussed the subject from the view-point both of Pāṇini and of semantics. For instance P. 1. 4. 24 defines the syntactic meaning *apādāna.* Other rules pertaining to *apādāna* bring out different shades of the nonlinguistic-semantic features. Why did Pāṇini pay special attention to those non-linguistic features, instead of letting them fall within the purview of *śeṣatva*? Perhaps he wanted to emphasize their salience in the spoken Sanskrit of his time, or perhaps, he simply wanted to be as specific as possible.

To sum up, the book shows that the author has a keen critical spirit, a good knowledge of the tradition and a systematic approach to the subject.

Dr. S. D. JOSHI
Director C.A.S.S.
University of Poona
POONA

पुरोवाक्

संस्कृत वाङ्मय में पाणिनीय अष्टाध्यायी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह सुचिन्तित एवं परिष्कृत सूत्रशैली में लिखी गई है। इसमें सूत्रशैली की महनीय विशेषता=लघुता एवं संक्षेप के साथ-साथ व्यापकता=का **मणिकाञ्चप-संयोग** हुआ है। अपने प्रादुर्भावकाल से ही यह **विद्वानों का कण्ठहार** रही है। भारतीय पठन-पाठन परम्परा में पाणिनि की इस सविशेष कृति अष्टाध्यायी का इतना प्रभाव रहा है कि संस्कृत व्याकरण का अभिप्राय साधारण जन के लिये प्रायः पाणिनि-व्याकरण (अष्टाध्यायी) ही होता है।

पातञ्जल महाभाष्य, अष्टाध्यायी पर लिखा गया एक प्रामाणिकतम विवरणग्रन्थ है। इसमें अष्टाध्यायीसूत्रों की व्यापक परिप्रेक्ष्य में साधक-बाधक आलोचना-प्रत्यालोचना की गई है। यह पाणिनिव्याकरण के सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का **'आकर'** (उपजीव्य) ग्रन्थ है। अर्वाचीन ग्रन्थों में बहुधा **'आकर'** शब्द से महाभाष्य का ही संकेत किया गया है। महाभाष्य की इससे अधिक और क्या महत्ता होगी कि व्याकरणशास्त्र में महाभाष्यकार का मत ही सूत्रकार तथा वार्तिककार की अपेक्षा अधिक प्रामाणिकतम माना जाता है।

प्रकृत-ग्रन्थ मूलतः कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच्० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया गया था। आज मैं उसे यथोचित परिवर्तन के साथ विद्वानों के चरणकमलों में, पुस्तकाकार में, समर्पित करते हुए अपार हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। इस ग्रन्थ में महाभाष्य के अन्दर आने वाले उन्हीं स्थलों को पुनर्विचार का विषय बनाया गया है जहाँ अष्टाध्यायी के किसी भी सूत्र का पूर्णतः प्रत्याख्यान हुआ है। भाष्येतर केवल प्रदीप तथा शब्दकौस्तुभ आदि ग्रन्थों में ही पूर्णतः प्रत्याख्यात-सूत्र यहां विवेचित नहीं हुए हैं। इसी प्रकार अंशतः प्रत्याख्यात सूत्रों तथा वार्तिकों का भी यहां अध्ययन नहीं किया गया है।

यद्यपि ऐसे भी अनेक स्थल देखने में आये हैं जहां भाष्य में तो सूत्र का एकदेश ही प्रत्याख्यात हुआ है या सर्वथा ही सूत्र का प्रत्याख्यान नहीं हुआ है किन्तु उत्तरवर्ती ग्रन्थों में विशेष युक्ति-प्रयुक्तियों द्वारा उस सूत्र को पूर्णतः ही प्रत्याख्यात कर दिया गया है। तद्यथा—"पञ्चमी विभक्ते" (पा०

२.३. ४२) यह सूत्र है। भाष्य में इस सूत्र का प्रत्याख्यानपरक कोई कथन नहीं मिलता। किन्तु तत्त्वबोधिनीकार भाष्यकार द्वारा प्रत्याख्यात अपादान प्रकरण के अन्य सूत्रों की तरह "इदं चं सूत्रं बुद्धिपरिकल्पितापायमाश्रित्या-पादानप्रकरणे भाष्ये प्रत्याख्यातम्" ऐसा कहते हुए इसको भी प्रत्याख्येय घोषित करते हैं। इसीप्रकार "मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः" (पा० ६.४.१४१) इस सूत्र के विषय में भी भाष्यकार ने तो केवल "आदि" इस सूत्रैकदेश का ही प्रत्याख्यान किया है किन्तु कैयट आदि ने "एवं च ब्रुवता सूत्रमेव प्रत्याख्यातम्" ऐसा कहकर सम्पूर्ण सूत्र को ही प्रत्याख्येय माना है। ऐसे भाष्य से बहिर्भूत प्रत्याख्यात-स्थल यहां छोड़ दिये गये हैं। भाष्येतर ग्रन्थों का अध्ययन तो भाष्य में साक्षादुपात्त, पूर्णतः प्रत्याख्यात सूत्रों को लेकर उनके सन्दर्भ में ही किया गया है। प्रसङ्गवश **आचार्य चन्द्रगोमी** आदि अर्वाचीन वैयाकरणों के प्रत्याख्यान से सम्बद्ध सूत्रों की भी तत्तद् व्याकरणों में स्थिति की समीक्षा की गई है और उपयोगिता की दृष्टि से यथास्थान प्रत्याख्यान का भी समर्थन नहीं किया गया है। परिणामतः ग्रन्थ में विवेचित कुल १०७ सूत्रों में से ४१ सूत्रों का प्रत्याख्यान युक्तिसंगत नहीं माना गया है

प्रत्याख्यान प्रसङ्ग में नागेशभट्ट का "**प्रत्याख्यान संग्रहः**" नामक लघुग्रन्थ पर्याप्त सहायक रहा है। प्रत्याख्यात सूत्रों का संग्रह करते समय उक्त ग्रन्थ से यथोचित संकेतग्रहण किया गया है। यद्यपि महाभाष्य के आलोक में, पाणिनीय अष्टाध्यायी के सम्बन्ध में पर्याप्त अध्ययन हो चुका है तथापि पाणिनि के प्रत्याख्यात-सूत्रों की विशेष दृष्टि को लेकर अब तक कोई शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। इसी कमी को पूरा करने के लिये लेखक का यह विनम्र प्रयास है। अपि च, वर्तमान शोध ग्रन्थ भी केवल पूर्णतः प्रत्याख्यात सूत्रों पर ही आधारित है। अतः अभी भी प्रत्याख्यात सूत्रांशों तथा वार्तिक/वार्तिकांशों पर विचार करना शेष है। यदि परमपिता परमात्मा की कृपा से परिस्थितियाँ अनुकूल रहीं तो लेखक उक्त बिषयों पर लिखने के लिये भी कृतसंकल्प है। यद्यपि सन् १९७४ में केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तिरुपति (आन्ध्रप्रदेश) से "प्रत्याख्यानविमर्शः" शीर्षक से उक्त विषय को लेकर एक पी-एच्०डी० शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया गया था तथापि विषय के अतिव्याप्त होने के साथ-साथ यहां कुछेक ही प्रत्याख्यात-सूत्रों एवं सूत्रांशों का केवल संग्रहमात्र किया हुआ है तथा अनेक नवीन आधुनिक शोधोपयोगी सन्दर्भ-ग्रन्थों के अभाव के कारण उनको ध्यान में रखते हुए सूत्रों का जितना गम्भीर अध्ययन अपेक्षित था, उतना किया गया प्रतीत नहीं

होता। प्रस्तुत ग्रन्थ उक्त शोध प्रबन्ध द्वारा छोड़ी गई कमी का पूरक है। इस दृष्टि से उक्त विषय में शोध का पर्याप्त अवकाश है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रत्येक सूत्र पर पुनर्विचार करते समय उसे निम्न चार शीर्षकों में विभाजित किया गया है। तद् यथा—

१. सूत्र का प्रतिपाद्य अथबा सूत्र की आवश्यकता पर विचार या सूत्र की सप्रयोजन स्थापना।
२. प्रत्याख्यान का आधार एवं अभिप्राय।
३. समीक्षा एवं,
४. निष्कर्ष।

इस प्रकार सारे प्रत्याख्यात सूत्रों को प्रकरणानुसार यथास्थान रखते हुए ग्रन्थ को संज्ञा तथा परिभाषा आदि के आधार पर अष्टाध्यायी का अनुकरण करते हुए निम्न आठ अध्यायों में विवेचित किया गया है। किन्तु प्रतिपाद्य विषय की पृष्ठभूमि के रूप में सर्वप्रथम भूमिका भाग में सूत्र का लक्षण एवं उसके प्रकार, सूत्रशैली और अष्टाध्यायी, अष्टाध्यायी और महाभाष्य में प्रक्षेप, प्रत्याख्यान की पृष्ठभूमि एवं उसके विभिन्न आधार, प्रत्याख्यानशैली तथा सूत्र-प्रत्याख्यान के सन्दर्भ में वार्तिककार एवं भाष्यकार का दृष्टिकोण इत्यादि विषयों पर स्वमन्तव्य प्रकट किया गया है।

प्रथम अध्याय	:	२३ संज्ञासूत्रों का प्रत्याख्यान
द्वितीय अध्याय	:	५ परिभाषा सूत्रों का प्रत्याख्यान
तृतीय अध्याय	:	४४ विधि सूत्रों का प्रत्याख्यान
चतुर्थ अध्याय	:	३ नियम सूत्रों का प्रत्याख्यान
पञ्चम अध्याय	:	३ अतिदेश सूत्रों का प्रत्याख्यान
षष्ठ अध्याय	:	८ अधिकार सूत्रों का प्रत्याख्यान
सप्तम अध्याय	:	१६ वैदिक सूत्रों का प्रत्याख्यान
अष्टम अध्याय	:	५ निपातन सूत्रों का प्रत्याख्यान

इसके बाद ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए एक बार पुनः संक्षेप में महत्त्वपूर्ण प्रत्याख्यान दृष्टियों तथा उनके आधारों का सिंहावलोकन कराया गया है। अन्त में, परिशिष्ट में, सभी प्रमुख सन्दर्भग्रन्थ तथा प्रत्याख्यात सूत्र-सूची के अतिरिक्त कुछ अन्य विस्तृत उपयोगी सूचियाँ भी दी गई हैं।

कृतज्ञता प्रकाशन के सन्दर्भ में, मैं सर्वप्रथम आदरणीय गुरुदेव **डॉ० कपिलदेव शास्त्री, दयानन्द प्रोफेसर,** कुरुक्षेत्र का हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनके सुचिन्तित निर्देशन में यह ग्रन्थ इस रूप में सम्मानित हो सका। इसके बाद में **डॉ० जार्ज कार्डोना, प्रोफेसर** भाषा विज्ञान, **अमेरिका** का सादर आभार व्यक्त करता हूं जिन्होंने मुझे न केवल प्रोत्साहित ही किया वरन् **"स्थालीपुलाकन्यायेन"** गुणग्राही प्रस्तावना लिखकर अनुगृहीत भी किया। श्रद्धेय **युधिष्ठर मीमांसक** जी बहालगढ़ (सोनीपत) को सादर साधुवाद देना भी मैं अपना पूत कर्तव्य समझता हूं जिन्होंने सर्वथा अप्राप्य "प्रत्याख्यानसंग्रहः" इस लघुग्रन्थ को मेरे लिए उपलब्ध कराया तथा यथामति मेरी शङ्काओं का समाधान किया। महाभाष्य में कृतभूरिपरिश्रम एवं उसके अधिकारी विद्वान् **डॉ० एस०डी० जोशी, पूना** का भी मैं हृदय से आभारी हूं जिनके शोधलेखों तथा पत्र-व्यवहार से मैंने प्रेरणा तथा अष्टाध्यायी पर विचार करने की एक नूतनदृष्टि प्राप्त की। इस प्रसङ्ग में मैं **डॉ० धर्मेंद्र कुमार गुप्त, अध्यक्ष संस्कृत विभाग पटियाला** का भी विशेषरूपेण वशंवद हूँ जिन्होंने ग्रन्थ के प्रकाशन में आने वाली समस्याओं से मेरा मार्ग प्रशस्त किया तथा शास्त्रीय विषयों में भी रुचि लेकर यथाप्रसङ्ग अपने बहुमूल्य सुझाव दिये।

इसी प्रकार मैं **आचार्य चारुदेव शास्त्री**, दिल्ली, **डॉ० बलदेव सिंह,** अध्यक्ष संस्कृत विभाग, शिमला तथा डॉ० **प्रभुदयाल अग्निहोत्री,** भूतपूर्व कुलपति, जबलपुर का हार्दिक कृतज्ञ हूं जिन्होंने मेरे निवेदन करने पर अपनी उत्साहवर्धिनी एवं उपयोगिनी सम्मति से मुझे उपकृत किया। ऐसे अवसर पर अग्रजकल्प डॉ० **अभिमन्यु मलिक,** रीडर संस्कृत विभाग, पटियाला का सम्मान करना भी मैं अपना दायित्व समझता हूं जिन्होंने पदे-पदे व्यावहारिक सुझाव देकर मुझे सोत्साह किया तथा मेरा मार्गनिर्देशन किया।

और श्रद्धेय तातपाद आचार्य **विद्यानिधि शास्त्री, गुरुकुल मटिण्डू खरखौदा** के विषय में क्या कहूँ, कुछ समझ नहीं आता। क्योंकि इस ग्रन्थ में जो कुछ उत्तम है वह उन्हीं के शुभाशीर्वाद का प्रतिफलन है तथा जो कुछ उतना उत्तम नहीं बन सका है वह मेरा ही अनवधानजन्य दोष समझना चाहिये। यहां यह निवेदन करना भी मैं अनुचित नहीं समझता कि प्रस्तुत ग्रन्थ आज से पर्याप्त समय पूर्व ही विद्वत्करकमलों में पहुंच जाता यदि मेरे घर में आयुष्मान् **"प्रदीप"** का शुभ जन्म बीच में न होता। इसके कारण भी अवान्तर उपाधियों में व्याप्त रहने से ग्रन्थ कुछ अयाचित विलम्ब से

निकल सका है। अब प्रभु से प्रार्थना है कि आयुष्मान् "**प्रदीप**" भी कैयट के प्रदीप के समान महाभाष्य का अधिकारी विद्वान् बने।

इसीप्रकार डॉ० ईश्वरसिंह चौहान, कुरुक्षेत्र, डॉ० वाचस्पति 'कुलवन्त', हिसार, श्री नीलकण्ठराव विद्यालंकार, धनबाद तथा श्री बलवीरसिंह शास्त्री, गुरुकुल मटिण्डू के निःस्वार्थ सहयोग एवं स्नेह भावना का भी मैं समादर करता हूं जिनकी सतत प्रेरणा तथा उत्साहवर्धन से यह कार्य सम्पन्न हो सका है। इसके अतिरिक्त मैं उन सभी स्वविभागीय सहकर्मियों, इष्ट मित्रों तथा संस्थाओं का भी हृदय से ऋणी हूं जिनके प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग से प्रस्तुत शोध ग्रन्थ रूपायित हो सका है।

अब, अन्त में, मैं **श्री सोमप्रकाश गोयल** तथा **श्री कन्हैयालाल जोशी** प्रकाशक महोदयों का भी सस्नेहादर अभिनन्दन करता हूं जिन्होंने कार्यगत अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी "विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य तूत्तमजनाः न परित्यजन्ति" के अनुसार प्रारब्ध इस दीर्घसत्ररूप कार्य को पूरा करके ही छोड़ा। यहां यह अवश्य स्मरणीय है कि इस प्रकार के शास्त्रीय विषय वाले ग्रन्थों में कुछ प्रूफ रीडिंग सम्बन्धी प्रमाद-जन्य असावधानियाँ हो जाया करती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी इसका पूर्ण अपवाद नहीं रह सका है, अतः पाठकों से नम्र निवेदन है कि वे जहाँ कहीं किसी पाठ को सन्दिग्ध या भ्रष्ट पायें वहाँ उसके सही ज्ञान के लिए शुद्धिपत्र देखने का कष्ट करें जोकि परिशिष्ट के अन्त में दिया गया है।

आश्विन शुक्ला
विजयादशमी
विक्रमी सं० २०४३
(१२-१०-८६)

विद्वानों का अनुचर
भीमसिंह वेदालङ्कार

सांकेतिक शब्द

१. अथर्व०	अथर्ववेद
२. ऋक्०	ऋग्वेद
३. का०	काशिकावृत्ति
४. चा० सू०	चान्द्रव्याकरण सूत्र
५. जै० सू०	जैनेन्द्र व्याकरण सूत्र
६. त० बो०	तत्त्वबोधिनी
७. प० मं०	पदमञ्जरी
८. परि०	परिभाषेन्दुशेखर
९. पस्पशा०	पस्पशाह्निक
१०. पा०	पाणिनीय अष्टाध्यायी
११. प्रा०	प्रातिशाख्य
१२. प्रौ० म०	प्रौढ मनोरमा
१३. बृ० श० शे०	बृहच्छब्देन्दुशेखर
१४. भा०	भाग
१५. भू०	भूमिका
१६. महा०	महाभाष्य, कीलहार्नसंपादित
१७. महा० प्र०	महाभाष्य प्रदीप
१८. महा प्र० उ०	महाभाष्य प्रदीपोद्द्योत[1]
१९. व० शि०	वर्णोच्चारण शिक्षा
२०. वा० प०	वाक्यपदीय
२१. वा०	वार्तिक
२२. मा० यजु०	माध्यन्दिन शुक्ल यजुः संहिता

---

१. प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मूल महाभाष्य के साथ प्रदीपोद्द्योत टीकाओं के उद्धृत अंश का पृष्ठाङ्कन क्रमशः कीलहार्न सम्पादित तृतीय संस्करण तथा गुरुकुल झज्झर रोहतक, संस्करण से किया गया है ।

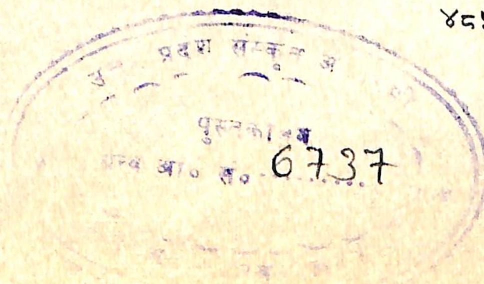
२३. वै० सि० कौ०	वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी
२४. श० कौ०	शब्द-कौस्तुभः
२५. शा० सू०	शाकटायन व्याकरण-सूत्र
२६. स० सू०	सरस्वतीकण्ठाभरण व्याकरण सूत्र
२७. सं०	संस्करण
२८. सं० व्या० शा० इ०	संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास
२९. साम०	सामवेद
३०. है० सू०	हैम व्याकरण सूत्र

विषय-सूची

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय



भूमिका

सूत्र शैली और पाणिनीय अष्टाध्यायी :

संस्कृत वाङ्मय में पाणिनीय अष्टाध्यायी अपनी विधा का एक विलक्षण ग्रन्थ है । यह कहना अनुचित न होगा कि यदि संस्कृत भाषा अपने पुरातन गौरव तथा समग्रता के साथ आज भी अक्षुण्ण रूप में वर्तमान है तो उसका एकमात्र कारण उत्कृष्ट सूत्रशैली में निबद्ध अष्टाध्यायी है । आचार्य पाणिनि ने जिस सूक्ष्मेक्षिका से अखिल शब्दसागर का अवलोकन करते हुए संस्कृत भाषा का अन्वाख्यान किया है वह उनके अनल्पमति होने में पर्याप्त उपोद्बलक है और अष्टाध्यायी इसका जीवन्त प्रमाण है । 'सूत्र वेष्टने' धातु से 'अच् प्रत्यय' अथवा पक्षान्तर में 'घञ् प्रत्यय' करने पर निष्पन्न 'सूत्र' शब्द का शाब्दिक अर्थ यद्यपि उक्त धातु के आधार पर धागा है तथापि भारतीय वाङ्मय में 'सूत्र' शब्द का प्रयोग विशेष पारिभाषिक अर्थ में भी किया जाता है । कोषों के अनुसार 'सूत्र' शब्द के अनेक अर्थ है । किन्तु प्रकृत प्रसङ्ग को दृष्टिगत रखते हुए यही कहा जा सकता है कि 'सूत्र' धागे के समान स्वयं लघुकाय होते हुए भी व्यापकता की दृष्टि से अन्य अनेक अर्थों को अपने अन्दर समाहित करने वाले सङ्केतमात्र होते हैं । 'सूत्र' की परिभाषा के लिए साहित्य में निम्न उक्तियां प्रसिद्ध हैं—

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः" ।[1] अथवा
"लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च ।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः" ।।[2]

भाव यह है कि बाहरी आकार की दृष्टि से लघु होते हुए भी अर्थ की सूक्ष्मता एवं व्यापकता के दृष्टिकोण से बह्वर्थबोधकत्व होना ही सूत्रत्व है । स्थूलतया, सूत्र के दो भेद हैं—'सामान्य' और 'विशेष' । ये दोनों ही

---

१. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड-३, अध्याय ५, श्लोक सं० १ । अथवा वायुपुराण, ५६.१४२ ।

२. ब्रह्मसूत्रीय शाङ्करभाष्य की भामती टीका से उद्धृत, १.१.१ ।

वैयाकरणों की पारिभाषिक शब्दावली में क्रमशः उत्सर्ग तथा अपवाद कहे जाते हैं।[1] अर्थलाघव तथा शब्दलाघव की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए भाषाशास्त्रियों ने इन छोटे-छोटे सूत्रों को भी संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश तथा अधिकाररूप में षोढ़ा विभक्त किया है।[2] तद्यथा—संज्ञा सूत्र—किसी वस्तु या पदार्थ का बोधक उच्चारित शब्द ही संज्ञा कहलाता है।[3] अथवा अनेक अर्थों के अभिधान में समर्थ होने पर भी शब्द-शक्ति का किसी विशेष अर्थ में नियमन कर देना ही संज्ञाकरण है।[4] प्रत्येक शास्त्र में अपेक्षित लाघव को प्राप्त करने के लिये कुछ सांकेतिक संज्ञाओं के निर्माण की आवश्यकता होती है।[5] इसीलिए आचार्य पाणिनि ने भी शब्दकृत तथा अर्थकृत दोनों प्रकार के लाघव को दृष्टिगत रखते हुए सूत्र रचना की है।[6] शाब्दी तथा आर्थी संज्ञाएं भी कृत्रिम-अकृत्रिम भेद से दो प्रकार की बनायी गई हैं। इनमें कृत्रिम संज्ञायें आकार में लघु तथा निरर्थक होती हैं तथा अकृत्रिम संज्ञायें महती एवं अन्वर्थक हैं। इस प्रकार जिन सूत्रों द्वारा साक्षात् किसी संज्ञा का विधान किया जाये वे संज्ञासूत्र कहलाते हैं। अष्टाध्यायी में गुण-वृद्धि आदि लगभग १०० संज्ञा सूत्र हैं।

---

१. द्र०—महा० पस्पशा०, पृ० ६ "किञ्चित् सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। किं पुनस्तत्। उत्सर्गापवादौ···"।

२. द्र०—"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्"।।

तुलना करो—"अतिदेशोऽनुवादश्च विभाषा च निपातनम्।
एतच्चतुष्टयं ज्ञात्वा दशधा सूत्रमुच्यते"।।

३. द्र०—महा० भा०, १, सू० १-२-५३, पृ० २२६, "संज्ञानं संज्ञा" अर्थात् रूढि शब्द ही संज्ञा है। तुलना करो, महा० प्र० भा०, ४, सू० ५.२.९१, पृ० १४५, "संज्ञायतेऽनयेति संज्ञा"।

४. द्र०—"सर्वार्थाभिधानयोग्यशब्दस्य शक्तिनियमनमात्रं संज्ञाकरणम्"।

५. द्र०—महा० भा०, १ सू० १.१.२३, पृ० ८१, "संज्ञा च नाम यतो न लघीयः···लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्"।

६. यद्यपि संज्ञासूत्रों का धर्मसंज्ञा नामक एक तीसरा भेद और भी हो सकता है। क्योंकि उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित ये स्वरों के धर्म या गुण ही हैं। इस विषय में द्रष्टव्य—स्टडीज इन पाणिनि, पृ० ३१।

परिभाषा सूत्र—अनियम प्रसंग में नियम का विधान करने वाली[1] अथवा एकदेश में स्थित हुई भी आगे-पीछे सर्वत्र व्याप्त रहने वाली[2] उक्ति को परिभाषा कहते हैं। संज्ञा और परिभाषाओं के विषय में दो पक्ष हैं—यथोद्देश और कार्यकाल।[3] यथोद्देश पक्ष में संज्ञा और परिभाषासूत्र एक स्थान पर पठित हुए ही विधि सूत्रों के उपकारक होते हैं। कार्यकालपक्ष में जहां उनकी आवश्यकता होती है, वहीं में पहुंच जाती हैं। वही उनका स्थान हो जाता है। अष्टाध्यायी में २० के लगभग परिभाषा सूत्र हैं।

विधि सूत्र—अत्यन्त अप्राप्ति की विशेष अवस्था में विधान करने वाले सूत्र विधि सूत्र कहलाते हैं।[4]

नियम सूत्र—विधि के सर्वथा प्राप्त होने पर विशेष अवस्था में उसका नियमन करने वाले सूत्र नियम सूत्र कहलाते हैं।[5]

अतिदेश सूत्र—एक के तुल्य दूसरे को मानकर काम करना ही अतिदेश है।[6] दूसरे शब्दों में अन्य धर्म का अन्यत्र आरोपण करना[7] अथवा विवृत्ति को प्रकृति मानकर काम करना ही अतिदेश सूत्रों का कार्य है। यह अतिदेश संस्कृत व्याकरण में ६ या ७ प्रकार का माना जाता है।

अधिकार सूत्र—"स्वदेशवाक्यार्थबोधशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थ-बोधकत्वम्" अर्थात् अपने स्थान पर वाक्यार्थबोध न होने पर अन्य सूत्रों के स्थलों पर वाक्यार्थबोध कराने वाले सूत्र को अधिकार सूत्र कहते हैं। अधिकार सूत्रों को भाष्यकार ने त्रेधा माना है। प्रथम जो एक स्थान पर पठित होकर भी सारे शास्त्र को व्यापृत करता है, जैसे—सम्यक् प्रदीप्त

---

१. का० भा० १, सू० १.१.३,—"परिभाषेयं स्थानिनियमार्था। अनियम-प्रसङ्गे नियमो विधीयते"।

२. महा० प्र० उ० भा०-२, सू० २.१.१, पृ० ४६३—"परितो व्यापृतां भाषा परिभाषां प्रचक्षते"।

३. द्र०—परि० सं० २-३,—"यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्। कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्"।

४. द्र०—तन्त्रवार्तिक, १.२३४,—"विधिरत्यन्तमप्राप्ते—"।

५. द्र० वही, "नियमः पाक्षिके सति"।

६. द्र०—महा० भा० १, सू० १.१.२३, पृ० ८१,—तद्वत् अतिदेशोऽयम्"।

७. द्र०—आप्टे कोश—"अतिदेश नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगायादेशः।

८. द्र०—वही,—"प्रकृतिवत् विकृतिः"।

दीपक घर के एक कोने में रखा हुआ ही सारे घर को प्रकाशित करता है ।[1] दूसरा अधिकार अनुवृत्ति रूप हैं जोकि 'च' शब्द लगाकर ऊपर से खींचा जाता है, जैसे – रस्सी या लोहे से बंधी लकड़ी खींची जाती है ।[2] तीसरा अधिकार—"स्वरितेनाधिकार:"[3] इस सूत्र के अनुसार स्वरित चिन्ह से समझा जाता है जबकि वह अधिकृत सूत्र हर जगह निर्दिष्ट (उच्चारित) न किया जाकर भी स्वरित चिन्ह द्वारा जहां तक जरूरत होती है, वहां तक प्रत्येक सूत्र में स्वयं उपस्थित होता है । यह बात अलग है कि वर्तमान में ये स्वरित चिन्ह लुप्त हो गए हैं । अतः अष्टाध्यायी के प्रामाणिक व्याख्याता वृत्तिकारों आदि के व्याख्यान[4] के आधार पर ही अब स्वरित चिन्ह की अवधि को जाना जाता है ।

भाष्य में 'सूत्र' शब्द के समान अर्थ रखने वाले अनेक शब्द दृष्टिगोचर होते हैं । भाष्यकार ने यथावसर इन सभी का प्रयोग किया है । इनमें सर्वप्रथम 'सूत्र' शब्द का प्रयोग करते हुए पतंजलि लिखते हैं—"न चेदानीमाचार्या: सूत्राणि कृत्वा निर्वतयन्ति"[5] इत्यादि । इसी प्रकार 'योग' शब्द का भी उल्लेख करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"अथवा योग विभाग: करिष्यते"[6] इत्यादि । इसी प्रकार 'लक्षण' शब्द से भी 'सूत्र' को बताने वाला भाष्यवार्तिक हैं—

---

१. महा० भा०, १, सू० १-१.४९, पृ० ११९—"अधिकारी नाम त्रिप्रकार: । कश्चिद् एकदेशस्थ: सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथा प्रदीप: सुप्रज्वलित: सर्वं वेश्माभिज्वलयति ।

२. वही, "अपरोऽधिकारो यथा रज्वाऽयसा वा बद्धं काष्ठमनुकृष्यते तद्वनुकृष्यते चकारेण" ।

३. पा० १.३.११ ।

४. द्र०—परि० सं० १ "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति: न हि सन्देहादलक्षणम्" । तुलना करो—महा० पस्पशा०, पृ० १२, "ननु चोक्तं न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानन्ं वृद्धि: आत् ऐजति, किन्तर्हि, उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येत् समुदितं व्याख्यानं भवति" ।
अपि च—"पदच्छेद: पदार्थोक्ति: विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपोऽयं समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम्" ।।

५. महा० पस्पशा०, पृ० १२ ।

६. वही, भा० १, सू० १.१.१२, पृ० ६९ ।

"लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्" ।[1] भाष्यकार के मत में व्याकरण शब्द भी 'सूत्र' का बोध कराता है—"सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते वैयाकरण इति" ।[2] इसी प्रकार 'निपातन' शब्द भी सूत्रपर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुआ मिलता है—किं निपातनम्— द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्यामिति" ।[3] इसी प्रकार अनेकत्र भाष्यकार ने इस प्रसङ्ग में "वाऽरूपन्यायेन" इत्यादि कहकर 'न्याय' शब्द का भी प्रयोग किया है ।

उपर्युक्त सभी शब्दों में 'सूत्र' शब्द का प्रयोग प्राचीनतम है। इसका प्रारम्भिक प्रयोग अथर्ववेद में मिलता है।[4] यद्यपि वहां ऐहिक अभिप्राय वाली सूत्रशैली से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है तथापि अभिधा वृत्ति के आधार पर 'सूत्र' शब्द के अपने यौगिक अर्थ के अनुसार नियमपूर्वक चलने वाली यह सृष्टि स्वयं भी सम्भवतः एक 'सूत्र' ही है। इसका संचालक 'सूत्र' ब्रह्म है। वही इस 'सूत्र' का 'सूत्र' है ।

सूत्रशैली के मूल में मूलरूपेण सम्भवतः संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति मुख्य रूप से रही है। क्योंकि संक्षेप में ही कण्ठस्थ करके शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति प्रशंसनीय मानी गई है। इसके अतिरिक्त पुरातन युग में छापाखाने के अभाव के कारण भी इस परम्परा का अधिक विकास हुआ है।[5] बाद में जब वैदिक संहिताओं का अध्ययन-अध्यापन विशेष श्रम से किया जाने लगा तो वैदिक यज्ञों के विकास और जटिल विधि-विधानों को संक्षिप्त एवं सरल बनाने के लिए इस सूत्र शैली का और अधिक तेजी से आविर्भाव

---

१. वही, पस्पशा, पृ० १२ ।

२. वही, पृ० १२ ।

३. वही, भा० ३, सू० ६.४.२, पृ० १८१ ।

४. अथर्व० —१०.८.३८—
"यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः ।
सूत्रस्य सूत्रं यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत् ।।"

५. द्र० Paṇini : A Servey of Research, Foot Note 11, page 316 "Recently, Bahulikar has discussed the possible reasons for the use of Sutra style. She notes approving a suggestion made by D. H. H. Ingalls that this style arose when writing was introduced and because of srcacity of writing material at the period."

और विकास हुआ। परिणामतः डा० कपिलदेव शास्त्री के शब्दों में—कर्म-काण्ड की विस्तृत, जटिल एवं नानाभेद-प्रभेदों वाली प्रक्रिया को अच्छी प्रकार से स्मरण करके उसके ठीक-ठीक परिपालन की अनिवार्यता (अन्यथा प्रत्यवायभाक् होने का डर था) को देखते हुए कल्प ग्रन्थों में प्राचीनतम सूत्रों की उपलब्धि स्वाभाविक ही है।[1] ब्राह्मण ग्रन्थों में भी सूत्रशैली की प्राणभूत उन संज्ञाओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जो आजकल संस्कृत व्याकरण मे पायी जाती हैं।[2] आरण्यको एवं उपनिषदों में सूत्रशैली के कुछ और विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं। उत्तरकाल में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्दस्, श्रौत, ग्राह्य एवं धर्म सूत्र आदि में भी सफलता पूर्वक सूत्रशैली का प्रयोग हुआ। इस प्रकार सूत्रशैली के विकास यात्रा के सन्दर्भ में विभिन्न विषयों को सुगम, संक्षिप्त परन्तु सरल बनाने का सार्थक प्रयास किया गया। किन्तु कहना न होगा कि व्याकरण शास्त्र में तो यह सूत्रशैली इतनी मांज दी गई, इतनी निखार दी गई कि इस पद्धति ने अपनी पूर्ण पराकाष्ठा को प्राप्त किया और परिणामतः सूत्र व्याकरण का पर्यायवाची ही बन गया[3] और पाणिनि ही 'सूत्रकार' कहे जाने लगे।[4]

उत्तरवैदिक युग में भी सूत्र साहित्य विभिन्न विषयक ग्रन्थों के प्रेरणा स्रोत रहे हैं। किन्तु मध्यकाल में जाकर अवश्य सूत्र शैली की परम्परीण धारा विच्छिन्न अथवा लुप्त प्रायः सी रही है तथापि वर्तमान २७वीं शताब्दी में भी कतिपय सूत्र ग्रन्थों का प्रणयन किया गया है[5] जो भाव भाषा तथा

---

१. द्र०—संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि, पृ० ७।

२. गोपथ ब्राह्मण, १.२४—"ओङ्कारं पृच्छामः को धातुः किं वै व्याकरणम्" इत्यादि। लघुवाक्यपरक सूत्रशैली का एक प्रारूप शतपथ ब्राह्मण से भी द्रष्टव्य है, भाग-१, अण्डिका ४, पृ० १—सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्या"। वही, १२ ४.१.१ जरामर्यं वै एतत् सत्रं यदग्निहोत्रमिति"।

३. द्र०—महा० भा० २, सूत्र० ३.१.२६. पृ० ३४—"व्याकरणं सूत्रयति" तथा महा० पस्पशा०, पृ० १२ सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते वैयाकरण इति"।

४. द्र०—वही, भा० १, सू० २.२.११, पृ० ४०४ "पाणिनेः सूत्रकारस्य"।

५. उदाहरणार्थ द्रष्टव्य—श्री डी० सी० शर्मा रचित 'गांधि सूत्राणि' अथवा अम्बालाल पुराणी प्रणीत 'पूर्णयोगसूत्राणि' इत्यादि। विशेष

सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से अनुपम है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सूत्रशैली का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है तथा व्याकरण के अतिरिक्त अन्य अनेक विषयों से सम्बद्ध संस्कृत वाङ्मय के अमूल्य ग्रन्थ भी इस शैली में रचे गए।

प्राचीन काल में व्याकरण के प्रवचन का शुभारम्भ सम्भवतः प्रतिपदपाठ से हुआ था। उसके आधार पर 'शब्दपारायण' नामक कतिपय व्याकरणों की रचना भी हुई थी।[1] किन्तु इस प्रतिपदपाठ शैली के अतिविस्तृत होने के कारण अतएव व्याकरण का समुचित प्रकार न होने से आगे चलकर वैयाकरणों ने संक्षेप के लिए तथा स्मरण रखने में सुविधा के लिये श्लोकात्मक या छन्दोबद्ध व्याकरण लिखने प्रारम्भ कर दिये। किन्तु इस पद्धति में भी सूत्रशैली के प्राणभूत तत्त्व (सूक्ष्मता, लघुता तथा व्यापकता) के लिए पर्याप्त अवकाश न होने के कारण श्लोकों के स्थान पर सूत्रों का विस्तार होता गया और सम्भवतः पाणिनि तक आते-आते श्लोक शैली सर्वथा लुप्त हो गई।[2] संस्कृत व्याकरण में इस काल को सूत्रों की पूर्ण स्थापना का स्वर्ण युग भी कहा जा सकता है। कारण कि व्याकरण के सूत्र अन्य क्षेत्रों में रचित सूत्रों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक एवं सजीव प्रमाणित हुए। अतः प्रयत्न पूर्वक

अध्ययन के लिए देखें—रामगोपाल मिश्र लिखित शोध लेख—'अर्वाचीन संस्कृत सूत्र साहित्य' प्रकाशित गुरुकुलपत्रिका शिक्षाविशेषांक, कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, वर्ष १७, अङ्क-८, मार्च-अप्रैल, १९६५। अद्यत्वे गणित आदि विषयों में सवाल आदि निकालने के लिये जो फैक्टर या सूत्र काम में लाये जाते हैं, वे भी सम्भवतः इसी परम्परा से प्रभावित होकर बनाये गए हैं।

१. द्र०—महा० पस्पशा० पृ० ५—"एवं हि श्रूयते। बृहस्पतिरिन्द्राय—प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच"। इसी पर महा६ प्र६, पृ० २४—"शब्दपारायणशब्दो योगरुढः शास्त्रविशेषे"।

२. किन्तु अवशेष रूप में उसकी छाया परोक्षरूपेण पाणिनि पर भी यत्र तत्र स्पष्ट दिखाई पड़ती है। तद् यथा—पा० १.१.१-२, "वृद्धिरादैजदेङ्-गुणः"। पा० ४.४.३५-३६ "पक्षिमस्य मृगान् हन्ति परिपन्थं च तिष्ठति"'। विशेष अध्ययन के लिये देखें—पाणिनि व्याकरण का अनुशीलन, पृ० ८६-८८। अथवा स्टडीज इन पाणिनि, पृ० २६-२७।

मांजे एवं निखारे हुए सूत्र को पाणिनि ने 'प्रतिष्णत' कहा है।[१] पाणिनि के लिए 'सूत्रकार' संज्ञा इस विषय में प्रबल उपोद्बलक है।[२] 'वृद्ध से बाल तक पाणिनि का यश'[३] इतना बढ़ा कि प्रत्येक व्यक्ति के मुख से "शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः"[४] यह वाक्य साभिमान दुहराया जाने लगा। काशिकाकार तो पाणिनि की सूक्ष्मेक्षिका पर इतने मुग्ध हैं कि उन्होंने अनेकत्र पाणिनि के लिए "महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य"[५] तक कहा है। पाणिनि के महान् तेज के कारण ही लोक में सर्वत्र "इति पाणिनि"[६] का नाद सुनायी देने लगा। इसका कारण सुहृद्भूत आचार्य पाणिनि के द्वारा सामान्य-विशेष, प्रत्याहार रचना, अनुबन्धकरण, ज्ञापक, निपातन, अधिकार तथा परिभाषा आदि अनेक गुणयुक्त सूत्रशैली को वह प्रौढ़ता तथा अनुपम निखार प्रदान करना था जिसने संस्कृत भाषा के गम्भीरतम रहस्यों को अभिव्यक्त किया। परिणामतः समग्र संस्कृत व्याकरण 'सूत्रमय' ही हो गया तथा लोक में "पाणिनीयं महत् सुविहितम्"[७] जैसे प्रशंसा के स्वर सुनाई पड़ने लगे।

संक्षेपीकरण के कारण ही पाणिनि ने काल आदि संज्ञाओं के अन्वाख्यान को आवश्यक नहीं समझा।[८] इस संक्षेपीकरण के सन्दर्भ में ही राजशेखर ने

---

१. द्र०—पा० ३.९०—"सूत्रं प्रतिष्णातम्"।

२. द्र०—महा० सू० २.२.११, पृ० ४१४—"पाणिनेः सूत्रकारस्य"।

३. द्र०—वही सू० १.४.८९ पृ० ३४७—"आकुमारं यशः पाणिनेः" युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार भाष्योक्त कथन का अर्थ – "आ कुमार्याः आकुमारम्" अर्थात् दक्षिण में कुमारी अन्तरीय पर्यन्त पाणिनि का यश पहुंच गया होना अधिक संगत है।

द्र०—सं० सं० व्या० शा० इ०, भाग-१, पृ० १८९।

४. वही०, सू० २.३.६६, पृ० ४६८।

५. का० भाग-३, सूत्र ४.२.७४, पृ० ५६८।

६. वही, भा०-२, सू० २.१.६, पृ० २२।

७. महा० भा०. २, सू० ४.३.६६, पृ० २८५।

८. का०, भा० २.४.२१ पृ० २६६ "पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्"। पाणिनि व्याकरण के 'अकालक' होने का एक दूसरा आधार यह भी रहा है कि पाणिनि मध्यमार्गी रहे हैं। अतः उन्होंने काल आदि की परिभाषा न करके स्वयं को विवादग्रस्त होने से बचाया है। क्योंकि उक्त काल आदि की परिभाषा वैयाकरणों के मध्य विवाद का विषय रही है।

पाणिनीयों को 'तद्धितमूढ'[1] कहा है अर्थात् पाणिनि ने अपना तद्धित प्रकरण अपेक्षाकृत संक्षिप्त किया है। आगे चलकर संक्षेपीकरण की यह प्रवृत्ति वैयाकरणों में यहां तक व्याप्त हो गई कि वे आधी मात्रा के लाघव को भी बहुत बड़ी उपलब्धि मानने लगे थे।[2] आचार्य पाणिनि ने शाब्दिक लाघव के साथ-साथ अर्थलाघव को भी प्रश्रय दिया है परिणामतः उन्होंने अनेक सूत्र बड़े-बड़े संत्रों या महती संज्ञाओं का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि मन्द बुद्धियों को भी स्फुटबोध कराने के लिये वृतज्ञ[3] आचार्य ने स्वतः व्याख्यात (अन्वर्थ) बड़े शब्दों या प्रतीकों का प्रवचन किया है। यद्यपि कुछ स्थानों पर प्राचीन परम्परा भी प्रभावित करती रही है।[4] इसके अतिरिक्त केवल आचार्य पाणिनि ही एक ऐसा 'अनल्पमति'[5] वैयाकरणाचार्य था जिसने अतिविस्तृत वैदिक लौकिक शब्दार्णव को चौदह प्रत्याहारसूत्रों से बनने वाले केवल इकतालीस प्रत्याहारों के एक ही ताने-बाने में बुनने का सफल प्रयास किया। इसीलिए इन्होंने लोक के समान वेद को भी भाषागत दृष्टि से एक ही रचना प्रकिया का अंग घोषित किया। आचार्य पाणिनि यह सब कुछ अपनी सूक्ष्म किन्तु उतनी ही अधिकार पूर्ण एवं सन्तुलित सूत्र शैली के कारण ही करने में समर्थ हुए। अतः ठीक ही कहा गया है—

> "सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं मद्वृत्तौ यच्च वार्तिके।
> सूत्रं योनिरिहार्थानां सूत्रे सर्वं प्रतिष्ठितम्" ॥[6]

---

१. काव्यमीमांसा अध्याय ६,—"तद्धितमूढाः पाणिनीयाः"। तुलना करो—महा० पस्पशा०, पृ० ८,—"प्रियतद्धिताः दाक्षिणात्याः"।

२. द्र०—परि० सू० १३३—"अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"।

३. महा०, भा० १, सू० १.३.९, पृ० २६६,—"वृत्तज्ञो ह्याचार्योऽनुबन्धानासजति"।

४. पाणिनि व्याकरण में सारी महती संज्ञायें परम्परीण तथा अन्वर्थक होती हैं। परन्तु एकमात्र 'नदी' संज्ञा है जो महती होती हुई भी अन्वर्थक नहीं है। इससे प्रमाणित होता है कि यहां पाणिनि प्राचीन परम्परा से प्रभावित है।

५. महा० भा० १, सू, १, सं० १.४.५१, पृ० ३३५—"एतदनल्पमतेराचार्यस्य वचनं स्मर्यताम्"।

६. तन्त्रवार्तिक, २.३.११।

यद्यपि आगे चलकर यह शैली भी अत्यधिक दुर्बोध हो गई। क्योंकि इन संक्षिप्त शब्दों या प्रतीकों को समझने के लिए फिर टीका टिप्पणी तथा भाष्यादि की आवश्यकता अनुभव हुई। सूत्रशैली का सबसे बड़ा दोष अत्यधिक संक्षेपीकरण के कारण होने वाली अर्थ की अस्पष्टता या सन्देह है। यही कारण है कि कुछ समय बाद सूत्रशैली में ग्रन्थों की रचना करनी स्थगित कर दी गई। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी सूत्रशैली की कतिपय निजी बिशेषतायें हैं। डा० रामजी उपाध्याय के शब्दों में—आधुनिक युग में पुस्तकों की अग्रण्यता और अनर्गल वर्ण्यविस्तार को देखकर अनेक मनीषियों का विचार हो चला है कि सूत्रशैली पुनः ग्राह्य है।[१]

अष्टाध्यायी में प्रक्षेप :

यद्यपि प्रस्तुत सन्दर्भ मेरे प्रतिपाद्य विषय से साक्षात् सम्बद्ध नहीं है तथापि विभिन्न विद्वानों द्वारा उठाये गये प्रश्नों को दृष्टिगत रखते हुए अतिसंक्षेप में केवल अपने विचार प्रस्तुत करना अनपेक्षित एवं अप्रासङ्गिक न होगा। अस्तु, यह देखा गया है कि कालान्तर में प्रत्येक शास्त्र में प्रक्षेप हुए है। अतः पाणिनीय अष्टाध्यायी भी इसका पूर्ण अपवाद नहीं रह सकी है। इसमें भी नाना प्रकार से कुछ अंश मूलपाठ में प्रक्षिप्त हो गये हैं। किन्तु उस रूप में या उतनी अधिक मात्रा में अष्टाध्यायी में प्रक्षेप लेखक को स्वीकार्य नहीं है जितना कुछ आधुनिक आलोचक कहते है। इतना तो यहां तक कहना है कि कात्यायन तथा पतंजलि को भी अष्टाध्यायी की प्राथमिक या साक्षात् जानकारी (First hand knowledge) नहीं थी। क्योंकि उन तक आते-आते उपदेश परम्परा समाप्त हो गई थी। परिणामतः अष्टाध्यायी उन्हें हस्तलेख के रूप में ही प्राप्त हुई और अष्टाध्यायी भी एक व्यक्ति (पाणिनि) की रचना न होकर ५०० ई० पू० से लेकर २०० ई० पू० तक रचे गए समूचे व्याकरण सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त इन विद्वानों का यह भी विचार है कि वैदिक तथा निपातन सूत्र भी विभिन्न स्रोतों से सम्बन्ध रखते हैं और वे मूलपाठ में पीछे से जोड़े गये प्रतीत होते हैं।[२]

---

१. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २६२।

२. अष्टाध्यायी में प्रक्षेप को लेकर I. S. Pawate आदि अनेक अधिकारी विद्वानों ते काफी कुछ लिखा है। इस परम्परा की नवीनतम कड़ी

इस विषय में लेखक का निवेदन है कि जहां तक उपदेश परम्परा के अविच्छिन्न रहने की बात है, भारतीय वैयाकरण परम्परा इस तथ्य की साक्षी है कि यह परम्परा गुरुशिष्यपद्धति के रूप में अद्यावधि भी प्रचलित है। इसके कभी विच्छिन्न होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। चीनी यात्री युवान्च्वाङ् का कथन भी इस विषय में उपोद्बलक है।[१] कैयट अनेक स्थलों पर परम्परा के जीवित रहने का स्पष्ट संकेत करते हैं।[२] "प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः" इत्यादि वचन उपदेश परम्परा को अक्षुण्ण माने बिना सार्थक नहीं हो सकते। यास्काचार्य का "उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः"[३] इत्यादि कथन भी उपदेश शब्द के वास्तविक अर्थ की तरफ इंगित करता है। पाठान्तर या पाठभेद के विषय में भी भाष्यकार तथा काशिकाकार दोनों इस मत में सहमत हैं कि ये दोनों पाठभेद सूत्रकार सहमत है।[४] "पूर्वपाणिनीयाः, अपर-पाणिनीयाः" इत्यादि कथन भी इस विषय में तात्पर्य ग्राहक है।

Paul Kiparspy की पुस्तक Pāṇini as a variationist है। प्रस्तुत आलोचना इस पुस्तक में वर्णित विचारों पर आधारित है। इस प्रसङ्ग में डा० जोशी के उस लेख की भी समीक्षा संकेतित है जो उन्होंने सन् १९८० में शान्ति निकेतन में सम्पन्न अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के अन्तर्गत भारतीय भाषा विज्ञान सेक्शन के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए दिया था।

१. द्र०—सियुकति, १.११५—"And so from that time masters have received it and handed it down in its completensss for the good of the world".

२. द्र०—महा० प्र० सू० १.४.५१, भा० २, पृ० ४२२—"स्मरतेति... आगमस्य (परम्परोपदेशस्य) अविच्छेदमनेन दर्शयति"। इसी प्रकार कैयट "हयवरट्" सूत्र पर भी उपदेशपरम्परा की अविच्छिन्नता का वर्णन करते हैं।

३. निरुक्त, १.६।

४. (क) द्र० महा० भा० १, सूत्र १.४.१, पृ० २९६—"उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादितः।"

(ख) का० भा० ४, सूत्र ५.४.२०, पृ० ३४१—"द्वयमपि प्रमाणम्। उभयथासूत्रप्रणयनात्।" वही, सूत्र ५.१.५०, पृ० ५५ "सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। तदुभयमपि ग्राह्यम्"।

दूसरे तर्क के विषय में यह निवेदन है कि अष्टाध्यायी एक 'प्रोक्त' ग्रन्थ है और प्रोक्त ग्रन्थों में पूर्वाचार्यों का पर्याप्त अंश यथातथरूप में संगृहीत होता है जैसा कि अष्टाध्यायी में मिलता भी है।[१] इसीलिए भाष्यकार अष्टाध्यायी को "सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्"[२] अर्थात् इसमें प्रायः सभी पूर्ववर्ती व्याकरण सम्प्रदाय प्रतिबिम्बित हुए है, ऐसा कहते हैं। पी० एस० सुब्रह्मण्यम् शास्त्री के शब्दों में—"It is quite possible that Pāṇini may have incorporated some Sutras of the previous authors like Āpiśali and Kāśakṛtsna whose works are definitely understood from the Mahābhāṣya to have been preceded Pāṇini's.'[3]

लेकिन यह संग्रह स्वयं आचार्य पाणिनि द्वारा किया गया है, इनके बाद किसी अन्य के द्वारा नहीं, यह निश्चित है। पूर्वाचार्य निर्देश यदि प्रक्षेप माने जाने अभीष्ट हैं तो अवश्य अष्टाध्यायी में पर्याप्त अंश प्रक्षिप्त माना जा सकता है। अष्टाध्यायी महाभारत की तरह समुदाय की सामूहिक रचना न होकर केवल एक व्यक्ति यानि पाणिनि की रचना है, इस विषय में भाष्यकार के निम्न कथन प्रमाण हैं—

"प्रणयति स्म" (सूत्र १.१.१), "प्रयुंक्ते" (सूत्र १.१.१) 'पश्यति' (सूत्र ८.३.५९) "क्रियन्ते" (सू० ५.३.५५), "शास्ति" (सूत्र ४.२.४२) "आह" (सूत्र ३.१.९४) तथा "कृति" (सूत्र २.३.६६) इत्यादि। सूत्रों की अन्तःसाक्षी भी इस बात का प्रमाण है कि सारे सूत्र स्वयं पाणिनि के द्वारा उपज्ञात हैं।[४]

पाणिनीय शब्दानुशासन की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यहां लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का अन्वाख्यान हुआ है। और व्याकरण का मूर्धाभिषिक्त प्रयोजन वेदों की रक्षा रहा है—"रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्"। तब यह कैसे माना जा सकता है कि वैदिक सूत्र तो ऐसे ही पीछे से यथा-प्रसङ्ग जोड़ दिये गए। माना कि वे विभिन्न स्रोतों (पूर्वाचार्यों के) से सम्बद्ध हैं तथापि वे स्वयं आचार्य पाणिनि के द्वारा ही संगृहीत हैं, उत्तरवर्तियों के द्वारा नहीं। निपातनसूत्रों के विषय

---

१. द्र०—महा० भा० १, सूत्र १.१.१, पृ० ४०—"इहापि कृतः पूर्वैरभिसम्बन्धः ? कैः। आचार्यैः"।

२. वही, सूत्र २.१.५८, पृ० ४००।

३. लैक्चर्स आन पतंजलि, भा० १, पृ० १६।

४. द्र० पा० २.४.२१—"उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्"।

में भी पाणिनि के कई उद्देश्य रहे हैं। तद्यथा—१. स्वरविशेष, २. अर्थ विशेष तथा ३. सिद्धि प्रक्रिया में विशेष लाघव इत्यादि अर्थात् निपातन सूत्र रचना भी निरुद्देश्य न होकर सोद्देश्य है। अतः यह अंश भी पाणिनि के बाद का जोड़ा गया प्रतीत नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि ५०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक कोई इतना बड़ा युग नहीं गुजर जाता जो कात्यायन तथा पतंजलि को अष्टाध्यायी में हुए इस प्रक्षेपरूप घपले का पता न चल पाता। विशेष रूप से कात्यायन तो जोकि कुछ विद्वानों द्वारा पाणिनि का कटु आलोचक माना जाता है, ऐसा अवश्य संकेत देता जैसा कि महाभाष्य की लुप्त स्थिति बारे भर्तृहरि ने किया है। इसके अतिरिक्त यदि अष्टाध्यायी को प्राचीन व्याकरण सम्प्रदाय (५००-२०० ई० पू०) का प्रतिनिधि माना जायेगा तो स्वभावतः यह जिज्ञासा पैदा होगी कि फिर इसे अन्तिम रूप किसने दिया तथा कात्यायन-पतंजलि ने भी इस बहती हुई गंगा में क्यों नहीं हाथ धोए अर्थात् इन्होंने भी अपने वार्तिक या भाष्येष्टि रूप वचनों को सूत्र का रूप देकर क्यों नहीं मूलपाठ में मिला दिया। जबकि सत्य यह है कि इन्होंने मूलपाठ की पवित्रता (Sancitity) बनाये रखने के लिए अपने भाष्यवार्तिक अलग ही रखे। यहां यह भी अवश्य ध्यातव्य है कि यदि कहीं पर वार्तिक या भाष्यवचन सूत्र में प्रक्षिप्त भी हो गया है तो वह स्वयं भाष्यवार्तिककार द्वारा इरादे या पूर्वसुनियोजित ढंग से नहीं किया गया अपितु उत्तरवर्ती व्याख्याकारों द्वारा ही वैसा किया गया है। अष्टाध्यायी में जहां कहीं पर प्राचीन प्रयोग या पूर्वाचार्य संज्ञा रूपी अवैज्ञानिकता दिखाई देने की बात है इस विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता है कि वृत्तिकारों को इसका ज्ञान नहीं था। किन्तु इन्हें आर्षप्रयोग या पूर्वाचार्य निर्देश समझकर वृत्तिकार ऐसा कहकर ही शान्त हो जाते हैं— "विचित्रा हि कृतिः सूत्रस्य पाणिनेः"।[1]

प्रस्तुत लेखक की दृष्टि में अष्टाध्यायी में जो थोड़े बहुत प्रक्षेप समाविष्ट हो गये हैं, उसके कई रूप हैं। तद्यथा—

१. कहीं तो पूरा का पूरा सूत्र ही पूर्वाचार्य निर्देश बनाम प्रक्षेप है। यथा— "अनुपसर्जनात्"।[2]

---

१. का० भा०, ५, सू० ७.२.७८, पृ० ७५६।

२. द्र०—महा० भा० २, सू० ४.१.१४, पृ० २१५—"पूर्वसूत्रनिर्देशो वा पुनरयं द्रष्टव्यः"।

२. अथवा कहीं पर पूरा वार्तिक ही सूत्र के रूप में मान लिया गया है। यथा—"द्वित्रिपूर्वादण् च"।[1]

३. अथवा कहीं पर वार्तिकांश ही मूल सूत्रपाठ में मिल गया है। यथा—"स्वाङ्गाच्चेतोऽमानिनि"।[2] काशिकावृत्ति में इस प्रकार की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है।

४. कहीं-कहीं सूत्रों में योग विभाग कर लेने से भी सूत्र संख्या में भेद दिखाई देता है यथा—"प्रादयः उपसर्गाः क्रियायोगे" यह सूत्र है। भाष्य में इसे "प्रादयः" "उपसर्गाः क्रियायोगे" इस प्रकार अलग-अलग योग विभाग करके व्याख्यात किया गया है।[3] वैसे कहीं-कहीं इसका व्यतिक्रम भी दृष्टिगोचर होता है अर्थात् पाणिनि के दो सूत्रों के स्थान पर एक सूत्र ही बना देने का आग्रह भी परिलक्षित होता है। यथा—ईशः से + ईड्जनोर्ध्वे च—ईडीशजनां से ध्वयोः'[4]

५. कहीं-कहीं गणसूत्र भी मूल सूत्रपाठ में प्रक्षिप्त हो गया है। यथा—"एति संज्ञायामगात्"। "नक्षत्राद् वा"।[5]

६. कहीं-कहीं सूत्रों का पौर्वापर्यक्रमविपर्यय भी देखने में आता है। यथा—"नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्"[6] यह सूत्र है। यह भाष्य में "भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्"[7] इस सूत्र से पूर्व विचारित किया गया है। जबकि मूल सूत्रपाठ में यह इसके बाद आता है। इसका कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि पाणिनि "पिता मात्रा", "श्वशुरः श्वश्र्वा"[8]

---

१. द्र०—प० मं० भा० ४, सू० ५.१.३६, पृ० ४६—"वार्तिके दर्शनात् सूत्रेष्वेतत् प्रक्षिप्तम्"।

२. द्र०—वही, भा० ५, सू० ६.२.४०, पृ० २३६—"अमानिनीतिवार्तिके दर्शनात् सूत्रे प्रक्षिप्तम्"।

३. द्र०—महा० भा० १, सू० १.४.५८, पृ० ३४१,—"प्रादय इति योगविभागः कर्तव्यः। तत उपसर्गाः क्रियायोगे"।

४. का०, भा० ५, सूत्र ७.२.७८, पृ० ८५६—"ईडीशजनां सेध्वयोरित्येकमेव सूत्रं न पठितम्। विचित्रा हि कृतिः सूत्रस्य पाणिनिः"।

५. तत्त्वबोधिनी, सूत्र ८.३.९९-१००—"सुषामाद्यन्तर्गणसूत्रमेतत्"।

६. पा० १.२.६९।

७. पा० १.२.६८।

८. पा० १.२.७०-७१।

यहां दोनों स्थानों पर नपुंसकसूत्रस्थ 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण को अनुवृत्त करने के लिए—"नपुंसक" सूत्र को इन दोनों से पूर्व उपन्यस्त करते हैं। क्योंकि "भ्रातृपुत्रौ०" यहां नित्य एकशेष इष्ट है। तथा "पिता मात्रा" इत्यादि में वैकल्पिक एकशेष। किन्तु भाष्यकार ने सूत्रगत विषय साम्य को देखकर सूत्रपाठ को भंग करते हुए तीनों को एक साथ विवेचित किया तथा इनके मध्य से "नपुंसक सूत्र" को निकाल कर उस पर पहले विचार किया।

इस सन्दर्भ में एक स्थान पर तो एक साथ ही पांच सूत्र अर्थात् पूरा का पूरा प्रकरण ही स्थानभ्रष्ट या पूर्वापरक्रमविरहित सा हो गया प्रतीत होता है। न जाने कैसे यह प्रमाद हो गया। इसके स्थानभ्रष्ट होने का संकेत भाष्यकारोक्त उदाहरणों से मिलता है। तद्यथा—अष्टाध्यायी सूत्रपाठ में अब "दीर्घादाचार्याणाम्"[1] इस सूत्र के बाद "झलां जश् झशि", "अभ्यासे चर् च", "खरि च", "वावसाने", "अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः"[2] ये पांच सूत्र पठित हैं और इनके बाद "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः", "वा पदान्तस्य", "तोर्लि", "उदः स्थास्तम्भो पूर्वस्य", "झयो होऽन्यतरस्याम्", "शश्छोऽटि"[3] इन छह सूत्रों का पाठ वृत्त्यादिग्रन्थों में मिलता है। किन्तु भाष्य में "दीर्घादाचार्याणाम्" सूत्र के अनन्तर "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" "वा पदान्तस्य", "तोर्लि", "उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य", "झयो होऽन्यतर-स्याम्", "शश्छोऽटि" इस षट्सूत्री का पाठ इष्ट है। और इसके बाद "झलां जश् झशि" इत्यादि पूर्वोक्त पञ्चसूत्री का पाठ अभिप्रेत है।

इन सूत्रों के पौर्वापर्यविपर्यय में भाष्यकार प्रदत्त 'उत्कन्दः' यह उदाहरण ही ज्ञापक है। 'उत्कन्दः' यहां पर 'उद्' उपसर्ग से परे 'स्कन्द्' धातु को "स्कन्देश्छन्दस्युपसंख्यानम्"[4] इस कथन से सकार के स्थान में पूर्वसवर्णभूत थकार में जाता है और उसको "खरि च" से चर् होने से तकार होकर उत्कन्दः ऐसा रूप निष्पन्न हो जाता है। किन्तु वृत्त्यादिसम्मत सूत्रपाठ में तो पूर्वसवर्णभूत थकार के "खरि च" की दृष्टि में असिद्ध होने के कारण

---

१. पा० ८.४.५२।

२. पा० ८.४.५३-५७।

३. पा० ८.४.५८-६३।

४. पा० ८.४.६१ पर वार्तिक।

'उत्कन्दः' यहां पर थकार को तकार प्राप्त नहीं होता। हां, भाष्यसम्मत सूत्रपाठ में तो "खरि च" के प्रति पूर्वसवर्णभूत थकार के सिद्ध होने के कारण थकार को तकार निर्बाध सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार भाष्यसम्मत सूत्रपाठ में 'उत्थानम्, उत्तम्भनम्' इत्यादि प्रयोगों में भी "खरि च" से थकार को तकार सिद्ध हो जाता है। उनके मत में थकारद्वय ठीक नहीं। जबकि वृत्त्यादि ग्रन्थों के पाठ में दो थकार अवश्य प्राप्त होंगे।[1]

कहीं-कहीं पर पदकारों के द्वारा भी भ्रान्तिवश प्रक्षेप हो गये हैं। जैसा हि भाष्यकार संकेत करते हैं कि सूत्रपाठ पहले संहितापाठ में था।[2] बाद में इसे पदकारों द्वारा अलग-अलग किया गया। पृथक्करण की प्रक्रिया में भी एकाध सूत्र भ्रष्ट हो गया प्रतीत होता है। तद्यथा—"यजुष्युरो" यह सूत्र है। सर्वत्र अष्टाध्यायी में "यजुष्युरो" के स्थान पर "यजुष्युरः" ऐसा विसर्गान्त ही पढ़ा जाता है जोकि अपपाठ है। क्योंकि इसका प्रयोग सत्यापित Attested नहीं मिलता। सारे यजुर्वेद में वक्षः-स्थलवाची एङन्त 'उरस शब्द से परे ह्रस्व अकार नहीं मिलता जबकि महान् अर्थ के वाचक एङन्त 'उरु' शब्द से परे तो ह्रस्व अकार का प्रयोग उपलब्ध है। इस अपपाठ का वास्तविक कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि मूल संहितापाठ में "यजुष्युर आपो जुषाणो०[4]" ऐसा सन्धियुक्त पाठ था। सन्धिच्छेद करते समय यहां

---

१. द्र०—बालमनोरमा, भा० १, सूत्र ८.४.६३, पृ० १२८। "वस्तुतो" 'दीर्घादाचार्याणाम्' इत्युत्तरम् 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः', 'वा पदान्तस्य", 'तोर्लि', 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य', 'झयो होऽन्यतरस्याम्', 'शश्छोटि' इति षट्सूत्रीपाठोत्तरं 'झलां जश् झशि', 'अभ्यासे चर् च', 'खरि च', 'वाऽवसाने', 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक' इति पञ्चसूत्री पाठ इति 'हलो यमां' इति सूत्रस्थभाष्यसम्यतः सूत्रकमः। एवं च 'खरि च' इति चर्त्वे कर्तव्ये 'उदः स्थास्तम्भोः' इति पूर्वसवर्णस्य थकारस्यासिद्धत्वाभावाच्चर्त्वे उत्थानम् इति द्वितकारमेकथकारं च रूपम्। उत्ततम्भनमिति तु त्रितकारमेव रूपमिति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम्।

२. द्र०—महा० भा० १, सूत्र ४.१.५०, पृ० १२१—"उभयथापि तुल्या संहिता। स्थानेऽन्तरतम उरण् रपरः इति।"

३. पा० ६.१.११७।

४. पा० १.१.११७-११८।

दोनों तरह का पाठ निकल सकता है। यथा—यजुष्युरः आपो जुषाणो०" तथा "यजुष्युरो आपो जुषाणो०"। किन्तु यहां पदकारों द्वारा भ्रान्तिवश "यजुष्युरः" ऐसा भ्रान्त अपपाठ ग्रहण कर लिया गया तथा शुद्ध पाठ "यजुष्युरो" छोड़ दिया गया जिसका कि प्रयोग भी सत्यापित मिलता है तथा जिसकी ओर स्वयं काशिकाकार ने संकेत भी किया है—"अपरे तु यजुष्युरो इति सूत्रं पठन्ति, उकारान्तमुरुशब्दं सम्बुद्ध्यन्तमधीयते। त इदमुदाहरन्ति—उरो अन्तरिक्ष सजूरिति"।[१]

इस प्रकार अष्टाध्यायी में छुटपुट प्रक्षेप हैं, यह तो सभी को मानना पड़ेगा।[२] लेकिन उतने अव्यवस्थित तथा उतनी अधिक मात्रा में नहीं जितने कि डा० जोशी आदि आधुनिक विद्वान् मानते हैं। भाष्यकार के शब्दों में—"यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत"।[३] अर्थात् अष्टाध्यायी में उत्सूत्र (प्रक्षेप) कथमपि नहीं हैं। प्रकृत प्रसंग में डा० जार्ज कार्डोना का निष्कर्ष अवश्य स्मरणीय है—

"In the present state of our knowledge, I think it is wise to accept as a working hypothesis Keilhorn's view that the Aṣṭādhyāyī has at least from the time of the Mahābhāṣya been well preserved. Moreover, I think it is reasonable to say that attempts to demonstrate massive interpolation or borrowing in the text received by Kātyāyana and Patañjali cannot be deemed successful. There remain many details to be studied concerning precise formulations of given rules"[4]

---

१. का० भा० ४, सूत्र ६.१.११७, पृ० ५९२। इस सूत्र पर विशेष विचार के लिए देखें, मेरा लेख, 'प्रयोजन की दृष्टि से पाणिनि के चार सूत्रों की समीक्षा,' भारतीशोधसारसंग्रह, जयपुर, वर्ष-७, अंक १-२, दिसम्बर, १९८०, पृ० २७-३६।

२. अष्टाध्यायी में प्रक्षिप्त अंशों का संग्रहरूप मेरा एक लेख भी इस विषय में द्रष्टव्य है जो स्वरमंगला जयपुर, सितम्बर, १९८४, पृ० १८-२९ पर प्रकाशित हुआ था—'पाणिनीयाष्टाध्यायी सूत्रपाठेऽव्यवस्था'।

३. महा० पस्पशा०, पृ० १२।

४. Pāṇini : A Servey of Research, p. 160.

प्रक्षेप के प्रसंग में तो डा० जोशी ने महाभाष्य को भी नहीं छोड़ा। फलतः इन्होंने उसमें भी अनेकत्र प्रक्षेपों का संकेत किया है। खैर, इस पर तो आगे की पंक्तियों में विचार किया जायेगा। जहां तक प्रत्याख्यात सूत्रों के मूलपाठ में प्रक्षिप्त होने की स्थिति का सम्बन्ध है, इस विषय में इतना ही कहना है कि लेखक को कोई भी प्रत्याख्यात सूत्र प्रकटरूपेण प्रक्षेप नहीं प्रतीत हुआ है। पूर्वाचार्य निर्देश रूप तथाकथित प्रक्षेप आदि जहां पर हुए हैं, वे यथा स्थान संकेतित कर दिये गए हैं।

महाभाष्य में प्रक्षेप

जहां तक महाभाष्य में प्रक्षेप का प्रश्न है, इस विषय में यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः इसमें भी कुछ शब्द—वाक्यांश प्रक्षिप्त हो गये हैं। क्योंकि महाभाष्य के ऐतिहासिक अध्ययन से पता चलता है कि इसका तीन बार प्रचार-प्रसार बन्द हो जाने के कारण यह प्रायः लुप्त सा हो गया था। तब पुनः इसे उद्धार करने के प्रसंग में छुट-पुट शाब्दिक प्रक्षेपों की सम्भावना से नकारा नहीं जा सकता। किन्तु उस रूप में या उतनी अधिक मात्रा में यहां पर भी प्रक्षेप स्वीकार नहीं किया जा सकता जितना कुछ आधुनिक विद्वान् कहते हैं। अस्तु, इन विद्वानों का विचार है कि भाष्य में अनेकत्र प्रक्षिप्त अंश विद्यमान हैं। क्योंकि जब एक सूत्र या सूत्रांश को पतंजलि एक स्थान पर खण्डित कर चुके हैं तब उस पूर्ण खण्डित अंश को आधार मानकर किसी अन्य सूत्र का खण्डन करना सयुक्तिक नहीं लगता। इसे युक्तिसंगत बनाने के लिये यह कल्पना करना अधिक उचित जान पड़ता है कि उस पूर्व प्रत्याख्यात अंश को प्रक्षिप्त अंश ही मान लिया जाये। इस सन्दर्भ में "गत्यर्थमर्मणि०"[1] सूत्र का प्रत्याख्यान उद्धृत हो सकता है। यह सूत्र "कर्मणा यमभिप्रति"[2] सूत्रस्थ 'क्रिया' ग्रहण के आधार पर खण्डित किया गया है। लेकिन यहां विचारणीय स्थिति यह है कि 'क्रिया' ग्रहण तो स्वयं बहां "क्रियाऽपि कृत्रिम कर्म"[3] ऐसा कहकर खण्डित कर दिया गया है। तब उसके आधार पर "गत्यर्थकर्मणि०" सूत्र का खण्डन ठीक नहीं लगता। इस कारण से डा० एस० डी० जोशी का मत है कि यह 'क्रिया' ग्रहण के खण्डन

---

१. पा० २.३.१२।

२. पा० १.४.३२।

३. महा० भा० १, सू० १.४.३२, पृ० ३३०।

वाला अंश प्रक्षिप्त है, बाद में जोड़ा गया है।[१] इसी प्रकार "अनभिहिते" सूत्रभाष्य के बारे में भी प्रत्याख्यानाधिकरण अंश, डा० जोशी के अनुसार, प्रक्षिप्त-सा लगता है। क्योंकि एक बार सूत्र के प्रयोजनों पर पूरा विचार किया जा सकता है। तब अन्त में पुनः उन पर विचार करना प्रक्षेप का सा संकेत देता है।[२]

---

१. द्र०—भाष्य (जोशी), अनभिहिताह्निक, Introduction P. XIVIII "But how can Patañjali say this ? The fact is that in the discussion on P. 1.4.32, the addition of the work क्रिया i.e क्रियया to this rule has been rejected. To remove this apparent contradiction in the Bhāṣya, Kaiyaṭa suggests that the use of the dative endings in examples like ग्रामाय गच्छति can be established even without the use of the word क्रिया in P. 1.4.32. In this discussion at the end of this rule the Bhāṣyakara or a Bhāṣykara has stated that..................As indicated allready, the appcent contradiction in the Bhāṣya can also be removed by assuming that Bh. Nos. 12-14 on P. 1.4.32 is a latter addition that is to say, it can be assumed that the author of Bh. Nos. 1-11 on the rule who adds the word क्रिया to this rule and rejects P. 2.3.12, is not aware of the desvice of supplying an action as the कर्मन् in connection with intrasitive verbs which for the author of Bh. Nos. 12-14 on P. 1.4.32 form the ground, by which be rejects the addition of the word क्रिया on this rule and by which he accepts P. 2.3.12".

२. भाष्य (जोशी) अनभिहिताह्निक, Introduction P. XXXVIII "The discussion rather surprisingly to the very first topic, that of the purpose of the rule. It consists of four vts and eight Bhāṣyas and it looks lips a reconsideration of the same problem in the light of more developed grammatical, technical thought. If this section has been added later on, the question is who did it ? Patañjali himself in later stage of the composition of the Mbh. Or somebody else ? The second question is whose Vts. are quoted here ?"

किन्तु लेखक की सम्मति में डा जोशी का यह मत विचारणीय ही प्रतीत होता है। क्योंकि यह तो भाष्यकार की प्रत्याख्यान करने की एक शैली रही है कि वे एक स्थान पर उसका खण्डन करते हैं तथा दूसरे स्थान पर उसी का मण्डन या उसके आधार पर तीसरे का खण्डन करते दिखाई देते हैं। एक सूत्र के आधार पर दूसरे का खण्डन तथा दूसरे के आधार पर पहले का खण्डन तो भाष्य में अनेकत्र दिखाई पड़ता है। किन्तु इससे यह मान लेना कि यह अंश प्रक्षिप्त है, कथमपि उचित प्रतीत नहीं होता। जैसे 'सन्निपात परिभाषा'[1] के आधार पर "न धातुलोप०"[2] सूत्र का खण्डन तथा "न धातुलोप०" सूत्र के आधार पर 'सन्निपात परिभाषा' का खण्डन करना तो भाष्यकार की अपनी शैली है। इसीलिए कैयट ने स्पष्ट कहा है कि यद्यपि 'क्रिया ग्रहण' वहां खण्डित कर दिया गया है तथापि वहां पर विद्यमान न्याय जिसके आधार पर 'क्रियाग्रहण' को अनावश्यक सिद्ध किया था, का स्मरण कराने के लिये ही "गत्यर्थकर्मणि०" सूत्र का 'क्रिया' ग्रहण से खण्डन किया गया है।[3] भाष्य में इस प्रकार के पूर्वापर विरुद्ध स्थान अनेकत्र टीकाकारों द्वारा भी संकेतित किये गये हैं। तद्यथा—

(क) "एतच्चणौ चङीति सूत्र भाष्येण विरुध्यते"।[4]

(ख) "उक्तं प्रयोजनमपि किंचिन्न वचनानुरूपमिति पौर्वापर्यविरोधादयुक्तम्"।[5]

(ग) "अस्थितोऽपि पक्षः क्वचिदुपन्यस्यते इत्येवं विरोधः परिहार्यः"।[6] इत्यादि।

इसी प्रकार "अनुपसर्जनात्"[7] यह सूत्र है। इधर इसका खण्डन भी कर

१. परि० सं० ८५।

२. पा० १.१.४।

३. द्र०—महा० प्र० भा० २, सू० २.२.१२, पृ० ७८३—"यद्यपि क्रियाग्रहणं तत्र प्रत्याख्यातं तथापि तत्रैव न्यायस्योक्तत्वाद्वचनमाश्रित्यास्य सूत्रस्य प्रत्याख्यानं कृतमथवा तत्रत्यन्यायस्मरणार्थमिदमुक्तम्"।

४. वही, भा० सू० ७.४.६३, पृ० २७७।

५. वही, सू० ७.४.८२, पृ० २७१।

६. वही, सू० ७.४.२, पृ० २४८।

७. पा० ४.१.१४।

रहे हैं और उधर एकदेशी पूर्वपक्ष के रूप में ही सही, सर्वनाम संज्ञा में उसकी उपयोगिता भी बता रहे हैं—"अनुपसर्जनात् इत्येष योगः प्रत्याख्यायते तमेवमभिसंमंत्स्यामः अनुपसर्जन अ अत् इति—"।[1] यह विसंगति कैसे। अतः ऐसे स्थलों में यही मानना युक्तिसंगत लगता है कि भाष्यकार की यह शैली रही है कि वे "पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति" इस न्याय का आश्रयण करके चलते हैं। उस समय में वे यह नहीं देखते हैं कि उसका खण्डन करना चाहिये या नहीं, इसका पहले भी कहीं खण्डन या मण्डन हो चुका या नहीं। अथवा इसको युक्तिरूप में प्रस्तुत किया भी जा सकता या नहीं। यदि ऐसे स्थलों को प्रक्षिप्त माना जायेगा तब तो भाष्य में ऐसे अनेक स्थलों को भी प्रक्षिप्त मानना होगा। अतः ऐसे प्रसङ्गों में यह मानना अधिक समीचीन लगता है कि भाष्यकार अपनी बात को कई ढंग से प्रस्तुत करते हैं। इसमें उनका यह उद्देश्य प्रतीत होता है कि विद्यार्थी के मस्तिष्क को विकसित करना तथा पूर्वापरविरोधी नाना दृष्टियों से सोचने के लिये प्रेरित करना। यही कारण है कि वे कहीं कुछ कह जाते हैं तथा कहीं पूर्वोक्त से उलट कह देते हैं। इस सन्दर्भ में कैयट की टिप्पणी स्मरणीय है—"ननु सुबामन्त्रिते इत्यत्रोक्तम् अविशेषेणेतद् भवति—पूर्वपदमुत्तरपदमिति, तेन चर्मनमन्नित्यत्र णत्वं न भविष्यतीति। उच्यते, स्वरग्रहणप्रत्याख्यानाय तदुक्तं न त्वेष पक्षः स्थितः"।[2] "इह तु प्रतिषेधवचनमर्थान्तरज्ञापनायोक्तमिति ग्रन्थविरोधः तस्मान्न्यायाश्रयेण हलचोरादेशो न स्थानिवदित्यर्थः पक्षो ग्राह्यः। इह तु अभ्युपेत्य स्थानिवत्वं ज्ञापकत्वमाश्रितम्। शिष्यबुद्धिव्युत्पादनायास्थितोऽपि पक्षः क्वचिदुपन्यस्यत इत्येवं विरोधः परिहार्यः"।[3] और यही व्याख्याकारों के मत में भाष्यकार की एकदेश्युक्ति है—"अग्लोपिनां नेत्यपि तर्हि प्राप्नोतीत्यारभ्य एकदेश्युक्तिरिदं भाष्यमिति तत्त्वम्"।[4]

भाष्यकार की एक और भी प्रत्याख्यानशैली है। उसके अनुसार एक बार तो वे सूत्र का प्रत्याख्यान कर डालते हैं। भले ही वह प्रत्याख्यान एक पक्षीय हो, किन्तु सूत्र यदि वस्तुतः वजनदार या अनुपेक्षणीय है तो खण्डन

---

१. महा० भा० १, सू० १.१.२७ पृ० ८७।

२. महा० प्र० सू० ८.४.१४, भा० ८, पृ० ४६७।

३. वही, सू० ७.४.२, भा० ७, पृ० २४८।

४. महा० प्र० उ० सू० ७.४.२, भा० ७, पृ० २४८।

करन के बाद पुनः "आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन् योगे—" इत्यादि कहकर उस सूत्र की सत्ता को मौन स्वीकृति दे देते हैं। इस दृष्टि से "ख्यानिवत्०" आदि सूत्र देखे जा सकते हैं। "अनभिहिते" सूत्र का प्रत्याख्यानाधिकरण अंश भी इसी शैली का अंगभूत है। मीमांसक जी के अनुसार खण्डन और प्रत्याख्यान शब्दों के अर्थों में विद्यमान अन्त भी लेखक की उक्त धारणा की पुष्टि करता है क्योंकि खण्डन शब्द का मतलब तो सूत्र को सर्वथा त्याज्य बनाना है जबकि प्रत्याख्यान का तात्पर्य प्रकारान्तर से प्रयोग निदर्शन करना ही है। इसीलिए प्रत्याख्यात अंश सूत्रादि तो बार-बार उद्धृत भी किये जाते हैं जबकि खण्डित अंश उद्धृत नहीं किया जा सकता।[१] इसीलिए भाष्यकार ने प्रत्याख्यान किया है, खण्डन नहीं। अतः ऐसे प्रसंगों में यही मानना अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है कि भाष्यकार की यह अपनी ही प्रत्याख्यान करने की शैली है।

वैसे भाष्य में भ्रष्ट या नष्ट तो अवश्य मिलते है। नष्ट पाठ जैसे—"अस्य च्वावत्ययप्रतिषेध उच्यते" यह वचन "अव्ययीभावश्च"[२] इस सूत्र के भाष्य में पठित है। किन्तु भाष्य में "अस्यच्वौ"[३] यह सूत्र ही नहीं मिलता। प्रतीत होता है कि पहले उस पर भाष्य तथा उक्त भाष्यवार्तिक रहा होगा। सम्प्रति वह नष्ट हो गया। इसी प्रकार भ्रष्ट पाठ जैसे—"अनचि च"[४] सूत्र के भाष्य में "नायं प्रसज्यप्रतिषेधः अचि नेति किं तर्हि, पर्युदासोऽयम् यदन्यदच इति" ऐसा भ्रष्ट पाठ है। यहां पाठ निम्न होना चाहिए—"नायं पर्युदासो यदन्यदच इति, किं तर्हि, प्रसज्यप्रतिषेधः अचि नैति"। प्रसज्यप्रतिषेध मानने पर ही 'वाक्, वाक्क्' यहां अवसान में द्वित्व सिद्ध हो सकता है, पर्युदास में नहीं। प्रदीपकार कैयट ने भी स्पष्ट रूप से इसे भ्रष्ट पाठ माना है।[६] इसी प्रकार

---

१. पा० १.१.५६।

२. खण्डन और प्रत्याख्यान शब्दों के अर्थों में अन्तर के लिए द्र० पृ० २४-२५।

३. पा० १.१.४१।

४. पा० ७.४.३२।

५. पा० ८.४.४७।

६. द्र०—महा० प्र० भा० ८, सू० ८.४.४७, पृ० ५०७,—"नायं प्रसज्यप्रतिषेध इति। पाठोऽयं लेखकप्रमादान्नष्टः। पर्युदासो ह्यचसहशस्य

कहीं-कहीं पर मूलपाठ के स्थान पर शब्दान्तर या वर्णान्तर भी प्रक्षिप्त देखा जा सकता है। तद्यथा—

१. भाष्यपाठ : "अपर्याप्तश्चैव हि यासुट् 'समुदायस्य ङित्वे' ।[1]
प्रदीप : "केषांचित्पाठः सुपर्याप्तेश्चैव हीति" ।

२. प्रदीप : "किम्पुनरिति—वार्तिकानुसारेण इङ्ग्रहणमिति पाठो युक्तः । इण्ग्रहणमिति तु भाष्ये प्रायेण पाठः" ।[2]

३. प्रदीप : क्वचित् पाठो नैष युक्तः परिहारो बिप्रतिषेधे पुनःप्रसङ्ग इति" ।[3]

४. उद्धोत : न चैवं दोषाः साकल्येनेति भाष्य विरोधः, कष्टायेति या देशो दीर्घत्वस्येति ग्रन्थो भाष्यपुस्तकैष नष्टोऽतो न दोषः[4] इत्यादि ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भाष्य के मूलपाठ में छुटपुट शाब्दिक प्रक्षेप तो सम्भावित हो सकते हैं किन्तु पूरे प्रकरण या अंश कदापि नहीं ।

'प्रत्याख्यात' शब्द का अभिप्राय :

'प्रत्याख्यात' शब्द 'प्रति' तथा 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'ख्या प्रकथने' अथवा 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शनेऽपि'[5] धातुओं से निष्ठा प्रत्यय क्त, करने पर निष्पन्न होता है। दोनों उपसर्गों को छोड़कर केवल 'ख्यात' शब्द का अर्थ है—जो कहा गया है अथवा प्रसिद्ध है। 'प्रति' को छोड़कर केवल 'आङ्' उपसर्गयुक्त 'आख्यात' शब्द का अर्थ है—'आ समन्तात् ख्यातम्' अर्थात् जो पूर्णतया कह दिया गया है अथवा जिसका निःशेषेण कथन कर दिया गया

वर्णान्तरस्य निमित्तत्वेनोपादानादवसाने द्विर्वचनस्याप्रसंगात् । तस्मान्नायं पर्युदासो यदन्यदच् इति । किं तर्हि, प्रसज्यप्रतिषेधः अचि न इत्ययं पाठः । तत्र प्रसज्यप्रतिषेधे विधिरनुमीयते"—।

१. महा०, भा०-१, सूत्र १.१.५, पृ० ५५ ।

२. महा० प्र० भा०-८, सू० ८.३.७८, पृ० ४७६ ।

३. वही, भा०—८, सू० ७.४.९, पृ० २५१ ।

४. महा० प्र० उ० भा०—५, सू० १.१.३९, पृ० ३१८ ।

५. पा० २.४,५४ 'चक्षिङः ख्याञ्" ।

है। यद्यपि वैयाकरण निकाय में 'आख्यात' शब्द 'तिङ्' प्रत्यय या तिङन्त पद के लिए भी व्यवहृत हुआ है[1]। तथापि प्रस्तुत प्रसंग में वह पारिभाषिक अर्थ अभिप्रेत नहीं है अपितु प्रख्यात, विख्यात आदि शब्दों के समान 'ख्या' धातु का सामान्य अर्थ 'प्रकथन' ही लिया गया है। 'प्रति' सहित 'आख्यात' शब्द (प्रत्याख्यात) का अर्थ हुआ कि जो कहा गया है उसका प्रतिकूल कथन। 'प्रत्याख्यान' शब्द का विलोम 'अन्वाख्यान' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है—अनुकूल कथन। तात्पर्य यह है कि एक ही व्याख्यान के उपसर्गभेद से अर्थभेद होने के कारण वही अनुकूल कथन होने पर 'अन्वाख्यान' तथा प्रतिकूल कथन होने पर 'प्रत्याख्यान' कहलाता है। कोशो में 'प्रत्याख्यात' शब्द के निम्न अर्थ हैं—दूरीकृत, प्रत्यादिष्ट, निरस्त, निराकृत, निकृत, विप्रकृत तथा खण्डित[2] इत्यादि। इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न पर्यायवाचियों में दूरीकृत निरस्त, निराकृत तथा खण्डित शब्द ही प्रस्तुत सन्दर्भ में 'प्रत्याख्यात' शब्द के अधिक निकटवर्ती हैं।

किन्तु खण्डन और प्रत्याख्यान इन दोनों शब्दों में भी एक सूक्ष्म अन्तर यह हो सकता है कि खण्डन शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में है जबकि 'प्रत्याख्यान' शब्द सीमित अर्थ में ही प्रयुक्त होता है अर्थात् खण्डन तो मूर्त-अमूर्त सभी वस्तुओं या बातों का हो सकता है जबकि 'प्रत्याख्यान' केवल आख्यान कथन या वचन का ही प्रतिकूल कथन है। प्रकृत सन्दर्भ में पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार सूत्र में दोष दिखाकर उसको सर्वथा अग्राह्य बना देना खण्डन है। जबकि बुद्धि चातुर्य से प्रकारान्तर द्वारा प्रयोगसिद्धि का निदर्शनमात्र करना 'प्रत्याख्यान' होता है। खण्डित सूत्र शास्त्र में किसी भी प्रयोजन को ज्ञापित करने के लिए ग्राह्य नहीं होना चाहिए जबकि 'प्रत्याख्यात' सूत्र पदे-पदे प्रयोजनों को ज्ञापित करने में तात्पर्यग्राहक होता है। सम्भवत: इसीलिए भाष्यकार ने सम्पूर्ण भाष्य में पाणिनि या कात्यायन के कथन का विरोध करते हुए कहीं पर भी खण्डन शब्द का प्रयोग या व्यवहार नहीं किया है।[3] प्रत्युत सर्वत्र 'प्रत्याख्यान' शब्द का ही प्रयोग किया है। सरल शब्दों में—'प्रत्याख्यान' शब्द का तात्पर्य सूत्र के सर्वथा हटाने में नहीं होता जबकि

१. टेक्नीकल टर्मस् आफ संस्कृत ग्रामर, पृ० ७९ से ८३ तक देखे।
२. शब्दकल्पद्रुम, वाचस्पत्यम् आप्टे कोश, मोनियर विलियम शब्द कोश आदि।
३. वर्ड इन्डेक्स टू पतंजलिज महाभाष्य, श्रीधर शास्त्रि सम्पादित।

सम्भवतः खण्डन में होता होगा[1]। लेकिन अद्यत्वे व्यवहार में 'प्रत्याख्यान' शब्द के स्थान में खण्डन शब्द का प्रयोग रुढ़ हो चुका है। अतः 'प्रत्याख्यान' शब्द का खण्डन अर्थ समझ लिया जाता है। दोनों में कोई विरोध नहीं है।

प्रत्याख्यान की पृष्ठभूमि तथा उसके प्रकार

संस्कृत व्याकरण में प्रत्याख्यान की परम्परा कब तथा क्यों प्रारम्भ हुई, इस विषय में यद्यपि निश्चय से तो कुछ कह सकना कठिन है तथापि सम्भवतः सूत्रों के संक्षेप पर अधिक बल देना ही उसके मूल में सन्निहित है। अथवा 'किमर्थमिदमुच्यते, किं प्रयोजनम्' इत्यादि के रूप में सूत्रों के प्रयोजन जानने की आकांक्षा भी इसका कारण हो सकती है। क्योंकि जब सूत्र का कोई प्रयोजन ही नहीं होता तो उस सूत्र का प्रत्याख्यान आवश्यक समझ लिया जाता है। इसके अतिरिक्त उस समय अन्वाख्यान या प्रत्याख्यान करने की एक रीति या प्रवृत्तिविमेष ही चल पड़ी थी। यह रीति भी इस परम्परा का कारण सम्भव है। बाद में इस प्रत्याख्यान परम्परा की पराकाष्ठा "अर्ध-मात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"[2], के रूप में व्याकरण जगत् में अधिक प्रतिष्ठित हुई। अथवा प्रत्याख्यान की पृष्ठभूमि के रूप में यह एक कारण भी सम्भावित हो सकता है कि शायद भाष्यवार्तिककार आदि के मनों में यह भाव रहा हो कि चिन्तन के धरातल पर शिष्यों या उत्तरवर्ती वैयाकरणों का मस्तिष्क अधिक विकसित हो सके। वे सूत्रों पर और अधिक गहराई से विचार कर सकें। यही कारण है कि अर्वाचीन वैयाकरणों ने भाष्यवार्तिककार के द्वारा प्रस्तावित संशोधनों को आधार मानकर ही सूत्रों की रचना की है और यह परम्परा भी केवल भाष्यवार्तिककार तक ही सीमित नहीं रही है अपितु आगे आने वाले कैयट, हरदत्त, भट्टोजिदीक्षित तथा नागेशभट्ट तक अक्षुण्ण रही है। यह बात अलग है कि भाष्येतर ग्रन्थों में प्रत्याख्यात सूत्र मेरे अध्ययन के विषय नहीं है।

किन्तु सूत्रों का प्रत्याख्यान करना इतना सहज नहीं है। इसके लिए प्रत्याख्यानवादी को सूत्रकार की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टि वाला होना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसे यह देखना आवश्यक हो जाता है कि सूत्र

---

१. उक्त अर्थभेद के विषय में द्र०, महाभाष्य हिन्दीव्याख्यासहित, युधिष्ठिर मीमांसक, भा०—१, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, १९७९, पृ० २८७-२८९।

२. परि० सं० १३३।

रचना से लाघव है या सूत्ररचना के बिना भी लक्ष्य सिद्ध हो सकती है या फिर सूत्र के बने रहने से कोई दोष तो नहीं आता। महाभाष्य में पतंजलि ने कहीं तो वार्तिकों के परिप्रेक्ष्य में सूत्रों का प्रत्याख्यान किया है और अनेकत्र स्वतन्त्र रूप से भी सूत्रों को खण्डित किया है। ऐसे भी अनेक स्थल देखने में आये हैं जहां भाष्यकार की वार्तिककार से असहमति है। यह सब दोनों के प्रातिस्विक दृष्टिभेद के कारण हुआ है तथा यत्र लाघव या स्पष्ट प्रतिपत्ति भी इसके कारण कहे जा सकते हैं। ऐसे प्रसङ्गों में "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्"[1] इस उक्ति की गरिमा को अनुभव करते हुए भी इसका आग्रह नहीं रहा है। इस विषय में "आकालिकडाद्यन्तवचने"[2] सूत्र की समीक्षा द्रष्टव्य है।

वाक्यवार्तिकों के समान कुछ श्लोकवार्तिक भी प्रत्याख्यान में सहायक रहे हैं। ये श्लोकवार्तिक किसके हैं यह एक अलग विचारणीय विषय है। इसी प्रकार "अपर आह" कहकर भाष्यकार जो दूसरीं व्याख्यां प्रदर्शित करते हैं, वह स्वयं उन्हीं की हैं या किसी अन्य वैयाकरणाचार्य की, यह भी विद्वानों के विचार का विषय है अर्थात् 'अपर' शब्द से किसकी ओर संकेत है। कुछ सूत्रों का प्रत्याख्यान भाष्यवार्तिककार द्वारा साक्षात् शब्दोपात्त नहीं है। किन्तु आद्योपान्त देखने पर भाष्यकार का अभिप्राय इस सूत्र के प्रत्याख्यान में प्रतीत होता है। भाष्यकार के विषयप्रतिपादन के शैलीवैचित्र्य के कारण ऐसे स्थलों में उनके गम्भीर आशय को समझ पाना बहुत कठिन हो जाता है। इसीलिए टीकाकारों में भी इस विषय में स्पष्ट मतभेद दिखाई पड़ता है जोकि यथास्थान निर्दिष्ट कर दिया गया है। इस दृष्टि से सूत्रों का प्रत्याख्यान भी स्पष्टलिङ्ग तथा अस्पष्टलिङ्ग भेद से दो प्रकार का हो जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ऐसे प्रसंगों की समीक्षा करते समय यद्यपि पर्याप्त गाम्भीर्य तथा संयम से काम लिया गया है तथापि सम्भव हैं, कहीं पर गाम्भीर्य के कारण अलब्धगाध भाष्याशय को पूरी तरह से न समझा जा सका हो, उसके लिए, आशा है, विद्वान् क्षमा करेंगे।

अस्तु, वैसे तो वार्तिककार तथा भाष्यकार द्वारा किये गये किसी भी सूत्र के प्रत्याख्यान में अन्यथासिद्धिमूलक दृष्टि का ही उपयोग हुआ है तथापि

---

१. वै० सि० कौ०, भा०—१, पृ० २२३।

२. पा० ५.१.१२४।

सूक्ष्मेक्षिकया परिशीलन करने के बाद इन दृष्टियों का वर्गीकरण कुछ इस तरह से किया जा सकता है—

१. ज्ञापकमूलक प्रत्याख्यान ।
२. "नैकं प्रयोजिनं योगारम्भं प्रयोजयति" दृष्टि मूलक प्रत्याख्यान ।
३. लोकविज्ञान या लोकव्यवहारमूलक प्रत्याख्यान ।
४. परिभाषामूलक प्रत्याख्यान ।
५. न्यासान्तरमूलक प्रत्याख्यान ।
६. "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति" दृष्टि मूलक प्रत्याख्यान ।
७. दार्शनिकसिद्धान्तमतभेदमूलक प्रत्याख्यान ।
८. लक्षणावृत्ति या उपचारमूलक प्रत्याख्यान ।
९. विशेष के स्थान पर सामान्य विवक्षामूलक प्रत्याख्यान ।
१०. प्रवृत्तिनिमित्तैकतामूलक प्रत्याख्यान ।
११. (सूत्र के अभाव में भी) अनिष्टादर्शनमूलक प्रत्याख्यान ।
१२. लाघवमूलक प्रत्याख्यान ।
१३. स्वतन्त्र प्रकृत्यन्तरमूलक प्रत्याख्यान ।
१४. निपातनमूलक प्रत्याख्यान ।
१५. अव्याप्ति-अतिव्याप्तिदोषमूलक प्रत्याख्यान ।
१६. प्रकृत्या अभिधानमूलक प्रत्याख्यान ।
१७. योगविभागमूलक प्रत्याख्यान ।
१८. अनुवृत्तिमूलक प्रत्याख्यान ।
१९. विवक्षामूलक प्रत्याख्यान ।
२०. पुनरुक्तिमूलक प्रत्याख्यान ।
२१. पक्षान्तरमूलक प्रत्याख्यान ।
२२. अभिधान-अनभिधानमूलक प्रत्याख्यान ।
२३. अन्वर्थसंज्ञाविज्ञानमूलक प्रत्याख्यान ।
२४. गणपाठमूलक प्रत्याख्यान ।
२५. उपसंख्यानवार्तिकमूलक प्रत्याख्यान ।

इस प्रकार सूत्रों के प्रत्याख्यान में अनेक दृष्टियां रही हैं, यह सुस्पष्ट हो जाता है । इन सब उक्त प्रत्याख्यानों के आधारों या दृष्टियों के उदाहरण-तो तत्तत्शीर्षकोपात्त सूत्र तो यथास्थान ही द्रष्टव्य है ।

प्रत्याख्यान शैली :

भाष्यकार की व्याख्यान शैली की यह एक महनीय विशेषता है कि वे जब जिसका 'व्याख्यान' कर रहे हों, तब उसी की सिद्धि के लिये पूरा जोर लगा देते हैं। इसलिये वे जब पूर्वपक्ष की स्थापना कर रहे होते हैं तो उसके पक्ष में ऐसी प्रबल युक्ति प्रस्तुत कर देते हैं कि यदि पाठक प्रबुद्ध या जागरुक न हो तो वह उसे उत्तरपक्ष मानने की भूल कर बैठता है। किन्तु बाद में भाष्यकार जब उत्तरपक्ष पर आते हैं तब पूर्वोक्त युक्तियों के ठीक विपरीत ठोस तर्क प्रस्तुत करके उत्तर पक्ष या सिद्धान्तपक्ष को पुष्ट करते हैं।

भाष्यकार की तो यह शैली ही रही है कि वे जैसा समय देखते हैं वैसा समाधान कर देते हैं। "पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति"[1] इस न्याय का आश्रयण करके वे खण्डन करते समय मण्डनीय वस्तु का भी खण्डन करने से नहीं चूकते। भले ही, सैद्धान्तिक रूप से वह सिद्धान्त मान्य न हो। कैयट के शब्दों में—"ननु सुबामन्त्रिते इत्यत्रोक्तम् अविशेषेणेतद् भवति—पूर्वपदमुत्तरपदमिति, तेन चर्मनमन्नित्यत्र णत्वं न भविष्यतीति। उच्यते, स्वरग्रहणप्रत्याख्यानाम तदुक्तं न त्वेष पक्षः स्थितः"[2] अन्य उदाहरण से बात और स्पष्ट हो जायेगी। यथा—ऋकारोपदेश के समय भाष्यकार ने शब्दों की चतुष्टयी प्रवृत्ति स्वीकार कर ली। अर्थात् जातिवाचक गुणवाचक एवं द्रव्यवाचक शब्दों के साथ यदृच्छा शब्दों की सत्ता को भी मान लिया।[3] बाद में जब लृवर्ण के प्रत्याख्यान का समय आया तो चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति न मानकर केवल त्रयी प्रवृत्ति को ही अंगीकार कर लिया।[4] "न सन्ति यदृच्छाशब्दाः" कहकर यदृच्छाशब्दों की सत्ता पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया।

---

१. महा० भा० १, प्रत्याहाराह्निक, ऋलृक् सूत्र, पृ० २०।

२. महा० प्र०, भा०, ५, सू० ८.४.१४, पृ० ४६७।
तुलना करो—महा० भा० १, प्रत्याहाराह्निक, "एओङ् ऐऔच्" सूत्र, पृ० २२, "प्रत्याख्यात एतत् ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वादिति। यदि प्रत्याख्यानपक्ष इदमपि प्रत्याख्यायते सिद्धमेङः सस्थानत्वादिति"।

३. महा० भा० १, प्रत्याहाराह्निक ऋलक् सूत्र पृ० २०, "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः। जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः। यदृच्छाशब्दाश्चतुर्था इति।"

४. वही, "त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः—न सन्ति यदृच्छाशब्दाः"।

यहां यह कहना ठीक नहीं कि जिस पक्ष को लेकर मण्डन किया था उसी पक्ष को लेकर उसका खण्डन किया जाना चाहिये। क्योंकि एक ही पक्ष को लेकर किसी बात का खण्डन और मण्डन नहीं किया जा सकता। इसलिये यह कहना व्यर्थ होगा कि यदृच्छा शब्दों की प्रवृत्ति मानते हुए ही लृकारोपदेश का प्रत्याख्यान करना चाहिये। ऐसी स्थिति में भाष्यकार का अपना क्या सिद्धान्त है, यह जानना बहुत कठिन हो जाता है। इन्होंने दोनों बातें मान भी ली तथा दोनों को ही निरस्त भी कर दिया। भाष्यकार की यह विचित्र शैली प्रायः समस्त ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार कुछ स्थलों पर भाष्यकार की प्रत्याख्यान शैली अन्योन्याश्रित या इतरेतराश्रित भी रही है अर्थात् एक सूत्र के आधार पर दूसरे सूत्र का तथा दूसरे के आधार पर पहले का प्रत्याख्यान भी दृग्गोचर होता है। इस विषय में "न धातुलोप"[1] सूत्र की समीक्षा द्रष्टव्य है। यह बात अलग है कि भाष्यकार द्वारा किया गया इस प्रकार का प्रत्याख्यान टीकाकारों के मत में प्रौढिवाद तथा एकदेशीयुक्तिप्रयुक्त है।[2] किन्तु इस प्रकार के प्रत्याख्यानों से भाष्यकार का यदि यह अभिप्राय या तात्पर्य ग्रहण किया जाये कि वे शिष्यों की वुद्धि के विकास हेतु (शिष्य बुद्धिव्युत्पादनाय) ही साधक-बाधक आलोचना-प्रत्यालोचना के साथ प्रत्येक सूत्र का कोना-कोना झांक कर देखते तथा दिखाते हैं तो उक्त प्रत्याख्यान कथमपि मान्य हो सकता है। क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक सूत्र ऐसे भी आये हैं जो आपाततः भाष्यकार द्वारा प्रत्याख्यात कर दिये गये हैं किन्तु हृदय से भाष्यकार उन सूत्रों की गरिमा अनुभव करते हैं और परिणामतः प्रत्याख्यान करके भी भाष्यकार पुनः पूछते हैं—"आरम्यमाणे

---

१. पा० १.१.४, पृ०।

२. तुलना करो, महा० प्र० उ० सूत्र ३.१.३२, भा० ३, पृ० १०९, "भगवतो भाष्यकारस्येति—एकदेशिन इति शेषः। अनेन इमेऽपि तर्हि यद्यपि इत्यादि भाष्यग्रन्थः एकदेशिनः उक्ति प्रत्युक्तिपरतया प्रौढिवाद एवेति ध्वनितम्"। इसी प्रकार महा० प्र० उ० सूत्र १.१.६, भा० १, पृ० १५३, "वस्तुतस्त्वत्रत्यमिदं भाष्यमेकदेश्युक्तिः"।

३. महा० भा० १, सू० १.१.५६, पृ० १३४। इससे अनुमान होता है कि भाष्यकार ने व्युत्पन्न मतियों के लिए सूत्र का प्रत्याख्यान करके भी

ऽप्येतस्मिन् योगे०"[१] इत्यादि। इस दृष्टि से "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ", "असिद्धवदत्राभात्"[१] इत्यादि सूत्र विशेषरूपेण द्रष्टव्य हैं। इसे ही भाष्यकार के शब्दों में कुछ यों समझा जा सकता है—"न हि दोषाः सन्तीति परिभाषा न कर्तव्या लक्षणं वा न प्रणेयम्। न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते। दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिताः प्रयोजनानामुदाहरणमात्रम्—दोषाणां लक्षणं नास्ति प्रतिविधेयं च दोषेषु"।[२] उक्त विचार के प्रसङ्ग में प्रत्याख्यान और खण्डन शब्दों के अर्थों में विद्यमान अन्तर भी उपोद्बलक हो सकता है। अन्यथा यदि उक्त प्रत्याख्यान को शिष्य बुद्धिव्युत्पादननिमित्तक नहीं माना जायेगा तो भाष्यकार का निम्न कथन कैसे सुसंगत हो सकेगा—

"तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण"[३]

इसके अतिरिक्त अनेकत्र भाष्यकार की ऐसी भी प्रत्याख्यान शैली रही है जहां प्रकटतः तो प्रस्तुत सूत्र का ही खण्डन किया गया है किन्तु सूक्ष्मेक्षिका से विचार करने पर तत्सम्बद्ध अन्य सूत्र भी स्वतः एव व्यर्थ होकर प्रत्याख्यात हो जाते हैं। इस दृष्टि से "दीधीवेवीटाम्"[४] तथा "अधिरीश्वरे"[५] इत्यादि सूत्र द्रष्टव्य हैं।

आचार्य पाणिनि ने स्पष्ट प्रतिपत्ति को अधिक महत्त्व दिया है। परिणामतः अनेकत्र सन्ध्यभाव ही सूत्रों में रखा है। इसी प्रकार अनेकत्र प्रकरणविशेष को लेकर किसी मूलभूत लक्षणसूत्र की रचना करके आचार्य पाणिनि आगे के कुछ सूत्रों में उसी विषय को और अधिक स्पष्ट करते हैं अर्थात् आगे के सूत्र उसी मूलभूत लक्षण सूत्र के प्रपञ्च होते हैं। उदाहरण के रूप में जैसे—"विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" यह सामान्य लक्षण सूत्र है।

स्पष्ट प्रतिपत्ति की दृष्टि से मन्दबुद्धियों के लिए सूत्र को मौनभाव से स्वीकार कर लिया—"अन्वाख्यानमेव तर्हीदं मन्दबुद्धेः"। सभी उत्तरवर्ती व्याख्याकार भी इस विषय में सहमत हैं। तुलना करो, महा० पस्पशा०, पृ० १२, "न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति"।

१. पा० १-१.५६, ६.४.२२।

२. महा० भा० १.१.३६, पृ० ९९-१००।

३. वही, सू० १ १.१, पृ० ३९।

४. पा० १.१.६।

५. वही, १.४.९७।

इस प्रकरण के अग्रिम सूत्र इसी के प्रपञ्च या व्याख्या है। ऐसा करने के मूल में आचार्य पाणिनि की स्पष्टप्रतिपत्तिपरक दृष्टि रही है।[1] इस सन्दर्भ में भाष्यकार भी सहमत हैं—"एते खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषु लक्षणं प्रपञ्च एव। केवलं लक्षणं केवलं प्रपञ्चो वा न तथाकारकं भवति"।[2] लेकिन आश्चर्य तो तब होता है जब भाष्यकार सर्वत्र इस पद्धति का अनुसरण नहीं करते। अपादान प्रकरण के सभी सूत्र ध्रुवमपायेऽपादानम्"[3] इस सामान्य सूत्र के प्रपञ्च है। भर्तृहरि के शब्दों में—

"निर्धारणे विभक्ते यो भीत्रादीनां च विधिः।
उपात्तापेक्षितापायः सोऽबुधप्रतिपत्तये"॥[4]

लेकिन यहाँ भाष्यकार स्पष्ट प्रतिपत्ति वाली सरणि का परित्याग कर उन सबका प्रत्याख्यान कर देते हैं। इस विषय में प्रदीपकार की टिप्पणी ध्यातव्य है—"अबुधबोधनार्थं तु किञ्चिद्वचनेन प्रतिपाद्यते। न्यायव्युत्पादनार्थं चाचार्य किञ्चित्प्रत्याचष्टे न ह्यत्रैकः पन्थाः समाश्रीयते"[5]। भाष्यकार को यह शैली वैचित्र्य अनेकत्र दिखाई देता है।

महाभाष्य में सूत्रों या सूत्रांशों के प्रत्याख्यान के लिए बहुत प्रकार की शैलियां उपलब्ध होती हैं। वार्तिककार द्वारा किये गये प्रत्याख्यान स्थलों पर प्रायः 'अशिष्यों वा', 'आनर्थक्यम्', 'न वा', 'अपरिभाष्यम्', 'असंप्रत्ययः', 'अप्रसिद्धि', 'उक्तं वा', 'उक्तम्', 'अनर्थकम्', 'अग्रहणम्', 'अप्रतिषेधः' तथा 'सिद्धम्' अथवा 'सिद्धन्तु' पदों से युक्त शैली अक्षिलक्षी होती है। यत्र तत्र 'अनिर्देशः', 'अप्रसंग' तथा 'अनुपपत्तिः' इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी देखने

---

१ द्र० महा० प्र० सू० ४.२.७०, भा० ३, पृ० ६६०, "शिष्याणाँ सुखावबोधाय लाघवं प्रति अनवधानलक्षणेन प्रमादेन कृतमित्यर्थः"। कात्यायन द्वारा पंक्तिविंशति (पा० ५.१.५९) सूत्र का प्रत्याख्यान करने पर स्वयं भाष्यकार भी उन पर इसी दृष्टि से आपत्ति करते हैं—"नासूया कर्तव्या यत्रानुगम आचार्येण क्रियते"।

२. महा० भा० १, सू० २.१.५८, पृ० ४००। इसी स्थान पर महा० प्र० केवलेन लक्षणेन मन्दबुद्धिः विषयविभागं नावधारयति। केवलप्रपञ्चेन वा सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठवत् शास्त्रस्य गौरवप्रसङ्गः"।

३. पा० १.४.२४।

४. वा० प० ३.७.१४७।

५. महा० प्र०, भा० ५, सू० ७.१.६५, पृ० ९०-९१।

में आता है। जहाँ तक भाष्यकार का सम्बन्ध है उन्होंने प्रत्याख्यान करते समय सामान्येन 'नार्थः', 'शक्योऽवक्तुम्', 'शक्यमकर्तुम्', 'आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति', 'नैतदस्ति प्रयोजनम्', 'किमर्थमिदमुच्यते', 'लोकत एतत् सिद्धम्' तथा (एकदेशिसमासो) 'नारप्स्यते' इत्यादि शैली का प्रयोग किया है। इस प्रकार भाष्य में प्रत्याख्यान सम्बन्धी अनेक प्रकार की शैलियां मिलती हैं जो कि उसके गूढ़ अध्ययन से और भी खोजी जा सकती हैं।

प्रत्याख्यानप्रसंग में वार्तिककार तथा भाष्यकार का दृष्टिकोण :

वार्तिककार कात्यायन का उद्देश्य तात्कालिक भाषा के आधार पर अभिधान-अनभिधान की दृष्टि से इष्ट-अनिष्ट का विवेक करते हुए पाणिनि की सविशेष कृति अष्टाध्यायी में केवल प्रतिसंस्कारमात्र करना रहा है। इसीलिये इन्होंने पाणिनिसूत्रों को विकृत न करके अपने प्रस्तावित वार्तिकों का पृथक् ही पाठ किया है। इस सन्दर्भ में इन्होंने कहीं पर पाणिनिसूत्रों का खण्डन किया है तथा अनेकत्र मण्डन भी किया है। कहीं दूसरे की शंकाओं का उत्तर दिया है तथा कहीं पर नूतन शंका स्थलों का संकेत भी किया है। कात्यायन के वार्तिकों को देखकर यह सर्वथा प्रतीत नहीं होता कि वे पाणिनिसूत्रों के प्रति 'दूसरा भाव' रखते हैं। न जाने कैसे शबरस्वामी को यह भ्रान्ति हो गई और वे कह उठे—"सद्बाचित्वाच्च पाणिनेर् वचनं प्रमाणमसद्बाचित्वान्न कात्यायनस्य"।[1] इसी प्रकार गोल्डस्टुकर आदि पाश्चात्य विद्या विशारदों का भी कात्यायन का पाणिनि का आलोचक[2] मानना चिन्त्य ही है। सम्भवतः इन दोनों का ऐसा मानने का आधार वार्तिककार के विषय में भाष्यकार का निम्न वचन रहा होगा—"नासूया कर्तव्या यत्रानुगम आचार्येण क्रियते"।[3] जबकि उक्त प्रसंग में भाष्यकार की अपेक्षा वार्तिककार का कथन

---

१. मीमांसा शाबरभाष्य, १०.८.१।

२. पाणिनिः हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, पृ० १३२

"Kātyāyana did not mean to justify and to defend the rules of Pāṇini, but to find faults with them......Kātyāyana in short,does not leave the impression of an admireor friend of Pāṇini, but that of an antagonist, often, too, of an unfair antagonist".

३. महा० भा० २, सू० ५.१.५९, पृ० ३५५-५६।

अधिक तर्क संगत रहा है। कात्यायन ने एक भाषाशास्त्री होने के नाते तात्कालिक शिष्ट प्रयुक्त भाषा के आधार पर तटस्थ भाव से पाणिनिसूत्रों की समीक्षा प्रस्तुत की है। इसीलिये वे जो बात कहते हैं वह सूत्रकार पाणिनि से भी अधिक प्रामाणिकतर मानी जाती है।[1] इस प्रकार वस्तुतः न कोई किसी का मित्र है तथा न कोई किसी का शत्रु। सबका लक्ष्य केवल शब्दसिद्धि मात्र है और वह भी संक्षेपीकरण के आधार पर जिससे अल्प समय और अल्प यत्न में ही बहुत बड़ा शब्दसागर हृदयंगम किया जा सके।[2]

जहां तक भाष्यकार का सम्बन्ध है इन्होंने कात्यायन द्वारा किसी सूत्र या सूत्राँश का प्रत्याख्यान किये जाने के अवसर पर यथासम्भव सूत्रकार पाणिनि का ही पक्ष लिया है। अधिकतर इनकी यही इच्छा रहती है कि यथाशक्ति सूत्रकार के सूत्रों से ही काम चलाया जाये। व्यर्थ ही वार्तिकों का भार सूत्र पर न पड़े, चाहे उसमें कितनी ही क्लिष्ट कल्पना क्यों न करनी पड़े। जैसा कि प्रसिद्ध है—"सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके"[3]।

किसी-किसी स्थान पर इन्होंने सूत्रों के शब्दों में अन्तर प्रस्तावित किए तथा वैसा करने के लाभ भी बताये किन्तु अन्त में यह कहकर कि ऐसा परिवर्तन करने पर तो सूत्र का रूप अपाणिनीय हो जायेगा, उन्होंने सूत्रों को ज्यों का त्यों छोड़ दिया।[4] किन्तु यदि पाणिनि के सूत्र भी विशेष युक्ति-प्रयुक्तियों से अन्यथासिद्ध हो सकें तो इन्हें कोई आपत्ति नहीं। दूसरे शब्दों में, सूक्ष्मता एवं संक्षेप के साथ व्यापकता की पाणिनीय धारणा को इन्होंने इतना आगे बढ़ाया है कि कात्यायन के साथ-साथ स्वयं आचार्य पाणिनि के सूत्रों में भी यदि कहीं व्यर्थता या पुनरावृत्ति की गन्ध मिलती है तो इसका

---

१. द्र०—वै० सि० कौ०, भा० १, पृ० २२३,—"यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्"।

२. द्र०—महा० पस्पशा०, पृ० ६—"येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्"।

३. तन्त्रवार्तिक, २.३.११।

४. (क) महा० भा० १, सू० १.१.६, पृ० ६१,—"सिद्ध्यति। सूत्रं तु भिद्यते। यथान्यासमेवास्तु"।

(ख) वही, पृ० १४,—"सिद्ध्यति। अपाणिनीयं तु भवति। यथान्यासमेवास्तु"।

भी इन्होंने विरोध किया है। किन्तु यह विरोध 'विरोध के लिये विरोध' न होकर सुधार और समन्वय की कोटि में आ जाता है।[१] ये अपनी तरफ से सूत्र की उन सब परिस्थितियों पर पूरा विचार करते हैं जिनमें सूत्र अनावश्यक सिद्ध हो सकता है। जहां तक सम्भव होता है पतंजलि उन-उन सूत्रों से ही ज्ञापक देकर[४] योगविभाग करके, लोकविज्ञान को आधार मानकर अथवा इसी प्रकार अन्य निपातन आदि समाधानों का आश्रय लेकर काम चलाने का प्रयास करते हैं। जहाँ तो सूत्र के बिना भी सब लक्ष्यों को निर्दोष सिद्ध करने में पतंजलि सफल हो जाते हैं वहाँ तो ठीक है। किन्तु जहाँ पूरा बुद्धिबल लगाने पर भी सूत्र का प्रत्याख्यान नहीं कर पाते हैं, वहाँ स्वयं सिर झुका लेते हैं और उनके मुख से सहज ही निम्न शब्द फूट पड़ते हैं।

"सामर्थ्ययोगान्न हि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्"[५] फिर भी इनकी दृष्टि में सूत्रकार और वार्तिककार दोनों के प्रति आदरभावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। क्योंकि सूत्रकार के साथ-साथ इन्होंने वार्तिककार के लिए भी भगवान् तथा 'आचार्य' जैसे विशेषणों का प्रयोग किया है।

---

१. एफ० कीलहार्न, कात्यायन एण्ड पतंजलि।

२, तुलना करो—महा० भा० ३, सू० ८.२.३, पृ० ३८८,—"इहेङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रनिबन्धनेनाचार्याणामभिप्रायो लक्ष्यते"।

३. महा०, भा० ३, सू० ६.१.७७, पृ० ५४।

प्रथम अध्याय

संज्ञा सूत्रों का प्रत्याख्यान

नाज्झलौ ॥ १. १. १० ॥

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

यह सूत्र अचों और हलों की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध करता है। इससे पूर्ववर्ती "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्"[1] यह सूत्र 'सवर्ण' संज्ञा विधायक है। इसका अर्थ है कि जिन वर्णों के तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य हों, आपस में मिलते हों, उनकी आपस में 'सवर्ण' संज्ञा होती है। इस प्रकार यदि अचों और हलों में भी किन्हीं वर्णों के स्थान-प्रयत्न तुल्य हों तो उनकी भी आपस में 'सवर्ण' संज्ञा प्राप्त होती है। उसका निषेध करने के लिए उक्त सूत्र है।

यहां 'अच्' शब्द से "अ इ उण्" के अकार से लेकर 'ऐ औच्' के चकार तक अक्षर समाम्नाय में पठित वर्णों का ही ग्रहण अभिप्रेत है। उनके दीर्घ प्लुत आदि भेदों का इस सूत्र में ग्रहण नहीं है। क्योंकि इस सूत्र की निष्पत्ति से पूर्व "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः"[2] इस ग्रहणक शास्त्र की उत्पत्ति या प्रवृत्ति नहीं होती।[3] अतः ह्रस्व अकार इकार आदि ही यहाँ 'अच्' माने जाते हैं, दीर्घ आकारादि नहीं।

अचों में भी केवल 'अ', 'इ', 'ऋ', 'लृ' ये चार वर्ण ही ऐसे हैं जिनके स्थान प्रयत्न हलों में आने वाले 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन चार ऊष्मा संज्ञक वर्णों से

---

१. पा० १.१.९।

२. पा० १.१.६८।

३. द्र० पा० १.१.९ पर वार्तिक "वाक्यापरिसमाप्तेर्वा" का महा० भा० १, पृ० ६४ "किमिदं वाक्यापरिसमाप्तेरिति—वर्णानामुपदेशस्तावत्। उपदेशोत्तरकालेत्संज्ञा। इत्संज्ञोत्तरकाल "आदिरन्त्येन सहेता" इति प्रत्याहारः। प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञा। सवर्णसंज्ञोत्तरकालमणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इति सवर्णग्रहणम्। एतेन सर्वेण समुदितेन वाक्येनान्यत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति। न चात्रेकार शकारं गृह्णाति······।"

मिलते हैं। तद्यथा-आकार और हकार का कण्ठस्थान तुल्य है।[1] "विवृतमूष्मणां स्वराणां च"[2] इस प्राचीन वचन के अनुसार इन दोनों का विवृत प्रयत्न भी तुल्य है। इसलिये अकार और हकार की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा प्राप्त होती है। इस सूत्र से उसका निषेध हो जाएगा तो 'दण्डहस्तः' इत्यादि में 'सवर्ण' संज्ञा के निषेध होने से 'सवर्ण' ग्रहण न होने के कारण "अकः सवर्णे दीर्घः"[3] से दीर्घ नहीं होता यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। 'मालाहस्तः' में तो आकार के 'अच्' न होने के कारण यह सूत्र 'सवर्णसंज्ञा' का निषेध नहीं करेगा। इसलिए वहां आकार और हकार की 'सवर्ण' संज्ञा बनी रहेगी। किन्तु 'सवर्ण' संज्ञा बनी रहने पर भी 'मालाहस्तः' में 'सवर्णदीर्घ' नहीं होगा। क्योंकि "अणुदित्सवर्णस्य०" सूत्र से जब तक 'अण्' सवर्ण का ग्रहण नहीं कर लेता तब तक हकार को 'अच्' नहीं माना जा सकता। 'अणुदित्०' सूत्र के 'अण्' ग्रहण में हकार के आ जाने पर भी "रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति"[4] इस वचन से हकार का कोई सवर्ण न होने वह किसी 'अच्' को ग्रहण नहीं कर सकता। इस प्रकार "अणुदित्०" सूत्र के 'अण्' प्रत्याहार में रेफ और हकार के अन्तर्गत हो जाने पर भी उन दोनों का कोई सवर्ण न होने से वे किसी का ग्रहण नहीं कर सकते। किन्तु कौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित ने भाष्यकार के "रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति" इस वचन पर पूर्णरूपेण ध्यान न देकर "नाज्झलौ" इस सूत्र में 'आ+अच्=आच्" इस प्रकार आकार का प्रश्लेषण करके आकार और हकार की 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध स्वीकार किया है।[5] उससे 'विश्वपाभिः' इत्यादि प्रयोगों में आकार का हकार मानकर "होढः"[6] से 'ढत्व' नहीं होता।

अकार और हकार के समान इकार और शकार के भी स्थानप्रयत्न मिलते हैं। इकार शकार का तालुस्थान तुल्य है।[7] विवृत प्रयत्न भी तुल्य है।[8] दोनों की 'सवर्ण' संज्ञा का इस सूत्र में निषेध हो जाने के कारण 'दधि शीतलम्'

---

१. द्र० व० शि० १.२२ "अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः'।

२. वै० सि० कौ० भा० १, पृ० १९।

३. पा० ६.१.१०१।

४. महा० हयवरट् सूत्र, पृ० २८ तथा व० शि० ६.७।

५. द्र० वै० सि० कौ० भा० १, प्रकृते सूत्र पृ० २४-२५ आकार सहितोऽच् आच् स च हल् चेत्येतौ मिथः सवर्णौ न स्तः'।

६. पा० ८.३.३१।

७. द्र० वै० सि० कौ० भा० १, पृ० १६ 'इचुयशानां तालु'।

८. वही, पृ० १९ 'विवृतमूष्मणां स्वराणां च'।

यहाँ 'सवर्ण दीर्घ' नहीं होता। 'कुमारी शेते' यहाँ तो दीर्घ ईकार तथा शकार की 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध यह सूत्र नहीं कर सकता। अतः 'सवर्ण' संज्ञा बनी रहेगी। किन्तु 'सवर्ण' संज्ञा बनी रहने पर भी 'अणुदित्' सूत्र से शकार का ग्रहण न होने से 'सवर्ण दीर्घ' नहीं होगा। क्योंकि ईकार और शकार में से कोई सा भी 'अण्' नहीं जो एक दूसरे सवर्ण का ग्रहण कर सके। इसलिए "अकः सवर्णे दीर्घः" सूत्र में 'अचि' की अनुवृत्ति करके 'अकः सवर्णे अचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात्' ऐसा अर्थ किया गया है। यदि वहां 'अचि' की अनुवृत्ति न की जाए तो केवल 'सवर्ण' कहने से 'कुमारी शेते' में अनिवार्य रूप से दीर्घ प्राप्त होता है। 'अ, इ' के समान 'ऋ, लृ' भी हलों के समान स्थान-प्रयत्न वाले हैं। ऋकार और षकार का मूर्धा स्थान तुल्य हैं।[1]। दोनों का विवृत प्रयत्न भी तुल्य है। इस सूत्र से दोनों की 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध हो जाने से 'मातृषट्कम्' यहाँ 'सवर्ण दीर्घ नहीं होता। इसी प्रकार लृकार और सकार का भी दन्त स्थान तुल्य है।[2] विवृत प्रयत्न भी दोनों का तुल्य है। इस सूत्र से उनकी 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध हो जायेगा तो 'गम्लृ साधनम्' जैसे प्रयोगों में 'सवर्ण दीर्घ' नहीं होता।

इस प्रकार ह्रस्व अकार आदि में तो 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध हो जाने से कोई दोष नहीं होगा तथा दीर्घ आकार आदि में 'सवर्ण' संज्ञा होने पर भी सवर्ण ग्रहण न होने से कोई दोष नहीं आयेगा। इसलिए 'वैपाशो मत्स्यः' तथा 'आनडुहं चर्म' यहाँ क्रम से शकार को इकार मानकर तथा हकार को अकार मानकर "यस्येति च"[3] इस सूत्र से इकार और अकार का लोप नहीं होता। सभी इष्ट लक्ष्यों के सिद्ध हो जाने से इस सूत्र की स्थापना सप्रयोजन स्थिर हो जाती है।

प्रयत्नभेद मानकर सूत्र का प्रत्याख्यान

अचों अचों और हलों हलों की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा मानने में तो किसी को कोई आपत्ति नहीं है। अचों में जैसे अकार के ह्रस्व, दीर्घ प्लुत आदि भेद हैं, वे आपस में सवर्ण हैं, उसी प्रकार इकार, उकार, ऋकार तथा लृकार के भी अपने-अपने भेद आपस में सवर्ण हैं। ऋकार और लृकार के परस्पर स्थान-प्रयत्न न मिलने पर भी वार्तिककार ने "ऋलृवर्णयोः मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्"[4] यह कहकर लक्ष्यसिद्धि के लिये उनकी 'सवर्ण' संज्ञा मानी है।

'ए,' 'ऐ', 'ओ', 'औ' के अपने-अपने भेद आपस में सवर्ण हैं। 'ए', 'ऐ', के

---

१. वै० सि० कौ० भा० १पृ० १७ 'ऋ टु र षाणां मूर्धा'।
२. वही, लृ तु लसानां दन्ताः'।
३. पा० ६.४.१४२।
४. वै० सि० कौ० भा० १, पृ० २४।

परस्पर स्थान-प्रयत्न मिलने पर भी दोनों की आपस में 'सवर्ण' संज्ञा नहीं होती। इसी प्रकार 'ओ', 'औ' के भी आपस में स्थान-प्रयत्न मिलने पर दोनों की 'सवर्ण' संज्ञा नहीं होती।[१] इस विषय में "ऐ औ च्" इस पृथक् सूत्र का आरम्भ ही ज्ञापक है अन्यथा "ए ओङ्" इस सूत्र से ही क्रमशः 'ऐ', 'औ' का भी ग्रहण हो जाता तो पृथक् "ऐ औच्" सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता थी। दोनों के आपस में सवर्ण न होने से ही "एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धेः"[२] सूत्र से जहाँ 'हे वायो'! इत्यादि प्रयोगों में ओकार से परे सम्बुद्धि का लोप हो जाता है वहां 'हे ग्लौः'! यहाँ औकार से परे नहीं होता। इसी प्रकार 'गाम्', 'गाः' की तरह 'ग्लावम्', 'ग्लावः' यहाँ "औतोऽम्शसोः"[३] से आकार भी नहीं होता। इस प्रकार अचों अचों की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा स्पष्ट है केवल अपवाद विषयों को छोड़कर।

हलों में भी 'कु', 'चु', 'टु', 'तु', 'पु' ये पांचों उदित् वर्ग अपने-अपने वर्ग के सवर्ण हैं। 'क', 'ख', 'ग', 'घ', 'ङ' ये पाँचों वर्ण आपस में सवर्ण हैं। इसी तरह चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग में समझना चाहिए।[४] 'य', 'व', 'ल' ये तीन निरनुनासिक वर्ण 'यँ', 'वँ', 'लँ' इन तीनों सानुनासिक वर्णों के सवर्ण हैं जो कि "अणुदित्०" सूत्र के 'अण्' ग्रहण में आने से अपने सवर्ण सानुनासिक 'यँ', 'वँ', 'लँ' को ग्रहण करते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि सब वर्णों की इतनी प्रसिद्ध 'सवर्ण' संज्ञा होने पर भी अकार-हकार, इकार-शकार, ऋकार-षकार तथा लृकार-सकार इन चार अज्हल् वर्णों का विवाद बना ही रहता है। जब तक इन वर्णों के स्थान-प्रयत्न तुल्य माने जायेंगे तब तक 'सवर्ण' संज्ञा का विवाद भी बना रहेगा। इस विवाद की निवृत्ति के लिये ही "नाज्झलौ" यह सूत्र बनाया गया है। किन्तु भाष्यकार ने वार्तिककार के साथ मिलकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान करने के लिये अभ्युपायान्तर सोचा है—"सिद्धमनच्त्वात्"[५] अर्थात् "नाज्झलौ" इस निषेध सूत्र के बिना भी इष्ट-सिद्धि हो जायेगी। अकार, हकार आदि चार ही तो अच् हल् वर्ण हैं जिनके स्थान-प्रयत्न मिलने से 'सवर्ण' संज्ञा प्राप्त होती है। इन चारों का यदि प्राचीन आचार्यों के वचन के आधार पर प्रयत्न-भेद कर लिया जाये तो 'सवर्ण' संज्ञा कैसे प्राप्त होगी। अकार आदि सभी स्वरों का तो विवृत प्रयत्न सर्वसम्मत

---

१. वै० सि० कौ० भा० १ पृ० २६ 'एदैतोरोदौतोश्च न मिथः सावर्ण्यम्'।
२. पा० ६.१.६६।
३. पा० ६.१.९३।
४. व० शि० ६.८ 'वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः'।
५. महा० भा० १ प्रकृत सू०, पृ० ६४।

है। 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन ऊष्मवर्णों के प्रयत्न में मतभेद है। कुछ आचार्य स्वरों के समान इन ऊष्मसंज्ञक वर्णों का विवृत प्रयत्न भी मानते हैं।[1] किन्तु कुछ इनका ईषद्विवृत प्रयत्न स्वीकार करते हैं।[2] स्वरों का केवल विवृत है तथा 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन चारों का ईषद् विवृत है—इस तरह प्रयत्न-भेद मान लेने पर 'सवर्ण' संज्ञा की प्रसक्ति ही नहीं। तब इस निषेध सूत्र की क्या आवश्यकता है। सुतरां—'श', 'ष', 'स', 'ह' इन चारों ऊष्म वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न मान लेने पर इनकी आकार, इकार, ऋकार तथा लृकार इन चारों अचों से कोई तुल्यता ही नहीं। क्योंकि केवल स्थान तुल्य होने पर 'सवर्ण' संज्ञा नहीं हो सकती। उसके लिए आभ्यन्तर प्रयत्न की तुल्यता भी तो आवश्यक है। इस प्रकार 'सवर्ण' संज्ञा न होने से अकार आदि चारों अच् 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन चारों हलों का ग्रहण न कर सकेंगे तो इनके 'अच्' न होने के कारण 'दण्डहस्तः' इत्यादि प्रयोगों में सवर्णदीर्घ नहीं होगा। अन्यत्र कहीं दोष सम्भव नहीं, इसलिए ''नाज्झलौ'' यह सूत्र निष्प्रयोजन होने के कारण प्रत्याख्येय है। इसका प्रयोजन तो अकार हकार आदि के तुल्य प्रयत्न मानने पर ही था। जब दोनों के प्रयत्न ही भिन्न मान लिए गये तब यह सूत्र निरर्थक है।

भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में इस विषय पर अच्छा विचार किया है। उनके कथन का आशय यह है कि यदि ''नाज्झलौ'' यह सूत्र रखना ही है तो ''नाज्झलौ'' की जगह ''नाक्शलौ'' ऐसा सूत्र का न्यास करना चाहिये।[3] वहां 'अक्' प्रत्याहार में 'अ', 'इ', 'ऋ', 'लृ' इन चारों वर्णों का ग्रहण हो जायेगा और 'शल्' प्रत्याहार में तो 'श', 'ष', 'स', 'ह' ये चार वर्ण हैं ही। उन सबकी आपस में 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध हो जाने से सब इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे। कहीं पर दोष नहीं होगा। वस्तुतः ''नाज्झलौ'' की अपेक्षा ''नाक्शलौ'' यह न्यास अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण लगता है। क्योंकि उक्त सूत्र में 'अच्' ग्रहण की अपेक्षा 'अक्' ग्रहण करने में लाघव है।

किन्तु नागेश भट्ट के अनुसार यह न्यास भी दोषयुक्त होने से ग्राह्य नहीं है। क्योंकि किन्हीं के मत में एकार का स्थान कण्ठतालु न होकर केवल तालु है। वहां एकार और शकार का तुल्य स्थान हो जायेगा। विवृत प्रयत्न तो दोनों का तुल्य है ही। ऐसी अवस्था में एकार और शकार की 'सवर्ण' संज्ञा प्राप्त होगी।

---

१. वै० सि० कौ० भा० १. पृ० १० 'विवृतमूष्मणां स्वराणां च'। तुलना करो—पाणिनीय शिक्षा 'स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
२. द्र० व० शि० ६.७ 'ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः'।
३. द्र० श० कौ० भा० १, पृ० १२१ 'वस्तुतस्तु नाक्शलौ इत्येव सूत्रयितुमुचितम्।

उसको रोकने के लिये "नाक्शलौ" यह पर्याप्त नहीं है। क्योंकि 'अक्' प्रत्याहार में एकार के न होने से वह 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध नहीं कर सकेगा। अतः "नाज्झलौ" या "नाच्शलौ" यही न्यास उपयुक्त है।[1] यहाँ यह अवश्य चिन्त्य है कि एकार का तालु स्थान मानना एकीय मत है, सर्वसंमत नहीं। सामान्येन एकार का कण्ठतालु स्थान ही प्रसिद्ध है।

समीक्षा और निष्कर्ष

जहाँ तक सूत्र के प्रत्याख्यान का सम्बन्ध है उसके लिए तो स्वरों और ऊष्म 'श', 'ष', 'स', 'ह इन चारों वर्णों का प्रयत्न-भेद मान लेना ही उपयुक्त है। क्योंकि केवल अकार, हकार आदि चार अच् हल् वर्णों में 'सवर्ण' संज्ञा की प्राप्ति को रोकने के लिये "नाज्झलौ" यह सूत्र बनाया गया है। एक पृथक् निर्मित सूत्र का इतना छोटा सा प्रयोजन कुछ महत्त्व नहीं रखता।[2] अतः भाष्यवार्तिक द्वारा किया गया इस सूत्र का प्रत्याख्यान समुचित ही है। सम्भवतः इसी कारण अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी इस सूत्र को अपने व्याकरणों में स्थान नहीं दिया है। प्रायः सभी में इसका अभाव दृष्टिगोचर होता है। जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरणों की क्रमशः महावृत्ति और अमोघवृत्ति में ही एतत्कार्यविषयक संकेत मिलता है[3] किन्तु वहां भी स्वरों और ऊष्मवर्णों का प्रयत्न भिन्न-भिन्न दिया है। इस दृष्टि से इसकी अनर्थकता स्पष्ट ही है।

हां, मन्दबुद्धियों की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये यदि यह सूत्र माना जाये तो बात दूसरी है। क्योंकि "नाज्झलौ" यहां सन्धि में भी कुत्व न करके जो जश्त्व किया है वह भी असंदिग्ध एवं विस्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये नितरां आवश्यक है। अन्यथा "न+अग्हलौ=नाग्घलौ" ऐसा कहने पर 'अक्' प्रत्याहार की भी भ्रान्ति सम्भव थी। अतः सूत्रनिर्देश ठीक ही है।

---

१. द्र० बृ० शे० शे० भा० १, पृ० ६१ 'अकारहकारयोरिति—एकारस्य केवल तालव्यत्वमोकारस्य केवलौष्ठ्यत्वमितिमते एकारशकारादीनामप्युपलक्षणम्। एतेन नाक्शलौ इत्येव सूत्रयितुमुचितमित्यपास्तम्'।

२. तुलना करो—महा० भा० १ सू० १.१.१२, पृ० ६४ 'नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति'।

३. जै० महावृत्ति सू० १.१.२, पृ० २ 'ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः, विवृतकरणाः स्वराः'।
शा० अमोघवृत्ति सू० १.१.६, पृ० ३ 'विवृतं स्वराणामीषद्विवृतमूष्मणाम्'।

बहुगण वतु डति संख्या ॥ १. १. २३ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'संख्या' संज्ञा करता है। यह संज्ञा व्याकरण की अपनी शास्त्रीय है। लोक प्रसिद्ध एक, दो आदि तो संख्यायें हैं ही। अतः उनका निर्देश पाणिनि ने लोक में प्रसिद्ध होने के कारण "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्"[1] इत्यादि सूत्रों द्वारा ज्ञापक सिद्ध होने के कारण अथवा "संख्यायतेऽनया सा संख्या"[2] अर्थात् जिससे संख्यान या गणन किया जाता है वह 'संख्या' होती है—इस प्रकार 'संख्या' संज्ञा के अन्वर्थक होने के कारण नहीं किया। यद्यपि उनका निर्देश करने में भी कोई हानि नहीं थी। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि व्याकरण शास्त्र में "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययौ भवति"[3] यह न्याय या परिभाषा प्रसिद्ध है। इसका अर्थ है कि 'कृत्रिम' और 'अकृत्रिम' के ग्रहण की संभावना में 'कृत्रिम' का ही ग्रहण होता है यानि 'कृत्रिम' में कार्य किया जाता है, 'अकृत्रिम' में नहीं। यहां 'कृत्रिम' से तात्पर्य है कि जो क्रिया द्वारा निष्पन्न है अर्थात् सूत्र प्रोक्त संज्ञा द्वारा विहित है तथा 'अकृत्रिम' जो असूत्रोक्त अनुक्त स्वतः सिद्ध अथवा अन्वर्थ है। इस प्रकार उक्त परिभाषा के आधार पर यहां सूत्र प्रोक्त संज्ञा द्वारा विहित 'बहु,' 'गण', 'वतु' तथा 'डति' इन चार शब्दों की ही 'संख्या' संज्ञा प्राप्त होती है। असूत्रोक्त, लोक प्रसिद्ध 'एक' 'द्वि' आदि शब्दों की नहीं।

किन्तु इस परिभाषा की बाधक अगली परिभाषा भी है—

"उभयगतिरिह भवति"[4]

अर्थात् इस व्याकरण शास्त्र में दोनों तरह की बातें होती हैं। 'कृत्रिम' के साथ 'अकृत्रिम' का भी ग्रहण होता है। न केवल इस 'संख्या' संज्ञा में ही, अपितु अन्यत्र सर्वत्र व्याकरण शास्त्र के कार्य में भी 'कृत्रिम' के साथ 'अकृत्रिम' का भी ग्रहण किया जाता है। जैसे—"कर्तुरीप्सिततमं कर्म[5]" यह 'कर्म' सूत्रप्रोक्त होने से 'कृत्रिम' है। किन्तु 'कर्म' शब्द से शास्त्र में दोनों का ही ग्रहण होता है। यथा—"कर्मणि द्वितीया"[6]—यहां 'कर्म' शब्द से 'कृत्रिम कर्म" का ग्रहण है तथा "कर्त-

---

१. पा० ५.१.१२।
२. महा० भा० १, सू० १.१.२३, पृ० ८१।
३. वही, पृ० ८०।
४. परि० सं० ९।
५. पा० १.४.४९।
६. पा० २.३.२।

रिकर्मव्यतिहारे"[1] यहां 'कर्म' शब्द से 'अकृत्रिम' अर्थात् असूत्रोक्त, क्रियावाचक 'कर्मशब्द' का ग्रहण है। इसी प्रकार 'करण संज्ञा[2]' तथा 'अधिकरण संज्ञा'[3] आदि प्रदेशों में भी 'कृत्रिम' के साथ 'अकृत्रिम' का भी ग्रहण होता है। इसलिये "उभयगतिरिहभवति" इस परिभाषा के अनुसार 'कृत्रिम' 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' की 'संख्या' संज्ञा के साथ-साथ 'अकृत्रिम' लोक प्रसिद्ध 'एक', 'द्वि' आदि शब्दों की भी 'संख्या' संज्ञा सिद्ध हो जाती है।[4]

प्राक् क्रीतीय अर्थों में "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" इस सूत्र से विहित 'कन्' प्रत्यय में जो 'ति' तथा 'शत्' शब्दान्त 'संख्या' का निषेध किया गया है वह इस बात का ज्ञापक है कि लोक प्रसिद्ध एक, दो आदि संख्यायें भी इस शास्त्र में 'संख्या' शब्द से व्यवहृत या गृहीत होती हैं। अन्यथा नव निर्मित 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' इन चारों संख्या संज्ञकों में तो 'ति' और 'शत्' शब्दान्त एक भी शब्द नहीं है जिसका "अतिशदन्तायाः कन्" से निषेध अभीष्ट है। 'ति' और 'शत्' शब्दान्त 'संख्यायें' तो लोकप्रसिद्ध 'षष्टि', 'सप्तति', 'अशीति', 'नवति' तथा 'त्रिंशत्', 'चत्वारिंशत्' तथा 'पंचाशत्' हैं। 'डति' में 'अति' शब्द है। 'ति' शब्द नहीं है। उसमें 'अति' शब्द अर्थवान् है। उसका अवयव 'ति' शब्द अनर्थक है। अतः "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य"[5] इस परिभाषा के बल से अनर्थक 'ति' शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता।

---

१. पा० १.३.१४।

२. पा० १.४.४२ 'साधकतमं करणम्'।
   (क) कृत्रिम, पा० २.३.१२ 'कर्तृकरणयोस्तृतीया'।
   (ख) अकृत्रिम, पा० ३.१.१७ 'शब्द वैरकलहाभ्रमेघेभ्यः करणे'।

३. १.४.४५ 'आधारोऽधिकरणम्'।
   (क) कृत्रिम, पा० २.३.३६ 'सप्तम्यधिकरणे च'।
   (ख) अकृत्रिम, पा० २.४.१३ 'विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि'।

४. 'संख्या' संज्ञा के अन्वर्थ होने पर 'एक', 'द्वि' आदि तो 'संख्या' मान लिये जायेंगे किन्तु लक्ष्यानुरोध से 'बहु,' 'गण', 'वतु' तथा 'डति' से अतिरिक्त 'भूरि', 'प्रभूत', 'बहुल' आदि 'संख्या' नहीं होगे। जैसे—सर्वनाम संज्ञा के अन्वर्थक होने पर भी 'सर्व' 'विश्व' आदि गण पठित शब्द ही सर्वनाम संज्ञक होते हैं। 'सकल', 'कृत्स्न' आदि सब के नाम होते हुए भी 'सर्वनाम' नहीं कहाते हैं।

५. परि० सं० १४।

यहां 'बहु' और 'गण' ये शब्द है तथा 'वतु' और 'डति' ये प्रत्यय हैं। केवल प्रत्ययों का प्रयोग न होने से "प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः"[१] इस नियम के आधार पर 'वतु' प्रत्ययान्त' और 'डति प्रत्ययान्त' शब्द की 'संख्या' संज्ञा होती है। इस विषय में "संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति"[२] अर्थात् प्रत्ययों की संज्ञा करने में तदन्तविधि नहीं होती--इस परिभाषा का यहां संकोच करना होगा। उक्त परिभाषा की प्रवृत्ति न होने पर 'वत्वन्त' और 'डत्यन्त' का ग्रहण सिद्ध हो जाएगा।

'वतुप्' प्रत्यय "यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्"[३] से विहित है। वह तद्धित है। अतः उसके साहचर्य से "किमः संख्यापरिमाणे डति च"[४] सूत्र से विहित 'डति' प्रत्यय भी तद्धित ही लिया गया है, औणादिक "पातेर्डति"[५] सूत्र द्वारा 'पा' धातु से विहित 'डति' प्रत्यय नहीं। जिस प्रकार "कृत्तद्धितसमासाश्च"[६] सूत्र में केवल 'कृत्', 'तद्धित' प्रत्ययों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा न होकर कृदन्त और तद्धितान्त शब्दों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होती है उसी प्रकार यहां भी 'वत्वन्त' और 'डत्यन्त' की 'संख्या' संज्ञा की जाती है। भाष्य में कहा भी है—

"कृत्तद्धितान्तं चैवार्थवत्। न केवलाः कृतः तद्धिता वा इत्यादि"।[७] इसीलिये "सुप्तिङन्तं पदम्"[८] सूत्र में 'अन्त' ग्रहण किया है जिससे 'सुबन्त' तथा 'तिङन्त' की 'पद' संज्ञा हो, केवल 'सुप्' या 'तिङ्' प्रत्यय की न हो। अन्यथा "संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे०" इस उक्त पतिभाषा के बल से तदन्त का निषेध होकर 'सुबन्त' और 'तिङन्त' की 'पद' संज्ञा नहीं प्राप्त होती थी। क्योंकि 'सुप्' और 'तिङ्' ये दो प्रत्यय हैं इनकी पद संज्ञा विधान करनी है। "संज्ञाविधौ प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" इस परिभाषा का प्रयोजन तो अन्यत्र स्पष्ट ही है। यथा—"तरप्तमपौ घ।"[९] यहां 'तरप्' और 'तमप्' की 'घ' संज्ञा करने में

---

१. परि सं० २४।
२. परि० सं० २७।
३. पा० ५.२.३९।
४. पा० ५.२.४१।
५. उणादि, ४.४८७।।
६. पा० १.२.४६।।
७. महा० भा० १ सू० १.४.१४, पृ० ३१९।
८. पा० १.४.१४।
९. पा० १.१.२२।

'तदन्त' का निषेध होकर 'तरबन्त' और 'तमबन्त' की 'घ' संज्ञा न होने से केवल 'तरप्' और 'तमप्' प्रत्ययों की 'घ' संज्ञा सिद्ध होती है। इससे 'कुमारी गौरितरा, यहां 'गौरितरा' इस 'तरबन्त' की 'घ' संज्ञा नहीं होती। उससे "घ रूप कल्प चेलट्०"[1] इस सूत्र से विहित ह्रस्व 'ङ्यन्त कुमारी' शब्द को नहीं होता। केवल 'तरप्' प्रत्यय परे रहते उसकी 'घ' संज्ञा होकर 'गौरी' को ह्रस्व हो जाता है।

'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' इन चारों की 'संख्या' संज्ञा करने में मुख्य रूप से चार पांच ही प्रयोजन हैं। यथा—'बहुधा', 'गणधा', 'तावद्धा', 'कतिधा' यहां "संख्याया विधार्थे धा"[2] सूत्र से 'धा' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। 'बहुशः', 'गणशः', 'तावच्छः', 'कतिशः',—यहां "संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्"[3] सूत्र से 'शस्' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। 'बहुकः' 'गणकः', 'तावत्कः', 'तावतिकः', 'कतिकः'—यहां "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्"[4] सूत्र से 'कन्' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। 'बहुकृत्वः', गणकृत्वः', तावत्कृत्व 'कतिकृत्वः' —यहां "संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्"[5] सूत्र से 'कृत्वसुच्' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'बहुतिथः', गणतिथः', 'कतिथः', 'तावतिथः'—यहां भी 'संख्या' संज्ञा होने से 'डट्' प्रत्यय होने पर 'तिथुक्'[6] 'इथुक्'[7] तथा 'थुक्'[8] का आगम सिद्ध हो जाता है।

यहाँ पर यह अवश्य ध्यातव्य है कि संख्यावाचक 'बहु' और 'गण' शब्दों की ही 'संख्या' संज्ञा की गई है। वैपुल्यवाची 'बहुशब्द' तथा संघवाची 'गणशब्द' की 'संख्या' संज्ञा नहीं होती।[9] उक्त 'संख्या' विषयक सूत्रों सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त अन्य प्रयोजन प्रयोग में अनुपलब्ध होने के कारण अन्वेष्टव्य हैं। "संख्या

---

१. पा० ६.३.४३।
२. पा० ५.३.४२।
३. पा० ५.४.४३।
४. पा० ५.१.२२।
५. पा० ५.४.१७।
६. ५.२.५२ 'बहु पूग गण संघस्य तिथुक्'।
७. पा० ५.२.५३ 'वतोरिथुक्'।
८. पा० ५.२.५१ 'षट् कति कतिपय चतुरां थुक्'।
९. तुलना करो—शा० सू० १.१.१० 'बहुगणं भेदे'।
हैं० सू० १.१.४० 'बहुगणं भेदे'।

वंश्येन"[1] तथा "संख्याव्ययासन्नाधिक०"[2] इत्यादि 'संख्याशब्द' वाले सूत्रों में 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' का प्रयोग कहीं पर दृष्टिगोचर नहीं होता। 'कृत्वसुच्' प्रत्यय का प्रयोग वेद में तो 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' से अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[3]

ज्ञापक द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों ने मिलकर सुगमतया इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। तद्यथा भाष्यवार्तिक हैं—

"बह्वादीनामग्रहणम्। ज्ञापकात्सिद्धम्। योगापेक्षं ज्ञापकम्"।[4]

इनका भाव यह है कि 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति—इनकी 'संख्या' संज्ञा करने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि पाणिनीय सूत्र ही इस बात में ज्ञापक हैं कि इनकी 'संख्या' संज्ञा होती है। तद्यथा—"तस्य पूरणे डट्"[5] यह सूत्र 'संख्यासंज्ञक' शब्दों से 'पूरण' अर्थ में 'डट्' प्रत्यय करता है। इसी 'डट्' प्रत्यय के परे रहते "बहु पूग गण संघस्य तिथुक्"[6] सूत्र से 'तिथुक्' का आगम होता है। 'बहुतिथः', 'गणतिथ' इत्यादि। इसी प्रकार 'डट्' प्रत्यय परे रहते ही "वतोरिथुक्"[7] सूत्र से 'वतु प्रत्ययान्त' को 'इथुक्' का आगम होता है। 'तावतिथः' इत्यादि। "षट् कति कतिपय चतुरां थुक्"[8] सूत्र से भी 'डट्' प्रत्यय परे रहते 'कति' शब्द को 'थुक्' का आगम किया गया है 'कतिथः' इत्यादि। इसी प्रकार "वतोरिड् वा"[9] सूत्र से "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" से विहित 'कन्' प्रत्यय को 'वतु' से परे 'इड्' विकल्प किया गया है। 'तावतिकः', 'तावत्कः' इत्यादि। 'तावता क्रीतः'[10] इस अर्थ में उक्त दो रूप बनते हैं।

---

१. पा० २.१.१९।
२. पा० २.२.२५।
३. (क) ऋक्० ५.५४.१ 'शश्वत्कृत्वः'।
   (ख) वही ३.१८.४। भूरिकृत्व
४. महा० भा० १, सू० १.१.२३, पृ० ८३।
५. पा० ५.२.४८।
६. पा० ५.२.५२।
७. पा० ५.२.५३।
८. पा० ५.२.५१।
९. पा० ५.१.२३।
१०. पा० ५.१.३७। 'तेन क्रीतम्'

इस प्रकार आचार्य पाणिनि के पूर्वापरसूत्रपर्यालोचना द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि वे 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' को 'संख्या' मानते हैं। तभी तो वे 'संख्या' सम्बन्धी कार्यों 'डट्' आदि प्रत्यय तथा 'तिथुक्' आदि आगमों का विधान करते हैं। इस दृष्टि से कात्यायन तथा पतंजलि ने उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वार्तिककार तथा भाष्यकार द्वारा किया गया 'संख्या' संज्ञा विधायक इस सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्याय्य है। क्योंकि जिस प्रकार 'एक', 'दो' आदि लोक-प्रसिद्ध संख्यायें 'संख्या' संज्ञा किये बिना ही 'संख्या' समझ ली जाती हैं उसी प्रकार ज्ञापकशास्त्रप्रसिद्ध 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' भी 'संख्या' संज्ञा किये बिना ही 'संख्या' समझ लिए जायेंगे। एक 'संख्या' लोक से सिद्ध है तथा दूसरी शास्त्र से। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। इसके अतिरिक्त इस शास्त्रीय संज्ञा का प्रयोजन भी तो अत्यल्प ही है तथा वह स्वयं शास्त्र से ही सिद्ध हो जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में अर्वाचीन वैयाकरण भी प्रायः कोई विशेषता नहीं पैदा कर सके हैं। इनमें आचार्य चन्द्रगोमिन् ने 'कति', 'गण' तथा 'वतु' की ही 'संख्या' संज्ञा मानी है। 'बहु' को छोड़ दिया है।[1] भाष्यकारकृत प्रत्याख्यान का अनुकरण करते हुए केवल पूज्यपाद देवनन्दी ने ही 'कति' की 'संख्या' संज्ञा का कथन किया है।[2] जो कि सर्वथा आवश्यक भी है। शाकटायन, भोजराज तथा हेमचन्द्र ने इस विषय में पाणिनि का समर्थन करते हुए इन सूत्रों को अपने यहां रखा है।[3] हां, शाकटायन तथा हेमचन्द्र ने वैपुल्य एवं संघवाची 'बहु', 'गण' शब्दों की 'संख्या संज्ञा रोकने के लिये स्पष्ट प्रतिपत्ति हेतु 'भेद' शब्द का प्रयोग अवश्य किया है। इस प्रकार लाघव की दृष्टि से यह अनावश्यक गौरव ही कहा जा सकता है। अतः सूत्र का प्रत्याख्यान ही उचित है।

डति च ॥१.१.२५॥

---

१. चा० सू० ४.१.३३-३४ 'कतिगणौ तद्वत्'। 'वतोः'। तुलना करो— महा० भा० १ सू० १.१.२३, पृ० ८१ 'अथवा नेदं संज्ञाकरणम्। तद्वदतिदेशोऽयम् बहु गण वतु डतयः संख्यावद् भवन्तीति'।

२. जै० सू० १.१.२३ 'कतिः संख्या'।

३. (क) शा० सू० १.१.६-१० 'घड्डति संख्या'। 'बहुगणं भेदे'।
(ख) स० सू० १.१.१७ 'बहुगण वतु डतयश्च संख्या'।
(ग) है० सू० १.१,३९-४० 'डत्यतु संख्यावत्'। 'बहुगणं भेदे'।

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

यह सूत्र 'डतिप्रत्यान्त' शब्द की 'षट्' संज्ञा करता है। 'डतिप्रत्ययान्त' शब्द का उदाहरण 'कति' है। यहां 'किमः संख्यापरिमाणे डति च''[1] इस सूत्र के द्वारा 'किम्' शब्द के 'संख्या' के 'परिमाण' अर्थ में 'डति' प्रत्यय होकर 'डित्' होने के कारण 'किम्' के 'टि' का लोप हो जाता है तो 'कति' शब्द बनता है। 'का संख्या येषां ते कति' यह बहुवचनान्त शब्द है। 'षट्' संज्ञक होने से तीनों लिङ्गों में समान है। 'षट्' संज्ञा होने पर ''षड्भ्यो लुक्''[2] से 'जस्', 'शस्' का लुक् होकर 'कति' यह शुद्ध रूप बनता है।

यदि इसकी 'षट्' संज्ञा न की जाए तो 'जस्', 'शस्' का लुक् न हो सके। तब 'कतयः', 'कतीन्' इस प्रकार अनिष्ट रूप बनने लगेंगे। उनकी व्यावृत्ति के लिये इसकी 'षट्' संज्ञा करनी आवश्यक है। इसीलिये यह सूत्र बनाया गया है। इससे पूर्व ''बहु गण वतु डति संख्या''[3] इस सूत्र से 'डति प्रत्ययान्त' की 'संख्या' संज्ञा भी की है। उसका प्रयोजन 'कतिधा', 'कतिशः', 'कतिकृत्वः' तथा 'कतिकः' ये हैं—यह पूर्व प्रतिपादित किया जा चुका है। इस प्रकार 'डति प्रत्ययान्त' 'कति' शब्द की 'संख्या' संज्ञा तथा 'षट् संज्ञा' दोनों अभीष्ट हैं। दोनों संज्ञाओं का प्रयोजन स्पष्ट ही है।

लाघवार्थ सूत्र का प्रत्याख्यान

आचार्य पाणिनि ने 'डति' शब्द को दो स्थानों पर पढ़ा है। एक ''बहु गण वतु डति संख्या'' यहां 'संख्या' संज्ञा में तथा दूसरा ''डति च'' इस 'षट्' संज्ञा में। प्रस्तुत प्रसङ्ग में वार्तिककार चुप हैं। वे 'डति' ग्रहण के खण्डन या मण्डन में मौन हैं। किन्तु भाष्यकार का विचार है कि लाघव की दृष्टि से इनमें एक 'डति' ग्रहण हटाया जा सकता है। यदि 'संख्या' संज्ञा वाले ''बहु गण वतु डति संख्या'' इस सूत्र में 'डति' को रखा जाता है तो 'षट्संज्ञा' करने के लिये ''डति च'' इस पृथक् सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं। ''बहु गण वतु डति संख्या'' वाला 'डति' ग्रहण ही ''ष्णान्ता षट्''[4] इस सूत्र में अनुवृत्त हो जायेगा। क्योंकि ''क्वचिदेक-देशोऽप्यनुवर्तते''[5] इस न्याय के अनुसार ''बहु गण वतु०'' इस समस्त सूत्र के एक-

---

१. पा० ५.२.४१।
२. पा० ७.१.२२।
३. पा० १.१.२३।
४. पा० १.१.२४।
५. परि० सं० १८।

देश 'डति' शब्द की ही "ष्णान्ता षट्" सूत्र में अनुवृत्ति करके षकारान्त नकारान्त 'संख्या' शब्दों के साथ 'डति' प्रत्यायन्त 'संख्या' शब्द की भी 'षट्' संज्ञा सिद्ध हो जायेगी। ऐसी स्थिति में प्रकृत सूत्र व्यर्थ है।

अथवा यदि 'षट्' संज्ञा वाला "डति च" सूत्र रखना अभीष्ट है तो "बहुगण वतु डति" संख्या में से 'डति' ग्रहण हटाया जा सकता है। क्योंकि "डति च" इस सूत्र में 'संख्या' संज्ञा की अनुवृत्ति करके 'डत्यन्त' संख्या शब्द की 'षट्संज्ञा' सिद्ध हो जायेगी अर्थात् 'षट्' संज्ञा के साथ-साथ 'डति प्रत्ययान्त' की 'संख्या' संज्ञा भी आवश्यक मानी जायेगी। जब तक 'डति प्रत्ययान्त' की 'संख्या' संज्ञा न होगी तब तक उसकी 'षट्संज्ञा' नहीं होगी। इस प्रकार एक ही 'डति' ग्रहण से दोनों संज्ञाओं की सिद्धि हो जाने से दो बार 'डति' ग्रहण करना अनावश्यक है यह सम्यक् उपपन्न हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वास्तव में यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पाणिनि जैसे सूक्ष्मेक्षिका[1] वाले आचार्य को 'डति प्रत्ययान्त' शब्दों की दो संज्ञा करने के लिये दो बार अलग-अलग 'डति' ग्रहण करना पड़ा। इनके सामने दो बार 'डति' ग्रहण करने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं था। किन्तु उससे भी अधिक आश्चर्य इस बात का है कि पाणिनि के निष्पक्ष समालोचक वार्तिककार कात्यायन भी इस विषय में मौन हैं। केवल भाष्यकार ने विपुल बुद्धि कौशल से इस बात को समझा कि यदि किसी प्रकार एक ही 'डति' ग्रहण से दोनों संज्ञाओं की अभीष्ट सिद्धि हो जाये तो वह अभ्युपाय सोचना चाहिए और उन्होंने वह उपाय ढूंढ भी निकाल तथा जिसमें कोई अधिक क्लिष्ट कल्पना भी नहीं थी। दोनों संज्ञायें एक ही 'डति' ग्रहण से निर्बाध रूपेण सिद्ध हो जाती हैं। अर्वाचीन वैयाकरणों में केवल देवनन्दी ने ही पतंजलि का अनुसरण किया तथा एक ही 'कति' ग्रहण करके, उसकी 'संख्या' संज्ञा मानी तथा उसे अग्रिम 'इल्' ('षट्') संज्ञाविधायक सूत्र में अनुवृत्त किया है।[2] यहां 'षट्' संज्ञा को 'इल्' शब्द से संकेतित किया गया है। शेष वैयाकरणों ने प्रायः 'षट्'संज्ञा को नहीं रखा है। अतः तत्तत्प्रयुक्त प्रदेशों में इन्होंने साक्षात् 'डति' का ग्रहण करके 'जस्-शस्-लुक्' रूप इष्ट साधन किया है।[3]

---

१. द्र० का० भा० ३, सू० ४.२.७४ पृ० ५६८ 'महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य'।

२. जै० सू० १.१.३३-३४ 'कतिः संख्या'। 'ष्णान्तेल्'।

३. (क) चा० सू० २.१,२२ 'कतेः'।

इसके अतिरिक्त यदि "बहु गण वतु संख्या", "डति षट् च" तथा "ष्णान्ता" इस प्रकार सूत्र की रचना की जाये तो भी एक 'डति' ग्रहण से ही काम चल सकता है। 'डति' की दोनों संज्ञायें "डति षट् च" इस सूत्र से सिद्ध हो जायेंगी। "ष्णान्ता" में केवल 'षट्' की अनुवृत्ति होगी। "चानुकृष्टं नोत्तरत्र"[1] के अनुसार चकार से अनुकृष्ट 'संख्या संज्ञा' की अनुवृत्ति न होगी तो इष्ट सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार प्रबल युक्ति-जालों से भाष्यकार द्वारा किया गया उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य है।

न बहुव्रीहौ ॥१.१.२९॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

सामान्य रूप से इस सूत्र का अर्थ यह है कि बहुव्रीहि समास में सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। किन्तु विशिष्ट रूप से विचार करने पर भाष्यकार तथा वृत्तिकारों के मत में उसके दो अर्थ होते हैं। सूत्र में 'बहुव्रीहि' ग्रहण किया है। वह दो प्रकार का है। एक तो मुख्य बहुव्रीहि, जिसे बहुव्रीहि समास कहते हैं, जिसमें एक पद, एक विभक्ति तथा एक स्वर होता है।[2] जैसे—'प्रियं विश्वं यस्य स प्रियविश्वः'। 'द्वौ अन्यौ यस्य स द्व्यन्यः'। 'त्र्यन्यः' इत्यादि। यहां 'प्रियविश्व', द्व्यन्य', 'त्र्यन्य' इन बहुव्रीहि समासों में 'विश्व', 'अन्य' शब्दों की सर्वनाम संज्ञा का यह सूत्र निषेध कर देता है तो "सर्वनाम्नः स्मै"[3] से 'स्मै' आदेश न होकर 'प्रियविश्वाय', 'द्व्यन्याय', 'त्र्यण्याय' ये इष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं।

मुख्य बहुव्रीहि समास वाले इस प्रथम अर्थ में "न बहुव्रीहौ" यह सप्तमी विभक्ति प्रथमा के अर्थ में समझनी चाहिये अर्थात् सर्वादि शब्दान्त बहुव्रीहि समास सर्वनाम संज्ञक नहीं होता। भाष्यकार ने इस अर्थ को अन्यथा सिद्ध कर

(ख) शा० सू० १.२.१५२ 'डतिष्णां संख्यायां जश्शसः'।

(ग) स० सू० ३.१.१८० 'कतेः'।

(ग) है० सू० १.४.५४ 'डतिष्णः संख्याया लुप्'।

१. परि० सं० ७९।

२. द्र० महा० भा० १, सू० १.१.२९, पृ० ९१ 'अयं खल्वपि बहुव्रीहिरस्त्येव प्राथमकल्पिकः। यस्मिन्नैकपद्यम्, ऐकस्वर्यम् एकविभक्तिकत्वं च'। तुलना करो--

"विभक्तिर्लुप्यते यत्र तदर्थस्तु प्रतीयते।
पदानां चैकपद्यं च समास सोऽभिधीयते॥"

३. पा० ७.१.१४।

दिया है। उनका कथन है—"उपसर्जनप्रतिषेधेनाप्येतत् सिद्धम्"[१] अर्थात् "सर्वादीनि सर्वनामानि"[२] इस सर्वनाम संज्ञा विधायक सूत्र में पठित 'संज्ञोपसर्जन प्रतिषेधः" इस वार्तिक द्वारा संज्ञा या उपसर्जन (गौण) बने हुए सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाता है। 'प्रियविश्व' इस बहुव्रीहिसमास में 'विश्व' शब्द के उपसर्जन होने से सर्वनाम संज्ञा प्राप्त ही नहीं तो उस सूत्र से निषेध करना व्यर्थ है।

इसलिये इस सूत्र का दूसरा अर्थ करने के लिए 'बहुव्रीहि' शब्द का अर्थ बदलना होगा। 'बहुव्रीहौ' यह विषय सप्तमी है। बहुव्रीहि के विषय में अर्थात् बहुव्रीसि समास के लिए जो अप्रयोगार्ह अलौकिक विग्रह वाक्य का प्रयोग किया जाता है, वह भी बहुव्रीह्यर्थ होने से उपचारात् बहुव्रीहि मान लिया जायेगा।[३] इस प्रकार सूत्र का अर्थ यह होगा कि बहुव्रीहि समासार्थ किये गये अलौकिक विग्रह वाक्य में ही सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाता है।[४] यथा—'त्वम्', 'अहम्' ये सर्वनाम शब्द हैं। इनसे 'अज्ञात', 'कुत्सित' आदि अर्थों में प्राप्त 'क'[५] प्रत्यय को बाधकर "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः"[६] सूत्र से 'टि' के पूर्व 'अकच्' होकर 'त्वकम्', 'अहकम्' रूप बनते हैं। 'त्वकं पिता यस्य स त्वत्कपितृकः। 'अहकं पिता यस्य स मत्कपितृकः' यहां बहुव्रीहि समासार्थ प्रयुक्त लौकिक विग्रह वाक्य का अप्रयोगार्ह अलौकिक वाक्य 'युष्मद्+सु पितृ+सु', 'अस्मद्+सु पितृ+सु' ऐसा होता है। उस अलौकिक विग्रह वाक्य में ही उक्त सूत्र से 'युष्मद्', 'अस्मद्' की सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाएगा। उससे 'अकच्' प्रत्यय न होकर 'क' प्रत्यय होगा। समासान्तर्वर्ती 'सु' विभक्ति का लोप तथा 'युष्मद्' 'अस्मद्' के 'म' पर्यन्त भाग को "त्वमावेकवचने"[७] से क्रमशः 'त्व' और

---

१. महा० भा० १, सू० १.१.२९, पृ० ९१।

२. पा० १.१.२७।

३. द्र० महा० भा० १, सू० १.१.२९, पृ० ९१ 'अस्ति तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यं बहुव्रीहिह्यर्थानि पदानि बहुव्रीहिरिति।'

४. "न बहुव्रीहौ" यहाँ 'बहुव्रीहौ' यह सप्तमी निर्देश भी यह सूचित करता है कि बहुव्री समास में अलौकिक विग्रह वाक्य में, जो सर्वादि हैं, उनकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। अन्यथा 'न बहुव्रीहिः' ऐसा प्रथमान्त निर्देश ही कर दिया जाता।

५. पा० ५.३.७३-७४ "अज्ञाते, कुत्सिते"।

६. पा० ५.३.७१।

७. पा० ७.२.९७।

प्रथम अध्याय

संज्ञा सूत्रों का प्रत्याख्यान

नाज्झलौ ॥ १. १. १० ॥

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

यह सूत्र अचों और हलों की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध करता है। इससे पूर्ववर्ती "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्"[1] यह सूत्र 'सवर्ण' संज्ञा विधायक है। इसका अर्थ है कि जिन वर्णों के तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य हों, आपस में मिलते हों, उनकी आपस में 'सवर्ण' संज्ञा होती है। इस प्रकार यदि अचों और हलों में भी किन्हीं वर्णों के स्थान-प्रयत्न तुल्य हों तो उनकी भी आपस में 'सवर्ण' संज्ञा प्राप्त होती है। उसका निषेध करने के लिए उक्त सूत्र है।

यहां 'अच्' शब्द से "अ इ उण्" के अकार से लेकर 'ऐ औच्' के चकार तक अक्षर समाम्नाय में पठित वर्णों का ही ग्रहण अभिप्रेत है। उनके दीर्घ प्लुत आदि भेदों का इस सूत्र में ग्रहण नहीं है। क्योंकि इस सूत्र की निष्पत्ति से पूर्व "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः"[2] इस ग्रहणक शास्त्र की उत्पत्ति या प्रवृत्ति नहीं होती।[3] अतः ह्रस्व अकार इकार आदि ही यहाँ 'अच्' माने जाते हैं, दीर्घ आकारादि नहीं।

अचों में भी केवल 'अ', 'इ', 'ऋ', 'ऌ' ये चार वर्ण ही ऐसे हैं जिनके स्थान प्रयत्न हलों में आने वाले 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन चार ऊष्मा संज्ञक वर्णों से

---

१. पा० १.१.९।

२. पा० १.१.६८।

३. द्र० पा० १.१.९ पर वार्तिक "वाक्यापरिसमाप्तेर्वा" का महा० भा० १, पृ० ६४ "किमिदं वाक्यापरिसमाप्तेरिति—वर्णानामुपदेशस्तावत्। उपदेशोत्तरकालेत्संज्ञा। इत्यसंज्ञोत्तरकाल "आदिरन्त्येन सहेता" इति प्रत्याहारः। प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञा। सवर्णसंज्ञोत्तरकालमणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इति सवर्णग्रहणम्। एतेन सर्वेण समुदितेन वाक्येनान्मत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति। न चात्रेकार शकारं गृह्णाति……।"

मिलते हैं। तद्यथा-आकार और हकार का कण्ठस्थान तुल्य है।[1] "विवृतमूष्मणां स्वराणां च"[2] इस प्राचीन वचन के अनुसार इन दोनों का विवृत प्रयत्न भी तुल्य है। इसलिये अकार और हकार की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा प्राप्त होती है। इस सूत्र से उसका निषेध हो जाएगा तो 'दण्डहस्तः' इत्यादि में 'सवर्ण' संज्ञा के निषेध होने से 'सवर्ण' ग्रहण न होने के कारण "अकः सवर्णे दीर्घः"[3] से दीर्घ नहीं होता यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। 'मालाहस्तः' में तो आकार के 'अच्' न होने के कारण यह सूत्र 'सवर्णसंज्ञा' का निषेध नहीं करेगा। इसलिए वहां आकार और हकार की 'सवर्ण' संज्ञा बनी रहेगी। किन्तु 'सवर्ण' संज्ञा बनी रहने पर भी 'मालाहस्तः' में 'सवर्णदीर्घ' नहीं होगा। क्योंकि "अणुदित्सवर्णस्य०" सूत्र से जब तक 'अण्' सवर्ण का ग्रहण नहीं कर लेता तब तक हकार को 'अच्' नहीं माना जा सकता। 'अणुदित्०' सूत्र के 'अण्' ग्रहण में हकार के आ जाने पर भी "रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति"[4] इस वचन से हकार का कोई सवर्ण न होने वह किसी 'अच्' को ग्रहण नहीं कर सकता। इस प्रकार "अणुदित्०" सूत्र के 'अण्' प्रत्याहार में रेफ और हकार के अन्तर्गत हो जाने पर भी उन दोनों का कोई सवर्ण न होने से वे किसी का ग्रहण नहीं कर सकते। किन्तु कौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित ने भाष्यकार के "रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति" इस वचन पर पूर्णरूपेण ध्यान न देकर "नाज्झलौ" इस सूत्र में 'आ+अच्=आच्" इस प्रकार आकार का प्रश्लेषण करके आकार और हकार की 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध स्वीकार किया है।[5] उससे 'विश्वपाभिः' इत्यादि प्रयोगों में आकार का हकार मानकर "होढः"[6] से 'ढत्व' नहीं होता।

अकार और हकार के समान इकार और शकार के भी स्थानप्रयत्न मिलते हैं। इकार शकार का तालुस्थान तुल्य है।[7] विवृत प्रयत्न भी तुल्य है।[8] दोनों की 'सवर्ण' संज्ञा का इस सूत्र में निषेध हो जाने के कारण 'दधि शीतलम्'

---

१. द्र० व० शि० १.२२ "अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः'।
२. वै० सि० कौ० भा० १, पृ० १६।
३. पा० ६.१.१०१।
४. महा० हयवरट् सूत्र, पृ० २८ तथा व० शि० ६.७।
५. द्र० वै० सि० कौ० भा० १, प्रकृते सूत्र पृ० २४-२५ आकार सहितोऽच् आच् स च हल् चेत्येतौ मिथः सवर्णौ न स्तः'।
६. पा० ८.३.३१।
७. द्र० वै० सि० कौ० भा० १, पृ० १६ 'इचुयशानां तालु'।
८. वही, पृ० १६ 'विवृतमूष्मणां स्वराणां च'।

यहाँ 'सवर्ण दीर्घ' नहीं होता। 'कुमारी शेते' यहाँ तो दीर्घ ईकार तथा शकार की 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध यह सूत्र नहीं कर सकता। अतः 'सवर्ण' संज्ञा बनी रहेगी। किन्तु 'सवर्ण' संज्ञा बनी रहने पर भी 'अणुदित्' सूत्र से शकार का ग्रहण न होने से 'सवर्ण दीर्घ' नहीं होगा। क्योंकि ईकार और शकार में से कोई सा भी 'अण्' नहीं जो एक दूसरे सवर्ण का ग्रहण कर सके। इसलिए "अकः सवर्णे दीर्घः" सूत्र में 'अचि' की अनुवृत्ति करके 'अकः सवर्णे अचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात्' ऐसा अर्थ किया गया है। यदि वहां 'अचि' की अनुवृत्ति न की जाए तो केवल 'सवर्ण' कहने से 'कुमारी शेते' में अनिवार्य रूप से दीर्घ प्राप्त होता है। 'अ, इ' के समान 'ऋ, लृ' भी हलों के समान स्थान-प्रयत्न वाले हैं। ऋकार और षकार का मूर्धा स्थान तुल्य हैं।[1]। दोनों का विवृत प्रयत्न भी तुल्य है। इस सूत्र से दोनों की 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध हो जाने से 'मातृषट्कम्' यहाँ 'सवर्ण दीर्घ नहीं होता। इसी प्रकार लृकार और सकार का भी दन्त स्थान तुल्य है।[2] विवृत प्रयत्न भी दोनों का तुल्य है। इस सूत्र से उनकी 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध हो जायेगा तो 'गम्लृ साधनम्' जैसे प्रयोगों में 'सवर्ण दीर्घ' नहीं होता।

इस प्रकार ह्रस्व अकार आदि में तो 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध हो जाने से कोई दोष नहीं होगा तथा दीर्घ आकार आदि में 'सवर्ण' संज्ञा होने पर भी सवर्ण ग्रहण न होने से कोई दोष नहीं आयेगा। इसलिए 'वैपाशो मत्स्यः' तथा 'आनडुहं चर्म' यहाँ क्रम से शकार को इकार मानकर तथा हकार को अकार मानकर "यस्येति च"[3] इस सूत्र से इकार और अकार का लोप नहीं होता। सभी इष्ट लक्ष्यों के सिद्ध हो जाने से इस सूत्र की स्थापना सप्रयोजन स्थिर हो जाती है।

प्रयत्नभेद मानकर सूत्र का प्रत्याख्यान

अचों अचों और हलों हलों की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा मानने में तो किसी को कोई आपत्ति नहीं है। अचों में जैसे अकार के ह्रस्व, दीर्घ प्लुत आदि भेद हैं, वे आपस में सवर्ण हैं, उसी प्रकार इकार, उकार, ऋकार तथा लृकार के भी अपने-अपने भेद आपस में सवर्ण हैं। ऋकार और लृकार के परस्पर स्थान-प्रयत्न न मिलने पर भी वार्तिककार ने "ऋलृवर्णयोः मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्"[4] यह कहकर लक्ष्यसिद्धि के लिये उनकी 'सवर्ण' संज्ञा मानी है।

'ए,' 'ऐ', 'ओ', 'औ' के अपने-अपने भेद आपस में सवर्ण हैं। 'ए', 'ऐ', के

---

१. वै० सि० कौ० भा० १पृ० १७ 'ऋटुरषाणां मूर्धा'।

२. वही, लृ तु लसानां दन्ताः'।

३. पा० ६.४.१४२।

४. वै० सि० कौ० भा० १, पृ० २४।

परस्पर स्थान-प्रयत्न मिलने पर भी दोनों की आपस में 'सवर्ण' संज्ञा नहीं होती। इसी प्रकार 'ओ', 'औ' के भी आपस में स्थान-प्रयत्न मिलने पर दोनों की 'सवर्ण' संज्ञा नहीं होती।[१] इस विषय में "ऐ औ च्" इस पृथक् सूत्र का आरम्भ ही ज्ञापक है अन्यथा "ए ओङ्" इस सूत्र से ही क्रमशः 'ऐ', 'औ' का भी ग्रहण हो जाता तो पृथक् "ऐ औच्" सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता थी। दोनों के आपस में सवर्ण न होने से ही "एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धेः"[२] सूत्र से जहाँ 'हे वायो'! इत्यादि प्रयोगों में ओकार से परे सम्बुद्धि का लोप हो जाता है वहां 'हे ग्लौः'! यहाँ औकार से परे नहीं होता। इसी प्रकार 'गाम्', 'गाः' की तरह 'ग्लावम्', 'ग्लावः' यहाँ "औतोऽम्शसोः"[३] से आकार भी नहीं होता। इस प्रकार अचों अचों की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा स्पष्ट है केवल अपवाद विषयों को छोड़कर।

हलों में भी 'कु', 'चु', 'टु', 'तु', 'पु' ये पांचों उदित् वर्ग अपने-अपने वर्ग के सवर्ण हैं। 'क', 'ख', 'ग', 'घ', 'ङ' ये पाँचों वर्ण आपस में सवर्ण हैं। इसी तरह चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग में समझना चाहिए।[४] 'य', 'व', 'ल' ये तीन निर-नुनासिक वर्ण 'यँ', 'वँ', 'लँ' इन तीनों सानुनासिक वर्णों के सवर्ण हैं जो कि "अणुदित्०" सूत्र के 'अण्' ग्रहण में आने से अपने सवर्ण सानुनासिक 'यँ', 'वँ', 'लँ' को ग्रहण करते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि सब वर्णों की इतनी प्रसिद्ध 'सवर्ण' संज्ञा होने पर भी अकार-हकार, इकार-शकार, ऋकार-षकार तथा लृकार-सकार इन चार अज्हल् वर्णों का विवाद बना ही रहता है। जब तक इन वर्णों के स्थान-प्रयत्न तुल्य माने जायेंगे तब तक 'सवर्ण' संज्ञा का विवाद भी बना रहेगा। इस विवाद की निवृत्ति के लिये ही "नाज्झलौ" यह सूत्र बनाया गया है। किन्तु भाष्यकार ने वार्तिककार के साथ मिलकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान करने के लिये अभ्युपाया-न्तर सोचा है—"सिद्धमनच्त्वात्"[५] अर्थात् "नाज्झलौ" इस निषेध सूत्र के बिना भी इष्ट-सिद्धि हो जायेगी। अकार, हकार आदि चार ही तो अच् हल् वर्ण हैं जिनके स्थान-प्रयत्न मिलने से 'सवर्ण' संज्ञा प्राप्त होती है। इन चारों का यदि प्राचीन आचार्यों के वचन के आधार पर प्रयत्न-भेद कर लिया जाये तो 'सवर्ण' संज्ञा कैसे प्राप्त होगी। अकार आदि सभी स्वरों का तो विवृत प्रयत्न सर्वसम्मत

१. वै० सि० कौ० भा० १ पृ० २६ 'एदैतोरोदौतोश्च न मिथः सावर्ण्यम्'।
२. पा० ६.१.६९।
३. पा० ६.१.९३।
४. व० शि० ६.८ 'वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः'।
५. महा० भा० १ प्रकृत सू०, पृ० ६४।

है। 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन ऊष्मवर्णों के प्रयत्न में मतभेद है। कुछ आचार्य स्वरों के समान इन ऊष्मसंज्ञक वर्णों का विवृत प्रयत्न भी मानते हैं।[1] किन्तु कुछ इनका ईषद्विवृत प्रयत्न स्वीकार करते हैं।[2] स्वरों का केवल विवृत है तथा 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन चारों का ईषद् विवृत है—इस तरह प्रयत्न-भेद मान लेने पर 'सवर्ण' संज्ञा की प्रसक्ति ही नहीं। तब इस निषेध सूत्र की क्या आवश्यकता है। सुतरां—'श', 'ष', 'स', 'ह' इन चारों ऊष्म वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न मान लेने पर इनकी आकार, इकार, ऋकार तथा लृकार इन चारों अचों से कोई तुल्यता ही नहीं। क्योंकि केवल स्थान तुल्य होने पर 'सवर्ण' संज्ञा नहीं हो सकती। उसके लिए आभ्यन्तर प्रयत्न की तुल्यता भी तो आवश्यक है। इस प्रकार 'सवर्ण' संज्ञा न होने से अकार आदि चारों अच् 'श', 'ष', 'स', 'ह' इन चारों हलों का ग्रहण न कर सकेंगे तो इनके 'अच्' न होने के कारण 'दण्डहस्तः' इत्यादि प्रयोगों में सवर्णदीर्घ नहीं होगा। अन्यत्र कहीं दोष सम्भव नहीं, इसलिए "नाज्झलौ" यह सूत्र निष्प्रयोजन होने के कारण प्रत्याख्येय है। इसका प्रयोजन तो अकार हकार आदि के तुल्य प्रयत्न मानने पर ही था। जब दोनों के प्रयत्न ही भिन्न मान लिए गये तब यह सूत्र निरर्थक है।

भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में इस विषय पर अच्छा विचार किया है। उनके कथन का आशय यह है कि यदि "नाज्झलौ" यह सूत्र रखना ही है तो "नाज्झलौ" की जगह "नाक्शलौ" ऐसा सूत्र का न्यास करना चाहिये।[3] वहां 'अक्' प्रत्याहार में 'अ', 'इ', 'ऋ', 'लृ' इन चारों वर्णों का ग्रहण हो जायेगा और 'शल्' प्रत्याहार में तो 'श', 'ष', 'स', 'ह' ये चार वर्ण हैं ही। उन सबकी आपस में 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध हो जाने से सब इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे। कहीं पर दोष नहीं होगा। वस्तुतः "नाज्झलौ" की अपेक्षा "नाक्शलौ" यह न्यास अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण लगता है। क्योंकि उक्त सूत्र में 'अच्' ग्रहण की अपेक्षा 'अक्' ग्रहण करने में लाघव है।

किन्तु नागेश भट्ट के अनुसार यह न्यास भी दोषयुक्त होने से ग्राह्य नहीं है। क्योंकि किन्हीं के मत में एकार का स्थान कण्ठतालु न होकर केवल तालु है। वहां एकार और शकार का तुल्य स्थान हो जायेगा। विवृत प्रयत्न तो दोनों का तुल्य है ही। ऐसी अवस्था में एकार और शकार की 'सवर्ण' संज्ञा प्राप्त होगी।

---

१. वै० सि० कौ० भा० १. पृ० १० 'विवृतमूष्मणां स्वराणां च'। तुलना करो—पाणिनीय शिक्षा 'स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं करणं स्मृतम्।
२. द्र० व० शि० ६.७ 'ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः'।
३. द्र० श० कौ० भा० १, पृ० १२१ 'वस्तुतस्तु नाक्शलौ इत्येव सूत्रयितुमुचितम्।

उसको रोकने के लिये "नाक्शलौ" यह पर्याप्त नहीं है। क्योंकि 'अक्' प्रत्याहार में एकार के न होने से वह 'सवर्ण' संज्ञा का निषेध नहीं कर सकेगा। अतः "नाज्झलौ" या "नाच्शलौ" यही न्यास उपयुक्त है।[1] यहाँ यह अवश्य चिन्त्य है कि एकार का तालु स्थान मानना एकीय मत है, सर्वसंमत नहीं। सामान्येन एकार का कण्ठतालु स्थान ही प्रसिद्ध है।

समीक्षा और निष्कर्ष

जहाँ तक सूत्र के प्रत्याख्यान का सम्बन्ध है उसके लिए तो स्वरों और ऊष्म 'श', 'ष', 'स', 'ह इन चारों वर्णों का प्रयत्न-भेद मान लेना ही उपयुक्त है। क्योंकि केवल अकार, हकार आदि चार अच् हल् वर्णों में 'सवर्ण' संज्ञा की प्राप्ति को रोकने के लिये "नाज्झलौ" यह सूत्र बनाया गया है। एक पृथक् निर्मित सूत्र का इतना छोटा सा प्रयोजन कुछ महत्त्व नहीं रखता।[2] अतः भाष्यवार्तिक द्वारा किया गया इस सूत्र का प्रत्याख्यान समुचित ही है। सम्भवतः इसी कारण अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी इस सूत्र को अपने व्याकरणों में स्थान नहीं दिया है। प्रायः सभी में इसका अभाव दृष्टिगोचर होता है। जैनेन्द्र और शाकटायन व्याकरणों की क्रमशः महावृत्ति और अमोघवृत्ति में ही एतत्कार्यविषयक संकेत मिलता है[3] किन्तु वहां भी स्वरों और ऊष्मवर्णों का प्रयत्न भिन्न-भिन्न दिया है। इस दृष्टि से इसकी अनर्थकता स्पष्ट ही है।

हां, मन्दबुद्धियों की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये यदि यह सूत्र माना जाये तो बात दूसरी है। क्योंकि "नाज्झलौ" यहां सन्धि में भी कुत्व न करके जो जश्त्व किया है वह भी असंदिग्ध एवं विस्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये नितरां आवश्यक है। अन्यथा "न+अग्हलौ=नाग्घलौ" ऐसा कहने पर 'अक्' प्रत्याहार की भी भ्रान्ति सम्भव थी। अतः सूत्रनिर्देश ठीक ही है।

---

१. द्र० बृ० शे० शे० भा० १, पृ० ६१ 'अकारहकारयोरिति—एकारस्य केवल तालव्यत्वमोकारस्य केवलौष्ठ्यत्वमितिमते एकारशकारादीनामप्युपलक्षणम्। एतेन नाक्शलौ इत्येव सूत्रयितुमुचितमित्यपास्तम्'।

२. तुलना करो—महा० भा० १ सू० १.१.१२, पृ० ६४ 'नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति'।

३. जै० महावृत्ति सू० १.१.२, पृ० २ 'ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः, विवृतकरणाः स्वराः'।
शा० अमोघवृत्ति सू० १.१.६, पृ० ३ 'विवृतं स्वराणामीषद्विवृतमूष्मणाम्'।

बहुगण वतु डति संख्या ॥ १.१.२३ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'संख्या' संज्ञा करता है। यह संज्ञा व्याकरण की अपनी शास्त्रीय है। लोक प्रसिद्ध एक, दो आदि तो संख्यायें हैं ही। अतः उनका निर्देश पाणिनि ने लोक में प्रसिद्ध होने के कारण "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्"[1] इत्यादि सूत्रों द्वारा ज्ञापक सिद्ध होने के कारण अथवा "संख्यायतेऽनया सा संख्या"[2] अर्थात् जिससे संख्यान या गणन किया जाता है वह 'संख्या' होती है—इस प्रकार 'संख्या' संज्ञा के अन्वर्थक होने के कारण नहीं किया। यद्यपि उनका निर्देश करने में भी कोई हानि नहीं थी। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि व्याकरण शास्त्र में "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययौ भवति"[3] यह न्याय या परिभाषा प्रसिद्ध है। इसका अर्थ है कि 'कृत्रिम' और 'अकृत्रिम' के ग्रहण की संभावना में 'कृत्रिम' का ही ग्रहण होता है यानि 'कृत्रिम' में कार्य किया जाता है, 'अकृत्रिम' में नहीं। यहां 'कृत्रिम' से तात्पर्य है कि जो क्रिया द्वारा निष्पन्न है अर्थात् सूत्र प्रोक्त संज्ञा द्वारा विहित है तथा 'अकृत्रिम' जो असूत्रोक्त अनुक्त स्वतः सिद्ध अथवा अन्वर्थ है। इस प्रकार उक्त परिभाषा के आधार पर यहां सूत्र प्रोक्त संज्ञा द्वारा विहित 'बहु,' 'गण', 'वतु' तथा 'डति' इन चार शब्दों की ही 'संख्या' संज्ञा प्राप्त होती है। असूत्रोक्त, लोक प्रसिद्ध 'एक' 'द्वि' आदि शब्दों की नहीं।

किन्तु इस परिभाषा की बाधक अगली परिभाषा भी है—

"उभयगतिरिह भवति"[4]

अर्थात् इस व्याकरण शास्त्र में दोनों तरह की बातें होती हैं। 'कृत्रिम' के साथ 'अकृत्रिम' का भी ग्रहण होता है। न केवल इस 'संख्या' संज्ञा में ही, अपितु अन्यत्र सर्वत्र व्याकरण शास्त्र के कार्य में भी 'कृत्रिम' के साथ 'अकृत्रिम' का भी ग्रहण किया जाता है। जैसे—"कर्तुरीप्सिततमं कर्म"[5] यह 'कर्म' सूत्रप्रोक्त होने से 'कृत्रिम' है। किन्तु 'कर्म' शब्द से शास्त्र में दोनों का ही ग्रहण होता है। यथा—"कर्मणि द्वितीया"[6]—यहां 'कर्म' शब्द से 'कृत्रिम कर्म" का ग्रहण है तथा "कर्त-

---

१. पा० ५.१.२२।

२. महा० भा० १, सू० १.१.२३, पृ० ८१।

३. वही, पृ० ८०।

४. परि० सं० ९।

५. पा० १.४.४९।

६. पा० २.३.२।

रिकर्मव्यतिहारे"[1] यहां 'कर्म' शब्द से 'अकृत्रिम' अर्थात् असूत्रोक्त, क्रियावाचक 'कर्मशब्द' का ग्रहण है। इसी प्रकार 'करण संज्ञा[2]' तथा 'अधिकरण संज्ञा'[3] आदि प्रदेशों में भी 'कृत्रिम' के साथ 'अकृत्रिम' का भी ग्रहण होता है। इसलिये "उभयगतिरिहभवति" इस परिभाषा के अनुसार 'कृत्रिम' 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' की 'संख्या' संज्ञा के साथ-साथ 'अकृत्रिम' लोक प्रसिद्ध 'एक', 'द्वि' आदि शब्दों की भी 'संख्या' संज्ञा सिद्ध हो जाती है।[4]

प्राक् क्रीतीय अर्थों में "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" इस सूत्र से विहित 'कन्' प्रत्यय में जो 'ति' तथा 'शत्' शब्दान्त 'संख्या' का निषेध किया गया है वह इस बात का ज्ञापक है कि लोक प्रसिद्ध एक, दो आदि संख्यायें भी इस शास्त्र में 'संख्या' शब्द से व्यवहृत या गृहीत होती हैं। अन्यथा नव निर्मित 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' इन चारों संख्या संज्ञकों में तो 'ति' और 'शत्' शब्दान्त एक भी शब्द नहीं है जिसका "अतिशदन्तायाः कन्" से निषेध अभीष्ट है। 'ति' और 'शत्' शब्दान्त 'संख्यायें' तो लोकप्रसिद्ध 'षष्टि', 'सप्तति', 'अशीति', 'नवति' तथा 'त्रिंशत्', 'चत्वारिंशत्' तथा 'पंचाशत्' हैं। 'डति' में 'अति' शब्द है। 'ति' शब्द नहीं है। उसमें 'अति' शब्द अर्थवान् है। उसका अवयव 'ति' शब्द अनर्थक है। अतः "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य"[5] इस परिभाषा के बल से अनर्थक 'ति' शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता।

---

१. पा० १.३.१४।
२. पा० १.४.४२ 'साधकतमं करणम्'।
 (क) कृत्रिम, पा० २.३.१८ 'कर्तृकरणयोस्तृतीया'।
 (ख) अकृत्रिम, पा० ३.१.१७ 'शब्द वैरकलहाभ्रमेघेभ्यः करणे'।
३. १.४.४५ 'आधारोऽधिकरणम्'।
 (क) कृत्रिम, पा० २.३.३६ 'सप्तम्यधिकरणे च'।
 (ख) अकृत्रिम, पा० २.४.१३ 'विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि'।
४. 'संख्या' संज्ञा के अन्वर्थ होने पर 'एक', 'द्वि' आदि तो 'संख्या' मान लिये जायेंगे किन्तु लक्ष्यानुरोध से 'बहु,' 'गण', 'वतु' तथा 'डति' से अतिरिक्त 'भूरि', 'प्रभूत', 'बहुल' आदि 'संख्या' नहीं होंगे। जैसे— सर्वनाम संज्ञा के अन्वर्थक होने पर भी 'सर्व' 'विश्व' आदि गण पठित शब्द ही सर्वनाम संज्ञक होते हैं। 'सकल', 'कृत्स्न' आदि सब के नाम होते हुए भी 'सर्वनाम' नहीं कहाते हैं।
५. परि० सं० १४।

यहां 'बहु' और 'गण' ये शब्द है तथा 'वतु' और 'डति' ये प्रत्यय हैं। केवल प्रत्ययों का प्रयोग न होने से "प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः"[1] इस नियम के आधार पर 'वतु' प्रत्ययान्त' और 'डति प्रत्ययान्त' शब्द की 'संख्या' संज्ञा होती है। इस विषय में "संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति"[2] अर्थात् प्रत्ययों की संज्ञा करने में तदन्तविधि नहीं होती--इस परिभाषा का यहां संकोच करना होगा। उक्त परिभाषा की प्रवृत्ति न होने पर 'वत्वन्त' और 'डत्यन्त' का ग्रहण सिद्ध हो जाएगा।

'वतुप्' प्रत्यय "यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्"[3] से विहित है। वह तद्धित है। अतः उसके साहचर्य से "किमः संख्यापरिमाणे डति च"[4] सूत्र से विहित 'डति' प्रत्यय भी तद्धित ही लिया गया है, औणादिक "पातेर्डति"[5] सूत्र द्वारा 'पा' धातु से विहित 'डति' प्रत्यय नहीं। जिस प्रकार "कृत्तद्धितसमासाश्च"[6] सूत्र में केवल 'कृत्', 'तद्धित' प्रत्ययों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा न होकर कृदन्त और तद्धितान्त शब्दों की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होती है उसी प्रकार यहां भी 'वत्वन्त' और 'डत्यन्त' की 'संख्या' संज्ञा की जाती है। भाष्य में कहा भी है—

"कृत्तद्धितान्तं चैवार्थवत्। न केवलाः कृतः तद्धिता वा इत्यादि"।[7]

इसीलिये "सुप्तिङन्तं पदम्"[8] सूत्र में 'अन्त' ग्रहण किया है जिससे 'सुबन्त' तथा 'तिङन्त' की 'पद' संज्ञा हो, केवल 'सुप्' या 'तिङ्' प्रत्यय की न हो। अन्यथा "संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे०" इस उक्त पतिभाषा के बल से तदन्त का निषेध होकर 'सुबन्त' और 'तिङन्त' की 'पद' संज्ञा नहीं प्राप्त होती थी। क्योंकि 'सुप्' और 'तिङ्' ये दो प्रत्यय हैं इनकी पद संज्ञा विधान करनी है। "संज्ञाविधौ प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" इस परिभाषा का प्रयोजन तो अन्यत्र स्पष्ट ही है। यथा—"तरप्तमपौ घ।"[9] यहां 'तरप्' और 'तमप्' की 'घ' संज्ञा करने में

---

१. परि सं० २४।
२. परि० सं० २७।
३. पा० ५.२.३९।
४. पा० ५.२.४१।
५. उणादि, ४.४८७॥
६. पा० १.२.४६॥
७. महा० भा० १ सू० १.४.१४, पृ० ३१९।
८. पा० १.४.१४।
९. पा० १.१.२२।

'तदन्त' का निषेध होकर 'तरबन्त' और 'तमबन्त' की 'घ' संज्ञा न होने से केवल 'तरप्' और 'तमप्' प्रत्ययों की 'घ' संज्ञा सिद्ध होती है। इससे 'कुमारी गौरितरा, यहां 'गौरितरा' इस 'तरबन्त' की 'घ' संज्ञा नहीं होती। उससे "घ रूप कल्प चेलट्०"[१] इस सूत्र से विहित ह्रस्व 'ङ्यन्त कुमारी' शब्द को नहीं होता। केवल 'तरप्' प्रत्यय परे रहते उसकी 'घ' संज्ञा होकर 'गौरी' को ह्रस्व हो जाता है।

'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' इन चारों की 'संख्या' संज्ञा करने में मुख्य रूप से चार पांच ही प्रयोजन हैं। यथा—'बहुधा', 'गणधा', 'तावद्धा', 'कतिधा' यहां "संख्याया विधार्थे धा"[२] सूत्र से 'धा' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। 'बहुशः', 'गणशः', 'तावच्छः', 'कतिशः',—यहां "संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्"[३] सूत्र से 'शस्' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। 'बहुकः' 'गणकः', 'तावत्कः', 'तावतिकः', 'कतिकः'—यहां "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्"[४] सूत्र से 'कन्' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। 'बहुकृत्वः', गणकृत्वः', तावत्कृत्व 'कतिकृत्वः' —यहां "संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्"[५] सूत्र से 'कृत्वसुच्' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'बहुतिथः', गणतिथः', 'कतिथः', 'तावतिथः'—यहां भी 'संख्या' संज्ञा होने से 'डट्' प्रत्यय होने पर 'तिथुक्'[६] 'इथुक्'[७] तथा 'थुक्'[८] का आगम सिद्ध हो जाता है।

यहाँ पर यह अवश्य ध्यातव्य है कि संख्यावाचक 'बहु' और 'गण' शब्दों की ही 'संख्या' संज्ञा की गई है। वैपुल्यवाची 'बहुशब्द' तथा संघवाची 'गणशब्द' की 'संख्या' संज्ञा नहीं होती।[९] उक्त 'संख्या' विषयक सूत्रों सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त अन्य प्रयोजन प्रयोग में अनुपलब्ध होने के कारण अन्वेष्टव्य हैं। "संख्या

---

१. पा० ६.३.४३।
२. पा० ५. ३.४२।
३. पा० ५.४.४३।
४. पा० ५.१.२२।
५. पा० ५.४.१७।
६. ५.२.५२ 'बहु पूग गण संघस्य तिथुक्'।
७. पा० ५.२.५३ 'वतोरिथुक्'।
८. पा० ५.२.५१ 'षट् कति कतिपय चतुरां थुक्'।
९. तुलना करो—शा० सू० १.१.१० 'बहुगणं भेदे'।
है० सू० १.१.४० 'बहुगणं भेदे'।

वंश्येन"[1] तथा "संख्याव्ययासन्नाधिक०"[2] इत्यादि 'संख्याशब्द' वाले सूत्रों में 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' का प्रयोग कहीं पर दृष्टिगोचर नहीं होता। 'कृत्वसुच्' प्रत्यय का प्रयोग वेद में तो 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' से अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[3]

ज्ञापक द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों ने मिलकर सुगमतया इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। तद्यथा भाष्यवार्तिक हैं—

"बह्वादीनामग्रहणम्। ज्ञापकात्सिद्धम्। योगापेक्षं ज्ञापकम्"।[4]

इनका भाव यह है कि 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति—इनकी 'संख्या' संज्ञा करने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि पाणिनीय सूत्र ही इस बात में ज्ञापक हैं कि इनकी 'संख्या' संज्ञा होती है। तद्यथा—"तस्य पूरणे डट्"[5] यह सूत्र 'संख्यासंज्ञक' शब्दों से 'पूरण' अर्थ में 'डट्' प्रत्यय करता है। इसी 'डट्' प्रत्यय के परे रहते "बहु पूग गण संघस्य तिथुक्"[6] सूत्र से 'तिथुक्' का आगम होता है। 'बहुतिथः', 'गणतिथ' इत्यादि। इसी प्रकार 'डट्' प्रत्यय परे रहते ही "वतोरिथुक्"[7] सूत्र से 'वतु प्रत्ययान्त' को 'इथुक्' का आगम होता है। 'तावतिथः' इत्यादि। "षट् कति कतिपय चतुरां थुक्"[8] सूत्र से भी 'डट्' प्रत्यय परे रहते 'कति' शब्द को 'थुक्' का आगम किगा गया है 'कतिथः' इत्यादि। इसी प्रकार "वतोरिड् वा"[9] सूत्र से "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" से विहित 'कन्' प्रत्यय को 'वतु' से परे 'इड्' विकल्प किया गया है। 'तावतिकः', 'तावत्कः' इत्यादि। 'तावता क्रीतः'[10] इस अर्थ में उक्त दो रूप बनते हैं।

---

१. पा० २.१.१६।
२. पा० २.२.२५।
३. (क) ऋक्० ५.५४.१ 'शश्वत्कृत्वः'।
(ख) वही ३.१८.४। भूरिकृत्व
४. महा० भा० १, सू० १.१.२३, पृ० ८३।
५. पा० ५.२.४८।
६. पा० ५.२.५२।
७. पा० ५.२.५३।
८. पा० ५.२.५१।
९. पा० ५.१.२३।
१०. पा० ५.१.३७। 'तेन क्रीतम्'

इस प्रकार आचार्य पाणिनि के पूर्वापरसूत्रपर्यालोचना द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि वे 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' को 'संख्या' मानते हैं। तभी तो वे 'संख्या' सम्बन्धी कार्यों 'डट्' आदि प्रत्यय तथा 'तिथुक्' आदि आगमों का विधान करते हैं। इस दृष्टि से कात्यायन तथा पतंजलि ने उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वार्तिककार तथा भाष्यकार द्वारा किया गया 'संख्या' संज्ञा विधायक इस सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्याय्य है। क्योंकि जिस प्रकार 'एक', 'दो' आदि लोकप्रसिद्ध संख्यायें 'संख्या' संज्ञा किये बिना ही 'संख्या' समझ ली जाती हैं उसी प्रकार ज्ञापकशास्त्रप्रसिद्ध 'बहु', 'गण', 'वतु' तथा 'डति' भी 'संख्या' संज्ञा किये बिना ही 'संख्या' समझ लिए जायेंगे। एक 'संख्या' लोक से सिद्ध है तथा दूसरी शास्त्र से। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। इसके अतिरिक्त इस शास्त्रीय संज्ञा का प्रयोजन भी तो अत्यल्प ही है तथा वह स्वयं शास्त्र से ही सिद्ध हो जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में अर्वाचीन वैयाकरण भी प्रायः कोई विशेषता नहीं पैदा कर सके हैं। इनमें आचार्य चन्द्रगोमिन् ने 'कति', 'गण' तथा 'वतु' की ही 'संख्या' संज्ञा मानी है। 'बहु' को छोड़ दिया है।[१] भाष्यकारकृत प्रत्याख्यान का अनुकरण करते हुए केवल पूज्यपाद देवनन्दी ने ही 'कति' की 'संख्या' संज्ञा का कथन किया है।[२] जो कि सर्वथा आवश्यक भी है। शाकटायन, भोजराज तथा हेमचन्द्र ने इस विषय में पाणिनि का समर्थन करते हुए इन सूत्रों को अपने यहां रखा है।[३] हां, शाकटायन तथा हेमचन्द्र ने वैपुल्य एवं संघवाची 'बहु', 'गण' शब्दों की 'संख्या संज्ञा रोकने के लिये स्पष्ट प्रतिपत्ति हेतु 'भेद' शब्द का प्रयोग अवश्य किया है। इस प्रकार लाघव की दृष्टि से यह अनावश्यक गौरव ही कहा जा सकता है। अतः सूत्र का प्रत्याख्यान ही उचित है।

डति च ॥१.१.२५॥

---

१. चा० सू० ४.१.३३-३४ 'कतिगणौ तद्वत्'। 'वतोः'। तुलना करो—
महा० भा० १ सू० १.१.२३, पृ० ८१ 'अथवा नेदं संज्ञाकरणम्। तद्वदतिदेशोऽयम् बहु गण वतु डतयः संख्यावद् भवन्तीति'।

२. जै० सू० १.१.२३ 'कतिः संख्या'।

३. (क) शा० सू० १.१.९-१० 'घड्डति संख्या'। 'बहुगणं भेदे'।
(ख) स० सू० १.१.१७ 'बहु गण वतु डतयश्च संख्या'।
(ग) है० सू० १.१,३९-४० 'डत्यतु संख्यावत्'। 'बहुगणं भेदे'।

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

यह सूत्र 'डतिप्रत्यान्त' शब्द की 'षट्' संज्ञा करता है। 'डतिप्रत्ययान्त' शब्द का उदाहरण 'कति' है। यहां 'किमः संख्यापरिमाणे डति च'[1] इस सूत्र के द्वारा 'किम्' शब्द के 'संख्या' के 'परिमाण' अर्थ में 'डति' प्रत्यय होकर 'डित्' होने के कारण 'किम्' के 'टि' का लोप हो जाता है तो 'कति' शब्द बनता है। 'का संख्या येषां ते कति' यह बहुवचनान्त शब्द है। 'षट्' संज्ञक होने से तीनों लिङ्गों में समान है। 'षट्' संज्ञा होने पर "षड्भ्यो लुक्"[2] से 'जस्', 'शस्' का लुक् होकर 'कति' यह शुद्ध रूप बनता है।

यदि इसकी 'षट्' संज्ञा न की जाए तो 'जस्', 'शस्' का लुक् न हो सके। तब 'कतयः', 'कतीन्' इस प्रकार अनिष्ट रूप बनने लगेंगे। उनकी व्यावृत्ति के लिये इसकी 'षट्' संज्ञा करनी आवश्यक है। इसीलिये यह सूत्र बनाया गया है। इससे पूर्व "बहु गण वतु डति संख्या"[3] इस सूत्र से 'डति प्रत्ययान्त' की 'संख्या' संज्ञा भी की है। उसका प्रयोजन 'कतिधा', 'कतिशः', 'कतिकृत्वः' तथा 'कतिकः' ये हैं—यह पूर्व प्रतिपादित किया जा चुका है। इस प्रकार 'डति प्रत्ययान्त' 'कति' शब्द की 'संख्या' संज्ञा तथा 'षट् संज्ञा' दोनों अभीष्ट हैं। दोनों संज्ञाओं का प्रयोजन स्पष्ट ही है।

लाघवार्थ सूत्र का प्रत्याख्यान

आचार्य पाणिनि ने 'डति' शब्द को दो स्थानों पर पढ़ा है। एक "बहु गण वतु डति संख्या" यहां 'संख्या' संज्ञा में तथा दूसरा "डति च" इस 'षट्' संज्ञा में। प्रस्तुत प्रसङ्ग में वार्तिककार चुप हैं। वे 'डति' ग्रहण के खण्डन या मण्डन में मौन हैं। किन्तु भाष्यकार का विचार है कि लाघव की दृष्टि से इनमें एक 'डति' ग्रहण हटाया जा सकता है। यदि 'संख्या' संज्ञा वाले "बहु गण वतु डति संख्या" इस सूत्र में 'डति' को रखा जाता है तो 'षट्संज्ञा' करने के लिये "डति च" इस पृथक् सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं। "बहु गण वतु डति संख्या" वाला 'डति' ग्रहण ही "ष्णान्ता षट्"[4] इस सूत्र में अनुवृत्त हो जायेगा। क्योंकि "क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते"[5] इस न्याय के अनुसार "बहु गण वतु०" इस समस्त सूत्र के एक-

---

१. पा० ५.२.४१।
२. पा० ७.१.२२।
३. पा० १.१.२३।
४. पा० १.१.२४।
५. परि० सं० १८।

देश 'डति' शब्द की ही ''ष्णान्ता षट्'' सूत्र में अनुवृत्ति करके षकारान्त नकारान्त 'संख्या' शब्दों के साथ 'डति' प्रत्यायन्त 'संख्या' शब्द की भी 'षट्' संज्ञा सिद्ध हो जायेगी। ऐसी स्थिति में प्रकृत सूत्र व्यर्थ है।

अथवा यदि 'षट्' संज्ञा वाला ''डति च'' सूत्र रखना अभीष्ट है तो ''बहुगण वतु डति'' संख्या में से 'डति' ग्रहण हटाया जा सकता है। क्योंकि ''डति च'' इस सूत्र में 'संख्या' संज्ञा की अनुवृत्ति करके 'डत्यन्त' संख्या शब्द की 'षट्संज्ञा' सिद्ध हो जायेगी अर्थात् 'षट्' संज्ञा के साथ-साथ 'डति प्रत्ययान्त' की 'संख्या' संज्ञा भी आवश्यक मानी जायेगी। जब तक 'डति प्रत्ययान्त' की 'संख्या' संज्ञा न होगी तब तक उसकी 'षट्संज्ञा' नहीं होगी। इस प्रकार एक ही 'डति' ग्रहण से दोनों संज्ञाओं की सिद्धि हो जाने से दो बार 'डति' ग्रहण करना अनावश्यक है यह सम्यक् उपपन्न हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वास्तव में यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पाणिनि जैसे सूक्ष्मेक्षिका[1] वाले आचार्य को 'डति प्रत्ययान्त' शब्दों की दो संज्ञा करने के लिये दो बार अलग-अलग 'डति' ग्रहण करना पड़ा। इनके सामने दो बार 'डति' ग्रहण करने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं था। किन्तु उससे भी अधिक आश्चर्य इस बात का है कि पाणिनि के निष्पक्ष समालोचक वार्तिककार कात्यायन भी इस विषय में मौन हैं। केवल भाष्यकार ने विपुल बुद्धि कौशल से इस बात को समझा कि यदि किसी प्रकार एक ही 'डति' ग्रहण से दोनों संज्ञाओं की अभीष्ट सिद्धि हो जाये तो वह अभ्युपाय सोचना चाहिए और उन्होंने वह उपाय ढूंढ भी निकाल तथा जिसमें कोई अधिक क्लिष्ट कल्पना भी नहीं थी। दोनों संज्ञायें एक ही 'डति' ग्रहण से निर्बाध रूपेण सिद्ध हो जाती हैं। अर्वाचीन वैयाकरणों में केवल देवनन्दी ने ही पतंजलि का अनुसरण किया तथा एक ही 'कति' ग्रहण करके, उसकी 'संख्या' संज्ञा मानी तथा उसे अग्रिम 'इल्' ('षट्') संज्ञाविधायक सूत्र में अनुवृत्त किया है।[2] यहां 'षट्' संज्ञा को 'इल्' शब्द से संकेतित किया गया है। शेष वैयाकरणों ने प्रायः 'षट्'संज्ञा को नहीं रखा है। अतः तत्तत्प्रयुक्त प्रदेशों में इन्होंने साक्षात् 'डति' का ग्रहण करके 'जस्-शस्-लुक्' रूप इष्ट साधन किया है।[3]

---

१. द्र० का० भा० ३, सू० ४.२.७४ पृ० ५६८ 'महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य'।

२. जै० सू० १.१.३३-३४ 'कतिः संख्या'। 'ष्णान्तेल्'।

३. (क) चा० सू० २.१,२२ 'कतेः'।

इसके अतिरिक्त यदि "बहु गण वतु संख्या", "डति षट् च" तथा "ष्णान्ता" इस प्रकार सूत्र की रचना की जाये तो भी एक 'डति' ग्रहण से ही काम चल सकता है। 'डति' की दोनों संज्ञायें "डति षट् च" इस सूत्र से सिद्ध हो जायेंगी। "ष्णान्ता" में केवल 'षट्' की अनुवृत्ति होगी। "चानुकृष्टं नोत्तरत्र"[1] के अनुसार चकार से अनुकृष्ट 'संख्या संज्ञा' की अनुवृत्ति न होगी तो इष्ट सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार प्रबल युक्ति-जालों से भाष्यकार द्वारा किया गया उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य है।

न बहुव्रीहौ ॥१.१.२९॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

सामान्य रूप से इस सूत्र का अर्थ यह है कि बहुव्रीहि समास में सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। किन्तु विशिष्ट रूप से विचार करने पर भाष्यकार तथा वृत्तिकारों के मत में उसके दो अर्थ होते हैं। सूत्र में 'बहुव्रीहि' ग्रहण किया है। वह दो प्रकार का है। एक तो मुख्य बहुव्रीहि, जिसे बहुव्रीहि समास कहते हैं, जिसमें एक पद, एक विभक्ति तथा एक स्वर होता है।[2] जैसे—'प्रियं विश्वं यस्य स प्रियविश्वः'। 'द्वौ अन्यौ यस्य स द्वयन्यः'। 'त्र्यन्यः' इत्यादि। यहां 'प्रियविश्व', द्व्यन्य', 'त्र्यन्य' इन बहुव्रीहि समासों में 'विश्व', 'अन्य' शब्दों की सर्वनाम संज्ञा का यह सूत्र निषेध कर देता है तो "सर्वनाम्नः स्मै"[3] से 'स्मै' आदेश न होकर 'प्रियविश्वाय', 'द्व्यन्याय', 'त्र्यण्याय' ये इष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं।

मुख्य बहुव्रीहि समास वाले इस प्रथम अर्थ में "न बहुव्रीहौ" यह सप्तमी विभक्ति प्रथमा के अर्थ में समझनी चाहिये अर्थात् सर्वादि शब्दान्त बहुव्रीहि समास सर्वनाम संज्ञक नहीं होता। भाष्यकार ने इस अर्थ को अन्यथा सिद्ध कर

(ख) शा० सू० १.२.१५२ 'डतिष्णां संख्यायां जश्शसः'।

(ग) स० सू० ३.१.१८० 'कतेः'।

(ग) है० सू० १.४.५४ 'डतिष्णः संख्याया लुप्'।

१. परि० सं० ७९।

२. द्र० महा० भा० १, सू० १.१.२९, पृ० ९१ 'अयं खल्वपि बहुव्रीहिरस्त्येव प्राथमकल्पिकः। यस्मिन्नैकपद्यम्, ऐकस्वर्यम् एकविभक्तिकत्वं च'। तुलना करो—

"विभक्तिर्लुप्यते यत्र तदर्थस्तु प्रतीयते।
पदानां चैकपद्यं च समास सोऽभिधीयते॥"

३. पा० ७.१.१४।

दिया है। उनका कथन है—"उपसर्जनप्रतिषेधेनाप्येतत् सिद्धम्"[१] अर्थात् "सर्वादीनि सर्वनामानि"[२] इस सर्वनाम संज्ञा विधायक सूत्र में पठित 'संज्ञोपसर्जन प्रतिषेधः" इस वार्तिक द्वारा संज्ञा या उपसर्जन (गौण) बने हुए सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाता है। 'प्रियविश्व' इस बहुव्रीहिसमास में 'विश्व' शब्द के उपसर्जन होने से सर्वनाम संज्ञा प्राप्त ही नहीं तो उस सूत्र से निषेध करना व्यर्थ है।

इसलिये इस सूत्र का दूसरा अर्थ करने के लिए 'बहुव्रीहि' शब्द का अर्थ बदलना होगा। 'बहुव्रीहौ' यह विषय सप्तमी है। बहुव्रीहि के विषय में अर्थात् बहुव्रीसि समास के लिए जो अप्रयोगार्ह अलौकिक विग्रह वाक्य का प्रयोग किया जाता है, वह भी बहुव्रीह्यर्थ होने से उपचारात् बहुव्रीहि मान लिया जायेगा।[३] इस प्रकार सूत्र का अर्थ यह होगा कि बहुव्रीहि समासार्थ किये गये अलौकिक विग्रह वाक्य में ही सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाता है।[४] यथा—'त्वम्', 'अहम्' ये सर्वनाम शब्द हैं। इनसे 'अज्ञात', 'कुत्सित' आदि अर्थों में प्राप्त 'क'[५] प्रत्यय को बाधकर "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः"[६] सूत्र से 'टि' के पूर्व 'अकच्' होकर 'त्वकम्', 'अहकम्' रूप बनते हैं। 'त्वकं पिता यस्य स त्वत्कपितृकः। 'अहकं पिता यस्य स मत्कपितृकः' यहां बहुव्रीहि समासार्थ प्रयुक्त लौकिक विग्रह वाक्य का अप्रयोगार्ह अलौकिक वाक्य 'युष्मद्+सु पितृ+सु', 'अस्मद्+सु पितृ+सु' ऐसा होता है। उस अलौकिक विग्रह वाक्य में ही उक्त सूत्र से 'युष्मद्', 'अस्मद्' की सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाएगा। उससे 'अकच्' प्रत्यय न होकर 'क' प्रत्यय होगा। समासान्तर्वर्ती 'सु' विभक्ति का लोप तथा 'युष्मद्' 'अस्मद्' के 'म' पर्यन्त भाग को "त्वमावेकवचने"[७] से क्रमशः 'त्व' और

१. महा० भा० १, सू० १.१.२९, पृ० ९१।
२. पा० १.१.२७।
३. द्र० महा० भा० १, सू० १.१.२९, पृ० ९१ 'अस्ति तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यं बहुव्रीहिह्यर्थानि पदानि बहुव्रीहिरिति।'
४. "न बहुव्रीहौ" यहाँ 'बहुव्रीहौ' यह सप्तमी निर्देश भी यह सूचित करता है कि बहुव्री समास में अलौकिक विग्रह वाक्य में, जो सर्वादि हैं, उनकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होती। अन्यथा 'न बहुव्रीहिः' ऐसा प्रथमान्त निर्देश ही कर दिया जाता।
५. पा० ५.३.७३-७४ "अज्ञाते, कुत्सिते"।
६. पा० ५.३.७१।
७. पा० ७.२.९७।

'म' आदेश हो जायेंगे तो 'त्वत्कपितृकः', 'मत्कपितृकः' ये रूप बनेंगे जो कि इष्ट हैं। सभी वृत्तिकारों ने ये रूप स्वीकार किये हैं। "नद्यृतश्च"[1] से समासान्त 'कप्' प्रत्यय होकर 'पितृक' में ककार का श्रवण होता है। इस निषेध सूत्र के अभाव में 'अकच्' होकर 'त्वकत्पितृकः', 'मकत्पितृकः' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। इसलिए बहुव्रीहि समास के अलौकिक विग्रह वाक्य में ही सर्वनाम संज्ञा का निषेध करने के लिए इस सूत्र की आवश्यकता है। उससे 'युष्मद्', 'अस्मद्' आदि व्यंजनान्त सर्वादि शब्दों में सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाने से 'अकच्' की निवृत्ति हो जायेगी। यही इस सूत्र का प्रयोजन है।

'सर्व', 'विश्व' आदि अजन्त शब्दों में तो 'क' और 'अकच्' प्रत्यय के करने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। हलन्तों में 'टि' से पूर्व 'अकच्' प्राप्त होने पर अन्तर हो जाएगा। इसीलिए 'त्वत्कपितृकः', 'मत्कपितृकः' ये हलन्तों के उदाहरण दिए गये हैं। वैसे 'द्वौ पुत्रौ यस्य स द्विकपुत्रः' यहां अजन्त 'द्वि' शब्द में भी 'क' और 'अकच्' में अन्तर हो जाता है। 'अकच्' करने पर 'द्वकिपुत्रः' ऐसा रूप प्राप्ता होता है। इस सूत्र से 'द्वि+औ पुत्र+औ' इस अलौकिक प्रक्रिया वाक्य में ही 'द्वि' शब्द की सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो जाने से 'अकच्' न होकर 'क' प्रत्यय होगा तो 'द्विकपुत्रः' यह इष्ट रूप बन जाएगा। इस प्रकार सत्र की स्थापन सप्रयोजन स्थिर हो जाती है।

अन्यथासिद्धि के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान में वार्तिककार कात्यायन सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार पतंजलि ने ही इसे अनावश्यक घोषित किया है। उनका कथन है—

"गोनर्दीयस्त्वाह—अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ।
त्वकत्पितृकः मकत्पितृकः इत्येव भवितव्यमिति॥"[2]

इनका भाव यह है कि 'युष्मद्+सु पितृ+सु', 'अस्मद्+सु पितृ+सु', इस अलौकिक विग्रह वाक्य में इस सूत्र की प्रवृत्ति स्वीकार करने पर भी इस निषेध से पूर्व अन्तरङ्ग होने से 'अकच्' और "स्वाङ्गशिटामदन्तानाम्"[3] इस फिट् सूत्र से सर्वनाम को विहित आद्युदात्तस्वर ये दोनों हो जायेंगे तो 'त्वकत्पितृकः', 'मकत्पितृकः' ये 'अकच्' प्रत्यय वाले प्रयोग ही अभीष्ट हैं। 'त्वत्कपितृकः', 'मत्कपितृकः' ये 'क' प्रत्ययवाले सकलवृत्तिकारसम्मत प्रयोग अभीष्ट नहीं हैं।

---

१. पा० ५.४.१५३।

२. महा० भा० १, सू० १.१.२९, पृ० ९१।

३. फिट् सूत्र २९।

'प्रियविश्वाय' इत्यादि सर्वाद्यन्त बहुव्रीहि में तो इस सूत्र की आवश्यता पहले ही अन्यथासिद्ध हो चुकी है। वे प्रयोग तो उपसर्जनप्रतिषेध से ही सिद्ध हैं अतः उनके लिये यह सूत्र अनावश्यक है। रह गये 'त्वत्कपितृकः', मत्कपितृकः', 'द्विक-पुत्रः' इत्यादि प्रयोग, जिनमें 'अकच्' के निषेध के लिये इस सूत्र की आवश्यकता बनती थी, वह भी भाष्यकार ने अन्तरङ्ग होने से 'अकच्' प्रवृत्ति को आवश्यक मानकर खण्डित कर दी है। भाष्यकार की सम्मति में 'त्वकत्पितृकः' के समान 'द्विकपुत्रः' के स्थान पर 'द्वकिपुत्रः' यह प्रयोग ही एष्टव्य है।[1]

समीक्षा एवं निष्कर्ष

प्रस्तुत संदर्भ में विचारणीय यह है कि इसी सूत्र पर विचार करते हुए पहले तो भाष्यकार ने 'त्वत्कपितृकः', 'मत्कपितृकः' इन्हीं 'क' प्रत्ययवाले प्रयोगों को इष्ट स्वीकार किया था। जैसे कि वे कहते हैं—"किं च स्याद् यद्यत्र अकच् स्यात्। को न स्यात्। कश्चेदानीं काकचोर्विशेषः। व्यंजनान्तेषु विशेषःअहकं पिता यस्य स मकत्पितृकः, त्वकं पिता यस्य स त्वकत्पितृकः इति प्राप्नोति। मत्कपितृकः, त्वत्कपितृक इति चेष्यते।"[2] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि वे 'त्वत्कपितृकः', मत्कपितृकः इन 'क' प्रत्ययवाले प्रयोगों को ही इष्ट मानते हैं परन्तु पीछे से उनको क्या सूझा कि "गोनर्दीयस्त्वाह—अकच् स्वरौ तु कर्तव्यौ' इत्यादि कहकर अनिष्ट प्रयोगों को ही इष्ट मान लिया। बहुव्रीहिसमास के अलौकिक प्रक्रियावाक्य में इस सूत्र की प्रवृत्ति स्वीकार करने पर भी वे इसका प्रत्याख्यान करना ही उचित मानते हैं। युष्मद्+सु पितु+सु' इस अवस्था में प्राप्त 'अकच्' को त्वकं पिता यस्य' इस लौकिक वाक्य में प्रयुक्त 'अकच्' के समान कैसे रोका जा सकता है इसलिये उनकी सम्मति में 'युष्मद्+सु' में अन्तरङ्ग प्राप्त स्वार्थिक 'अकच्' करके "युष्मकद्+सु पितु+सु' यही अलौकिक प्रक्रियावाक्य रखा जायेगा। ऐसी अवस्था में केवल 'अकच्' की व्यावृत्ति के लिए तो सूत्र की आवश्यकता है नहीं। हाँ 'प्रियविश्वाय' इत्यादि सर्वाद्यन्त शब्दों में सर्वनाम संज्ञा रोकने के लिये तात्पर्य ग्राहक हो सकता है।

प्रौढ़मनोरमाकार भट्टोजीदीक्षित ने इस सूत्र पर विचार करते हुए न्यास

---

१. कैयट के अनुसार गोनर्दीय आचार्य भाष्यकार पतंजलि ही हैं। द्र० महा० प्र० भा० १, सू० १.१,२१, पृ० २५२ 'गोनर्दीयस्त्वाह भाष्यकारस्त्वाह' जबकि कुछ विद्वानों को इसमें विप्रतिपत्ति है। विशेष अध्ययन के लिये देखें, सं० व्या०शा० इ० भा० १, पृ० ३३४-३५।

२. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ०९१।

आदि वृत्तिग्रन्थ तथा उनके व्याख्याताओं की विस्तार के साथ समालोचना की है। उनके अभिमत सूत्रार्थ में परस्पर विरोध दिखाकर इस बात का भी निराकरण किया गया है कि सर्वादिशब्दों की सर्वनामसंज्ञा विधान में सूत्रकार, वार्तिककार तथा भाष्यकार का भिन्न-भिन्न मत है। तद्यथा—प्राचीनों ने जो यह कहा कि सूत्रकार के मत में बहुव्रीहिसमास में सर्वनामसंज्ञा का निषेध है तथा वार्तिककार एवं भाष्यकार के मत में गौणत्वमात्र में, यह उनका कथन आपातरमणीय (ऊपर से ही अच्छा लगने वाला) है। तीनों मुनियों के मत में गौण में सर्वनामसंज्ञा का निषेध है। सूत्रकार भी गौण अथवा उपसर्जन में सर्वनामसंज्ञा को स्वीकार नहीं करते।' इस प्रकार अन्त में भाष्यसम्मत सूत्रार्थ को व्यवस्थित किया है।[1]

"न बहुव्रीहौ" में 'बहुव्रीहि' शब्द को सत्सप्तमी या भावलक्षणासप्तमी न मानकर विषयसप्तमी माना गया है। सत्सप्तमी' में अर्थ में होता—'बहुव्रीहौ कृते सति' अर्थात् बहुव्रीहि समास कर लेने पर सर्वादिशब्दों की सर्वनामसंज्ञा नहीं होती। जब बहुव्रीहि कर ही लिया गया तब सर्वनामसंज्ञा का निषेध करना ही व्यर्थ हो जायेगा। विषयसप्तमी में अर्थ होगा कि—बहुव्रीहि के विषय में। 'बहुव्रीहौ चिकीर्षिते' बहुव्रीहि करने के लिए अर्थात् बहुव्रीह्यर्थ जो प्रयोगानर्ह अलौकिक विग्रह वाक्य है, उसी समय सर्वनामसंज्ञा का निषेध हो जाता है। 'युष्मद्+सु पितृ+सु' इस अवस्था में सर्वादिशब्दों की सर्वनामसंज्ञा निषिद्ध हो जाती है। 'त्वकं पिता यस्य' इस प्रयोगार्ह लौकिक विग्रह वाक्य में तो सर्वनाम संज्ञा का निषेध नहीं होता। क्योंकि न तो यह बहुव्रीहिसमास है और न ही तदर्थ अलौकिक विग्रहवाक्य ही। इसीलिए 'त्वकम्' में 'अकच्' प्रत्यय हो रहा है, 'क' प्रत्यय नहीं।

बृहच्छब्देन्दुशेखरकार नागेशभट्ट भी इससे सहमत हैं।[2] शब्दकौस्तुभ में इतना विशेष है कि वहां भट्टोजीदीक्षित स्वाभिमत उक्तसूत्रार्थ में कैयट की सम्मति भी

---

१. द्र० प्रौ० म० भा० १, पृ०३४५ (वासुदेवशरण अग्रवाल) 'यत्तु प्राचोक्तम् बहुव्रीहौ सर्वादेः सर्वनामता न स्यात्। प्रियसर्वाय। सूत्रकारमते बहुव्रीहौ न सर्वनामता। भाष्यकारमते गौणत्वमात्रे। त्वत्कपितृको मत्कपितृक इत्यत्र समासावयवयो युष्मदस्मदोः सर्वनामत्वादनङ्कार्यत्वेनाकच् स्यात् स मा भूत्। क प्रत्यय एव स्यादित्येतदर्थमिदं सूत्रमिति न्यासकृन्मतमिति। तच्च न। सूत्रवार्तिकमतेऽपि गौणपर्युदासस्येष्टत्वात्।'

२. द्र० बृ० श० शे० भा० १, पृ० ४२७ 'यत्तु बहुव्रीहौ सर्वनामता न। प्रियविश्वाय। सूत्रमते बहुव्रीहौ न सर्वनामता। भाष्यमते गौणत्वमात्रे ......इति न्यासकृन्मतमिति। तन्न। बहुव्रीह्यवयवानामुपसर्जनतया

उद्धृत करते हैं। "ताद्‌थ्यर्थात् ताच्छब्द्यम्" इस भाष्य-वचन की प्रदीप व्याख्या में कैयट लिखते हैं—"सूत्रोपारुढ़ एवायमर्थः इति प्रतिपादयति। अप्रयोगसमवायि यत् प्रक्रियावाक्यं तत्रायं प्रतिषेधः। न लौकिके वाक्ये प्रयोगार्हे तस्य पृथगेव प्रयोगात् तादर्थ्याभावात्।"[1] अलौकिक विग्रह से लौकिक विग्रह में भेद होने के कारण ही 'दृष्टाः सर्वे येन' इस बहुव्रीहिसमास के लौकिक विग्रह में 'सर्व' शब्द की सर्वनामसंज्ञा का निषेध न होकर 'सर्वे' प्रयुक्त होता है, 'सर्वाः' नहीं। इन दोनों में भेद होने के कारण ही 'राज्ञः पुरुषः' में "अल्लोपोऽनः"[2] से अल्लोप होता है, 'राजन्+ङस् पुरुष+सु' में नहीं।

भाष्यकार ने तो 'युष्मद्+सु पितृ+सु' इस अलौकिक विग्रह में सर्वनामसंज्ञा का उक्त सूत्र से निषेध मानकर भी 'त्वकं पिता यस्य' इस लौकिक विग्रह में 'त्वकम्' यहां किए गए 'अकच्' के समान अलौकिक विग्रह 'युष्मद्+सु पित्+सु' में भी अन्तरङ्गता के आधार पर 'अकच्' लाकर 'त्वकत्पितृकः', 'मकत्पितृकः', ऐसे स्वोपज्ञ रूप स्वीकार किए हैं। परन्तु भाष्यकार की यह स्थिति विचारणीय ही है। यदि अन्तरङ्गता के आधार पर बहुव्रीहि के प्रयोगों में 'अकच्' प्रत्यय का सन्नियोग स्वीकार किया जाय तो सर्वनामसंज्ञा का निषेध करना अनावश्यक हो जाता है। 'अकच्' प्रत्यय के आने से तो इसका सर्वनामत्व ही सिद्ध होता है। अतः इस स्थिति में भाष्यकार की दृष्टि से यह सूत्र प्रत्याख्यात हो जाता है। सम्भवतः भाष्यकार को प्रमाण मानने के कारण ही[3] चान्द्र, शाकटायन तथा हैम आदि अर्वाचीन व्याकरणतन्त्रों में प्रकृतसूत्र को नहीं रखा गया है।[4] अतः इनकी दृष्टि से

(सर्वादि वहिर्भावे) तदन्तस्य, तदवयवस्य चाप्राप्त्या, सूत्रमते इत्यादेरसङ्गतत्वात्।"

१. महा० प्र० भा० १, सू० १.१.२९, पृ० २९३।

२. पा० ६.४.१३४।

३. तुलना करो वै० सि० कौ० भा० १, पृ० २२३ 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'।

४. शाकटायन व्याकरण की अमोघवृत्ति में तो 'बहुव्रीहौ सर्वादिः' (शा० सू० १.२.१७४, पृ० ५७) अर्थात् बहुव्रीहिसमास सर्वादि (सर्वनाम) संज्ञक होता है, यह कहकर भाष्यकार का ही समर्थन किया गया है और सूत्रकारसम्मत रूपों को एकपक्षीय माना है—"बहुव्रीहौ सर्वादिः। त्वत्कपितृकः मत्कपितृकः इति ह्येके।" शाकटायन व्याकरण में सर्वनामसंज्ञा को 'सर्वादि' शब्द से अभिहित किया गया है। अतः यहां बहुव्रीहिसमास में सर्वनाम संज्ञा ही इष्ट मानी गई है।

भी प्रकृतसूत्र प्रत्याख्यात ही समझना चाहिये। हां, भाष्यकार द्वारा "उपसर्जन-प्रतिषेधेनाप्येतत् सिद्धम्" यह कहकर किये गये इस सूत्र के एकपक्षीय प्रत्याख्यान के आधार पर आचार्य चन्द्रगोमी ने 'सर्वादीनि 'सर्वनामानि"[1] सूत्र पर पठित 'संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधश्च' इस वार्तिक को अवश्य सूत्र के रूप में स्वीकार किया है।[2] अमोघवृत्तिकार ने भी 'असंज्ञायां सर्वादिः' कहकर इसी की पुष्टि की है।

ऐसी स्थिति में निर्णायक केन्द्रबिन्दु 'त्वत्कपितृकः', 'मत्कपितृकः' ये 'क' प्रत्ययवाले तथा त्वकत्पितृकः', 'मकत्पितृकः' ये 'अकच्' प्रत्यय वाले रूप ही हो जाते हैं अर्थात् सूत्र की प्रयोजनवत्ता तथा निरर्थकता उक्त 'क' और 'अकच् प्रत्ययसन्नियोगविशिष्ट शब्दरूपों पर ही आश्रित है। इनमें सूत्रकार और वृत्तिकारों को तो 'क' प्रत्ययवाले 'त्वत्कपितृकः' इत्यादि रूप इष्ट हैं तथा भाष्यकार को 'अकच्' प्रत्यय वाले त्वकत्पितृकः' इत्यादि। इन दोनों प्रत्ययों वाले शब्दों की प्रतिस्पर्धा में अभीष्ट साधु शब्द का निर्णय करने के लिए जब कोशग्रन्थों पर दृष्टिपात करते हैं तो वहां पर भी परस्पर विरुद्ध वदतोव्याघात स्वरूप दिखाई देता है अर्थात् कोशों में भी 'युष्मद्' शब्द के तो 'अकच्' प्रत्यययुक्त तथा 'अस्मद्' शब्द के 'क' प्रत्यययुक्त रूप मिलते हैं।[3] भाव यह है कि 'क' और 'अकच् वाले' प्रयोगों में कोशग्रन्थ भी व्यामुग्ध हैं।

इस प्रकार दोनों पक्षों वाले रूपों की यथातथ समीक्षा करने पर यही निष्कर्ष निकालना उचित प्रतीत है कि जो रूप स्वयं सूत्रकार को तथा सकल वृत्तिकारों को अभिमत हैं, वे ही रूप अर्थात् 'क' प्रत्यय वाले 'त्वत्कपितृकः'

---

१. पा० १.१.२७

२. तुलना करो, चा० सू० २.१.१० "नान्यच्च नामाप्रधानात्।"

३. (क) वाचस्पत्यम्, भा ०४, पृ० ३४१ "त्वत्तन्-क्विप् अनो वस्तुक् च। अन्यार्थे सर्वनामायम्···सर्वनामत्वात् टेरकच् त्वकत् इति बोध्यम्।"

(ख) वही, ,'मत्क-मम इदम्, कन्, मदादेशश्च। नैतन्मतं मत्कमिति ब्रुवाणः सहस्रशोऽसौ शपथानशप्यत् इति भट्टिः।"

(ग) शब्दकल्पद्रुम, काण्ड ३, पृ० ५८०, 'मत्कः (पुं) मम अयम्। अस्मद्शब्दादिदमर्थे कन् मदादेशश्च··· यथा भट्टिः नैतन् मतं मत्कमिति ब्रुवाणः सहस्रशोऽसौ शपथानशप्यत्।" यहां एक में 'अकच्' प्रत्यय तथा दूसरे में 'क' प्रत्यय स्पष्ट ही है। मोनियर विलियम शब्दकोश में तो पतंजलि को उद्धृत करके 'त्वत्क', 'त्वकत्' तथा 'मत्क', 'मकत्' ये चारों ही शब्द दिए गए हैं।

इत्यादि रूप ही अभीष्ट तथा साधु माने जाने चाहियें तथा जिन्हें प्रारम्भ में भाष्यकार ने स्वयं भी "इति चेष्यते" कहकर इष्ट स्वीकार किया है। 'अकच्' प्रत्यय वाले 'त्वकतिपतृकः' इत्यादि रूप साधु नहीं माने जा सकते। इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरण पूज्यपाद देवनन्दी ने बहुव्रीहि समास की सर्वनामसंज्ञा का निषेध करने वाले प्रकृत सूत्र के स्थान में "न बसे" या "न बे" ऐसा सूत्र बनाते हुए शङ्का समाधानपूर्वक अन्त में सूत्र का समर्थन ही किया है। उनके कहने का भाव यह है कि सर्वनाम संज्ञा के अन्वर्थसंज्ञा विज्ञान होने के कारण ही संज्ञोपसर्जन की निवृत्ति हो जायेगी। अतः सूत्र की क्या आवश्यकता है, यह ठीक नहीं। क्योंकि 'त्वत्कपितृकः', 'मत्कपितृकः' इत्यादि प्रयोगों में 'अकच्' प्रत्यय न हो, 'क' ही हो, इस प्रयोजन के होने से प्रकृत सूत्र की प्रयोजनवत्ता बनी रहती है। अतः इनकी दृष्टि में भी 'क' प्रत्यय वाले प्रयोग ही शिष्ट हैं, 'अकच' वाले नहीं।[1]

ऐसी स्थिति में बहुव्रीहिसमासगत सर्वनाम संज्ञक शब्दों को "अव्ययसर्वनाम्ना मकच् प्राक् टेः"[2] सूत्र से प्राप्त होने वाले 'अकच्' की व्यावृत्ति के लिए सूत्र की आवश्यकता प्रतीत होती है अर्थात् 'त्वत्कपितृकः' इत्यादि में 'क' प्रत्यय ही हो, 'अकच्' प्रत्यय न हो, इसके लिए सूत्र की सार्थकता है। इसके अतिरिक्त 'प्रिय-विश्वाय' इत्यादि में 'विश्व' शब्द की सर्वनामसंज्ञा को रोकने के लिए भाष्यकार द्वारा प्रस्तावित 'उपसर्जनप्रतिषेधेनाप्येतत् सिद्धम्' यह वचन भी सयुक्तिक नहीं जंचता। क्योंकि सूत्रकार पाणिनि की दृष्टि में कात्यायन का उक्त वार्तिक विद्यमान नहीं था अर्थात् वार्तिकों के परिप्रेक्ष्य में पाणिनि ने सूत्र रचना नहीं की थी। अतः प्रत्येक स्थिति में सूत्र की आवश्यकता अप्रत्याख्येय है।।

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ॥ १.१.३८ ॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र अव्ययसंज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि जिससे सारी विभक्तियां उत्पन्न नहीं होती, अपितु कुछ निश्चित विभक्ति ही उत्पन्न होती है, ऐसे तद्धित प्रत्यय की अव्ययसंज्ञा होती है। यथा—'तत्र', 'यत्र'। 'ततः', 'यतः'। 'तदा',

---

१. जै० सू० १.१.३७ पृ० ६ (महावृत्ति) 'ननु सर्वनामसंज्ञायामन्वर्थसंज्ञा-विज्ञानात् संज्ञोपसर्जन निवृत्तिरुक्ता। संज्ञोपसर्जनश्च वसः इति सर्व-नामसंज्ञायाः प्राप्त्यभावात् सूत्रमिदमनर्थकम्। नानर्थकमेतत्, प्रयोजन सद्भावात्। त्वकं पिताऽस्य अहकं पिताऽस्य, त्वत्कपितकः मत्कपितृकः।'

२. पा० ५.३.७१।

'यदा' इत्यादि। 'तस्मिन् स्थाने इति तत्र'। यहां 'तद्' शब्द से सप्तमी विभक्ति के अर्थ में "सप्तम्यास्त्रल्"[1] से 'त्रल्' प्रत्यय होता है। वह तद्धित है। उसकी "प्राग् दिशो विभक्तिः"[2] से 'विभक्तिसंज्ञा' होकर "त्यदादीनामः"[3] से 'तद्' शब्द के दकार को अकार और "अतोगुणे"[4] से पररूप हो जाता है तो 'तत्र' बन जाता है। 'त्रल्' प्रत्यय के केवल सप्तमी विभक्ति के अर्थ में होने से यह 'असर्वविभक्ति' है। उसकी इस सूत्र से 'अव्ययसंज्ञा' हो जाती है तो उससे परे होने वाले 'सुप्' का 'अव्ययादाप्सुपः'[5] से 'लुक्' होकर 'तत्र' सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार 'ततः' यहां 'तद्' शब्द से पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में "पञ्चम्यास्तसिल्"[6] से 'तसिल्' प्रत्यय होता है। वह भी तद्धित है। 'तस्मात् स्थानात्' इति ततः'। 'तसिल्' प्रत्यय के केवल पंचमी विभक्ति के अर्थ में होने से वह भी 'असर्वविभक्ति' है। उसकी इस सूत्र से 'अव्ययसंज्ञा' हो जाती है तो 'ततः' से परे आने वाले 'सुप्' का 'अव्ययादाप्सुपः' से 'लुक्' होकर 'ततः' बन जाता है।

'तदा' में 'तद्' शब्द से "सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा"[7] से 'काल' रूप सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'दा' प्रत्यय होता है। 'तस्मिन् काले इति तदा'। केवल सप्तमी के अर्थ में होने से 'दा' प्रत्यय 'असर्वविभक्ति' है। उसकी इस सूत्र से 'अव्ययसंज्ञा' हो जाती है तो "अव्ययादाप्सुपः" से 'सुप्' का 'लुक्' होकर 'तदा' यह शब्द बन जाता है।

सूत्र में 'तद्धित' ग्रहण इसलिये किया गया है कि 'एकः', 'द्वौ', 'बहवः' यहां 'एक', 'द्वि,' 'बहु' शब्दों की 'अव्ययसंज्ञा' न हो। क्योंकि 'एकः', 'द्वि', 'बहु', शब्दों से भी केवल अपनी-अपनी विभक्ति का एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन ही उत्पन्न होता है। अतः वे भी 'असर्वविभक्ति' हैं, किन्तु तद्धित नहीं है, इसलिए उनकी 'अव्ययसंज्ञा' नहीं होती। 'असर्वविभक्ति' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'औपगवः', 'औपगवौ', 'औपगवाः' यहां 'औपगव' शब्द में तद्धित 'अण्' प्रत्यय की 'अव्ययसंज्ञा' न हो। 'उपगोरपत्यम् औपगवाः' यहां 'उपगु' शब्द से 'अपत्य' अर्थ में सभी विभक्तियों से 'अण्' प्रत्यय होता है। अतः वह 'सर्वविभक्ति' है।

---

१. पा० ५.३.१०।

२. पा० ५.३.१।

३. पा० ७.२.१०२।

४. पा० ६.१.९७।

५. पा० २.४.८२।

६. पा० ५.३.७।

७. पा० ५. ३. १५

'असर्वविभक्ति' न होने से उसकी 'अव्ययसंज्ञा' नहीं होती। इस प्रकार सूत्र का प्रयोजन स्थिर होता है।

गणपाठ का आश्रयण करके किया गया सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान से पूर्व भाष्यकार 'असर्वविभक्ति' शब्द के अर्थ पर विचार करते हैं कि यदि 'असर्वविभक्ति' शब्द का यह अर्थ है कि जिससे सब विभक्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं, ऐसे तद्धित की 'अव्ययसंज्ञा' होती है, तब तो 'बिना', 'नाना' यहां 'ना' और 'नाञ्' इन तद्धित प्रत्ययों की अव्ययसंज्ञा नहीं प्राप्त होगी। क्योंकि 'विनञ्भ्यां नानाञौ न सह'[1] से उत्पन्न होने वाले 'ना', 'नाञ्' प्रत्यय किसी भी विभक्ति के अर्थ को निमित्त नहीं मानते। 'ना-नाञ्' प्रत्ययों के विधान में किसी भी विभक्ति को निमित नहीं माना गया है। जिससे कोई भी विभक्ति उत्पन्न नहीं होती, वह अविभक्तिक होता हुआ एक प्रकार से 'सर्वविभक्ति' ही है। उसके 'असर्वविभक्ति' न होने से यहां 'अव्ययसंज्ञा' इस सूत्र से नहीं प्राप्त होती। इसलिये 'असर्वविभक्ति' के स्थान पर 'अविभक्तिनिमित्त' का भी उपसंख्यान करना चाहिए।[2] "अविभक्तिः शब्दोऽव्ययसंज्ञो भवति" ऐसा कहना चाहिये। अथवा 'अलिङ्गमसंख्यमव्ययं भवति' ऐसा सूत्र होना चाहिए।[3] उससे लिङ्गसंख्यारहित तथा विभक्तिरहित 'ना-नाञ्' प्रत्ययों की भी 'त्रल्', 'तसिल्' आदि की तरह 'अव्ययसंज्ञा' सिद्ध हो जायेगी। सम्भवतः उक्त भाष्य वचन के आधार पर ही अर्वाचीन वैयाकरण आचार्य चन्द्रगोमिन् तथा पूजयपाद देवनन्दी ने अपने-अपने तन्त्रों में 'अव्यय' के लिये 'अव्यय' शब्द का प्रयोग न करके 'असंख्य' शब्द का व्यवहार किया है। इसके विपरीत शाकटायन और हेमचन्द्र ने 'अव्यय' शब्द को ही रखा है। वैसे सूत्र के प्रत्याख्यान में ये सारे वैयाकरण सहमत हैं। इसीलिये इन्होंने इस सूत्र को अपने व्याकरण में नहीं रखा।

अस्तु, 'अविभक्तिः' इस न्यास के बिना भी 'असर्वविभक्तिः' शब्द से ही 'ना-नाञ्' प्रत्ययों की 'अव्ययसंज्ञा' सिद्ध करने के लिये भाष्यकार 'असर्वविभक्तिः' शब्द का अर्थान्तर करते हुए कहते हैं—"अथाप्यसर्वविभक्तिरित्युच्यते, एवमपि न दोषः। न ह्येवं विग्रहः करिष्यते न सर्वा असर्वाः असर्वाः विभक्तियो यस्मात् इति। कथं तर्हि। न सर्वा असर्वा। असर्वा विभक्तिरस्मादिति"[4] अर्थात् जिससे

---

१. पा० ५. २. २७

२. द्र० महा० भा० १, सू० १.१.३८, पृ० ९४ "असर्वविभक्तावविभक्तिनिमित्तस्योप संख्यानं कर्तव्यम्,।

३. महा० भा० १ प्रकृत सूत्र, पृ० ९५ "अलिङ्गमसंख्यमिति वा।"

४. वही, पृ० ९५।

सारी यानि पूरी विभक्ति उत्पन्न नहीं होती, अपितु विभक्ति का कुछेक वचन ही उत्पन्न होता है, वह 'असर्वविभक्ति' है। एकवचन को सबके लिये उत्सर्ग मानकर[1] लिङ्गसंख्यारहितों से भी उसका विधान हो जायेगा तो 'बिना', 'नाना' शब्दों के भी 'असर्वविभक्ति' बन जाने से 'अव्ययसंज्ञा' सिद्ध हो जायेगी।[2] उस अवस्था में 'असर्वविभक्तिरव्ययम्' इतना सूत्र ही पर्याप्त है। 'कृन्मेजन्तः' "क्त्वातोसुन्कसुनः"[3] ये सूत्र भी न बनाने पड़ेंगे।[4]

किन्तु "असर्वविभक्तिरव्ययम्" ऐसा कहने पर जहाँ इष्टसिद्धि होगी वहां अनिष्ट भी प्राप्त होगा। 'एकः', 'द्वौ', 'बहवः' में भी अव्ययसंज्ञा प्राप्त होने लगेगी। क्योंकि ये भी 'असर्वविभक्ति' हैं। इनमें भी सारी पूर्ण विभक्ति उत्पन्न नहीं होती। 'एक' से केवल एकवचन, 'द्वि' से केवल द्विवचन तथा 'बहु' से केवल बहुवचन होता है। इनमें 'अव्ययसंज्ञा' को रोकने के लिए सूत्र में 'तद्धित' ग्रहण अवश्य करना होगा। 'असर्वविभक्ति' तद्धितों की ही अव्ययसंज्ञा हो, 'एक', 'द्वि' 'बहु' शब्दों की न हो। परन्तु 'तद्धित' ग्रहण करने पर कृदन्तों की अव्ययसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। उसके लिये 'तद्धित' के साथ-साथ 'मान्त', 'एजन्त' तथा 'कृत्' प्रत्यय अर्थात् 'कृन्मेजन्तः' यह सूत्र और "क्त्वा तोसुन्कसुनः" ये भी बनाने आवश्यक हैं। 'तद्धित-कृत्' प्रत्ययों के साथ स्वरादि शब्दों की भी 'अव्ययसंज्ञा' के लिए

---

१. द्र० महा० भा० १ सू० १.१ ३८ पृ० ९५ 'एकवचनमुत्सर्गः करिष्यते।'

२. यदि "प्रथमातिक्रमे कारणाभावः" इस न्याय को मानकर केवल प्रथमा विभक्ति का एकवचन ही लिङ्गसंख्यारहित अव्ययों से माना जाये, द्वितीयादि शेष विभक्तियों का एकवचन न माना जाये, तब तो 'असर्वा विभक्तियो यस्मात्' इस विग्रह में भी दोष नहीं। उस अवस्था में केवल प्रथमा का ही एकवचन होने से 'बिना', 'नाना' भी 'असर्वविभक्ति' बन जाते हैं। किन्तु 'खले कपोतन्याय' से एकसाथ जब सब विभक्तियों का एकवचन सामान्यविहित होगा तव 'बिना', 'नाना' के 'सर्वविभक्ति' हो जाने से 'अव्ययसंज्ञा' नहीं प्राप्त होती। उसके लिये 'असर्वविभक्ति र्यस्मात्' यह विग्रह करना आवश्यक हो जाता है।

३. पा० १.१.४६; ४०।

४. इस बात को भाष्यकार ने श्लोकरूप में इस प्रकार कहा है—
महा० भा० १, सू० १.१.३८, पृ० ९६
"एवंगते कृत्यपि तुल्यमेतन्मान्तस्य कार्यं ग्रहणं न तत्र।
ततः परे चाभिमता न कार्यास्त्रयः कृदर्था ग्रहणेन योगा॥"

'स्वरादिनिपातमव्ययम्'[१] यह सूत्र भी अवश्य ही बनाना पड़ेगा जिससे स्वरादिति गणपठित शब्दों तथा निपातों की 'अव्ययसंज्ञा हो सके।

ऐसी स्थिति में यदि स्वरादि के गणपाठ में ही 'कृन्मेजन्त', क्त्वातोसुन् कसुनः' ये सूत्र पढ़ दिये जाते हैं तो कृदन्तों की 'अव्ययसंज्ञा' के लिए तो पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं है। रह गये तद्धित, इनकी अव्ययसंज्ञा करने के लिए भी स्वरादिगणपाठ में ही 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' यह सूत्र न बनाकर कुछ निश्चित तद्धित प्रत्ययों का परिगणन कर देना चाहिए जिससे 'ना', 'नाञ्' प्रत्ययों की भी 'अव्यगसंज्ञा' सिद्ध हो सके तथा 'पचतिरूपम्',' पचतिकल्पम् इत्यादि में 'रूपम्', 'कल्पप्' इन तद्धितप्रत्ययों की न हो। इसलिए भाष्यकार ने अन्त में श्लोक रूप में कहा है —

"तस्मात्स्वरादिग्रहणं च कार्यम्, कृत्तद्धितानां ग्रहणं च पाठे।"[२] इसकी व्याख्या में कैयट लिखते हैं—"तस्माद् गणपाठ एव आश्रयितव्यः। प्रपञ्चार्थस्तु सूत्रारम्भः इति।"[३]

वार्तिककार भी कहते हैं—"सिद्धन्तु पाठात्" अर्थात् स्वरादिगण में ही छकु निश्चित तद्धितों का पाठ कर देना चाहिए जिनकी 'अव्ययसंज्ञा' इष्ट है और वह पाठ इस प्रकार है—

"तसिलादयः प्राक् पाशपः। शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः।

मान्तः। तसिवती। कत्वोऽर्थाः। नानात्राविति।"[४]

इस प्रकार गणपाठ का आश्रयण करके भाष्यवार्तिककार द्वारा प्रकृतसूत्र का प्रत्याख्यान किया गया है। क्योंकि कुछ निश्चित तद्धितों का स्वरादिगण में पाठ कर देने से ही जब अभीष्ट सिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यवार्तिककार द्वारा किया गया प्रकृत सूत्र का प्रत्याख्यान ठीक ही है किन्तु अव्ययसंज्ञाविधायक इन चारों सूत्रों को गणपाठ में पढ़ देने से भी इन सूत्रों की उपयोगिता या आवश्यकता का तो अपलाप नहीं किया जा सकता। आवश्यकता होने के कारण ही तो इन्हें गणपाठ में पढ़ने के लिए कहा जा रहा है

---

१. पा० १.१.३७।

२. महा० भा० १, सू० १.१.३८, पृ० ९६।

३. महा० प्र० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ३०७।

४. महा० भा० १, सू० १.१,३८, पृ० ९५।

अन्यथा इनके गणपाठ में भी पढ़ने की क्या अनिवार्यता थी। यह बात अलग है कि इन सूत्रों को गणपाठ में पढ़ देने से पुनः सूत्रपाठ में इनका पढ़ना अप्रयोजक होगा। अष्टाध्यायी के वर्तमान मुद्रित संस्करणों में तो ये सूत्रपाठ और गणपाठ दोनों जगह विद्यमान हैं। दोनों जगह इनके पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः यदि इन्हें एक ही स्थान पर अर्थात् स्वरादि के गणपाठ में पढ़ दिया जाता है तो लाघव के साथ-साथ स्फुटबोध भी हो जायेगा।

वैसे इन सूत्रों को गणपाठ में पढ़ने की अपेक्षा यदि सूत्रपाठ में ही पढ़ा जाये तो भी कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता। क्योंकि आचार्य पाणिनि ने प्राचीन आचार्यों के अव्यवस्थित गणपाठ को परिमार्जित करके प्रकृतसूत्र के रूप में परिष्कृत किया था। सम्भवतः इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरण शाकटायन तथा हेमचन्द्र ने एतत् सूत्र प्रतिपाद्य विषय को तथा 'क्त्वा', 'तोसुन्' आदि अन्य अव्यय विषयक कार्यों को अपने तन्त्र में गणपाठ की अपेक्षा केवल सूत्रपाठ में स्थान दिया है।[1] तथापि स्पष्ट प्रतिपत्ति तो गणपाठ से ही संभव है। जिन तद्धितों की 'अव्ययसंज्ञा' अभीष्ट है, उनका स्वरादिगण में पाठ कर देना चाहिए, जैसा कि किया भी हुआ है। सम्भवतः इसी अनुकरण पर पूज्यपाद देवनन्दी ने इन सूत्रों को अपने सूत्रपाठ में नहीं रखा। अभयनन्दीकृत जैनेन्द्र महावृत्ति में इन्हें स्वरादि के साथ पढ़ा गया है।[2] ऐसी अवस्था में प्रकृत सूत्र को अलग से सूत्रपाठ में पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। अथवा जैसे "पूर्वपरावर दक्षिणोत्तरापराधराणि", "स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्", "अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः"[3] ये तीनों सूत्र सर्वादिगण में इसी रूप में पढ़े गये हैं। इनकी 'जस्' में विकल्प से 'सर्वनाम संज्ञा' करने के लिए वे अष्टाध्यायी सूत्रपाठ में भी पढ़ दिये गये हैं। उनका तो गणपाठ के साथ-साथ सूत्रपाठ में भी पढ़ना सार्थक है किन्तु "तद्धितश्चासर्व-

---

१. (क) शा० सू० १.१.३९ "तस्वनङाम् अधण तसि आम् क्त्वा अम् तुम् वि सुङ् प्तसु आभा स्वरादीनि अव्ययम्।'

(ख) है० सू० १.१. ३०-३५ "स्वरादयोऽव्ययम्"। 'चादयोऽसत्वे।' 'अधणतस्वाद्याशसः।' 'विभक्तिथमन्ततसाद्याभाः।' 'वत्तस्याम्।' 'क्त्वातुमम्।'

२. द्र० जै० महावृत्ति, सू० १ १ ७४ 'के पुनरसंख्याः—स्वर्, अन्तर्,··· इत्येवंप्रकाराः, निसंज्ञकाश्च सर्वे 'चे, वा, ह, अह' एवम्प्रभृतयो हृतश्च तसादयस्तत इत्यादयश्च्व्यर्थाः कृतः मुमाम् तुमादयः क्त्वाप्यादेशश्चेति।'

३. पा० १.१.३४-३६।

विभक्तिः" इत्यादि चतुःसूत्री का गणपाठ से अतिरिक्त सूत्रपाठ में भी पढ़ने का कोई प्रयोजन नजर नहीं आता। अतः सूत्रपाठ की दृष्टि से इन सूत्रों का प्रत्याख्यान समुचित ही प्रतीत होता है। किन्तु भाष्यकार के "तस्मात्स्वरादिग्रहणं च कार्यम्" इत्यादि वचन के आधार पर यह अनुमान निकाला जा सकता है कि भाष्यकार के समय में उक्त चतुःसूत्री "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः", "कृन्मेजन्तः", "क्त्वा तोसुन् कसुनः", 'अव्ययीभावश्च'[1] गणपाठ में विद्यमान नहीं थी और न ही तद्धित प्रत्यय भी गणपाठ में थे। अन्यथा भाष्यकार 'कार्यम्' (पाठ करना चाहिए) ऐसा न कहते। बाद में अर्वाचीन वैयाकरण तथा वृत्तिकारों आदि ने उन्हें भाष्यवचन को आधार मानकर गणपाठ में पढ़ दिया हो, ऐसी संभावना है।[2] ऐसी स्थिति में भाष्यकार का यह कहना "कृत्तद्धितानां ग्रहणं च पाठे" युक्तिसंगत ही है॥

अव्ययीभावश्च ॥ १.१.४१ ॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र अव्ययीभाव समास की 'अव्ययसंज्ञा' करता है। एक और दूसरे 'अव्ययीभावश्च'[3] सूत्र द्वारा अव्ययीभावसमास की नपुंसकलिङ्गता का विधान किया जाता है। उसका प्रयोजन 'अधिगोपम्', 'अनुगङ्गम्' इत्यादि प्रयोगों में अव्ययीभाव के नपुंसकलिङ्ग होने से 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'[4] से 'गोपा', 'गङ्गा' आदि शब्दों को ह्रस्व हो जाता है, यह स्पष्ट है। अव्ययीभावसमास की 'अव्ययसंज्ञा' करने के वृत्तिकारों तथा भाष्यकार आदि ने केवल तीन ही प्रयोजन माने हैं। वे प्रयोजन हैं—(१) 'लुक्' (२) 'मुखस्वरनिवृत्ति' तथा (३) 'उपचार'[5]

'लुक्' जैसे—'उपाग्नि'। 'अग्नेः समीपम् उपाग्नि' यह अव्ययीभावसमास है। इसकी 'अव्ययसंज्ञा' होने से इससे परे आनेवाले 'सुप्' का 'अव्ययादाप्सुपः'[6] से

---

१. पा० १.१.३८-४१।

२. इस विषय में विशेष अध्ययन के लिए देखें गणपाठ एस्क्राइब्ड टु पाणिनि, पृ० २७४।

३. पा० २.४.१८।

४. पा० १,२.४७।

५. द्र० महा० भा० १, सू० १.१.४१, पृ० १०० 'अव्ययीभावस्याव्ययत्वे प्रयोजनं लुङ् मुखस्वरोपचाराः। तुलना करो, स० सू० १.१.१८८ 'लुङ्मुखस्वरयोरव्ययीभावः।'

६. पा० २.४.८२।

'लुक्' हो जाता है।

'मुखस्वरनिवृत्ति' जैसे—'उपाग्निमुखः।' उपाग्नि मुखं यस्य स 'उपाग्निमुखः' यहां बहुव्रीहिसमास में 'उपाग्नि' इस अव्ययीभाव के अव्यय होने से 'मुखंस्वाङ्गम्'[1] से प्राप्त उत्तरपदान्तोदात्तस्वर का "नाव्ययदिक्शब्द गोमहत्"[2] इत्यादि सूत्र से निषेध हो जाता है। क्योंकि उक्त सूत्र अव्यय से परे 'मुख' शब्द को प्राप्त उत्तरपदान्तोदात्त स्वर का निषेध करता है। 'उपाग्निमुखः' में उत्तरपदान्तोदात्तस्वर का निषेध होने पर "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्"[3] से विहित अपना पूर्वपदप्रकृतिस्वर समासान्तोदात्त सिद्ध हो जाता है।

'उपचारनिवृत्ति' जैसे— 'उपपयःकारः'। प्राचीन आचार्यों के मत में विसर्ग के स्थान में होने वाले सकार की 'उपचार' संज्ञा है।[4] 'उपपयकारः' में 'उपपयः' इस अव्ययीभाव के अव्यय होने से "अतः कृ कमि कंस कुम्भपात्र"[5] इत्यादि सूत्र से प्राप्त विसर्ग के सकार का 'अनव्ययस्य' से विहित निषेध सिद्ध हो जाता है अर्थात् 'उपपयः' के विसर्ग को सकार नहीं होता।

अव्ययीभावसमास की 'अव्ययसंज्ञा' करने के ये तीन ही प्रयोजन हैं। अन्यशास्त्रीय कार्यों में अव्ययीभाव को अव्यय नहीं माना जाता। जैसे—'उपाग्न्यधीयान' यहाँ 'अधीयान' इस आमन्त्रित के परे रहते 'उपाग्नि' इस सुबन्त को "सुबामन्त्रितेपराङ्गवत्स्वरे'[6] से पराङ्गवद्भाव होकर 'आमन्त्रितस्य च'[7] से आद्युदात्त हो जाता है, पराङ्गवद्भाव में अव्ययीभाव को अव्यय न मानने से 'अव्ययानां प्रतिषेधो वक्तव्यः"[8] यह निषेध नहीं होता। 'उपाग्निकम्' यहां 'उपाग्नि' इस अव्ययीभाव को अव्यय न मानने से 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः'[9] सूत्र से 'अकच्' नहीं होता, किन्तु 'क' प्रत्यय ही होता है। 'उपकुम्भम्मन्यः' यहां उपकुम्भम्' इस अव्ययीभाव

---

१. पा० ६.२.१६७।
२. पा० ६.२.१६८।
३. पा० ६.२.१।
४. द्र० का० भा० १, सू० १.१.४१, पृ० १५४ 'विसर्जनीयस्थानिकस्य सकारस्य उपचार इति संज्ञा।'
५. पा० ८.३.४६।
६. पा० २.१.२।
७. पा० ६.१.१९८।
८. पा० २.१.२ पर वार्तिक।
९. पा० ५.३.७१।

को अव्यय न मानने से "खित्यनव्ययस्य"[1] से अधिकृत "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्"[2] से 'मुमागम' सिद्ध हो जाता है। अर्थात् वहाँ 'अनव्ययस्य' यह निषेध न लगकर 'मुमागम' हो जाता है। 'उपकुम्भीभूतम्' यहां 'उपकुम्भ' इस अव्ययीभाव के अव्यय न होने से 'अस्य च्वौ'[3] से विहित ईत्व-विधान में "अव्ययानां च्वावीत्वं नेतिवाच्यम्"[4] यह निषेध नहीं लगता अर्थात् 'अनव्यय' होने के कारण 'अस्यच्वौ' से ईत्व हो जाता है। इस प्रकार अव्ययीभाव-समास की 'अव्ययसंज्ञा' करने के केवल तीन ही प्रयोजन सोदाहरण सिद्ध हो जाते हैं।

अल्पप्रयोजनवत्ता, ज्ञापकसिद्धि तथा अन्यथासिद्धि के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन में मौन हैं। इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए केवल भाष्यकार कहते हैं कि यदि केवल उक्त तीन ही प्रयोजन इस सूत्र के हैं तो यह सूत्र अनावश्यक होने से प्रत्याख्येय है। इन तीनों प्रयोजनों को अन्यथासिद्ध किया जा सकता है। जैसे 'उपाग्नि' यहाँ 'सुप्' का 'लुक्' प्रयोजन बताया गया है, वह ज्ञापक से ही सिद्ध हो जायेगा। "अव्ययीभाव से परे 'सुप्' का 'लुक्' होता है" इस विषय में "नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपंचम्याः"[5] इस सूत्र द्वारा अव्ययीभाव से परे 'सुप' के 'लुक्' का निषेध करना ही ज्ञापक है। यदि अव्ययीभाव से परे 'सुप्' का 'लुक्' न होता तो इसका निषेध करने की क्या आवश्यकता थी। 'लुक्' का निषेध करना ही इस बात का ज्ञापक या बोधक है कि अव्ययीभाव से 'सुप्' का 'लुक' होता है।

---

१. पा० ६.३.६६।
२. पा० ६.३.६७।
३. पा० ७.४.३२।
४. यह वार्तिक महाभाष्य में उपलब्ध नहीं है। केवल सिद्धान्तकौमुदी में "अस्य च्वौ" सूत्र पर पठित हैं। तत्त्वबोधिनीकार, शब्दकौस्तुभकार तथा पदमंजरीकार ने इसे औपसंख्यानिक माना है। प्रकृत सूत्र पर भाष्यकार ने "अस्य च्वौ अव्ययप्रतिषेधश्चोद्यते" केवल इतना ही कहा है किन्तु अद्यत्वे "अस्य च्वौ" सूत्र पर भाष्य या वार्तिक कोई उपलब्ध नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कभी इस सूत्र पर भी भाष्यकार ने भाष्य लिखा होगा। यह विद्वानों के विचार का विषय है। द्र० सं० व्या० शा० इ० भा० १, पृ० ३५३
५. पा० २.४.८३।

'उपयय:कार:' यहा 'उपचारनिवृत्ति' भी अन्यथा सिद्ध हो जायेगी। "अतः कृकमि०"[1] इस सूत्र में "नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य"[2] इस पूर्वसूत्र से 'अनुत्तरपदस्थस्य' की अनुवृत्ति आती हैं। उससे उत्तरपद में स्थित विसर्ग को सकार नहीं होता। 'उपपयः' में 'पयः' का विसर्ग उत्तरपद में स्थित है। अतः वहां सकार नहीं होगा। उत्तरपद से भिन्न में स्थित विसर्ग को सकार का विधान माना गया है।

अव केवल 'मुखस्वरनिवृत्ति' प्रयोजन शेष रह जाता है। 'उपाग्निमुखः' में "मुखं स्वाङ्गम्"[3] के स्वर को रोकने के लिए अव्ययीभावसमास की 'अव्ययसंज्ञा' करना कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। अव्ययीभावसमास की 'अव्ययसंज्ञा' करके यदि 'नाव्ययदिक्शब्द'[4] इस सूत्र से केवल 'मुखस्वर' को रोकना ही लक्ष्य है तब वह तो अव्यय के साथ अव्ययीभाव और अधिक पढ़कर अर्थात् "नाव्ययाव्ययीभावदिक्शब्द" ऐसा करके भी 'मुखस्वरनिवृत्ति' हो जायेगी। भाव यह है कि केवल एक छोटे से प्रयोजन के लिए इतना बड़ा सूत्र बनाना अच्छा नहीं मालूम होता। यदि कुछ और भी प्रयोजन होते, जिनकी सिद्धी इस सूत्र के बिना नहीं हो सकती तो इस सूत्र का बनाया जाना सार्थक होता। पर यहाँ तो ऐसी बात नहीं है। इसीलिए भाष्यकार कहते हैं—

"नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति। यद्येतावत् प्रयोजनं स्यात् तत्रैवायं ब्रूयात् नाव्ययाव्ययीभावाच्चेति।"[5]

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वार्तिककार ने इस सूत्र के प्रयोजनमात्रों का परिगणन किया है। इन्होंने

---

१. पा० ८.३.४६।
२. पा० ८.३.४५।
३. पा० ६.२.१६७।
४. पा० ६.२.१६८।
५. महा० भा० १, सूत्र० १.१.४१, पृ० १००। तुलना करो, वही, भा० ३, सू० ७.१.९६, पृ० २७४ 'नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति'। यहाँ यह अवश्य स्मरणीय है कि संज्ञा और परिभाषा सूत्र अनेक कार्यों के लिए ही रचे जाते हैं, दूसरे विशिष्ट प्रयोगसाधक विधिसूत्र तो एक प्रयोजन के लिए भी बनाये जाते हैं यथा—'मुद्गादण्' (पा० ४.४.२५) इत्यादि। (महा० प्र० सू० १.१.१२ 'नैकमिति। अनेक कार्यसिद्ध्यर्थम् संज्ञासूत्रं नैकेन प्रयुज्यत इत्यर्थः। अन्यसूत्रमेकेनापि प्रयुज्यते-मुद्गादण्

इसके खण्डन की ओर ध्यान नहीं दिया है। इससे इनकी सम्मति में प्रकृतसूत्र प्रत्याख्येय नहीं है। किन्तु भाष्यकार ने इस सूत्र के प्रयोजनों को ज्ञापक से तथा पूर्वसूत्र से अनुवृत्तिलाकर खण्डित करके केवल एक 'मुखस्वरनिवृत्ति' रूप प्रयोजन को स्वीकार करते हुए तन्निमित्त (उसके लिये) इतने बड़े सूत्र के बनाये जाने को अनावश्यक घोषित करके इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। अतः इस दृष्टि से प्रकृत सूत्र खण्डन का विषय है। कैयट आदि टीकाकारों की दृष्टि में तो भाष्यकार के इस कथन का कि "नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति। यद्येतावत् प्रयोजनं स्यात् तत्रैवायं ब्रूयात् नाव्ययाव्ययीभावाच्चेति" यह अभिप्राय लिया गया है कि आचार्य पाणिनि ने अपने "नाव्ययदिक्शब्द" सूत्र में अव्ययीभाव को 'अव्यय' के साथ पृथक् नहीं पढ़ा है इसलिये 'उपाग्निमुखः' में 'मुखस्वर' हो जाना अभीष्ट ही है।"[1]

कुछ लोग, 'अनव्ययम् अव्ययं भवति इति अव्ययीभावः' इस प्रकार अव्ययीभाव संज्ञा के अन्वर्थ होने से अव्ययीभाव का मुख्य कार्य अव्ययत्वसम्पादन करना ही है। उससे 'अव्ययसंज्ञा' स्वतः सिद्ध हो जाती है, ऐसा मानते हैं।[2] वैसे भी 'स्वरादिनिपातमव्ययम्'[3] इस अव्ययसंज्ञा विधायक सूत्र के स्वरादिगण में 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः', 'कृन्मेजन्तः', 'क्त्वा तोसुन् कसुनः', 'अव्ययीभावश्च'[4] इन चारों सूत्रों के पठित होने से इन सूत्रों द्वारा पुनः 'अव्ययसंज्ञा' का विधान करना उक्त संज्ञा की अनित्यता को ही सूचित करता है। अनित्य मानने पर कुछ अव्यय कार्य

इत्यादि',) भाष्यकार ने अन्यत्र भी इसे स्पष्ट किया है। जैसे- 'नैकमुदाहरणं ह्स्वग्रहणं प्रयोजयति' (महा० भा० ३, सू० ६.४.३, पृ० १८१) नव्यव्याख्याकार इस विषय में कहते हैं—एकस्य शब्दस्य-साधनाय सामान्यसूत्रं नारम्भणीयमित्यर्थः। अन्यथा मुदगादण् इत्यनुपपत्तेरिति कैयटः बालमनोरमा, भा० १, पृ० २०५)

१. द्र० महा० सू० १.१.४१, पृ० ३२० "तत्रैवायमिति—न चोक्तम्, तस्मान्मुखस्वरेणात्र भवितव्यमित्याहुः"। किन्तु उद्योतकार नागेश का इस विषय में वैमत्य है। उनका कथन है— "तस्मात्तत्राव्ययीभावग्रहणं कर्त्तव्यं, सूत्रं च न कार्यमिति भाष्याशयः इति वयम्।"

२. वही, पृ० ३२० 'अन्ये तु वर्णयन्ति, अनव्ययमव्यय भवतीत्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् मुखस्वरनिवृत्तिः भविष्यति इतिनार्थः सूत्रेण।'

३. पा० १.१.३७।

४. पा० १.१.३८-४१।

होंगे तथा कुछ नहीं।[1] अथवा 'अव्ययीभाव' इस शब्द में 'च्वि' प्रत्यय के कारण भी अव्ययीभावसमास की अव्ययता आरोपित है और अनव्ययता वास्तविक है, यह प्रतीत होता है। इससे भी कुछेक अव्ययनिमित्तक कार्य होंगे, कुछ नहीं। इस प्रकार लक्ष्यानुरोध से व्यवस्था होने पर 'मुखस्वर' की निवृत्ति हो जायेगी।

प्रस्तुत संदर्भ में शब्दकौस्तुभकार का मन्तव्य है कि स्वरादिगण में पठित होने के कारण उसी से 'अव्यय संज्ञा' सिद्ध हो जायेगी तो "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" "कृन्मेजन्तः", "क्त्वा तोसुन् कसुनः", 'अव्ययीभावाश्च" ये चारों सूत्र न भी बनाये जायें तो भी कोई हानि नहीं। "अव्ययीभावश्च" यह सूत्र तो चाहे स्वरादिगण में भी न रखें। क्योंकि 'अनव्ययमव्ययं भवतीत्यव्ययीभावः' इस अन्वर्थसंज्ञा से ही अव्ययीभाव की 'अव्ययसंज्ञा' स्वतः सिद्ध हो जाती है।[2] 'पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः'[3] 'पुरा कूरस्य विसृपः'[4] यहां 'उदेतोः', 'विसृपः' इन वैदिक शब्दों में 'तोसुन्' 'कसुन', इन अव्ययसंज्ञक प्रत्ययों के प्रयोग में "न लोकाव्यय"[5] से प्राप्त षष्ठी निषेध को रोकने के लिये "तोसुन्कसुनोरप्रतिषेधः"[6] यह वार्तिक तो पढ़ना आवश्यक है। अर्थात् इस चतुःसूत्रपाठापेक्षया गणपाठ में पढ़ देने पर भी एतत्सूत्रसम्बद्ध 'तोसुन्-कसुनोरप्रतिषेधः यह वार्तिक तो अवश्य पढ़ना पड़ेगा जिससे उक्त उदाहरणों में "न लोकाव्यय" से प्राप्त षष्ठीनिषेध रोका जा सके। क्योंकि यहां षष्ठीनिषेध इष्ट नहीं है।[7] इस प्रकार भट्टोजि के मत में प्रकृतसूत्र व्यर्थ हो जाता है। लेकिन स्पष्टप्रतिपत्ति के दृष्टिकोण से प्रकृतसूत्र को सूत्रपाठ के साथ-साथ गणपाठ में भी न पढ़ना और अन्वर्थसंज्ञाविज्ञान से ही काम चलाना दोषावह ही होगा।

---

१. द्र० महा० प्र० सू० १.१.४१, पृ० ३२० "केचित्तु स्वरादिपाठात् सिद्धायामव्ययसंज्ञायां पुनर्वचनमनित्यत्वज्ञापनार्थम्। तेन कतिपयान्येव अव्ययकार्याणि भवन्तीति नार्थः परिगणनेनेत्याहुः।"

२. "तद्धितश्चासर्वविभक्ति :" (पा० १.१.३८) सूत्र के भाष्य में कहा भी गया है: 'कृत्तद्धितानां ग्रहणं च पाठे।' इस पर प्रदीपकार लिखते हैं: 'तस्मात् गणपाठ एवाश्रयितव्यः। प्रपञ्चार्थस्तु सूत्रारम्भ इति।'

३' कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणी संहिता, १.६.१०।

४. मा० यजु, १.२८।

५. पा० २.३.६९।

६. पा० २.३.६९ पर वार्तिक।

७. श० कौ० भा० २, पृ० १८३ वस्तुतस्तु माऽस्तु चतुःसूत्री। अव्ययीभावश्चेतिगणेऽपि माऽस्तु। उक्तरीत्यान्वर्थसंज्ञयैव सिद्धेः। तोसुन् कसुनोर-प्रतिषेधः इत्येव लाघवात् पठ्यतामिति युक्तः पन्था इति।'

क्योंकि उससे सामान्यबुद्धियों को स्फुटबोध न हो सकेगा। हां, यह अधिक अच्छा होगा कि इस सूत्र को सूत्रपाठ की अपेक्षा "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" इत्यादि के समान स्वरादि के गणपाठ में ही पढ़ दिया जाये। किन्तु इसे गणपाठ में पढ़ देने से भी इसकी उपयोगिता कम नहीं होती। इस प्रकार प्रकृतसूत्र सूत्रपाठ की दृष्टि से प्रत्याख्येय हो जाता है।

सम्भवतः इसीलिये चन्द्रगोमी आदि अर्वाचीन वैयाकरणों ने इस सूत्र को अपने व्याकरणों में सर्वथा ही नहीं रखा।[1] किन्तु उनका यह मत विचारणीय ही है। ऐसी स्थिति में पाणिनि व्याकरणानुसार प्रकृत सूत्र द्वारा अव्ययीभाव समास की 'अव्यय संज्ञा' होने के कारण उससे परे 'सुप्' का 'लुक्' करने के लिये जहां "अव्ययादाप्सुपः" इस सूत्र सहित केवल दो सूत्रों से ही काम चल जाता है वहां अर्वाचीन वैयाकरणों को भी उक्त पाणिनीय सूत्र के स्थानापन्न स्वतन्त्रीय सूत्र के साथ-साथ अव्ययीभाव से परे 'सुप्' का 'लुक्' करने लिये एक और अन्य सूत्र बनाना पड़ा है अर्थात् पाणिनि के समान इनको भी दो सूत्र बनाने पड़े हैं।[2] ये भी कोई विशेष लाघव का आधान नहीं कर सके हैं। तब सूत्रकार पाणिनि के सूत्र को रखने में ही क्या अनौचित्य है? इस दृष्टि से पाणिनि के सूत्र का समर्थन न्याय्य ही है। इसीलिए भोजराज ने पाणिनि के समान अव्ययीभाव समास की 'अव्ययसंज्ञा' मानी है। यह बात अलग है कि इसे सूत्रपाठ और गणपाठ दोनों में पढ़ने की अपेक्षा गणपाठ में ही पढ़ना अधिक ज्यायान् है जैसाकि सरस्वतीकण्ठाभरण में किया गया है॥[3]

न वेति विभाषा ॥ १.१.४४ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र निषेध और विकल्प की 'विभाषा' संज्ञा करता है। यहां 'न' का

---

१. तुलना करो—जै०सू० १.१.७४ पर महावृत्ति 'हसश्चेति (अव्ययीभावश्चेति) केचित् पठन्ति। तत्तु चिन्त्यम् उपाग्निकमित्कोऽसम्भवात्। उपकुम्भम्मन्य इति मुमोदर्शनात्। उपकुम्भीकृत्य इतीत्वविधानाच्च।'

२. द्र० (क) चा०सू २.१.३८ 'सुपोऽसंख्याल्लुक्'।
(ख) वही, २.१.४० 'ततः प्राक् कारकात्'।
(क) जै०सू० १.४.१५० 'सुपो झेः'।
(ख) वही, १.४.१५१ 'हात्'।
(क) हे०सू० ३.२.६ 'अनतो लुप्'।
(ख) वही, ३.७.७ 'अव्ययस्य'।

३. द्र० स० सू० १.१.११८ 'लुङ्मुखस्वरयोरव्ययीभावः'।

अर्थ निषेध और 'वा' का अर्थ विकल्प है। सूत्र में 'इति' शब्द अर्थ निर्देश के लिए रखा गया है। 'न वा' शब्द का अर्थ, जो निषेध और विकल्प है, उसकी 'विभाषा' संज्ञा होती है। अन्यथा "स्वं रूपं शब्दस्य"[१] इस सूत्र से 'न वा' शब्द के स्वरूप का ग्रहण होकर विभाषा प्रदेशो में 'न वा' शब्द का आदेश प्राप्त हो जाता। यद्यपि 'विभाषा' शब्द का अन्यत्र विकल्प अर्थ ही प्रसिद्ध है, निषेध अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, तो भी व्याकरण शास्त्र में केवल विकल्प की 'विभाषासंज्ञा' नहीं मानी जाती अपितु निषेध और विकल्प दोनों की मिलकर 'विभाषा संज्ञा' स्वीकार की जाती है।

यदि सूत्र में 'न' शब्द हटाकर 'वेतिविभाषा' ऐसा कर दिया जाये तो केवल विकल्प की 'विभाषा संज्ञा' प्राप्त हो जायेगी। उस अवस्था में यह सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि शास्त्र में तीन प्रकार की 'विभाषायें' है। एक—प्राप्त, दूसरी-अप्राप्त तथा तीसरी—प्राप्त अप्राप्त, मिली हुई या 'उभयत्र विभाषा'। इन तीनों में जो 'प्राप्तविभाषायें' हैं उनमें विध्यंश तो पहले से ही सिद्ध है। 'विभाषा' कहने से पक्ष में निषेध हो जायेगा तो दो रूप स्वयमेव बन जायेंगे। 'प्राप्त-विभाषाओं' में तो 'वा' या 'विभाषा' का अर्थ विकल्प से नहीं होता, इस प्रकार निषेधमुख से किया जायेगा। 'अप्राप्तविभाषाओं' में निषेधांश तो पहले से सिद्ध ही है। 'विभाषा' कहने से पक्ष में विधि हो जायेगी तो वहां भी दो रूप स्वयमेव बन जायेंगे। वहां 'विभाषा' या 'वा' का अर्थ 'विकल्प से होता है' इस प्रकार विधिमुख से किया जायेगा। इस ढंग से उक्त दोनों प्राप्त या अप्राप्त 'विभाषाओं' में दो रूपों की सिद्धि स्वयमेव हो जाने से इस सूत्र की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु तीसरी जो प्राप्ताप्राप्त या उभयत्र 'विभाषा' है वहां इस सूत्र के बिना काम नहीं चल सकता। इसलिये उक्त सूत्र 'उभयत्र विभाषाओं' के लिये ही है। 'प्राप्ताप्राप्त विभाषाओं' में प्राप्त अंश में भी दो रूप बनाने हैं और अप्राप्त अंश में भी दो रूप बनाने हैं। दोनों में दो-दो रूपों की सिद्धि इस सूत्र के बिना नहीं हो सकती। यथा—"विभाषा श्वेः"[२] यह 'उभयत्रविभाषा' का सूत्र है। यह 'श्वि' धातु को लिट् परे रहते विकल्प से सम्प्रसारण करता है। कित्-अकित् भेद से लिट् दो प्रकार का है[३]। 'अतुस्', 'उस्' आदि कित् लिट् में तो "वचिस्वपि यजादीनां किति"[४] से नित्य सम्प्रसारण प्राप्त है। क्योंकि 'श्वि' धातु यजादिगण

१. पा० १.१.६८।

२. पा० ६.१.३०।

३. पा० १.१.५ "असंयोगाल्लिट् कित्"

४. पा० ६.१.१५।

में पठित है। इसलिये किदंश में नित्य प्राप्त संप्रसारण को 'विभाषा' कहने से विकल्प से नहीं होता, यह अर्थ हो जायेगा तो केवल कित् लिट् में ही 'शुशुवतुः' 'शिश्वियतुः', 'शुशुवुः', 'शिश्वियुः' ये दो रूप बन जायेंगे। 'णल्', 'थल्' आदि अकित् (पित्) लिट् में किसी से सम्प्रसारण प्राप्त न होने से वह खाली रह जायेगा। वहां केवल 'शिश्वाय', 'शिश्वयिथ' ये ही रूप बन सकेंगे। 'शुशाव', 'शुशविथ' ये सम्प्रसारण वाले रूप न बन सकेंगे। क्योंकि 'वा' इस अकेले शब्द में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह एक साथ ही 'विकल्प से होता है और विकल्प से नहीं होता' इन दोनों विधिनिषेधरूप मुखों से प्रवृत्ति कर सकें। यदि 'विकल्प से होता है' यह कहा जाये तो 'शुशाव', 'शिश्वाय' ये दो रूप बन सकते हैं और यदि 'विकल्प से नहीं होता है' यह कहा जाये तो 'शशुवतुः', 'शिश्वियतुः' ये दो रूप बन सकते हैं। विधि निषेध-रूप मुख से एक साथ 'वा' की प्रवृत्ति न हो सकने से "विभाषा श्वेः"[1] इत्यादि 'उभयत्रविभाषा' सूत्रों में एक साथ दोनों जगह दो-दो रूप सिद्ध नहीं हो सकते। इस आपत्ति को दूर करने के लिये सूत्र में 'न' शब्द और जोड़कर निषेध और विकल्प की 'विभाषा संज्ञा' की गई है। 'न' शब्द के लगने पर क्या हो जायेगा कि कित् और अकित् दोनों लिटों में पहले सम्प्रसारण का निषेध कर दिया जायेगा। अकित् अंश में तो पहले ही निषिद्ध है। कित् अंश में प्राप्त सम्प्रसारण का, 'न' से निषेध हो जायेगा तो कित् तथा अकित् दोनों लिट् बराबर हो जायेंगे। फिर 'वा' से विकल्प करके 'विकल्प से होता है' इस प्रकार विधिमुख से प्रवृत्ति हो जायेगी तो कित्-अकित् दोनों जगह दो-दो रूप सिद्ध हो जायेंगे। यह कार्य 'न' शब्द की 'विभाषासंज्ञा' बिना किए नहीं हो सकता था। इसीलिए आचार्य पाणिनि ने अन्य से विलक्षण यह निषेध और विकल्प की 'विभाषासंज्ञा' की है। केवल विकल्प की 'विभाषासंज्ञा' अन्य शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है। "मेध्यः पशुः विभाषितः", "मेध्योऽनड्वान् विभाषितः" इस वाक्य में मेध्य यज्ञिय पशु के आलम्बन सम्बन्धी विकल्प को सभी मीमांसा-शास्त्रज्ञ विद्वान् समझते हैं।

लोकव्यवहार द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान में वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों सहमत हैं। इस विषय में भाष्यवार्तिक है। "अशिष्यो वा विदितत्वात्। यदनेन योगेन प्रार्थ्यते तस्यार्थस्य विदितत्वात्। येऽपि ह्येतां संज्ञां नारभन्ते तेऽपि विभाषेत्युक्तेऽनित्यत्व

---

१. पा० ६.१.३०।

मवगच्छन्ति"[1] इत्यादि ।

इसका भाव यही है कि 'विभाषासंज्ञा' विधायक इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि इस संज्ञा के बिना भी 'विभाषा' कहने से विकल्प का अर्थ सभी लोग समझते हैं । आचार्य पाणिनि ने भी यह 'विभाषासंज्ञा' सूत्र बनाकर 'विभाषा' शब्द से भिन्न 'वा'[2], 'अन्येषाम्'[3], 'एकेषाम्'[4], 'अन्यतरस्याम्'[5], 'बहुलम्'[6] तथा 'उभयथा'[7] इत्यादि शब्दों से भी एतत्सूत्रप्रतिपाद्य अर्थ का बोध कराया है । यदि यह संज्ञा वजनदार या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती तो अन्य शब्दों से इसका अभिधान संभव नहीं था । जो संज्ञायें लोकव्यवहार-प्रसिद्ध हैं या अन्य शास्त्रों से अवगत कर ली जाती हैं, उनके लिए विशेष यत्न करके सूत्रनिर्माण करना उचित मालूम नहीं होता ।[8] इसलिये यह सूत्र अनावश्यक है, ऐसा वार्तिककार तथा भाष्यकार दानों का आशय है। अर्वाचीन वैयाकरण चन्द्र, देवनन्दी आदि भी इस विषय में भाष्यवार्तिककार के साथ सहमत हैं और इसीलिये इन्होंने इस संज्ञासूत्र को नहीं बनाया है । वैसे पाणिनि के समान इन वैयाकरणों ने भी 'विभाषा' के स्थान पर 'वा' आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है ।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में कुछ आधुनिक गवेषक मनीषियों का विचार है कि पाणिनि के द्वारा विकल्प के लिये पठित शब्दों का व्यवहार एकाएक अव्यवस्थित नहीं है । उनके मत में, पाणिनि के द्वारा स्मृत 'बहुलम्', 'अन्यतरस्याम्', 'वा, 'विभाषा' 'उभयथा' इत्यादि विकल्प के वाचक शब्द वस्तुगत्या समानार्थक होते हुए भी पूर्णतः समानार्थक नहीं है । उनमें सूक्ष्म अन्तर विद्यमान है । यही कारण है कि इनके तन्त्र में विकल्प के लिए सर्वत्र एक शब्द का व्यवहार नहीं मिलता ।

---

१. महा० भा० १, सू० १.१.४४ पृ० १०५ ।

२. पा० १.२:१३ 'वा गमः' ।

३. पा७ ६.३.१३६ 'अन्येषामपि दृश्यते' ।

४. पा० ८.३.१०२ 'यजुष्येकेषाम्' ।

५. पा० ८.४.६२ 'झयो होऽन्यतरस्याम्' ।

६. पा० ७.१.८ बहुलं छन्दसि' ।

७. पा० ३.४ ११७"छन्दस्युभयथा' ।

८. का० भा० सू० १. २. ५६ पृ० २६३ 'यश्चार्थो लोकतः सिद्धः किं तत्र यत्नेन' ।

एतद्विषयक संकेत सर्वप्रथम डा० जोशी ने किया है। तद् यथा —

"If a rule proves to be applicable in the majority of cases, Panini says Bahulam. Whenever a rule is applicable to one of the two vedic recensions or regional languages only, Panini says Anyatarasyam. When a Vedic word appears in two forms, Panini says Ubhayatha. To indicate simply option, Panini says Va. When he wants to refer to the opinion of grammatical authorities who differ from him, Panini says Ekesam. Thus, to indicate the varying degrees of applicability of his rules, the uniform use of Va would not do. One should not form the impression that Panini uses his terms for option indiscriminately."[१]

किन्तु उक्त तथ्य का पूर्ण प्रतिपादन एवं विवेचन Paul Kiparsky की पुस्तक "Panini as a variationist" में देखने को मिलता है जहां इन्होंने निम्न तथ्य प्रतिपादित किये हैं :—

"To indicate that a rule is to be applied optionally, Panini uses 106 times Va, 112 times Vibhasa and 93 times Anyatarasyam. Why this variety when one word would do? ......Contrary to tradition, the three words are not synonymous but are used to denote different preferences among optional variants. They are to be translated as follows—

Va : 'or rather', 'usually', 'preferably'.

Vibhasa : 'Or rather not', 'rarely', 'peferably not', 'marginally'.

Anyatarasyam : 'Either way', 'some times', optionally 'alternatively'[२]

---

१. भाष्य (जोशी), कर्मधारयाह्निक, सू० २.१.५८ पृ० १५६।

२. Introduction, page 1.

किन्तु इस विषय में विद्वानों में मतभेद है।[1] जहां G. V. Devasthali जैसे आलोचकों ने उक्त विचार को भ्रान्त ठहराया है[2] वहां Dr. Madhav Deshpandey आदि ने इसे अन्ततो गत्वा स्वीकार भी किया है।[3] प्रस्तुत प्रसङ्ग में अन्य यह विद्वान मानते हैं कि उक्त शब्द प्राक् पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदायों में प्रचलित थे और पाणिनि ने उन सम्प्रदायों के मतों को लेने के लिए उन सब पारिभाषिक शब्दों को भी यथास्वरूप ग्रहण कर लिया "सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्"।[4] इस प्रकार ये विकल्पार्थक शब्द इनके मत में पाणिनिभिन्नकर्तृक हैं।[5]

अस्तु, कहने का भाव यह है कि जब 'वा', 'अन्यतरस्याम्' इत्यादि शब्दों के बिना परिभाषित किये ही विकल्प अर्थ का बोध हो जाता है तो 'विभाषा' शब्द बिना परिभाषित किये ही विकल्प अर्थ का बोध क्यों न करा देगा। दूसरे, यदि इनमें से किसी एक को परिभाषित किया जाता है तो अन्य विकल्पार्थक शब्दों को भी क्यों नहीं परिभाषित किया जाता। यदि 'अन्यतरस्याम्' आदि की परिभाषा किये बिना ही हमारा काम चल सकता है तो 'विभाषा' को बिना

---

१. उक्त विचारभेदज्ञापन के लिए मैं डॉ० जार्ज कार्डोना (प्रोफेसर भाषा विज्ञान, पेन्नसिलवानिया विश्वविद्यालय, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका) का ऋणी हूं। मेरे एक पत्र के उत्तर में उन्होंने यह सूचना दी थी। पत्र में आवश्यक अंश इस प्रकार है—

"केषांचिदाधुनिकानां विदुषां वाविभाषान्यरस्याम् पदानामर्थभेदोऽस्ति। इद। वाशब्दस्य साधीय इति, विभाषापदस्यासाधीय इति चार्थ इति मतम्। दन्तु, न विचारक्षमम्। तथाहि यद् धात्वनन्तरवर्तिनः प्रत्ययस्य 'स्वरतिसूतिसूयति धूञूदितो वा इति 'उदितो वा' इत्यनेन वा विकल्पेनेड् विहितः तद धात्वनन्तरवर्तिन्या निष्ठाया 'यस्य विभाषा' इत्यनेन इट् प्रतिषेध्यः। तत् ज्ञायते विभाषा वा शब्दयो र्नास्त्यत्यन्तमर्थभेद इति"।

२. इस वियष में द्रष्टव्य Annals of the B. O. R.I. Poona, Panini and the Astadhyaye A crtiqui 1981 PP 193—212

३. Language, (liguistic society of America) Review of Panini as a variationist, March 1984, PP 161-64

४. महा० भा० १. सू०.२ १.५८ पृ० ८००।

५. इस विषय में द्रष्टव्य पाणिनि व्याकरण का अनुशीलन पृ० ८५.

परिभाषित किये ही क्यों नहीं चल सकता।[१] इस प्रकार भाष्यवार्तिककार की दृष्टि में प्रकृतसूत्र प्रत्याख्येय हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यह सूत्र 'उभयत्रविभाषाओं' के लिये बनाया गया है। केवल प्राप्त या अप्राप्त 'विभाषाओं' के लिए इसकी आवश्यकता नहीं, यह पहले कहा जा चुका है। 'उभयत्र विभाषाओं' में भी यदि 'विभाषा' शब्द से एक साथ 'विकल्प से होता है' इस विधिमुख से और 'विकल्प से नहीं होता है' इस निषेधमुख से प्रवृत्ति स्वीकार कर ली जाये तो उनके लिये भी यह सूत्र अनावश्यक सिद्ध हो सकता है। "विभाषा श्वेः" इ स उभयत्रविभाषासूत्र में 'विभाषा' शब्द से एक साथ भावाभावरूप विकल्प का विधान कर लिया जायेगा तो 'शुशाव; शिश्वाय' यहां अकित् (पित्) लिट् में विकल्प से सम्प्रसारण होता है, ऐसा अर्थ हो जायेगा और 'शुशुवतुः, शिश्वियतुः' यहां कित् लिट् में विकल्प से सम्प्रसारण नहीं होता—ऐसा अर्थ हो जायेगा। इस प्रकार दोनों जगह दो-दो रूप सिद्ध हो जायेंगे। क्योंकि विकल्प या 'विभाषा' में विधि और निषेध दोनों रहते हैं। सूत्रकार पाणिनि ने तो सम्भवतः वाक्यभेद के भय से विधिनिषेध रूप दोनों मुखों से 'विभाषा' की प्रवृत्ति नहीं मानी। तभी उन्होंने 'न' शब्द और लगाकर निषेध और विकल्प की नूतन 'विभाषा' संज्ञा स्वीकार की है। उपयोगिता की दृष्टि से 'विभाषा' का अर्थ विकल्प ही है। वह विकल्प लक्ष्यभेद से कहीं विधि-मुख, कहीं निषेधमुख और कहीं विधिनिषेधोभयमुख मान लिया जाये तो यह सूत्र प्रत्याख्यान का विषय बन जाता है।

इस सूत्र पर विचार करते हुए शब्दकौस्तुभकार कहते हैं—"आकृतौ पदार्थे समुदाये सकृल्लक्षणं प्रवर्तते इति दर्शने इदं सूत्रमारभ्यते। वस्तुतस्तु आकृतिपक्षेऽपि प्रदेशेष्वेव 'न वा श्वेः' इत्यादि पठित्वा इदं सूत्रं त्यक्तुं शक्यम्। युक्तं चैतत्। अन्यथा अन्यार्थमप्यारब्धा संज्ञा 'विभाषोर्णोः (पा० १.२.३) इत्यप्राप्तविभाषायामपि प्रवर्तेत। प्रतिषेधाश्च बलीयांसो भवन्तीति 'प्रोर्णुवि' इत्यत्रापि सार्वधातुकमपित् (पा० १.२.४) इत्यस्य निषेधः ततो विकल्पश्च स्यात्।"[२] इसका भाव यह है कि आकृति (जाति) पदार्थ है, इस पक्ष में समस्त

---

१. प्रस्तुत विचार विमर्श भाष्यकार 'विभाषा', 'वा', 'अन्यतरस्याम्' इत्यादि शब्दों को सामान्य विकल्प का वाचक मानकर कर रहे हैं।

२. द्र० श० कौ० भा० १, पृ० १८४-८५।

लक्ष्यसमुदाय में एक बार लक्षण (सूत्र) प्रवृत्त होगा। वह चाहे विधिमुख से हो या निषेधमुख से। दोनों मुखों से प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः सूत्र की आवश्यकता है। किन्तु वास्तव में आकृतिपक्ष में भी "विभाषा श्वेः" इत्यादि 'विभाषा स्थलों' में ही "न वा श्वेः"[1] इत्यादि पढ़ देने से इस सूत्र का प्रत्याख्यान हो सकता है। अन्यथा इस सूत्र की सत्ता में 'उभयत्र विभाषार्थ' बनाया हुआ यह सूत्र "विभाषोर्णोः"[2] यहाँ 'अप्राप्तविभाषा' में भी प्रवृत्त होने लगेगा। ऐसी अवस्था में निषेध के बलवान् होने से 'प्रोर्णुवि' यहां 'ऊर्णु' धातु के लङ् लकार में उत्तम पुरुष का एकवचन 'इट्' प्रत्यय है। वह "सार्वधातुकमपित्"[3] से ङित् है। उसका "विभाषोर्णोः" से निषेध प्राप्त होकर फिर विकल्प भी प्राप्त होने लगेगा तो अनिष्ट रूप की प्रसक्ति होगी।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि यदि स्वकल्पित नूतन 'विभाषा' संज्ञा से ही दो रूपों की उत्पत्ति मानी जायेगी और उसे स्वतःसिद्ध अनादि नित्य दो रूपों का अन्वाख्यान करने वाली नहीं स्वीकार किया जायेगा तो रूपविकल्प के साथ उनके साधुत्व में भी विकल्प प्राप्त होगा। दोनों रूप विकल्प से साधु समझे जायेंगे। जबकि दोनों रूपों का साधुत्व नित्य अभीष्ट है। नित्य शब्दवाद में तो विकल्प भी नित्य है। उसके विधान की आवश्यकता नही। इसीलिये भाष्यवार्तिककार नूतन 'विभाषासंज्ञा' करने में यह आक्षेप उठाते हैं—"साध्वनुशासनेऽस्मिन् शास्त्रे यस्य विभाषा तस्य साधुत्वम्। आचार्यदेशशीलने च तद्विषयता।"[4] अर्थात् जिन कार्यों में किसी विशेष आचार्य तथा देश का नाम लिया गया है वे कार्य उन्हीं में ही हो सकेंगे। अन्यत्र न हो सकेंगे तो वहां दो रूप कैसे बनेंगे। इसलिये रूपों का विकल्प स्वभाव से ही नित्य व्यवस्थित है यह जानकर संज्ञाविधान करना व्यर्थ है। इस प्रकार सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्याय्य है॥

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा॥ १.१.६८॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

कुछ लोग इस सूत्र को परिभाषासूत्र मानते हैं। और परिभाषा अनियम में

---

१. तुलना करो—जै०सू० ४.३.२७ 'न वा श्वेः'।

२. पा० १.२.३।

३. पा० १.२.४।

४. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० १०४-१०५।

नियम करने वाली होती है।[1] यह भी शब्द के स्वरूपग्रहण का नियम करता है। पर दूसरे लोग कहते हैं कि परिभाषा विध्यन्तर का शेषभूत होती है। यह सूत्र किसी दूसरी विधि का शेषभूत नहीं है। अतः परिभाषा न होकर यह संज्ञासूत्र है।[2] इसका अर्थ है कि शब्द का स्वरूप उसकी संज्ञा होता है। बोधक या प्रत्यायक होता है। शब्द बोध्य है, ग्राह्य है। उसका स्वरूप उसका बोधक है, ग्राहक है। यहां 'स्वं रूपम्' यह संज्ञा है, और 'शब्दस्य' यह संज्ञी है। जिस प्रकार "अणुदित्सवर्णस्य"[3] में 'अण्' और 'उदित्' संज्ञा है और 'सवर्णस्य' संज्ञी है। "तपरस्तत्कालस्य"[4] में 'तपर' संज्ञा है और 'तत्कालस्य' संज्ञी है। "येन विधिस्तदन्तस्य"[5] में 'येनविधिः' संज्ञा है और 'तदन्तस्य' संज्ञी है। आदिरन्त्येन सहेता"[6] में तो आचार्य ने 'अन्त्येनेता सह आदिः' यह संज्ञामात्र ही निर्दिष्ट की है। उन्होंने संज्ञी का निर्देश स्वतः बोधगम्य होने के कारण वहां नहीं किया है। परन्तु यह आचार्य की एक त्रुटि ही है जो संज्ञा के साथ संज्ञी का निर्देश नहीं किया है। इन सब संज्ञा विधायक सूत्रों में संज्ञा का निर्देश प्रथमा विभक्ति से किया है और संज्ञी का निर्देश षष्ठी विभक्ति से।

'अशब्दसंज्ञा' का अर्थ है कि शब्दशास्त्र में जो 'टि', 'घु', 'घ', 'भ' आदि संज्ञायें की गई हैं, उनमें स्वरूपग्रहण नहीं होता। इस सूत्र के अर्थ में काशिकाकार तथा कौमुदीकार ने 'स्वं रूपम्' को संज्ञी माना है। जो कि भाष्यविरुद्ध है।[7] भाष्यकार बार-बार लिखते हैं कि 'स्वं रूपं शब्दस्य संज्ञा भवति, स्वं रूपं

---

१. द्र० का० भा० १, सू० १.१.३, पृ० ७१ 'अनियमे नियमकारिणी परिभाषा' अथवा 'अनियमप्रसङ्गे नियमो विधीयते'।

२. द्र० महा० प्र० भा० १, सू १ १ ६८ पृ० ५१८ "स्वरूपस्य पर्यायाणां तद्विशेषाणां च ग्रहणे प्राप्ते नियमार्था परिभाषेयमिति केचिदाहुः। अन्ये तु लिङ्गाभावात् विध्यन्तरशेषाभावाच्च नेयं परिभाषा, अपितु संज्ञासूत्रमिदमितिप्रतिपन्नाः।"

३. पा० १.१.६९।

४. पा० १.१.७१।

५. पा० १.१.७२।

६. पा० १.१,७०।

७. (क) द्र० का० भा० १, सू० १.१.६८, पृ० २३९ "शास्त्रे स्वमेव रूपं शब्दस्य ग्राह्यं बोध्यं प्रत्याय्यं भवति, न बाह्योऽर्थः शब्दसंज्ञां वर्जयित्वा।"

शब्दस्य संज्ञा यथा स्यात्'[१] इत्यादि । यद्यपि पर्यवसान में शब्द और उसका स्वरूप दोनों के एक होने से स्वरूप को भी संज्ञी कहा जा सकता है।

शब्द का स्वरूप जातिवाद पक्ष में जाति या सामान्य है और व्यक्तिवाद पक्ष में व्यक्ति है। "अग्नेर्ढक्"[२] यहां जातिपक्ष में अग्नि का स्वरूप अग्नित्व है। और व्यक्तिपक्ष में अग्नित्व का स्वरूप अग्नि है। इन दोनों का फलित अर्थ एक ही है। केवल गुणप्रधानभाव का ही भेद है।[३] इसलिये प्रदीपकार कैयट लिखते हैं—"व्यक्तिः कार्यं प्रतिपद्यमाना सामान्यप्रतिबद्धैव प्रतिपद्यते। सामान्यमपि कार्यं प्रतिपद्यमानं व्यक्तिद्वारेणैव प्रतिपद्यते इति फले न कश्चिद् भेदः"।[४]

'स्वं शब्दस्य' इतना कहने पर भी शब्द के अपने रूप का ग्रहण हो जाता, क्योंकि रूप के सिवाय शब्द का अपना और है क्या। तो इस प्रकार 'रूप' ग्रहण व्यर्थ होकर इस बात का ज्ञापक है कि रूप के सिवाय कुछ और भी शब्द का अपना है और वह है अर्थ। इस प्रकार 'रूप' ग्रहण से "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य"[५] यह परिभाषागतार्थ हो जाती है। इससे शब्द के स्वरूप ग्रहण में अर्थवान् का ही ग्रहण होगा, अनर्थक का नहीं, तो 'काशे', 'कुशे', 'वंशे', में 'शे' शब्द के अनर्थक होने से "शे"[६] इस सूत्र सेप्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी, यह इष्ट सिद्ध हो जायेगा। सूत्र का उदाहरण इस प्रकार है—"अग्नेर्ढक्"।[७] यहाँ 'अग्नि' शब्द से प्राग्दीव्यतीय[८] 'सास्य-

---

(ख) वै० सि० कौ० भा० १, सू० १.१.६८, पृ०३५ "शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञि, शब्दशास्त्रे या संज्ञा तां विना।"

१. महा० भा० १ प्रकृत सूत्र, पृ० १७५-७६।

२. पा० ४.२.३३।

३. वा० प० १.६८-६९

"स्वं रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तेः संज्ञोपदिश्यते।
व्यक्तेः कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते"॥
"संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रे ग्राह्यामथापरे।
जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते॥

४. महा० प्र० भा० १, सू० १.१.६८, पृ० ५१९।

५. परि० सं० १४।

६. पा० १.१.१३।

७. पा० ४.२.३३।

८. पा० ४.१.८३ "प्राग्दीव्यतोऽण्"।

देवता'[१] आदि अर्थों में 'ढक्' प्रत्यय करने में 'अग्नि' के स्वरूप का ग्रहण होगा। 'अग्नि' के पर्यायवाची 'वह्नि', 'पावक' आदि से तथा तद्विशेषवाची 'चित्रभानु' आदि से 'ढक्' प्रत्यय नहीं होगा। शब्दशास्त्र में शब्द में ही कार्य संभव है, अर्थ में नहीं, इसलिये 'अग्नि' का अर्थ जो 'अंगारा' है, उससे 'ढक्' प्रत्यय असंभव होने से न होगा। सूत्र में 'अशब्दसंज्ञा' कहने से शब्दशास्त्रीय संज्ञाओं में स्वरूपग्रहण का निषेध हो जायेगा तो "उपसर्गे घोः किः"[२] यहां 'घु' शब्द के स्वरूप का ग्रहण न होकर 'घुसंज्ञक दा धा' रूप धातुओं से ही 'कि' प्रत्यय होता है। अन्यथा 'घु' धातु से 'कि' प्रत्यय प्रसक्त हो जाता। इस प्रकार सूत्र का प्रयोजन सोदाहरण सिद्ध हो जाता है।

स्वतःसिद्धि होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान में वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों सहमत हैं। ये दोनों पहले तो इस सूत्र का प्रयोजन बताते हुए यह वार्तिक पढ़ते हैं—"शब्देनार्थावगतेरर्थे कार्यस्यासंभवात् तद्वाचिनः संज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वं रूपवचनमिति[३]।" तदनन्तर उक्त प्रयोजन को अन्यथासिद्ध करने के लिए ये अलग वार्तिक पढ़ते हैं—"न वा शब्दपूर्वकोह्यर्थे संप्रत्ययः, तस्मादर्थनिवृत्तिः"[४] अर्थात् शब्दज्ञानपूर्वक ही अर्थ का ज्ञान होता है। जब तक शब्द नहीं जाना जाता तब तक अर्थ की प्रतीति नहीं होती। क्योंकि इस व्याकरणशास्त्र में सब कार्य शब्द में ही सम्भव हैं, अर्थ में सम्भव नहीं हैं। शब्द ही व्याकरणशास्त्र का विषय एवं इसके लिए प्रमाणभूत है। इसलिये शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण होगा। अर्थ की निवृत्ति स्वतः हो जायेगी।

यदि यह कहा जाये कि शब्दशास्त्रीय संज्ञाओं में स्वरूपग्रहण का निषेध करने के लिये यह सूत्र आवश्यक है, वह भी बात ठीक नहीं। क्योंकि "संज्ञाप्रतिषेधानर्थक्यं वचनप्रामाण्यात्"[५] अर्थात् शब्दशास्त्रीयसंज्ञाओं में स्वरूप ग्रहण का निषेध तो उन संज्ञाओं के वचन-सामर्थ्य से ही हो जाएगा। अन्यथा संज्ञा करना ही व्यर्थ हो जायेगा। प्रयोगों में संज्ञी के ग्रहण करने के लिये ही संज्ञाओं का विधान किया गया है। यदि वहां भी स्वरूपग्रहण माना जाएगा तो संज्ञियों

---

१. पा० ४.२.२४।
२. पा० ३.३.९२।
३. महा० भा० १, सू० १.१.६८, पृ० १७५।
४. वही, पृ० १७६।
५. वही, पृ० १७६।

का उपयोग किस जगह होगा। इसलिए संज्ञाओं के वचन-सामर्थ्य से ही वहाँ स्वरूपग्रहण की निवृत्ति हो जाएगी।

यहां यह शङ्का करना ठीक नहीं कि वचन-सामर्थ्य से संज्ञियों का ग्रहण हो जाए तथा स्वरूपग्रहण से संज्ञाओं का भी। क्योंकि आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि संज्ञाओं में स्वरूप का ग्रहण नहीं होता। उन्होंने 'ष्णान्ता षट्'[1] सूत्र में, जो षकारान्त संख्या की 'षट्' संज्ञा की है, उससे ज्ञात होता है कि संज्ञाओं में संज्ञियों का ही ग्रहण होता है, संज्ञाओं के स्वरूप का नहीं। अन्यथा 'षट्' इस संज्ञा के स्वरूपग्रहण से ही 'षष्' इस षकारान्त संख्या का ग्रहण हो जाता। 'षट्' शब्द में 'जशत्व' के असिद्ध होने से 'षष्' ही मूलरूप में प्रतीत होगा इस प्रकार ज्ञापक से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि संज्ञाओं में स्वरूप ग्रहण न होकर उनके संज्ञिओं का ही ग्रहण होता है।

यदि यह कहा जाये कि 'मन्त्रे', 'यजुषि', 'ऋचि' इत्यादि में मन्त्रादि भी शब्द की संज्ञायें हैं। उनमें स्वरूप ग्रहण को रोकने के लिये उक्त सूत्र बनाना चाहिये, तो यह बात निरर्थक है। क्योंकि मन्त्र आदि शब्दों में उक्त कार्यों का सम्भव न होने से वहां मन्त्रादिसहचरित अर्थ ही लिया जायेगा। इसलिये कहीं पर भी दोष न होने से यह सूत्र अनावश्यक है। इस प्रकार वार्तिककार से मिलकर भाष्यकार ने प्रकृत सूत्र का खण्डन कर दिया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वस्तुतः यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य ही है क्योंकि—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।"[2]

भर्तृहरि के इस वचन से सर्वत्र शब्द का व्यापार ही मुख्य है। शब्द के स्वरूप का ज्ञान सर्वप्रथम है। उसके ज्ञान के बिना कुछ भी व्यवहार नहीं हो सकता। वाक्-प्रयोग में प्रथम तो शब्द की आनुपूर्वी एवं उसका स्वरूप ही देखा जायेगा। अर्थ की प्रतीति तो बाद में होती है। शब्द के स्वरूप की प्रतीति में किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं। स्वरूप का दर्शन सबसे पहले होने से अन्तरङ्ग भी है। स्वरूप को छोड़ा भी नहीं जा सकता और शब्द को समझने में उसका अपना

१. पा० १.१.२४।
२. वा० प० १.१.२३।

स्वरूप असाधारण कारण भी है।[१] इन हेतुओं से सूत्र के बिना भी स्वरूपग्रहण सिद्ध हो जाता है। इस सूत्र के प्रत्याख्यान को उचित समझते हुए ही शब्दकौस्तुभकार कहते हैं कि यद्यपि लोक में 'पशुः' 'अपत्यम्', 'देवताः', 'प्राञ्चः', 'उदञ्चः 'भरताः' इत्यादि शब्दों से लोकप्रसिद्ध पशु आदि अर्थ ही लिये जाते हैं, शब्दस्वरूप का ग्रहण नहीं होता, तो भी शब्दशास्त्र में तो "अग्नेर्ढक्"[२] इत्यादि शब्दों से 'अग्नि' इस शब्दस्वरूप का ही ग्रहण होता है। 'अग्नि' का अर्थ, जो 'अंगारा' है, उसका ग्रहण नहीं होता। क्योंकि 'अग्नि' के अर्थ से परे 'ढक्' प्रत्यय का पौवापर्य संभव नहीं है। अंगारों से परे कौन 'ढक्' प्रत्यय कर सकता है। प्रत्ययविधि में "ङ्याप् प्रातिपदिकात्"[३] इस सूत्रोक्त प्रातिपदिक का अधिकार भी है। अर्थवान् शब्दस्वरूप की प्रातिपादिक संज्ञा होती है। अर्थवान् अग्निशब्द का स्वरूप ही प्रातिपदिक है। अतः अर्थ में कार्य का असंभव होने से प्रातिपदिकसंज्ञक अग्नि' शब्द से ही 'ढक्' प्रत्यय होगा। इस प्रकार शब्द के स्वरूप का ग्रहण स्वतः सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है। ',दाधा घ्वदाप्"[४] यहां 'घु' शब्दस्वरूप का ग्रहण न होकर उसके अर्थ जो 'दा धारूप' संज्ञी है' उनका ग्रहण होता है। इसलिये सूत्र में 'अशब्दसंज्ञा' ग्रहण करने की भी आवश्यकता नहीं है।[५] वाक्यपदीय में कहा भी है—

"व्यवहाराय नियमः संज्ञायाः संज्ञिनि क्वचित्।
नित्य एव तु सम्बन्धो डित्थादिषु गवादिवत्॥"

वा० प० २.३.६४

अर्थात् संज्ञायें संज्ञी का ग्रहण कराती हैं अपने स्वरूप का नहीं। यदि यह कहा जाये

---

१. तुलना करो, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (भाषापरिच्छेद), शब्दखण्ड ८१
"पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी।"

२. पा० ४.२.३३।

३. पा० ४.१.१।

४. पा० १.१.१९।

५. द्र० श० कौ० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २७६ "आरम्य माणेऽपि सूत्रे पशुः, अपत्यम्, देवता, प्राञ्चः, उदञ्चः, भरताः, इत्यादयस्तावल्लोकवदर्था एव गृह्यन्ते। अग्नेर्ढक् इत्यादौ तु शब्द एव ग्रहीष्यते, अर्थस्य प्रत्ययेन पौर्वापर्यासम्भवात् ङ्याप्प्रातिपदिकात् इत्यधिकाराच्च। उपसर्गे घोःकिः इत्यादौ तु घुधातु र्न ग्रहीष्यते, दा धा घु इत्यारम्भात्…।"

कि 'अर्थवद्ग्रहण' परिभाषा के ज्ञापन के लिये इस सूत्र में 'रूप' ग्रहण की अथवा इस सूत्र की आवश्यकता है, तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य'[1] यह परिभाषा तो "व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः"[2] इस सूत्र में 'राज्' ग्रहण करने पर फिर 'भ्राज्' ग्रहण करने से ही ज्ञापित हो जाती हैं। यदि अर्थवान के ग्रहण में अनर्थक का भी ग्रहण हो जाता तो 'भ्राज्' ग्रहण करने की या 'राज्' ग्रहण करने की क्या आवश्यकता थी। 'भ्राज्' में 'राज्' है ही, परन्तु वह अनर्थक है। स्वतन्त्र 'राज्' अर्थवान् है। 'भ्राज्' के अन्तर्गत, जो 'राज्' है, वह अनर्थक है। आचार्य पाणिनि जानते हैं कि अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता। इसलिए 'भ्राज्' ग्रहण करते हैं। 'राज्' का ग्रहण करने के लिए पृथक् 'राज्' ग्रहण करते हैं। इससे उक्त परिभाषा ज्ञापित होती है। यह परिभाषा, जहां ज्ञापक सिद्ध है, वहां न्यायमूलक भी है। न्याय तो यही कहता है कि सार्थक के ग्रहण में सार्थक का ही ग्रहण हो, निरर्थक का क्यों हो ?[3]

यदि इस सूत्र से पीछे आने वाले "अणुदित् सवर्णस्य",[4] "तपरस्तत्कालस्य"[5] "आदिरन्त्येन सहेता"[6] "येन विधिस्तदन्तस्य",[7] इन चार सूत्रों में 'स्वं रूपम्' की अनुवृत्ति के लिये इस सूत्र की आवश्यकता मानी जाये, तो वह भी निरर्थक है। क्योंकि उन सूत्रों में 'स्वं रूपम्' इस अनुवृत्ति की कोई आवश्यकता ही नहीं। "अणुदित्" सूत्र में 'सवर्णस्य' कहा है। अपना स्वरूप भी अपना सवर्णी है। उसका ग्रहण भी सवर्ण के साथ हो जायेगा। यही बात "तपरस्तत्कालस्य" में है। अपना स्वरूप ही तत्काल का स्वरूप है। "आदिरन्त्येन सहेता" में 'आदि' शब्द को द्विरावृत्त करके एक 'आदि' शब्द संज्ञा का वाचक हो जायेगा तथा दूसरा स्वरूप का बोधक होगा तो आद्यन्त शब्द अपने मध्यवर्ती वर्णों के बोधक होने के साथ-साथ आदिभूत अपने स्वरूप का भी बोध करा देंगे। "येन

---

१. परि०सं० १४।
२. पा० ८.२.३६।
३. द्र०श०कौ०भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २७६ "अर्थवद्ग्रहणपरिभाषापि व्रश्चादि सूत्रे राजि पठित्वा पुनर् भ्राजिपाठात् सिद्धा न्यायसिद्धा च"।
४. पा० १.१.६८।
५. पा० १.१ ७०।
६. पा० १.१.७०।
७ पा० १.१.७२।

विधिस्तदन्तस्य" में स्वयं वार्तिककार ने "तस्य च" कहकर तदन्त के साथ तत्स्वरूप का भी ग्रहण सूचित कर दिया है।[1] इसके अतिरिक्त 'स्वरूपग्रहण' अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषदुष्ट भी है। इसीलिये "सित्तद्विशेषाणां वृक्षाद्यर्थम्"[2] इत्यादि वार्तिक इसके बाधक बनाये हैं। इस प्रकार चारों सूत्रों में स्वरूपग्रहण की अनुवृत्ति के बिना भी इष्टसिद्ध हो जाने से यह सूत्र निष्प्रयोजन अथवा अन्यथासिद्ध हो जाता है। वास्तव में पाणिनि के प्रकृतसूत्र से उनका यह आशय प्रतीत होता है कि शब्द केवल स्वरूप का ही बोधक होता है, अपने अर्थ का नहीं। जबकि लोक में शब्द सामान्यत: अपने स्वरूप के साथ-साथ अपने अर्थ का भी बोधक होता है। लगता है कि सूत्रकार ने इसी बात को नियम का रूप देने के लिये प्रकृत सूत्र की रचना की है। किन्तु भाष्यकार के प्रत्याख्यान का आधार यह है कि जब व्याकरणशास्त्र में अर्थ में कार्य का संभव न होने से शब्द में ही कार्य होते हैं और इस तरह से व्याकरणशास्त्र का सम्बन्ध अर्थ से न होकर सर्वथा शब्द से ही हुआ करता है तो सूत्रकार का यह नियमन करना व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि शब्द को कहा हुआ कार्य अर्थ के अप्रयोजक होने से पुन: शब्द में स्वत:सिद्ध ही है। इसीलिये अर्वाचीन व्याकरण-सम्प्रदायों में भी एतत् सूत्रविषयक नियम का अभाव परिलक्षित होता है॥

भीत्रार्थानां भयहेतुः। १.४.२५॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अपादान संज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि 'भय' अर्थ वाले तथा 'त्राण' एवं 'रक्षण' अर्थ वाले धातुओं के प्रयोग में जो 'भय' का हेतु है, 'भय' का कारण है, जिससे 'भय' होता है, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है। जैसे—'चौरेभ्यो बिभेति'। 'चौरेभ्यस्त्रायते'। 'चोरों से डरता है'। यहां डरने का कारण चौर हैं। अत: चौर की अपादान संज्ञा हो गई तो "अपादाने पंचमी"[3] से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार 'चौरों से बचाता है'—यहां चौरों के डर के कारण उनसे बचाता है। इसलिये 'त्राणार्थक' धातु के प्रयोग में अपादानसंज्ञा होकर पंचमी विभक्ति हो जाती है।

---

१. द्र०श०कौ०भा० १, सू० १.१.६८, पृ० २७७। "ननु उत्तरत्र चतु:सूत्र्यामनुवृत्तये स्वं रूपमित्यवश्यं वाच्यमिति चेत् न अनुवृत्तेरनावश्यकत्वात्...।"

२. महा० भा० १, पृ० १७६ प्रकृत सूत्र पर वार्तिक।

३. पा० २.३.२८।

'भयहेतु' ग्रहण करने का प्रयोजन यह है कि जो 'भय' का हेतु है, कारण है, उसी की अपादानसंज्ञा हो, अन्य की न हो। जैसे—'अरण्ये बिभेति'। 'अरण्ये त्रायते'। यहां जंगल में डरता है, जंगल में बचाता है इन अर्थों में जंगल 'भय' का कारण नहीं है। अपितु जंगल में स्थित हिंस्र जानवरों से डरता है, उन्हीं से बचाता है। जंगल तो 'भय' के कारण का अधिकरण है। जंगल में स्थित, भय के कारण हिंसक जानवरों से डरता है या बचाता है। इससे पूर्व 'ध्रुवमपायेऽपादानम्'[1] इस सूत्र से अपादान शब्द की अनुवृत्ति आती है। अपादान कारक है। पाणिनीय व्याकरण में आचार्यों ने कारकों का यही क्रम रखा है कि पहले अपादान, फिर सम्प्रदान, करण, अधिकरण, कर्म और कर्ता। इस प्रकार ६ कारक बनते हैं। उनमें "विप्रतिषेधे परं कार्यम्"[2] के वचन से अपादान कारक को अन्य सब कारक बाध लेते हैं। कर्ता कारक सबके बाद में होने से सब कारकों का बाधक है। भाष्यवार्तिक भी है—

"अपादानमुत्तराणि"[3]

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र पर सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथं वृकेभ्यो बिभेति दस्युभ्यो बिभेतीति। य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति यदि मां वृकाः पश्यन्ति, ध्रुवो मे मृत्युरिति। स बुद्धया सम्प्राप्य निवर्तते तत्र ध्रुवमपायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम्। इह चौरेभ्यस्त्रायते दस्युभ्यस्त्रायते इति। य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति यदीमे चौराः पश्यन्ति ध्रुवमस्यवधबन्धनादि परिक्लेशा इति। स बुद्धया संप्राप्य निवर्तयति। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम्।"[4] इसका भाव यह है कि इस सूत्र द्वारा अपादान संज्ञा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'वृकेभ्यो बिभेति', 'दस्युभ्यो बिभेति', 'चौरेभ्यो बिभेति' यहां "ध्रुवमपायेऽपादानम्"[5] इस पूर्वसूत्र से ही अपादानसंज्ञा सिद्ध हो जाती है। क्योंकि, जो विचार पूर्वक काम करने वाला बुद्धिमान् मनुष्य है, वह देखता है कि यदि मुझे चौर, डाकू या भेड़िया आदि 'भय' के

१. पा० १.४.२४।
२. पा० १४.२।
३. महा० भा० १, सू० १.४.१, पृ० ३०२।
४. महा० भा० १, सू० १.४.१, पृ० ३२६-३२८।
५. पा० १.४.२५।

हेतु प्राणी देखेंगे तो मेरी मृत्यु निश्चित है। वह बुद्धि द्वारा चौरादि से हट जाता है। उसका शरीर से अपाय न होने पर भी बुद्धि से अपाय हो जाता है। उस बुद्धिकृत अपाय में चौरादि के ध्रुव होने से 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इसी सूत्र से चौरादि की अपादान संज्ञा हो जायेगी तो यह सूत्र व्यर्थ है। इसी प्रकार "चौरेभ्यस्त्रायते', 'दस्युभ्यस्त्रायते' यहां भी बुद्धिमान् मनुष्य विचार करता है कि यदि इस व्यक्ति को चौरादि देख लेंगे तो वे अवश्य इसका वध हिंसा आदि करेंगे। वह बुद्धि द्वारा इस बात को सोचकर अपनी बुद्धि उन चौरादि से हटा लेता है। बुद्धिकृत अपाय में चौरादि के ध्रुव होने से उनकी अपादानसंज्ञा पूर्व सूत्र से ही सिद्ध हो जायेगी।

पूर्वसूत्र का अर्थ है कि अपाय अर्थात विश्लेष में जो ध्रुव है, अवधिभूत है, उसकी अपादान संज्ञा होती है। वह अपाय चाहे गौण हो या मुख्य हो, इस कारक प्रकरण में सभी प्रकार का ग्रहण कर लिया जाता है। इसमें 'साधकतमं करणम्'[1] इस सूत्र में किया गया 'तमप्' ग्रहण ही ज्ञापक है कि यहां कारक प्रकरण में "गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः"[2] यह गौणमुख्य न्याय नहीं लगता। यहां तो मुख्य के साथ गौण का भी ग्रहण हो जाता है। जैसे 'तिलेषु तैलम्', 'दध्नि सर्पिः' यहां तैलादि के मुख्य आधार तिलादि की अधिकरण संज्ञा होकर वहां सप्तमी विभक्ति होती है वैसे 'गङ्गायां घोषः', 'कूपे गर्गकुलम्' यहां घोषादि के गौण आधार गंगा आदि की भी अधिकरण संज्ञा होकर सप्तमी विभक्ति हो जाती है। करणसंज्ञा में तो 'तमप्' ग्रहण करने से मुख्य क्रिया के साधक की ही करण संज्ञा होती है, गौण साधक की नहीं। इस प्रकार भाष्यकार ने बुद्धिकृत अपाय को लेकर उसके अवधिभूत चौरादि की अपादान संज्ञा पूर्वसूत्र से सिद्ध कर दी है। उससे सिद्ध होने पर यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

अपादान संज्ञा विधायक ७-८ सूत्रों में "ध्रुवमपायेऽपादानम्" यह सूत्र ही प्रमुख है। वस्तुतः यदि देखा जाये तो इसी सूत्र का व्यापार प्रायः "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यादि सभी सूत्रों में सूक्ष्मबुद्धिगम्य दिखाई देता है। अपादान भी तीन प्रकार का है—१. निर्दिष्ट विषय, २. उपात्तविषय तथा ३. अपेक्षितक्रिय।[3]

---

१. पा० १.४.४२।

२. परि० सं० १५।

३. द्र० वा०प०, साधनसमुद्देश, १३६।
"निर्दिष्टविषयं किंचिदुपात्तविषयं तथा।
अपेक्षितक्रियं चेति त्रिधापादानमुच्यते॥"

जिस क्रिया में अपादान का विषय निर्दिष्ट है वह निर्दिष्ट विषय अपादान है। जैसे-'ग्रामादागच्छति'। यहां आगमन क्रिया में अपादान का विषय निर्दिष्ट है। आगमन में कहीं से अपाय या विश्लेष आवश्यक है। जैसे—गमन में संयोग आवश्यक है। जहां से आगमन हुआ है, उसकी अपादान संज्ञा होती है। यह निर्दिष्टविषय का उदाहरण है। उपात्तविषय वह है जहां क्रिया किसी अन्य क्रिया को अङ्गरूप से उपादान करके अपादान का विषय बनती है। जैसे—'बलाहकाद् विद्योतते विद्युत्।' बादल से बिजली चमकती है। यहां बादल से निकलकर बिजली चमक सकती है, वैसे नहीं। इसलिये 'विद्योतन क्रिया', 'निकलना क्रिया' को अङ्ग बनाकर अपादान का विषय है। इसी प्रकार ',अनृतात् सत्यमुपैमि०''[१] यहां 'अनृतं परित्यज्य सत्यमुपैमि' यह अर्थ है यानि अमृत को छोड़कर सत्य को प्राप्त होता हूं। 'प्राप्तिक्रिया', 'परित्यागक्रिया' को अपना अङ्ग बनाकर अपादान का विषय बनती है। अपेक्षितक्रिय वह है जहां क्रियावाची पद के अश्रूयमाण होने पर भी क्रिया प्रतीत होती है। जिस अपादान के लिये क्रिया के उच्चारण की अपेक्षा है वह अपेक्षितक्रिय अपादान है। जैसे—'माथुरा: पाटलिपुत्रकेभ्य: आढयतरा:' मथुरा के लोग पटना वालों से अधिक धनी हैं। यहां 'पाटलिपुत्रानपेक्ष्य' इस अर्थ में 'पाटलिपुत्रकेभ्य:' यह अपादान पञ्चमी है। उक्त तीनों प्रकार के अपादानों में कहीं कोई प्रयोग में आता है, कहीं कोई। प्रकृत सूत्र में 'चौरेभ्यो बिभेति' यहां 'चौरान् दृष्ट्वा बिभेति' इस प्रकार 'बिभेति' क्रिया का अङ्ग 'दर्शन' क्रिया होने से उपात्तविषय अपादान है। भाष्यकार द्वारा उपात्तविषयक अपादान को भी ''ध्रुवमपायेऽपादानम्''[२] इस सूत्र से ही सिद्ध मानकर इसका खण्डन कर दिया गया है। इसीलिये भाष्यकार को प्रमाण मानते हुए अर्वाचीन वैयाकरण चन्द्र, देवनन्दी, शाकटायन तथा हेमचन्द्र आदि ने भी पाणिनि के उक्त सूत्र को छोड़कर अपादानप्रकरण के शेष प्राय: सभी सूत्रों को अपने-अपने तंत्रों में स्थान नहीं दिया बल्कि ''अवधे: पंचमी'' ''अपायेऽवधिरपादानम्'', ''अपायेऽवधौ'' इत्यादि सूत्ररचना करके पाणिनि के ''ध्रुवमपाये०'' सूत्र को ही अधिक स्पष्ट किया

---

१. मा० यजु० १.५।
२. पा० १.४.२४

है।[1] मन्दबुद्धिप्रतिपत्त्यर्थं यदि यह सूत्र रखा भी जाये तो भी इसमें 'भयहेतुः' इसका प्रयोजन चिन्त्य है। क्योंकि 'अरण्ये बिभेति' यहां अरण्य में सप्तमी विभक्ति बाधक हो जायेगी। अपादान से परे अधिकरण संज्ञा है। "विप्रतिषेधे परं कार्यम्"[2] से अधिकरणसंज्ञा अपादान संज्ञा को बाध लेगी तो अधिकरण में सप्तमी निर्बाध है।

प्रस्तुत संदर्भ में तत्त्वबोधिनीकार लिखते हैं कि 'भयहेतु' ग्रहण के अभाव में अधिकरण कारक की शेषत्वविवक्षा में अरण्य में प्राप्त षष्ठी विभक्ति को इस सूत्र से होने वाली अपादान पञ्चमी बाध लेगी तो 'अरण्यस्य चौराद् बिभेति' यह प्रयोग न बन सकेगा। इसलिये 'भयहेतु' ग्रहण करना ही चाहिए।[3] "कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे"[4] इस रामायण के प्रयोग में भयार्थक 'बिभ्यति' क्रिया के रहते हुए 'कस्य' यह षष्ठी कैसे हुई ? 'कस्मात् बिभ्यति' इस प्रकार पञ्चमी होनी चाहिए तो इसका उत्तर है कि 'कस्य' का सम्बन्ध 'संयुगे' के साथ है। 'जातरोषस्य कस्य संयुगे देवा बिभ्यति' ऐसा अन्वय होता है। यदि कहा जाये कि फिर तो 'संयुगे' की जगह 'संयुगात्' होना चाहिए। क्योंकि भयार्थक 'भी' धातु के प्रयोग में अपादान कारक की पञ्चमी विभक्ति ही न्याय्य है तो इसका उत्तर है कि अधिकरण संज्ञा के परे होने से वह अपादान संज्ञा को बाध लेगी। इसलिये पंचमी न होकर सप्तमी ही हो जायेगी। 'चौरेभ्यो बिभेति' यहां 'भी' धातु का अर्थ भयपूर्वक निवृत्ति है। चौरों से डर कर हटता है। 'चौरेभ्यस्त्रायते' यहां 'त्रा' धातु का अर्थ

---

१. तुलना करो—
"प्रत्याख्यातुमिहाख्यातमिति तन्त्रान्तरोदितम्।
स्वीकर्तुमथवास्माकं पक्षपातो न विद्यते।।"
किंच, "तन्त्रान्तरप्रणीतानां सूत्राणां परमाग्रहात्।
प्रत्याख्यानेन यत्नस्य द्वैगुण्यमुपजायते।। कातन्त्रविस्तरः।
(चा०सू० २.१.८१ से उद्धृत)।

२. पा० १.४.२।

३. द्र० त०बो० प्रकृत सूत्र "भयहेतु ग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनम्। अरण्ये बिभेति इत्यत्र परत्वादधिकरणसंज्ञाप्रवृत्तेः इति चेत्, अत्र वदन्ति भयहेतुग्रहणाभावे कारकशेषत्वविवक्षायामितिप्रसङ्गः स्यात्। तथा च अरण्यस्य चौराद् बिभेति इति प्रयोगो न स्यात्।"

४. रामायण, बालकाण्ड, सर्ग १, श्लोक ४।

त्राणपूर्वक निवृत्ति है। चौरों से होने वाले कष्टों से बचाकर उनसे हटाता है। निवारण अर्थ में चौरों के अनीप्सित होने से "वारणार्थानामीप्सितः"[1] से अपादान संज्ञा प्राप्त न होती थी। अतः इस सूत्र द्वारा विधान किया गया है। शेष षष्ठी की प्राप्ति में यह सूत्र बनाया गया है यद्यपि यह अन्यथासिद्ध है। कारक प्रकरण के सूत्रों की प्रातिस्विक समीक्षा के अतिरिक्त इन सब सूत्रों की एक समवेत समालोचना अन्तिम "भुवः प्रभवः" (पा० १.४.३१) सूत्र पर द्रष्टव्य है। यहां तो भाष्य के सन्दर्भ में ही इनका युक्तायुक्तत्व विचार किया गया है। असली समालोचना वहां देखें।

पराजेरसोढः ॥ १.४.२६ ॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र भी अपादान संज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि 'परा' पूर्वक 'जि' धातु के प्रयोग में, जो 'असोढ' अर्थ है, जो क्लिष्ट तथा कष्टप्रद होने के कारण सहा नहीं जाता, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है। उदाहरण जैसे—'अध्ययनात् पराजयते'। 'अध्ययन से पराजित होता है' अर्थात् अध्ययन करने में असमर्थ है। अध्ययन करना उसके लिये असह्य है। अध्ययन करने में उसे ग्लानि होती है। यहाँ 'पराजय' का अर्थ दबना नहीं है बल्कि स्वयं दबाना है। 'परा' पूर्वक 'जि' धातु से "विपराभ्यां जेः"[2] इस सूत्र से आत्मनेपद होकर 'पराजयते' रूप बनता है। पराजय के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह वर्तमान कालिक ही हो। भूत तथा भविष्यत् काल में भी पराजय सम्भव है। अतः 'अध्ययनात् पराजयते' के साथ-साथ 'अध्ययनात् पराजेष्ट', 'अध्ययनात् पराजेष्यते', 'अध्ययनात् पराजितः' इत्यादि तीनों कालों में अपादानसंज्ञा हो जायेगी।'[3]

सूत्र में 'असोढ' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि दबने अर्थ में ही अपादान संज्ञा हो, दबाने में नहीं। जैसे—'शत्रून्-पराजयते'। 'शत्रुओं को पराजित करता है।' 'उनको दबाता है।' उनके सामने ग्लान होकर दबता नहीं। यहाँ 'जि' धातु का अर्थ अभिभव करना है। अतः सकर्मक होने से कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

---

१. पा० १.४.२७।

२. पा० १.३.१९।

३. तुलना करो, भाष्य (जोशी) कारकाह्निक, सू० १.४.२६, पृ० ७५ के फुटनोट से उद्धृत "The काशिकावृत्ति paraphrases असोढ as सोढुं न शक्यते to indicate that the past tense in असोढ has no relevance for the application of the rule."

यदि यह कहा जाये कि 'शत्रून् पराजयते' यहाँ अपादान संज्ञा को परे होने से कर्मसंज्ञा बाध लेगी, इसलिये 'असोढ' ग्रहण व्यर्थ है। यह कथन युक्त नहीं है। क्योंकि कर्म की शेषत्वविवक्षा में प्राप्त षष्ठी को 'असोढ' ग्रहण के बिना इस सूत्र से होने वाली अपादान पंचमी बाध-लेगी तो 'शत्रुभ्यः पराजयते' (शत्रुओं को दबाता है) ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। इसलिये सूत्र में 'असोढ' ग्रहण करना चाहिये। 'जि जये' तथा 'जि अभिभवे' ये दो धातु हैं। इनमें पहली अकर्मक है तथा दूसरी सकर्मक है। यहाँ अकर्मक के उदाहरण हैं तथा सकर्मक के प्रत्युदाहरण। शेष षष्ठी की प्राप्ति में यह सूत्र बनाया गया है।

बुद्धिकृत अपाय मानकर सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। किन्तु भाष्यकार ने इस सूत्र का भी प्रत्याख्यान कर दिया है। उनका कथन है—"अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्—अध्ययनात् पराजयते इति। य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दुःखमध्ययनं, दुर्धरं च, गुरवश्च दुरुपचारा इति। स बुद्धया संप्राप्य निवर्तते। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम्।"[1] भाव यह है कि "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वसूत्र से अपादान संज्ञा सिद्ध हो जाने के कारण यह सूत्र व्यर्थ है। जो मनुष्य विचारपूर्वक कार्य करने वाला होता है वह देखता है कि अध्ययन में बड़ा कष्ट होता है। गुरुओं की सेवा करनी पड़ती है इसलिये वह अपनी बुद्धि को अध्ययन से हटा लेता है। बुद्धि का अध्ययन से अपाय होने पर अवधिभूत अध्ययन की अपादानसंज्ञा "ध्रुवमपायेऽपादानम्" सूत्र से ही हो जायेगी। अतः इस सूत्र के बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यकारीय रीति से बुद्धिकृत अपाय को लेकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान भी युक्तियुक्त ही है। 'परा' पूर्वक 'जि' धातु के प्रयोग बिना भी तो 'अध्ययनात् ग्लायति', 'अध्ययनान्निवर्तते,' 'अध्ययनात् विरतोभवति' इत्यादि धात्वन्तरों के साथ अपादान की विवक्षा में पञ्चमी विभक्ति होती है। इसलिये अन्यथासिद्ध होने से यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है। न्यासकार लिखते हैं—"तस्मात् पूर्वस्यैवायं प्रपञ्चः। न च प्रपञ्चे गुरुलाघवं चिन्त्यते।" इसलिये प्रपञ्चार्थ सूत्र का निर्माण है। न केवल इसी का प्रत्युत अपादानसंज्ञा विधायक अन्य सूत्रों का भी प्रपञ्चार्थ ही निर्माण किया गया है। 'पराजेः' इस सौत्रनिर्देश में पदमञ्जरीकार

---

१. महा० भा० १, सू० १.४.२६, पृ० २८४।

हरदत्त 'परापूर्वो जि: पराजि:' इस प्रकार उत्तरपदलोप वाला समास मानकर "घेर्ङिति"[1] से गुण करके रूपसिद्धि स्वीकार करते हैं किन्तु शब्दकौस्तुभकार भट्टोजिदीक्षित यहाँ "घेर्ङिति" से से माने गुणविधान को सूत्रभाष्यविरुद्ध कथन करते हैं।[2] 'असोढ' ग्रहण के विषय में शब्दकौस्तुभकार लिखते हैं कि "वस्तुत: 'असोढ' ग्रहणं व्यर्थम्। शत्रून् पराजयते इत्यत्र परत्वात् कर्मसंज्ञा-सिद्धे:"[3]। किन्तु इनकी यह बात चिन्त्य है। क्योंकि तत्त्वोधिनीकार के कथनानुसार कर्म की शेषत्वविवक्षा में प्राप्त षष्ठी को 'असोढ' ग्रहण के अभाव में अपादान पञ्चमी बाध लेगी। उसकी निवृत्ति के लिये 'असोढ' ग्रहण आवश्यक है।[4] इस विषय में बृहच्छब्दरत्नकार भी सहमत हैं। उनका मत है - "केचित्तु परापूर्वको जयतिरसहने वर्तते। अध्ययनं न सहते इत्यर्थ:। अत एवासोढ इति कर्मनिर्देश: संगच्छते। तथा च कर्मसंज्ञापवादिकेयम्। एवं भीत्रार्थानामिति सूत्रं हेतुतृतीयाबाधनार्थम्। एतेनासोढ इति व्यर्थम्। शत्रून् पराजयते इत्यभिभवार्थकयोगे परत्वेन कर्मसंज्ञासिद्धेरित्यपास्तमित्याहु:"। इस प्रकार यह सूत्र भी शेष षष्ठी की प्राप्ति में बनाया गया है, यद्यपि यह अन्यथासिद्ध ही है।

वारणार्थानामीप्सित: ॥ १.४.२७ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भी अपादान संज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि 'वारणार्थक' धातुओं के प्रयोग में जो 'ईप्सित' कारक है उसकी अपादान संज्ञा होती है। 'ईप्सित' का अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं है किन्तु कर्ता क्रिया द्वारा जिसे प्राप्त करना चाहता है वह 'ईप्सित' है। आप्तुमिष्टमीप्सितम्'। जैसे—'यवेभ्यो गां वारयति' 'जौ नामक धान्यों से गायों को हटाता है।' वारण या हटाने की क्रिया से गायों को प्राप्त होता है, साथ ही यवों को भी। हटाने वाला जैसे गौओं को

---

१. पा० ७.३.१११।

२. द्र०श०कौ० प्रकृतसूत्र, पृ० ११८ "इह सूत्रे पराजेरिति रूपं विपराभ्यां जे: इतिवत् समर्थनीयम्। यत्तु परत्वात् घेर्ङिति इति गुण: इति हरदत्तेनोक्तं तत् सूत्रभाष्यादिविरुद्धमिति प्रागेव प्रपंचितम्'।

३. वही पृ० ११८।

४. द्र०त०बो० प्रकृत सूत्र "न चासोढग्रहणं व्यर्थम्, शत्रून् पराजयते इत्यत्र परत्वात् कर्मसंज्ञासिद्धे:। अत्रापि वदन्ति-कर्मत्वाविवक्षाया शेषषष्ठीं बाधित्वा पञ्चमी स्यात्। सा मा भूत् इति कर्तव्यमसोढग्रहणम्।"

अपनी क्रिया का विषय बनाता है, वैसे वह यह भी देखता है कि गायें कहीं यवों को न खा जायें। इसलिये वह यवों को भी हटाने की क्रिया का विषय बनाता है।

यदि 'ईप्सित' का अर्थ अभीष्ट या प्रिय माना जाये तो यवों के अपना होने और गायों के परकीय होने में ही अपादानसंज्ञा हो सकेगी। क्योंकि यव अपने होने से प्रिय हैं और गायें परायी होने से अप्रिय हैं। हटाने वाले को यह अभीष्ट नहीं है कि अपनी गायें दूसरे के यवों को न खायें। इसलिये हटाने वाले को यव चाहे अपने होने से प्रिय हों या पराये होने से अप्रिय हों, दोनों अवस्थाओं में हटाने की क्रिया का विषय होने पर यव की अपादान संज्ञा सिद्ध हो जाती है। वैसे हटाने वाले को यव पराये होने के कारण अप्रिय होने पर भी गौओं को तो वे प्रिय हैं ही। अतः 'ईप्सित' का अर्थ अभीष्ट या प्रिय मानने पर भी 'यवेभ्यो गां वारयति' में यव की अपादान संज्ञा बन सकती है। तथापि 'ईप्सित' का अर्थ अभीष्ट न मानकर यहाँ क्रिया का विषय माना जाता है। जिसे कर्ता क्रिया द्वारा अपना विषय बनाता है वह 'ईप्सित' अर्थात् 'आप्तुमिष्ट' होता है। यहाँ प्रिय-अप्रिय का सवाल नहीं है।

'ईप्सित' का अर्थ अभीष्ट मानने पर 'अग्नेमणिवकं वारयति', 'कूपादन्धं वारयति' यहाँ अग्नि और कूप की अपादान संज्ञा न हो सकेगी। क्योंकि अग्नि और कूप (कूआ) किसी को भी अभीष्ट नहीं है। आग और कूए में कौन कूदना चाहता है। क्रियावाची 'ईप्सित' शब्द मानने पर तो उक्त उदाहरणों में भी अपादानसंज्ञा सिद्ध हो जाती है। अग्नि और माणवक को तथा कूप और अन्धे को वह निवारण क्रिया द्वारा प्राप्त होता है। अतः वे दोनों ही 'ईप्सित' हैं। एक को अर्थात् माणवक और अन्धे को साक्षात् रोकता है। अतः वह 'ईप्सितम' होने से "कर्तुरीप्सिततमं कर्म"[1] सूत्रविहित कर्मसंज्ञा का विषय बन जाता है। माणवक और अन्धा दोनों ही 'ईप्सिततम' हैं, अतः कर्मसंज्ञक हैं। उनमें 'कर्मणि द्वितीया'[2] से द्वितीया विभक्ति होती है। अग्नि और कूप साक्षात् रोकने के विषय नहीं हैं, अपितु रोके जाने वाले माणवक और अन्धे के द्वारा निवारण क्रिया के विषय बनते हैं। अतः 'ईप्सित' हैं। उनमें इस सूत्र से अपादान संज्ञा होकर "अपादाने पञ्चमी"[3] से पञ्चमी होती है। सूत्र में 'ईप्सित' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे' यहाँ क्षेत्र के 'ईप्सित' न होने के

१. पा० १.४.४६।
२. पा० २.३.२।
३. पा० २.३.२८।

कारण अपादान संज्ञा नहीं हुई। गौ हटाने वाले को यव ही ईप्सित हैं, क्षेत्र नहीं। क्षेत्र तो अधिकरण है। क्षेत्र में खड़े हुए यवों से ही गौओं हटाना चाहता है, क्षेत्र से नहीं।

बुद्धिकृत अपाय द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार कात्यायन इस सूत्र के खण्डन में मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का भी प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम् माषेभ्यो गां वारयति इति। पश्यत्ययं यदीमा गावस्तत्र गच्छन्ति, ध्रुवः सस्यविनाशः सस्यविनाशेऽधर्मश्चैव, राजभयं च। स बुद्ध्या संप्राप्य निवर्तयति। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम्।"[1] भाव यह है कि 'माषेभ्यो गां वारयति', 'अग्नेर्माणवकं वारयति', 'कूपादन्धं वारयति' इत्यादि प्रयोगों में अपादानसंज्ञा करने के लिये इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं सोच लेता है कि यदि ये गौ आदि माष, यव आदि में प्रवेश करती हैं तो जरूर सस्य की हानि होगी। उससे अधर्म भी होगा और राजा का भी डर है। इसलिये वह अपनी बुद्धि को माष-यव आदि से हटाकर उनसे पृथक् गौ आदि को कर देता है। गौ आदि को यव आदि में न लगाना ही उनका वारण करना है। क्योंकि प्रवृत्ति के विघात को 'वारण' कहते हैं। बुद्धि द्वारा यवादि से अपाय होकर उनके अवधिभूत यव आदि की अपादानसंज्ञा "ध्रुवमपायेऽपादानम्"[2] इस पूर्वसूत्र से ही सिद्ध हो जायेगी तो यह सूत्र व्यर्थ है। उसी का प्रपञ्च या विस्तारमात्र इसको समझना चाहिए। इस प्रकार भाष्यकार ने बुद्धिकृत अपाय का आश्रयण करके इस सूत्र का भी प्रत्याख्यान कर दिया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यद्यपि यवादि के संयोग से पूर्व गौ आदि के रोक देने से गौ आदि का यवादि से अपाय न होने के कारण पूर्वसूत्र से अपादानसंज्ञा सिद्ध नहीं हो सकती थी अतएव इस सूत्र का आरम्भ किया गया सम्भव हो सकता है तथापि भाष्यकार ने गौ आदि का अपाय न होने पर भी बुद्धि का अपाय मानकर सूत्र को अनावश्यक बताया है। अपाय किसी का हो, उसमें जो ध्रुव है, अवधि है, उसकी अपादानसंज्ञा "ध्रुवमपायेऽपादानम्" सूत्र से पहले कही गई है।

---

१. महा० भा० १. सू० १.४.२७, पृ० २८४।
२. पा० १.४.२४।

उसका लक्षण यहाँ भी यथावत् घट जाता है। इसलिए भाष्यकारीय रीति से सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य ही है।

यदि यह कहा जाये कि सूत्र की सत्ता में भी 'ईप्सित' ग्रहण तो व्यर्थ ही है। क्योंकि 'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे' यहाँ क्षेत्र के अधिकरण होने से अधिकरण सप्तमी परत्वात् बाधक हो जायेगी तो अपादानसंज्ञा न होगी तो इसका उत्तर वही पूर्ववत् है। जब अधिकरण की शेषत्वविवक्षा में सप्तमी न होकर षष्ठी प्राप्त होगी तब इस सूत्र में 'ईप्सित' ग्रहण के अभाव में क्षेत्र शब्द की अपादानसंज्ञा होकर षष्ठी की बाधक हो जायेगी तो 'यवेभ्यो गा: वारयति क्षेत्रस्य' के स्थान में 'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रात्' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। उसको रोकने के लिये यदि सूत्र रखा जाये तो उसमें 'ईप्सित' ग्रहण भी अवश्यमेव करना होगा। जिससे अनीप्सित क्षेत्र की अपादान संज्ञा होकर उसमें पंचमी विभक्ति न हो, बल्कि अधिकरण सप्तमी ही हो। अधिकरण की शेषत्वविवक्षा में बेशक षष्ठी हो जाये। पञ्चमी तो सर्वथा ही न हो। इस प्रकार यह सूत्र भी शेष-षष्ठी की प्राप्ति में बनाया गया है यद्यपि यह अन्यथा सिद्ध ही है।

अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति ॥ १.४.२८ ॥

सूत्र का अभिप्राय

यह सूत्र भी अपादानसंज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि 'अन्तर्धि' अर्थात् व्यवधान होने पर जिससे अपना 'अदर्शन' एवं दर्शन का अभाव चाहता है कि वह उसे न देखे, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है। उदाहरण जैसे— 'मातुर्निलीयते कृष्णः' (कृष्ण अपनी माता से छिपता है) 'उपाध्यायादन्तर्धत्ते' (उपाध्याय से अन्तर्हित होता है, छिपता है, कहीं वह उसे देख न लेवे)। यहां अपने 'अदर्शन' की इच्छा रखता हुआ जिससे अन्तर्हित होता है उसकी अपादान संज्ञा हो गई तो 'मातुः', 'उपाध्यायात्' यहां पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। क्योंकि वह माता से या उपाध्याय से अपना 'अदर्शन' चाहता हुआ छिपता है। 'अन्तर्धौ' में 'अन्तर्धि' शब्द से भावलक्षणा सप्तमी विभक्ति है। 'अन्तर्धौ सति'। अथवा विषय सप्तमी भी हो सकती है—'अन्तर्धौ विषये' (अन्तर्धान के विषय में अथवा तद्विषयक धातु के प्रयोग में)। 'येन' यह कर्ता में तृतीया है। 'अदर्शनम्' यह भाववाचक कृदन्त प्रयोग है। यहाँ गम्यमान 'अपना' शब्द समझना चाहिये। वह 'अदर्शन' का कर्म है। "उभयप्राप्तौ कर्मणि"[1] के नियम

१. पा० २.३.६६।

से "कर्तृकर्मणोः कृति"[1] से प्राप्त दोनों कर्ता और कर्म में षष्ठी विभक्ति रुक गई तो केवल 'आत्मनः' इस कर्म में षष्ठी होती है और 'येन' इस कर्ता में तो "कर्तृकरणयोस्तृतीया"[2] से तृतीया हो जाती है। 'यत्कर्तृकम् आत्मकर्मकम-दर्शनमिच्छति'। जिस कर्ता से आत्मकर्मक अदर्शन चाहता है, उस कर्ता की अपादान संज्ञा यह सूत्र करता है। यदि 'येनादर्शनमिच्छति' की जगह 'यस्या दर्शनमिच्छति' कहा जाता तो 'यस्य' यह कर्म में षष्ठी भी संभावित हो सकती थी अतः असन्देहार्थ कर्तृ तृतीया का निर्देशन किया है।

सूत्र में 'अन्तर्धि' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'चौरान् न दिदृक्षते' यहाँ चौर शब्द की अपादान संज्ञा नहीं हुई। कहीं चौर मुझे न देख लें, इसलिये चौरों को नहीं देखना चाहता। इस अर्थ में चौरकर्तृक आत्मकर्मक दर्शनेच्छा का अभाव तो है किन्तु अन्तर्धि नहीं है। वह छिप नहीं रहा है। केवल चौरों को देखना नहीं चाहता, इतना ही तात्पर्य है। 'अन्तर्धि' का प्रयोग करने पर तो 'चौरात् अन्तर्धत्ते' यहाँ अपादान संज्ञा होकर चौर शब्द से पञ्चमी विभक्ति होती ही है। प्रस्तुत प्रसंग में न्यासकार का मन्तव्य है कि 'चौरान् न दिदृक्षते' यहाँ 'अन्तर्धि' ग्रहण के बिना भी 'अपादान संज्ञा' नहीं होगी। क्योंकि उक्त वाक्य का अर्थ इस प्रकार किया जायेगा—'स तैरात्मनोऽदर्शनमिच्छति' अर्थात् वह चौरों के द्वारा अपना अदर्शन चाहता है। इस व्याख्या में चौर अदर्शन क्रिया के कर्ता बन जाने के कारण 'अपादानसंज्ञक' नहीं हो सकेंगे। अतः इनके मत में 'अन्तर्धि' ग्रहण विस्पष्टार्थं ही है।[3] लेकिन डा० जोशी के अनुसार न्यासकार का यह मत विचारणीय ही है। क्योंकि 'दिदृक्षते' यहाँ 'दृश्' धातु से 'सन्' प्रत्यय तभी हो सकेगा जब 'दृश्' क्रिया तथा 'इष्' क्रिया दोनों समान-कर्तृक हों।[4] न्यासकार सम्मत अर्थ में अदर्शन क्रिया के कर्ता तो चौर हैं तथा

---

१. पा० २.३.६५।

२. पा० २.३.१८।

३. द्र० न्यास, सू० १.४.२८ "चौरान् न दिदृक्षते इति। अत्र यश्चौरान् न दिदृक्षते इति स तैरात्मनोऽदर्शनमिच्छति न त्वन्तर्धिनिमित्तम्। किन्तू-पघातनिवृत्त्यर्थम्। विस्पष्टार्थं चान्तर्धिग्रहणम्।"

४. १.३.७ 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा सन्।"

'इष्' क्रिया का कर्ता 'वह' (सः) है। इसलिए 'चौरान् न दिदृक्षते' इस वाक्य का यही अर्थ हो सकता है कि वह चौरों को नहीं देखना चाहता। किन्तु इस अर्थ में वही कठिनाई है कि यहाँ भी 'कर्मसंज्ञा' परत्वात् 'अपादानसंज्ञा' को बाध लेगी। अतः इस अर्थ में भी अन्तर्धिग्रहण व्यर्थ प्रतीत होता है और सूत्र का उक्त प्रत्युदाहरण उचित प्रतीत नहीं होता।[१]

इस विषय में Prof. D.H.H. Ingalls ने अपने काशिका के अप्रकाशित अनुवाद में, प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'अन्तर्धि' ग्रहण को चरितार्थ करने के लिये सूत्र में स्थित 'येन' इस पद को 'कर्तरि तृतीया' न मानकर 'हेत्वर्थे तृतीया' माननी चाहिये। इसके अनुसार सूत्र का अर्थ इस प्रकार का होगा कि 'अन्तर्धि' के विषय में, जो जिसके कारण या जिससे अपने आपको दिखाना या देखना नहीं चाहता, वह कारक 'अपादान संज्ञक' होता है। इस व्याख्या के आधार पर प्रकृत सूत्र 'अन्तर्धि' ग्रहण के बिना 'चौरान् न दिदृक्षते' इस वाक्य में प्रवृत्त हो सकता है। क्योंकि यहाँ चोर किसी की इच्छा के कारण या हेतु तो हो ही सकते हैं कि वह इन्हें न देखना अथवा स्वयं को न दिखाना चाहता हो। इसलिये 'चौरान् न दिदृक्षते' इस प्रत्युदाहरण में प्रकृत सूत्र की प्राप्ति को रोकने के लिये प्रस्तुत सूत्र में 'अन्तर्धि' ग्रहण आवश्यक है। इस तरह से ही

---

१. भाष्य (जोशी) कारकाह्निक, सू० १.४.२८, पृ० ८९-९०, "Strictly speaking, however, 'स चौरात्मनोऽदर्शनमिच्छति' cannot be a correct interpretation of the sentence 'चौरान् न दिदृक्षते'. Because, according to P. 3.1.7. the dessiderative suffix can only be used, if the agent of the action denoted verbal base and the person who wishes are one and the same person. Therefore 'चौरान् न दिदृक्षते' can only mean—'he does not want to see the thieves'. But in this case the difficulty remains that P. 1.4.28 (even with out the condition 'अन्तर्धौ') cannot possibly become applicable to the examples, that is to say, the counter example is wrong".

उक्त प्रत्युदाहरण सुसंगत हो सकता है।[1] 'इच्छति' ग्रहण इसलिये किया है कि अदर्शन की इच्छा होने पर यदि दर्शन हो भी जाये तो भी अपादान संज्ञा हो जावे। कई बार देखने की इच्छा न होने पर भी चीज दीख जाती है उस अवस्था में भी केवल दर्शनेच्छा के अभाव को लेकर अपादान संज्ञा हो जायेगी।

बौद्धिक अपाय द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रसङ्ग में वार्तिककार सर्वथा चुप हैं। किन्तु भाष्यकार इस सूत्र का भी खण्डन करते हुए कहते हैं—"अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्—उपाध्यायाद् अन्तर्धत्ते इति। पश्यत्ययं यदि मामुपाध्यायः पश्यति ध्रुवं मे प्रेषणमुपालम्भो वेति। स बुद्ध्या संप्राप्य निवर्तते। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम्।"[2] भाव स्पष्ट है कि यह सूत्र भी अन्यथा सिद्ध है। 'उपाध्यायादन्तर्धत्ते' यहाँ अपादान संज्ञा "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वसूत्र से ही सिद्ध हो जायेगी। क्योंकि प्रेक्षावान् छात्र देखता है कि यदि मुझे मेरे गुरुजी देख लेंगे तो वे अवश्य मुझे किसी काम पर भेज देंगे या उलाहना देंगे कि तुमने यह नहीं किया, वह नहीं किया। इसलिये उसकी बुद्धि उपाध्याय के पास जाने

---

१. भाष्य (जोशी) कारकाह्निक, प्रकृतसूत्र, पृ० ८९-९०, "In this connection, Prof. D.H.H. Ingalls, in this unpublished translation of the K.V. (काशिका वृत्ति), has suggested that we should take 'येन' in P. 1.4.28 not as 'कर्तरि तृतीया' but as a 'हेत्वर्थे तृतीया', that is an instrumental denoting the cause (p. 2.3.53). Accordingly, P. 1.4.28 comes to mean : When hiding (takes place), (the person) on account of whom one wishes not to see (or not to be seen) is called 'अपादान' etc. When interpretated in this way, P. 1.4.28 becomes applicable to 'चौरान् न दिदृक्षते', if the word 'अन्तर्धौ' is not mentioned, because here the thieves may be regarded as the cause of somebody's wish not to see (or not to be seen). Therefore, to prevent P. 1.4.28 from becoming applicable here the word 'अन्तर्धौ' is required. In this way, 'चौरान् न दिदृक्षते' can be a correct counter example".

२. महा० भा० १, प्रकृतसूत्र पृ० ३१९।

से हट जाती है। वह बुद्धि द्वारा उपाध्याय से अपना अपाय कर लेता है। अपाय होने में उपाध्याय ध्रुव है उसकी अपादान संज्ञा स्वतः ही पूर्वसूत्र से हो जायेगी तो उक्त सूत्र निष्प्रयोजन है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

अन्य सूत्रों की तरह बुद्धिकृत अपाय का आश्रयण करके भाष्यकार ने इस सूत्र का भी खण्डन कर दिया है जो भाष्यकारीय रीति से युक्तिसंगत ही है। अपादान कारक के ये सभी सूत्र "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वोक्त मुख्य अपादान संज्ञा विधायक सूत्र के ही प्रपञ्च हैं। जैसा कि न्यासकार ने लिखा है- "तस्मात् पूर्वस्यैवायं प्रपञ्चः। न च प्रपञ्चे गुरुलाघवं चिन्त्यते।"[1] भाष्यकार भी लिखते हैं—"किमर्थं तर्हि एवमाद्यनुक्रमणं क्रियते। उदाहरणभूयस्त्वात्। एते खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषु लक्षणं प्रपञ्चश्च, केवलं लक्षणं केवलं प्रपञ्चो वा न तथा कारकं भवति।"[2]

कैयट भी इसे अपनी व्याख्या में और अधिक स्पष्ट करते हैं—"अस्यैव लक्षणस्य भूयांस्युदाहरणानि प्रदर्शयितुमित्यर्थः। केवलेन लक्षणेन मन्दबुद्धिः विषयविभागं नावधारयति। केवलेन प्रपञ्चेन वा सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठवत्शास्त्रस्य गौरवप्रसङ्गः।" भाव यह है कि "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस मुख्य सूत्र से सभी की अपादान संज्ञा सिद्ध होने पर भी जो "भीत्रार्थानां भयहेतुः"[3] से लेकर 'भुवः प्रभवः'[4] तक सूत्रों की रचना की है वह प्रपञ्चमात्र ही है जिससे एक ही अपादान संज्ञा के अनेक उदाहरण दिखाये जा सकें। जिस प्रकार "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्"[5] इस सूत्र से विशेषणविशेष्यभाव रूप कर्मधारय समास सिद्ध होने पर फिर "पूर्वापरप्रथमचरम०"[6] इत्यादि सूत्रों से कर्मधारय समास का विधान प्रपञ्चार्थ ही किया है।

शब्दकौस्तुभकार आदि सभी उद्भट वैयाकरण विद्वानों की भाष्यकार के साथ सम्मति है। उन्होंने भी इस सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्याय्य माना है। किन्तु पक्षान्तर में वे यह भी कहते हैं कि यदि यह सूत्र रखना भी है तो भी इसमें

---

१. पा० १.२.२५ पर न्यास द्रष्टव्य।
२. महा० भा० १, सू० २.१.८५, पृ० ४००।
३. पा० १.४.२५।
४. पा० १.४.३१।
५. पा० २.१.५६।
६. २.१.५८।

'अन्तर्धि' ग्रहण तो व्यर्थ ही है। क्योंकि इसका तात्पर्य तो 'चौरान् न दिदृक्षते' यह प्रत्युदाहरण है। वह अन्यथासिद्ध हो सकता है। वहाँ इससे प्राप्त होने वाली अपादान संज्ञा को परत्वात् कर्मसंज्ञा बाध लेगी तो 'चौरान्' में द्वितीया विभक्ति होकर इष्ट सिद्ध हो जायेगा। यदि यह कहा जाये कि कर्म की शेषत्वविवक्षा में प्राप्त षष्ठी को 'अन्तर्धि' ग्रहण के अभाव में इस सूत्र से प्राप्त होने वाली अपादान संज्ञा होकर पञ्चमी बाध लेगी। उसको रोकने के लिये यहाँ 'अन्तर्धि' ग्रहण किया है तो बात अलग है। वस्तुतः उन्होंने 'वारणार्थानामीप्सितः'[1] सूत्र में 'ईप्सित' ग्रहण के समान यहाँ 'अन्तर्धि' ग्रहण को भी चिन्त्य प्रयोजन बताया है।[2]

सूत्र की सत्ता में 'येन' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि जिससे अपना 'अदर्शन' चाहता है उसकी अपादान संज्ञा हो। अन्यथा 'येन' ग्रहण के अभाव में 'अन्तर्धौ अदर्शनमिच्छति' इतना सूत्र होने पर जो 'अदर्शन' चाहता है उसी की अपादान संज्ञा प्राप्त हो जायेगी। जहां गुरु अपादान होना था, वहाँ शिष्य अपादान होने लगेगा। यदि इस दोष से बचने के लिये ऊपर से 'ध्रुवम्' की अनुवृत्ति की जाये तो सूत्र का अर्थ होगा कि जो ध्रुव 'अदर्शन' चाहता है, उसकी अपादान संज्ञा होती है। ध्रुव जो उपाध्याय गुरु है, वह तो अदर्शन चाहता ही नहीं, ऐसी अवस्था में सूत्रार्थ गड़बड़ा जायेगा। इसलिये 'येन' ग्रहण करना चाहिये। उसी की अपादान संज्ञा इष्ट है। इस प्रकार यह सूत्र भी शेषषष्ठी की प्राप्ति में बनाया गया है यद्यपि यह अन्यथासिद्ध ही है।

आख्यातोपयोगे ॥ १.४.२९॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र भी अपादानसंज्ञा करता है। सूत्र में 'उपयोग' शब्द का अर्थ नियमपूर्वक विद्या ग्रहण करना है। नियमपूर्वक विद्याग्रहण करने के अर्थ में 'आख्याता' अर्थात् विद्या देने वाला जो कारक है, उसकी अपादानसंज्ञा हो जाती है। जैसे—'उपाध्यायादधीते' (उपाध्याय से पढ़ता है, नियमपूर्वक

---

१. पा० १.४.२७।

२. द्र०त० बो० प्रकृत सूत्र "ननु अन्तर्धाविति व्यर्थम्, न दिदृक्षते चौरानित्यत्र परत्वात् कर्मसंज्ञासिद्धेः। अत्राहुः—चौराः आत्मानं मा द्राक्षुरिति बुद्ध्या चौरान्न दिदृक्षते इत्ययमर्थोऽत्र विवक्षितः, तत्र कर्मणः शेषत्वविवक्षायामिदं पूर्ववत् प्रत्युदाहरणमिति। शब्दकौस्तुभे तु 'अन्तर्धौ' इत्येतच् चिन्त्यप्रयोजनमिति स्थितम्"।

शिक्षाग्रहण करता है)। यहाँ विद्या देने वाले उपाध्याय की अपादानसंज्ञा होकर उससे पंचमी विभक्ति हो जाती है।

'उपयोग' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'नटस्य गाथां शृणोति' (नट की बोली हुई गाथा को सुनता है) यहाँ नट की अपादान संज्ञा नहीं हुई। क्यों कि नट, जो गाथा सुना रहा है, वह नियमपूर्वक विद्याग्रहण करने के लिये नहीं है। सुनने वाला नट से गाथा का अध्ययन नहीं कर रहा है बल्कि उसकी कही हुई गाथा का श्रवणमात्र कर रहा है। यहाँ नियमपूर्वक विद्याग्रहणरूप ग्रन्थ के अर्थ का धारण न करने से 'उपयोग' नहीं है, अतः अपादान संज्ञा नहीं होती। यदि तो नट भी नियमपूर्वक उपाध्याय की तरह गाथा का अर्थ समझावे तब तो नट की भी अपादानसंज्ञा होकर 'नटात् शृणोति' यह रूप बन सकता है। 'कहाँ उपयोग है कहाँ नहीं' यह सब विवक्षा पर है। इसी बात को समझाने के लिये आचार्य पाणिनि ने सूत्र में 'उपयोग' ग्रहण किया है। यदि गाथा सुनाने में नट का कुछ भी सम्बन्ध नहीं हो तो वह कारक ही न बनेगा। तब कारक के न होने से स्वतः ही अपादानसंज्ञा न होगी। उसकी व्यावृत्ति के लिये 'उपयोग' ग्रहण करना व्यर्थ हो जायेगा।

प्रत्याख्यान का आधार एवं अभिप्राय

वार्तिककार कात्यायन इस सूत्र के खण्डन में चुप हैं किन्तु भाष्यकार ने इस सूत्र का भी प्रत्याख्यान कर दिया है। वे लिखते हैं—"अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्—उपाध्यायादधीते इति। अपक्रामति तस्मात् तदध्ययनम्। यद्यपक्रामति किं नात्यन्तायापक्रामति ? सन्ततत्वात्। अथवा ज्योतिर्वत् ज्ञानानि भवन्ति।"[१] इसका भाव यह है कि अपादान संज्ञा करने के लिये इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। 'उपाध्यायादधीते' में उपाध्याय की अपादान संज्ञा पूर्वसूत्र से ही हो जायेगी। अध्ययन करते समय उपाध्याय के मुख से निकले हुए शब्द को शिष्य ग्रहण करता है। उपाध्याय के मुख से निकले हुए शब्दों का उपाध्याय से अपाय हो जाता है। उस अपाय में उपाध्याय ध्रुव है, अवधिभूत है, अतः "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वसूत्र से ही उपाध्याय की अपादान संज्ञा सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है।

यदि यह कहा जाये कि उपाध्याय के मुख से निकले हुए शब्दों का उससे अपाय हो जाता है तो उपाध्याय के मुख में सर्वथा शब्द नहीं रहने चाहियें। जैसे वृक्ष से फल के टूटने पर फल का उससे अपाय हो जाता है तो फल वृक्ष

१. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ३२९।

पर नहीं रहता। ऐसा यहाँ भी होना चाहिये। किन्तु देखा यह जाता है कि उपाध्याय के मुख से शब्दों का अपाय हो जाने पर भी शब्द उसके मुख में विद्यमान है तो इसका उत्तर है—'संततत्वात्' अर्थात् उपाध्याय के मुख से निकले शब्दों का समूह भिन्न भिन्न होता हुआ भी 'संतत' यानि लगातार उच्चारण करते रहने के कारण एकाकार सा प्रतीत होता है। पहले शब्द का अपाय होने पर भी वह अपायरहित-सा मालूम होता है। वस्तुतः जिस शब्द का अपाय हो गया, वह शब्द उपाध्याय के मुख में नहीं रहता। उसका सर्वथा विश्लेष हो जाता है। उसके स्थान में दूसरा शब्द आता है और फिर उसका भी अपाय हो जाता है। इस प्रकार शब्दों के अपाय में उपाध्याय ध्रुव ही रहता है। उसकी अपादान संज्ञा होने में कोई बाधा नहीं। डॉ० जोशी के अनुसार यहाँ भाष्यकार का यह भाव है कि शब्द के दो रूप हैं—ध्वनि और स्फोट। इनमें ध्वनि स्फोट की व्यंजक तथा उच्चरित प्रध्वंसी अर्थात् अनित्य होती है जबकि स्फोट ध्वनि के द्वारा व्यङ्ग्य तथा नित्य होता है। स्फोट को व्यक्त करने के लिये जो ध्वनि का उच्चारण किया जाता है वह उच्चरित ध्वनि उस उच्चरिष्यमाण ध्वनि से सर्वथा भिन्न होती है जो सम्प्रति उपाध्याय के मुख में विद्यमान है। इस तरह से यह क्रम चलता रहता है। अर्थात् हर उच्चरित ध्वनि हर उच्चरिष्यमाण ध्वनि से पृथक् होती जाती है। इस प्रक्रिया में अपाय स्पष्ट ही है। अतः उपाध्याय के ध्रुव होने के कारण "ध्रुवमपाये०" सूत्र ही पर्याप्त है।[1] अथवा यूं समझना चाहिये कि "ज्योतिर्वत् ज्ञानानि भवन्ति" अर्थात् ज्ञानरूप शब्द हैं। वे ज्योतिः एवं प्रकाश के समान होते हैं। जैसे दीपक की ज्वालायें परस्पर भिन्न-भिन्न होती हुई भी लगातार निकलती रहने से एक सी प्रतीत होती हैं, वैसे ही उपाध्याय का जो ज्ञान है वह भिन्न-भिन्न शब्दों के रूप में मुख से निकलता है। उसका अपाय होता है। उस अपाय में उपाध्याय के ध्रुव होने

---

१. भाष्य (जोशी) कारकाह्निके, प्रकृत सूत्र, पृ० ६६, 'Patanjali's Bhasya, which tries to justify 'अपाय' in connection with 'अपादान' i.e. the speech of the teacher, refers to the स्फोट aspect of speech rather the ध्वनि aspect. Since the ध्वनिस् are different, the sound which left the mouth of the teacher, is different from the sound which still remains there and that is why, we can speak of अपाय here in the literal sense of the word.'

से उसकी अपादानसंज्ञा पूर्वसूत्र से ही हो जायेगी तो यह सूत्र अनावश्यक है। इस प्रकार भाष्यकार ने सुन्दर युक्ति-प्रत्युक्तियों द्वारा उपाध्याय की अपादान संज्ञा पूर्वसूत्र से ही सिद्ध करके इस सूत्र का खण्डन कर दिया है[1]। किन्तु अर्वाचीन वैयाकरण शाकटायन तथा हेमचन्द्र भाष्यकार द्वारा किये गये अन्य सूत्रों के अपादान प्रत्याख्यान के साथ सहमत होते हुए भी प्रकृत सूत्र के प्रत्याख्यान में पतंजलि के साथ एकमत नहीं हैं। इनका कहना है कि 'उपयोग' को सूचित करने के लिए सूत्र की आवश्यकता है।[2]

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहाँ यह विचारणीय है कि भाष्यकार ने उपाध्याय के मुख से निकले शब्द सन्तान को भिन्न-भिन्न मानकर उपाध्याय से उनका प्रातिस्विक अपाय स्वीकार किया है। साथ ही "ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति" यह कहते हुए भाष्यकार आत्मस्थ ज्ञान को ही शब्दाकार में परिणत हुआ स्वीकार करते हैं। जैसा कि भर्तृहरि ने भी यही प्रतिपादन किया है—

वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।
कैश्चिद्दर्शनभेदोऽत्र प्रवादेष्वनवस्थितः।"[3]

अर्थात् कुछ दार्शनिक लोग वायु को, शब्दतन्मात्रारूप परमाणुओं को और आत्मस्थ ज्ञान को शब्द के रूप में परिणत हुआ मानते हैं। वायु तो शब्दरूप में बदलता हुआ स्पष्ट ही है। शब्द के परमाणुओं से शब्द की उत्पत्ति होती है और हमारा आन्तरिक ज्ञान ही शब्द के आकार में बदलता है। ज्ञान ही शब्द

---

१. भाष्य (जोशी) प्रकृतसूत्र, पृ० ९७ के फुटनोट २९४ से उद्धृत 'Since Patanjali say अथवा, the views mentioned should be regarded as two different views. Here the first view seems to be a न्याय view. See S. Dasgupta, A History of Indian Philosophy, I (1922) page 297. The second view appears to be a Buddhist one, See Ibid. pp. 161-63. The word संततत्वात् in the Bhasya refers to the न्याय view, not to the Buddhist view of क्षणभङ्ग'।

२. शा०स० १.३.१५७ 'आख्यातर्युपयोगे'। अमोघवृत्ति—'अपायेऽवधौ इत्येव सिद्धे उपयोग इति वक्ष्यामि इति सूत्रम्'। हेमचन्द्र का सूत्र शाकटायन जैसा ही है।

३. वा०प० १.१०७।

बन जाता है। बिना शब्द के ज्ञान की प्रतीति नहीं होती।[1] इन सबका निरूपण स्वयं भर्तृहरि ने निम्न कारिकाओं में किया है—

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते।
अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः।
छायातपतमः शब्दभावेन परिणामिनः।[2]

उक्त दोनों कारिकाओं में क्रमशः वायु का तथा अणुओं का शब्द रूप में बदलना सिद्ध किया गया है। ज्ञान का भी शब्द रूप में परिणत होना सिद्ध करते हुए भर्तृहरि कहते हैं—

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मनि स्थितः।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥[3]

शब्द को ज्ञानस्वरूप (ज्ञान का रूप) मानने पर वह प्रकाशस्वरूप ज्योति ही है। जैसे प्रकाश निर्मल उज्ज्वल है जैसे ही ज्ञान भी निर्मल है। उपाध्याय के मुख से निकले हुए ज्ञान की अविच्छिन्न धारा क्षण-क्षण में बदलती रहती है। इसलिये निरन्तर भिन्न-भिन्न शब्दों के आकार में निकलता हुआ भी ज्ञान उपाध्याय के मुख में लगातार उच्चरित होने के कारण एक प्रतीत होता है। वस्तुतः उसका आत्मा से अपाय होता है। पहला ज्ञान नष्ट होकर दूसरा उत्पन्न होता रहता है। इस सिद्धान्त के आधार पर उपाध्याय ध्रुव सिद्ध हो जाता है। उसकी अपादानसंज्ञा पूर्वसूत्र से ही सिद्ध होकर भाष्यकारीय रीति से प्रकृतसूत्र की अनावश्यकता भी स्पष्ट हो जाती है।

जनिकर्तुः प्रकृतिः ॥१. ४. ३०॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भी अपादान संज्ञा करता है। 'जन्म' अर्थ की क्रिया का जो कर्ता है अर्थात् जो जन्म लेता है उसकी जो प्रकृति है, हेतु है, कारण है, जहाँ से वह जन्म लेता है, वह कारण चाहे उपादान कारण हो या सहकारी कारण, उसकी अपादान संज्ञा होती है। यथा—'गोमयाद् वृश्चिको जायते' (गोबर से बिच्छू पैदा होता है)। 'शृङ्गात् शरो जायते' (सींग से बाण उत्पन्न होता है)। 'ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते' (ब्रह्म से प्रजायें उत्पन्न होती हैं)। इन सब उदाहरणों

---

१. द्र० वा०प०, १.१२३ "......अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।"
२. वही, १.१०८, ११०।
३. वही, १.११२।

में जन्म लेने वाले की प्रकृति जो गोमय आदि है, उनकी अपादान संज्ञा होकर उनसे पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि 'जनी प्रादुर्भावे' धातु का ही प्रयोग हो, 'जन्' के अर्थ वाली किसी भी धातु का प्रयोग हो सकता है। जैसे—"अङ्गादङ्गात् संभवसि०"[१] (अङ्ग अङ्ग से पैदा होता है) यहां 'सम्' पूर्वक 'भू' धातु भी 'जन्म' अर्थ वाली है अतः उसकी प्रकृति 'अङ्ग' शब्द की अपादान संज्ञा हो गई। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"[२] (जिस परब्रह्म से ये सब प्राणी पैदा होते हैं)। 'पुत्रात् प्रमोदो जायते' (पुत्र से खुशी पैदा होती है) इत्यादि सभी उत्पत्ति के कारणों की अपादान संज्ञा हो जाती है।

ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते,' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'

ये उदाहरण उपादान कारण के हैं। क्योंकि 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'[३] इस वेदान्त सूत्र के अनुसार ब्रह्म, जगत् का निमित्तकारण होने के साथ उपादानकारण भी है। नवीन वेदान्त की प्रक्रिया में ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना जाता है। सूत्र में 'प्रकृति' ग्रहण इसलिये किया गया है कि हेतुमात्र की अपादानसंज्ञा हो जाये। वह हेतु चाहे उपादानकारण से भिन्न भी हो, ऐसा वृत्तिकारों का मत है। उनके मत में 'पुत्रात् प्रमोदो जायते' यहाँ उपादान कारण से भिन्न होने पर भी पुत्र की अपादानसंज्ञा हो जाती है। केवल उपादान कारण ही यहाँ 'प्रकृति' ग्रहण से लिया गया है, ऐसा भाष्यकार तथा कैयट का मत है।[४] दोनों ही मत विनिगमना विरह से माननीय हैं।

अन्यथा सिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। किन्तु भाष्यकार ने इस सूत्र का भी खण्डन कर दिया है। वे लिखते हैं—'अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्—गोमयाद् वृश्चिको जायते। गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वा जायन्ते इति। अपक्रामन्ति तास्तेभ्यः। यद्यपक्रामन्ति किं नात्यन्तायापक्रामन्ति। संततत्वात्।

---

१. शतपथ ब्राह्मण, १५, ६.४.२६ तथा गोभिलगृह्यसूत्र, अध्याय, २।

२. तैत्तिरीयोपनिषद्, ३.१।

३. ब्रह्मसूत्र, १.४.२३।

४. द्र० त० बो० प्रकृतसूत्र "इह प्रकृतिग्रहणं हेतुमात्रपरमिति वृत्तिकृन्मतम्। पुत्रात् प्रमोदो जायते इत्युदाहरणात्। उपादानमात्रपरमिति भाष्यकैयटमतम्। तदुभयसाधारणमुदाहरणमाह—ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते इति।"

अथवा अन्याश्चान्याश्च प्रादुर्भवन्ति ।"[1] इसका अर्थ है कि यह सूत्र भी अपादान संज्ञा करने के लिये अनावश्यक है। गोबर से बिच्छू पैदा होता है। गाय के बाल या भेड़ के बाल से दूब पैदा होती है। इत्यादि उदाहरणों में यह देखा जाता है कि जो चीज जिससे पैदा होती है वह उससे अलग हो जाती है। उसका अपनी 'प्रकृति' से अपाय हो जाता है। अपाय होने पर जो ध्रुव है, गोमय आदि, उसकी अपादान संज्ञा "ध्रुवमपाये०" इस पूर्वसूत्र से सिद्ध ही है। अतः यह सूत्र बनाना व्यर्थ है।

यदि यह कहा जाये कि अपने कारण से उत्पन्न होने वाली चीज हमेशा के लिये उससे अलग नहीं होती है। वह उसी कारण में फिर नजर आती है इसलिये अपाय न होने से इस सूत्र के बिना अपादान संज्ञा कैसे सिद्ध होगी तो इसका उत्तर है—'संततत्वात्' अर्थात् उत्पन्न होने वाली वस्तु के 'संतत' एवं 'अविच्छिन्न' होने के कारण वह अपने कारण से अलग होने पर भी अलग नजर नहीं आती। अतः कारण से कार्य में होता हुआ भी अपाय सूक्ष्म होने से अनुभवगम्य नहीं है। अथवा यूं समझा जा सकता है कि 'एक के बाद एक' इस प्रकार भिन्न कार्य, वस्तुएँ कारण से पृथक् होकर जन्म लेती हैं। इस प्रकार अपाय के सिद्ध हो जाने से गोमय-गोलोम-अविलोम आदि की अपादान संज्ञा पूर्वसूत्र से ही सिद्ध हो जायेगी तो यह सूत्र निरर्थक है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

इस सूत्र के प्रत्याख्यान में "अपक्रामन्ति तास्तेभ्यः" ऐसा कहते हुए भाष्यकार ने लोक प्रसिद्ध व्यवहार का आश्रयण किया है। लोक में ऐसा ही व्यवहार देखा जाता है कि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उससे पृथक् हो जाता है। उसी में नहीं रहता। उसका अपाय अपने कारण से होकर वह अलग दीखता है। किन्तु यहाँ दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्तों से भेद हो जाता है। वैशेषिक तथा न्यायदर्शन का सिद्धान्त है कि अवयव तथा अवयवी, गुण-गुणी, जाति-व्यक्ति एवं क्रिया-क्रियावान् इनका आपस में समवाय सम्बन्ध माना जाता है। समवाय सम्बन्ध का अर्थ है—अयुतसिद्ध सम्बन्ध। जो कभी पृथक् नहीं होता। दोनों में बराबर बना रहता है। कारण और कार्य का सम्बन्ध भी ऐसा ही अपृथक् सिद्ध है। न्याय के अनुसार कारण में पहले से अविद्यमान कार्य की उत्पत्ति होती है जिसे 'असत्कार्यवाद' कहा जाता है अर्थात् तन्तु आदि कारणों में पट आदि कार्य पहले से विद्यमान नहीं होता अपितु कारण से उत्पन्न होकर

---

१. महा० भा० १, सू० १.४.३, पृ० ३२९।

उसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है। न्याय की प्रक्रिया में कारण पहले और कार्य बाद में आता है। दोनों में भेद है। किन्तु सांख्य और वेदान्त के मतानुसार कार्य-कारण में अभेद होता है। कारण ही कार्य रूप में परिणत होता है। कारण में कार्य के पहले से ही विद्यमान होने के कारण वहाँ 'सत्कार्यवाद' चलता है 'सदेव कार्यं जायते नासत्। कथमसतः सज्जायेत' अर्थात् असद् वस्तु की सत्ता कैसी और सत् का अभाव कैसा। कारण में तिरोहित ही कार्य आविर्भूत होकर दृष्टिगोचर होता है। तन्तुओं में पट पहले से ही अनभिव्यक्त अवस्था में विद्यमान है। वही अभिव्यक्त होकर पट कहलाता है। गीता में भी 'सत्-कार्यवाद' को स्वीकार किया गया है।[१] यही परमार्थ दर्शन है जो कारण-कार्य में अभेद मानकर दोनों को अपृथक् स्वीकार करता है। न्याय दर्शन में 'असत्कार्यवाद', व्यावहारिक दर्शन है। उससे व्यवहार चलता है। तन्तुओं में कपड़ा पहले कहाँ है ? मिट्टी में घड़ा पहले कहाँ दीखता है। ये सब पट घटादि कार्य के बाद उत्पन्न होते हैं। इसलिये दोनों परस्पर भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। उक्त दोनों दर्शनों की प्रक्रिया में व्यवहार और परमार्थ का ही भेद है। कारण से कार्य पैदा होकर भी उसमें ही समवेत रहता है। उससे पृथक् नहीं होता।

इस प्रकार दोनों दर्शनों के मत से कारण से कार्य का अपक्रमण अथवा अपाय नहीं होता। दोनों में समवाय सम्बन्ध है अथवा अभेद है। अपाय न होने पर भी जो भाष्यकार ने अपाय कहा है उसमें उन्होंने युक्ति दी है—'सन्तत-त्वात्' अर्थात् कारण से कार्य की उत्पत्ति में जो अविच्छेद है, अव्यवधान है, लगातार उत्पन्न होने का सिलसिला है, उसमें होता हुआ भी अपाय प्रतीत नहीं होता। अपाय है अवश्य। "अन्याश्चान्याश्च" कह कर तो स्पष्ट ही एक के बाद एक की उत्पत्ति द्वारा अपाय सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार कारण-कार्य को चाहे अभिन्न माना जाये या भिन्न दोनों ही मतों में अपाय के हो जाने से गोमय आदि में पूर्वसूत्र से ही अपादान संज्ञा सिद्ध हो जायेगी तो यह सूत्र अनावश्यक है, यह बात भाष्यकार की युक्तिसंगत ही है। 'अङ्कुरो जायते' यह प्रयोग तो अङ्कुर को बुद्ध्युपारूढ करके उसकी अविद्यमानता में भी उपपन्न हो सकता है। क्योंकि बुद्धि में तो असत् वस्तु भी सत् बन जाती

---

१. द्र० गीता, २।१६।

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥"

है अथवा बना दी जाती है। इसलिये लोकव्यवहार तथा शास्त्रीय दर्शन दोनों में कहीं विरोध न होने से भाष्यकाररीत्या यह सूत्र भी अनावश्यक सिद्ध हो जाता है ॥

भुवः प्रभवः ॥ १.४.३१ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भी अपादान संज्ञा करता है। धातुओं के अनेकार्थक होने से[1] यहाँ 'भू' धातु का अर्थ प्रकाश या प्रकट होना है, उत्पत्ति अर्थ नहीं है। उत्पत्ति अर्थ मानने पर तो "जनिकर्तुः प्रकृतिः"[2] इस पूर्वसूत्र से अपादान संज्ञा हो जाती। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है कि प्रकट होने वाले का जो 'प्रभव' है; उद्भव स्थान है, जहाँ से वह प्रकट होता है, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है। जैसे—'हिमवतो गङ्गा प्रभवति'। (हिमालय से गङ्गा प्रकाशित या प्रकट होती है)। हिमालय गंगा का उद्भव, निकास या विकास का स्थान है। 'कश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति' (काश्मीर से जेहलम नदी प्रकट होती है, या निकलती है)। इन उदाहरणों में हिमालय और काश्मीर के क्रम से गङ्गा और जेहलम का उद्भव स्थान होने से अपादान संज्ञा होकर पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र पर भी सर्वथा मौन हैं। किन्तु भाष्यकार ने इस सूत्र का भी प्रत्याख्यान कर दिया है। वे लिखते हैं—"अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्—हिमवतो गङ्गा प्रभवति इति। अपक्रामन्ति तास्तस्मादापः। यद्यपक्रामन्ति किं नात्यन्तायापक्रामन्ति। संततत्वात् अथवा अन्याश् चान्याश्च प्रादुर्भवन्ति।"[3] भाव यह है कि 'हिमवतो गङ्गा प्रभवति' में अपादान संज्ञा करने के लिये इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि गङ्गा नदी का जल हिमालय से पृथक् होता है। हिमालय से उसका अपाय होने के कारण ध्रुव

---

१. द्र० महा०भा० २, सू० ४.२.४८ पृ० ४०८ "अनेकार्था हि धातवो भवन्ति"। तुलना करो, चान्द्रव्याकरण के धातुपाठ के अन्त में पठित।—
"क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोऽर्थो निदर्शितः।
प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः॥"

२. पा० १.४.३०।

३. महा० भा० १. सू० १.४.३१, पृ० ३३०।

हिमालय की अपादान संज्ञा "ध्रुवमपायेऽपादानम्"[1] इस पूर्वसूत्र से ही सिद्ध हो जायेगी तो यह सूत्र व्यर्थ है। यदि यह कहा जाये कि हिमालय से गङ्गा का अपाय सर्वथा तो नहीं होता। गङ्गा का जल वहाँ विद्यमान ही रहता है तो इसका उत्तर है—'संततत्वात्' अर्थात् अविच्छिन्न जलधारा सन्तान में होता हुआ भी अपाय प्रतीत नहीं होता। जल का अपाय होता अवश्य है। अथवा एक के बाद एक नई जलधारायें निकलती हैं। उनका अपाय तो प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार अपाय सिद्ध हो जाने पर पूर्वसूत्र से ही अपादान संज्ञा हो जायेगी तो यह सूत्र अनावश्यक है, ऐसा भाष्यकार का अभिप्राय है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

प्रत्यक्ष या परोक्ष अपाय को मानकर भाष्यकार ने यह सूत्र भी खण्डित कर दिया है। अपादान संज्ञा विधायक यह अन्तिम सूत्र है। "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस मुख्य अपादान संज्ञा विधायक सूत्र को छोड़कर शेष "भीत्रार्थानां भयहेतुः"[2] इत्यादि सात सूत्रों का प्रत्याख्यान भाष्यकार अपनी सुन्दर युक्तियों द्वारा कर चुके हैं। उनकी दृष्टि में कारकों में 'गौणमुख्यन्याय' की प्रवृत्ति न होने से मुख्य अपादान के साथ गौण अपादानों का भी ग्रहण हो जायेगा। इसलिये उनकी दृष्टि में इन सबका खण्डन न्यायसिद्ध होने के कारण युक्तिसंगत ही है।

शब्दकौस्तुभकार ने इस सूत्र की व्याख्या में पहले तो उक्त सातों सूत्रों के प्रत्याख्यान प्रकार का संक्षेप से निरूपण किया है[3] किन्तु बाद में वे स्वयं इन सातों सूत्रों का समर्थन करने के लिए कहते हैं—"वस्तुतस्तु निवृत्तिनिःसरणादि-धात्वन्तरार्थविशिष्टे स्वार्थे वृत्तिमाश्रित्य यथाकथंचित् उक्तप्रयोगाणां

---

१. पा० १.४.२४।
२. पा० १.४.२५।
३. श०कौ०सू० १.४.३१, पृ० १२०, "चौरेभ्यो बिभेति। भयात् निवर्तते इत्यर्थः। चौरेभ्यस्त्रायते रक्षणेन चौरेभ्यो निवर्तयति इत्यर्थः। पराजयते। अध्ययनात् ग्लान्या निवर्तते इत्यर्थः। यवेभ्यो गां वारयति। प्रवृत्ति प्रतिबध्नन् निवर्तयतीत्यर्थः। उपाध्यायादन्तर्धत्ते निलीयते वा। निलयनेन निवर्तते इत्यर्थः उपाध्यायादधीते उपाध्यायान्निःसरन्तं शब्दं गृह्णाति इत्यर्थः। ब्रह्मणः प्रपञ्चो जायते इत्यत्रापि ततोऽपक्रामन् निर्गच्छतीत्यर्थः। हिमवतो गङ्गा प्रभवति इत्यत्रापि भवनपूर्वकं निःसरणमर्थः, तथा च ध्रुवमपाये० इत्यनेनैवेष्टरूपसिद्धिः।"

समर्थनेऽपि मुख्यार्थपुरस्कारेण षष्ठीप्रयोगो दुर्वारः। नटस्य शृणोतीतिवत्। न ह्युपाध्यायनटयोः क्रियानुकूलव्यापारांशे विशेषो वक्तुं शक्यः। अनभिधान-माश्रित्य प्रत्याख्यानं तु नातीव मनोरमम्। एवं जुगुप्साविरामप्रमादार्थानाम् इत्यादि वार्तिकमप्यवश्यमारम्भणीयम्। तथा च सूत्रवार्तिकमतमेवेह प्रबलम्। तथा ध्रुवम्, भयहेतुः, असोढः इत्यादि संज्ञिनिर्देशोऽपि सार्थकः। परत्वात् तत्तत्संज्ञाप्राप्तावपि शेषत्वविवक्षायां न माषाणामश्नीयात् इत्यादाविव षष्ठ्या इष्टतया तत्रापादानसंज्ञाया वारणीयत्वात्।"[1]

दीक्षित जी का भाव यह है कि यद्यपि भाष्यकार पतंजलि ने अपने प्रबल युक्तिवाद से निवृत्ति निःसरणादि दूसरे धातुओं के अर्थ को मुख्य धात्वर्थ में समाविष्ट करके यथाकथंचित् उक्त सातों सूत्रों से सिद्ध होने वाले 'चौरेभ्यो विभेति' इत्यादि इष्ट रूपों की सिद्धि इन सूत्रों के बिना भी कर दी है तो भी 'चौरेभ्यो बिभेति' इत्यादि में 'भी' आदि धातुओं के मुख्य अर्थ को स्वीकार कर लेने पर इन सूत्रों के अभाव में प्राप्त षष्ठी को कौन रोकेगा? 'चौरेभ्यः' यहाँ 'चौर' शब्द से षष्ठी प्राप्त होती है। 'भयहेतुः' कहने से अपादान संज्ञा षष्ठी को बाध लेगी तो पञ्चमी सिद्ध हो जाती है। इसी तरह सबमें समझना चाहिये। इन सातों सूत्रों की सत्ता में ही षष्ठी की बाधा हो सकती है। अन्यथा नहीं। इसलिये इस विषय में भाष्यकार की अपेक्षा सूत्रकार तथा वार्तिककार का मत ही प्रबल है। वही मानने योग्य है। अन्यथा 'जुगुप्सा विराम०' इत्यादि वार्तिकों का निर्माण भी व्यर्थ हो जायेगा। सातों सूत्रों में जो 'भयहेतुः' 'असोढः', 'ईप्सितः', 'येनादर्शनमिच्छति', 'आख्याता', 'प्रकृतिः', 'प्रभवः' ये संज्ञिनिर्देश हैं वे तभी चरितार्थ हो सकते हैं, जब षष्ठी की बाधा हो। 'न माषाणामश्नीयात्' (माषों कोन खाये) यहाँ 'माषाणाम्' की तरह शेषत्वविवक्षा में प्राप्त षष्ठी को उक्त संज्ञिनिर्देश ही रोक सकते हैं। 'उपाध्यायादधीते' (उपाध्याय से पढ़ता है) और 'नटस्य शृणोति' (नट की गाथा सुनता है) यहाँ एक जगह पञ्चमी और दूसरी जगह षष्ठी होने में क्या विनिगमना है जबकि क्रियानुकूलव्यापारांश में उपाध्याय और नट दोनों समान हैं। दोनों के विभक्तिभेद का कारण केवल 'उपयोग' है। 'उपयोग' अर्थात् नियमपूर्वक विद्या पढ़ाने वाले उपाध्याय से पञ्चमी इष्ट है और जो नियमपूर्वक प्रवचन नहीं करता उस नट में षष्ठी इष्ट है। 'उपयोग' ग्रहण तभी सफल हो सकता है जब

---

१. श०कौ०सू० १४.३१, पृ० १२०।

"आख्यातोपयोगे"[१] यह सूत्र रहे। यद्यपि वैसे अपाय दोनों प्रकार का होता है—शारीरिक तथा बौद्धिक। तथापि सूत्ररचना करते समय पाणिनि की दृष्टि में अपाय का तात्पर्य सम्भवतः शारीरिक पार्थक्य ही रहा होगा। इसीलिये 'चौरेभ्यस्त्रायते' इत्यादि में पञ्चमी सिद्ध करने के लिये अर्थात् बौद्धिक अपाय में भी पञ्चमी करने के लिये आचार्य ने "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यादि शेष सूत्रों की रचना की प्रतीति होती है। इस दृष्टि से भी सूत्रों का प्रत्याख्यान समुचित नहीं प्रतीत होता। अपाय की इसी सूक्ष्मता को दृष्टिगत रखते हुए ही अर्थात् पाणिनि प्रयुक्त अपाय शब्द को केवल शारीरिक अपाय तक ही सीमित मानते हुए और इस प्रकार बौद्धिक अपाय का भी ग्रहण करने के लिये सम्भवतः पूज्यपाद देवनन्दी ने "ध्यपाये ध्रुवमपादानम्"[२] इस अपने सूत्र में 'धी' अर्थात् बुद्धि ग्रहण द्वारा बौद्धिक अपाय का भी साथ ही निर्देश किया है। इसी बात को जैनेन्द्र महावृत्ति में और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'धी' ग्रहण के बिना अपाय शब्द से केवल शारीरिक अपाय ही गृहीत होगा। 'धी' ग्रहण करने से दोनों अपाय गृहीत हो जाते हैं।[३] भाव यह है कि आचार्य पाणिनि ने अपाय का अर्थ केवल शारीरिक अपाय मानकर ही सूत्रों की रचना की है। वैसा मानने पर फिर बौद्धिक अपाय में भी पञ्चमी सिद्ध करने के लिये शेष सूत्र आवश्यक होने से प्रत्याख्येय नहीं है।[४]

---

१. पा० १.४.२६।

२. जै०सू० १.२.११०।

३. जैनेन्द्र महावृत्ति, १.२.११० "धीग्रहणे ह्यसति कायप्राप्तिपूर्वक एवापायः प्रतीयेत, धीग्रहणेन सर्वःप्रतीयते"। यद्यपि सूत्र के प्रकृत न्यास से उक्त अर्थ पूरी तरह से घटित नहीं होता, उसके लिये एक और अपाय शब्द का ग्रहण आवश्यक है, तथापि अर्थ अभीष्ट होने से ग्राह्य ही होना चाहिये।

४. भाष्य (जोशी) कारकाह्निक, सू० १.४.२५. पृ० ७४, "By taking the term अपाय in P. 1.4.25 to mean physical as well as mental separation, Patanjali is able to do away with the rules 1.4.25-31. However, according to Panini, these special rules are required. Obviously, because p 1.4.24 cannot cover the examples 'वृकेभ्यो बिभेति', 'चौरेभ्यस्त्रायते' etc. That is to say, Panini must have taken the term 'अपाय in the sense of physical separation only".

अत: निष्कर्षरूप में यह कहा जा सकता है कि बौद्धिक अपाय को मानकर इन सूत्रों के अन्यथासिद्ध किये जा सकने पर भी पाणिनि-व्याकरण की प्रक्रिया को देखते हुए इन सूत्रों की आवश्यकता प्रतीत होती है। क्योंकि इनके अभाव में "षष्ठी शेषे" इस सूत्र द्वारा इन सूत्रों के उदाहरणों में षष्ठी की प्राप्ति होने लगेगी। अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी भाष्यकार का अत्यधिक अनुकरण करते हुए अपादान प्रकरण के सभी सूत्रों को "ध्रुवमपाये०" सूत्र में ही अन्तर्भुक्त समझ लिया और इसीलिये उन्होंने केवल उक्त सूत्र ही बनाया।[1] लेकिन स्पष्ट प्रतिपत्ति की दृष्टि से यह खण्डन समुचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि बौद्धिक अपाय में कल्पना शक्ति का गौरव स्पष्ट ही है। इसलिये "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस सूत्र के समान ये सभी सातों सूत्र रखने ही चाहियें। इनका प्रत्याख्यान करना युक्त नहीं है। संभवत: यही कारण है कि भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में इन सब उक्त सूत्रों को ज्यों का त्यों पढ़ा है। अन्यों की तरह उन्हें हटाया नहीं है। उक्त सूत्रों की प्रातिस्विक समीक्षा में लेखक के द्वारा किया गया प्रत्याख्यान का समर्थन भी भाष्यकार की दृष्टि से ही प्रेरित समझना चाहिये, वस्तुत: नहीं।

अधिरीश्वरे ॥ १.४.९७ ॥

सूत्र का अभिप्राय

यह सूत्र 'अधि' शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा करता है। 'ईश्वर' स्वामी को कहते हैं और वह 'स्व' की अपेक्षा रखता है। क्योंकि 'स्व' के बिना स्वामी कैसा लोक में स्वस्वामिभाव सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है। सूत्र में 'ईश्वर' शब्द भावप्रधान है। अत: 'ईश्वर' का अर्थ यहाँ 'ऐश्वर्य' है। 'ईश्वर' और 'ऐश्वर्य' अर्थात् स्वस्वमिभावसम्बन्ध के कहने में 'अधि' शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है, यह सूत्र का अर्थ पर्यवसित होता है। जैसे 'अधि ब्रह्मदत्ते पंचाला:'। 'अधि पंचालेषु ब्रह्मदत्त:' यहाँ ब्रह्मदत्त पंचालदेश का स्वामी है और पंचालदेश उसका स्व है। इन दोनों के सम्बन्ध में 'अधि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो गई तो "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया"[2] से प्राप्त द्वितीया को बाधकर "यस्मादधिकं

---

१. (क) चा०सू० २.१.८१ 'अवधे: पञ्चमी'।
   (ख) जै०सू० १.२.११० 'ध्यपाये ध्रुवमपादानम्'।
   (ग) शा०सू० १.३.१५६ 'अपायेऽवधौ'।
   (घ) है०सू० २.२.२९ 'अपायेऽवधिरपादानम्।'

२. पा० २.३.८।

यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी"[१] इस सूत्र से, जिसको स्वामी कहना है या जिसका स्वामी कहना है, इन दोनों अर्थों में क्रम से ब्रह्मदत्त और पंचाल में सप्तमी विभक्ति हो जाती है। ब्रह्मदत्त को पंचाल का स्वामी कहना है। क्योंकि वह उनका स्वामी है ही। इसलिये स्व और स्वामी दोनों में पर्याय से सप्तमी होती है। "यस्य चेश्वरवचनम्०" के दोनों अर्थ है—'जिसको ईश्वर कहना है वह स्वामी है और जिसका ईश्वर कहना है वह स्व है।' पंचाल का 'ईश्वर' कहना है इसलिये पंचाल, जो 'स्व' है, उसमें सप्तमी हो गई। ब्रह्मदत्त को 'ईश्वर' कहना है इसलिये ब्रह्मदत्त में भी सप्तमी हो गई। 'स्व' और 'स्वामी' दोनों में एक साथ तो सप्तमी नहीं हो सकती। क्योंकि किसी एक में हुई सप्तमी से ही दूसरे के सम्बन्ध का अभिधान हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ उदाहरण सहित स्थिर हो जाता है।

विवक्षा के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यकार ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में "अयं योगः शक्योऽवक्तुम्" ऐसा कह कर इस सूत्र का प्रत्याख्यान नहीं किया है, तो भी भाष्य के गम्भीर पर्यालोचन से यह बात प्रतीत हो जाती है कि भाष्यकार की दृष्टि में न केवल यही सूत्र अपितु इससे आगे "यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी"[२] यह सूत्र भी प्रत्याख्येय है। उन्होंने 'स्व' और 'स्वामी' दोनों को एक दूसरे का अधिकरण मानकर "सप्तम्यधिकरणे च"[३] इस सूत्र से ही पर्यायशः अधिकरण सप्तमी स्वीकार की है। उससे ये दोनों ही सूत्र अन्यथासिद्ध हो जाते हैं। ब्रह्मदत्त स्वामी में सप्तमी सिद्ध करने के लिये वे "यस्मादधिकम्०" सूत्र के भाष्य में "यस्य चेश्वरवचनमितिकर्तृनिर्देशश्चेदन्तरेण वचनं सिद्धम्"[४] इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"अधि ब्रह्मदत्ते पंचालाः। आधृतास्ते तस्मिन् भवन्ति। सत्यमेवमेतत्। नित्यं परिग्रहीतव्यं परिग्रहीत्रधीनं भवति।"[५] इसका भाव यह है कि 'अधि ब्रह्मदत्ते पंचालाः' यहां ब्रह्मदत्त 'स्वामी' में "यस्य चेश्वरवचनम्०" इस सूत्र के बिना भी अधिकरणसप्तमी सिद्ध हो जायेगी। क्योंकि पंचालदेश ब्रह्मदत्त में आधृत, अधिष्ठित है। ब्रह्मदत्त उनका 'स्वामी'

---

१. पा० २.३.९।

२. पा० २.३.९।

३. पा० २.३.३६।

४. महा०भा० १, सू० २.३.९ पर वार्तिक, पृ० ४४७।

५. वही।

है, अधिकरण है, आश्रय है। इसी प्रकार पंचाल 'स्व' में सप्तमी सिद्ध करने के लिये वे उसी सूत्र के भाष्य में "स्ववचनात्तु सिद्धम्"[1] इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"यस्य स्वस्येश्वरः तत्राप्यन्तरेण वचनं सिद्धम्। अधि पंचालेषु ब्रह्मदत्तः। आधृतः स तेषु भवति। सत्यमेवमेतत्। नित्यं परिग्रहीता परिग्रहीत-व्याधीनो भवति।"[2] इसका भाव है कि 'अधि पंचालेषु ब्रह्मदत्तः' यहां पंचाल 'स्व' में "यस्य चेश्वर वचनम्०" इस सूत्र के बिना भी अधिकरण सप्तमी सिद्ध हो जायेगी। क्योंकि ब्रह्मदत्त पंचाल देश में आधृत है, आश्रित है, अधिष्ठित है। वह पंचाल देश में ही रहता है। यह सत्य है कि जिस प्रकार 'स्व' 'स्वामी' के अधिष्ठित या आश्रित एवं अधीन रहता है वैसे ही 'स्वामी' भी 'स्व' के अधीन, आश्रित या अधिष्ठित रहता है। इस प्रकार दोनों के एक दूसरे के अधीन होने से पर्यायशः दोनों में ही अधिकरण सप्तमी हो जायेगी तो यह सूत्र जो 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा करता है और इससे सम्बद्ध "यस्य चेश्वरवचनम्०" यह सूत्र, दोनों ही व्यर्थ हो जाते हैं। यदि यह कहा जाय कि "अधिरीश्वरे" इस सूत्रन्यास में 'अधि' शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा का सम्बन्ध स्व और स्वामी दोनों के साथ है तो जब 'स्वामी' ब्रह्मदत्त में सप्तमी होगी तब स्व पंचाल में "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया"[3] से द्वितीया प्राप्त होती है। 'अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालान्' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। इसी प्रकार जब स्व पंचाल में सप्तमी होगी तब स्वामी ब्रह्मदत्त के कर्मप्रवचनीय से युक्त होने पर उससे द्वितीया प्राप्त होती है। 'अधि पंचालेषु ब्रह्मदत्तम्' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा तो इसका समाधान करने के लिये भाष्यवार्तिककार "अधिरीश्वरे" की जगह "अधिः स्वे" ऐसा सूत्र पढ़ते हैं।[4] "अधिः स्वे" सूत्र होने पर केवल 'स्व' पंचाल के साथ ही 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होगी, 'स्वामी' ब्रह्मदत्त के साथ नहीं। "स्वामी' चेश्वरवचनम्०" यह सप्तमी भी कर्मप्रवचनीययुक्त 'स्व' पंचाल के साथ ही होगी। 'स्वामी ब्रह्मदत्त के कर्मप्रवचनीय न होने से वहाँ सप्तमी भी न होगी। वहाँ अधिकरण सप्तमी हो जायेगी। इस प्रकार 'अधि पंचालेषु ब्रह्मदत्तः' यह इष्ट रूप बन जायेगा। ब्रह्मदत्त में द्वितीया का प्रसङ्ग ही न रहेगा।

---

१. महा० भा० १, सू० २.३.९, पृ० ४४७।

२. वही।

३. पा० २.३.८।

४. द्र० महा०भा० १, सू० १.४.९७, पृ० ३४९, "स्ववचनात्तु सिद्धम् अधिः स्वं प्रति कर्मप्रवचनीयो भवतीति।"

शेष रहे 'अधि ब्रह्मदत्ते पंचालाः' में पंचाल के कर्मप्रवचनीय होने से प्राप्त द्वितीया को "उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी"[1] इस परिभाषा के बल से कारक विभक्ति प्रथमा बाध लेगी तो इष्ट रूप बन जायेगा। 'अधि ब्रह्मदत्ते पंचालान्' ऐसा अनिष्ट रूप न होगा। तात्पर्य यह है कि 'स्व' पंचाल के प्रति ही 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होगी और उसी में सप्तमी विभक्ति होगी। 'अधि पंचालेषु ब्रह्मदत्तः' यहाँ ब्रह्मदत्त के प्रति न कर्मप्रवचनीय संज्ञा और न सप्तमी विभक्ति होती है। 'अधि ब्रह्मदत्ते पंचालाः' में ब्रह्मदत्त में अधिकरण सप्तमी और पंचाल में कारकविभक्ति प्रथमा निश्चित हो जाती है। वास्तव में न "अधिरीश्वरे" चाहिये और न 'अधिः स्वे"। अधिकरण विवक्षा में स्व और स्वामी दोनों में क्रमशः सप्तमी सिद्ध है।[2] जब 'स्व' में सप्तमी होगी तब 'स्वामी' में कारक विभक्ति प्रथमा हो जायेगी और जब 'स्वामी' में सप्तमी होगी तब 'स्व' में कारक विभक्ति प्रथमा हो जायेगी।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहाँ पर भाष्यकार ने इस सूत्र के प्रत्याख्यान की दिशा दिखा दी है। वे यह नहीं चाहते कि 'स्वामी' में तो अधिकरण सप्तमी हो और 'स्व' में कर्म प्रवचनीय सप्तमी। उनके लिये 'स्व' और 'स्वामी' दोनों समानयोगक्षेम हैं। चाहे "अधिरीश्वरे" सूत्र बनाया जाये या "अधिः स्वे" दोनों ही अप्रयोजक हैं। जब 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा ही न होगी तब "यस्य चेश्वरवचनम्०" सूत्र द्वारा सप्तमीविधान भी व्यर्थ ही है। गति और उपसर्गसंज्ञा के बाधनार्थ कर्म-प्रवचनीय संज्ञा की जाती है। स्वस्वामिभावसम्बन्ध में 'अधि' का क्रिया से योग ही नहीं तो गति-उपसर्गसंज्ञाओं की प्राप्ति न होने से तद्बाधनार्थ यह सूत्र व्यर्थ ही है।

उद्द्योतकार नागेश तो भाष्यकार का तात्पर्य इस सूत्र के रखने में ही मानते हैं। "केचित्तु"......इत्यादि कहकर वे यह सिद्ध करते हैं कि यदि भाष्यकार का तात्पर्य इस सूत्र के प्रत्याख्यान में होता तो वे "अधिः स्वे" इस नये सूत्रन्यास के द्वारा 'स्व' के प्रति कर्मप्रवचनीय होने का विधान नहीं करते। इसलिये जब स्वस्वामिभाव की विवक्षा होगी और अधिकरण की अविवक्षा होगी वहाँ सप्तमी विधान के लिये 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा विधायक यह सूत्र और सप्तमी

१. परि० सं० १०३।

२. तुलना करो—"विवक्षातः कारकाणि भवन्ति।'

विधायक "यस्य चेश्वरवचनम्०" यह सूत्र दोनों ही आवश्यक हैं।[1] नागेशसम्मत भाष्यकार के इस तात्पर्य के अनुसार ही सम्भवत: अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी प्रकृत सूत्र को अपने अपने तन्त्रों में रखा है।[2] उनकी दृष्टि में भी सूत्र स्थापनीय ही है। कैयट तो सूत्रों के प्रत्याख्यान पक्ष में ही हैं।[3] शब्दकौस्तुभकार भी इसका भाष्यकारोक्त प्रत्याख्यान ही उचित मानते हैं। उनका कथन है कि यदि इसे 'विभाषा कृञि'[4] इस उत्तरसूत्रार्थ रखना है तो भी योग विभाग नहीं करना चाहिये।[5] इस प्रकार समन्तात् समीक्षा करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि कहीं पर भी कोई अनिष्टापत्ति न होने से प्रकृत सूत्र का खण्डन ही न्याय्य है॥

पर: सन्निकर्ष: संहिता ॥ १.४.१०९ ॥

---

१. द्र० महा०प्र०उ०सू० २.३.९, भा० २, पृ० ७८२ "केचित्तु अधिकरणसप्तम्यां संज्ञासूत्राभावेन द्वितीयाया: प्राप्त्यभावेन सूत्रप्रत्याख्याने तात्पर्ये सति स्वं प्रति कर्मप्रवचनीयत्वं नोपन्यस्येत्। तस्मात् स्वस्वामिभावविवक्षायामाधारविवक्षायां सप्तम्यर्थं 'यस्य चेश्वरवचनमधिरीश्वर' इति च सूत्रद्वयं कार्यम्। विनिगमनाविरहेण च सूत्रद्वयस्योभयत्रार्थे तात्पर्यमित्येव भाष्यतात्पर्यं लभ्यते न तु प्रत्याख्याने।"

२. (क) चा०सू० २.१.६१ 'स्वाम्येऽधिना'।
(ख) जै०सू० १.४.१८ 'ईश्वरेऽधिना'।
(ग) शा०सू० १.३.१७४ 'स्वेशेऽधिना'।
(घ) स०सू० १.१.१७ 'अधिरीश्वरे'।
(ङ) है०सू० २.२.१७४ 'स्वेशेऽधिना'।

३. द्र०महा०प्र०भा० २, सू० २.३.९, पृ० ७८२ "यथाधिकरणत्वं द्वयोरपि स्वस्वामिनोर्दर्शितं तथाधिरीश्वरे इति यस्य चेश्वरवचनमिति च न कर्तव्यम्। ऐश्वर्यविषयस्य चाधे: क्रियायोगाभावाद् गत्युपसर्गसंज्ञाबाधनार्थोऽपि संज्ञाविधिर्नोपयुज्यते।"

४. पा० १.४.९८।

५. द्र०श०कौ०सू० २.३.९, पृ० २२६ "इह सूत्रे यस्य चेश्वरवचनमित्यंश: प्रत्याख्यायते भाष्ये। एवं च अधिरीश्वरे इति संज्ञासूत्रमपि न कर्तव्यम्। न च गत्युपसर्गत्वबाधार्थं तत्। ऐश्वर्यविषयस्य अधे: क्रियायोगाभावेनैव तदप्राप्ते:। उत्तरार्थमिति चेत् तर्हि योगविभागो न कार्य:।"

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'संहिता' संज्ञा करता है। इसका अर्थ यह है कि वर्णों के अत्यन्त निकट मेल की 'संहिता' संज्ञा होती है। जब वर्ण बहुत ही निकटता से मिला दिये जाते हैं, तब 'संहिता' होती है। 'संहिता' को ही 'सन्धि' कहते हैं। 'सन्धि' शब्द पुंलिङ्ग शब्द है और संहिता स्त्रीलिङ्ग है। इसी का समानार्थक नपुंसकलिङ्ग 'संहित' शब्द भी भाष्यवार्तिक में प्रयुक्त हुआ है। जैसे—"परः सन्निकर्षः संहिता चेदद्रुतायामसंहितम्"[1] यहाँ 'न संहितम् असंहितम्' इस प्रकार 'संहित' शब्द में 'नञ्' समास है, ऐसा नागेश का मत है। कैयट तो 'संहितायाः अभावः असंहितम्' इस प्रकार अर्थाभाव में अव्ययीभाव मानकर 'संहिता' शब्द ही स्वीकार करते हैं।[2] सम्भवतः आचार्य पाणिनि ने 'संहिता' यह स्त्रीलिङ्ग शब्द चारों वेद संहिताओं के नामसादृश्य को लेकर रखा है। क्योंकि ऋग्वेद आदि के मन्त्र संहितापाठ में ही पठित हैं। पीछे से शाकल्य आदि ऋषियों ने संहिता-पाठ को पदपाठ में बदल दिया है। पदपाठ में होने से 'संहिता' के मन्त्रों का अर्थ समझने में बहुत सुगमता हो जाती है। ऋग्वेदादि की 'संहिताओं' में पदों के अव्यवहित सन्निकर्ष की प्रधानता है।

यह सूत्र पदस्थ वर्णों के भी अव्यवहित सन्निकर्ष की 'संहिता' संज्ञा करने के लिये बनाया गया है। जैसे—'कुमार्यौ', 'कुमार्यः' यहाँ संहिता में 'यण्' हो गया। शास्त्र में इस संज्ञा से काफी काम लिया गया है। अष्टाध्यायी सूत्रपाठ में तीन 'संहिताधिकार' हैं। एक—'संहितायाम्'[3] सूत्र है जिसका अधिकार "छे च"[4] सूत्र से लेकर "पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्"[5] सूत्र तक जाता है। उसमें अच्सन्धि का विधान है। 'दधि+अत्र=दध्यत्र' यहाँ संहिताधिकारस्थ "इको यणचि"[6] सूत्र से इकार अकार के परस्पर अत्यन्त सन्निकर्षरूप 'संहिता'

१. महा० भा० १, सू० १.४.१०९, पृ० ३५४।
२. (क) द्र० महा० प्र० भा० २, पृ० ४७९ प्रकृतसूत्र "असंहितमिति—संहितासंज्ञाया अभावः इत्यर्थाभावेऽव्ययीभावः। अविद्यमाना वा संहितास्मिन् इति बहुव्रीहिः।"
(ख) महा० प्र० उ० प्रकृत सूत्र वही पृष्ठ "वस्तुतः संहितशब्दोऽपि परसन्निकर्षवाची क्लीवः। तेनायं तत्पुरुष एव।"
३. पा० ६.१.७२।
४. पा० ६.१.७३।
५. पा० ६.१.१५७।
६. पा० ६.१.७७।

होने से यणादेश हो जाता है। "आद् गुणः"[१], "वृद्धिरेचि"[२] इत्यादि सभी अच्सन्धि सम्बन्धी सूत्र इस 'संहिताधिकार' में आते हैं। दूसरा "संहितायाम्"[३] सूत्र है जिसका अधिकार "कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्ट······"[४] सूत्र से लेकर "सम्प्रसारणस्य"[५] सूत्र तक जाता है। जिसमें "द्व्यचोऽतस्तिङः"[६]-"निपातस्य च"[७] इत्यादि सूत्र आते हैं जिनका कार्य 'संहिता' में ही होता है। जैसे—'विद्मा हि त्वा सत्पतिम्'[८] यहाँ 'संहिता' में 'विद्मा' इस क्रिया को "द्व्यचो-ऽतस्-तिङः" से दीर्घ होता है। 'संहिता' से अन्यत्र पदपाठ में 'विद्म' ही रहेगा। वहाँ दीर्घ नहीं होता। इसी प्रकार 'एव', 'अत्र', इत्यादि निपातों को 'एवा'[९], 'अत्रा'[१०] यह दीर्घ 'संहिता' में ही होता है। तीसरा "संहितायाम्"—यह "तयोय्ववचि संहितायाम्"[११] का एकदेश 'संहिता' का अधिकार है जो "मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि"[१२] से लेकर अष्टाध्यायी के अन्तिम सूत्र "अ अ"[१३] तक जाता है। इस 'संहिताधिकार' में हल्सन्धि, विसर्गसन्धि तथा स्वादिसन्धि सभी संगृहीत हो जाती हैं। जैसे—'हरिं वन्दे'। यहाँ हल्सन्धि में 'हरिम्' के मकार को "मोऽनुस्वारः"[१४] से अनुस्वार हो जाता है। 'संहिता' से अन्यत्र नहीं होता—'वन्दे हरिम्' इत्यादि। 'संहिताधिकार', के अनेक प्रयोजन हैं जिनके लिये यह 'संहिता' संज्ञा सूत्र बनाया है।

---

१. पा० ७.१.८७।
२. पा० ६.१.८८।
३. पा० ६.३.११४।
४. पा० ६.३.११५।
५. पा० ६.३.१३९।
६. पा० ६.३.१३५।
७. पा० ६.३.१३६।
८. ऋक्० १०. ७.१।
९. द्र० ऋक्० १.११३.१। 'एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्'
१०. द्र० वही, १.१६३.५। 'अत्रा ते भद्रा रशना अपश्यम्।'
११. पा० ८.२.१०८।
१२. पा० ८.३.१।
१३. पा० ८.४.६८।
१४. पा० ८.३.२३।

लोकविदित होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

'संहिता' संज्ञा के इतना उपयोगी होने पर भी भाष्यवार्तिककार इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"संहितावसानयोर्लोकविदितत्वात् सिद्धम्। संहिता अवसानम् इति लोकविदितावेतौ अर्थौ। एवं हि कश्चित् कंचिदधीयान-माहशन्नो देवीयं संहितयाधीष्व इति। स तत्र परमसन्निकर्षमधीते। अपर आह—केनावस्यसीति। स आह—अकारेण इकारेण उकारेण इति। एवमेतौ लोकविदि-तावर्थौ। तयोर्लोकविदितत्वात् सिद्धम्[1] इति"। इसका अर्थ है कि 'संहिता' और 'अवसान' ये दोनों संज्ञायें लोकप्रसिद्ध हैं। कोई किसी वेदपाठी को कहता है कि तुम 'शन्नो देवीरभिष्टये'[2] इत्यादि मन्त्र वाले सूक्त को 'संहिता' से पढ़ो तो वह अत्यन्त सन्निकर्ष से मन्त्रोच्चारण करता है। वह मन्त्रस्थ पदों को व्यवधानरहित नैरन्तर्य से पाठ करता है। वह समझता है कि पदों का अत्यन्त निकटता से उच्चारण करना ही 'संहिता' है। इसी प्रकार कोई किसी से पूछता है यहाँ किस अक्षर से 'अवसान' करते हो। अथवा किस अक्षर पर ठहरते या विराम करते हो तो वह उत्तर देता है कि अकार इकार या उकार पर 'अवसान' करता हूँ। अकारादि पर विराम करता हूँ। उत्तर देने वाला समझता है कि 'अवसान' का अर्थ विराम है, वर्ण की समाप्ति है। इस प्रकार 'संहिता' और 'अवसान' शब्दों का अर्थ लोक प्रसिद्ध होने से ये दोनों ही संज्ञायें व्यर्थ हैं। जो वस्तु लोक से सिद्ध है उसके लिये शास्त्र द्वारा विधान करना अनावश्यक है।[3] लोक न्याय से सिद्ध होने पर यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार 'विरामोऽवसानम्'[4] यह 'अवसानसंज्ञा' विधायक अगला सूत्र भी व्यर्थ ही जाता है। सम्भवतः इसीलिये अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी उक्त दोनों सूत्रों को अपने व्याकरण में स्थान नहीं दिया। इनका आधार भी "संहितावसानयोर्लोकविदि-तत्वात् सिद्धम्" यह भाष्यवार्तिककार का वचन ही है। इनके स्थान पर यहाँ सन्धि तथा विराम शब्दों का प्रयोग मिलता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

लोक प्रसिद्ध होने के कारण भाष्यवार्तिककार ने इस सूत्र का खण्डन करके भी 'संहिता' या 'सन्धि' की आवश्यकता को तो अनुभव किया ही है। उन्होंने

---

१. महा०भा० १, सू० १.४.११०, पृ० ३५८।

२. अथर्व० १.६.१।

३. द्र०का०भा० १, सू० १.२.५६,५७, पृ० २६३, ३६४ "यश्चार्थो लोकतः सिद्धः किं तत्र यत्नेन"।

४. पा० १.४.११०।

अपने भाष्य में 'संहिता' के कई लक्षण किये हैं। जैसे—"ह्लादाविरामः संहिता"। "पौर्वापर्यमकालव्यवेतं संहिता"[1]। पाणिनि का तो "परः सन्निकर्षः संहिता" यह सूत्र ही है। यास्कीय निरुक्त में भी इसी प्रकार का वचन है—"परः सन्निकर्षः संहिता। पदप्रकृतिः संहिता।"[2] काव्यशास्त्र में 'विसन्धि' नामक दोष भी इस बात को सूचित करता है कि सर्वथा आवश्यक 'सन्धि' का न होना अथवा प्रगृह्यसंज्ञा आदि के कारण बहुत अधिक सन्ध्यभाव करना दोष[3] है। जैसे पदनैरन्तर्य आवश्यक है वैसे वर्णनैरन्तर्य भी आवश्यक होना चाहिये। इसलिये उच्चारण की जगह उद्चारण का प्रयोग अशुद्ध है। क्योंकि वहां दकार चकार वर्णों के नैरन्तर्य में 'सन्धि' का होना अत्यन्त आवश्यक है। 'सन्धि' की नित्यानित्यता के विषय में निम्न श्लोक प्रसिद्ध भी है—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥[4]

अर्थात् 'पुरुष' इत्यादि एकपद में 'सन्धि' नित्य होती है। 'प्राभवत्', 'अन्वभूत्' इत्यादि धातु और उपसर्ग के सम्बन्ध में भी 'सन्धि' नित्य होती है। अपनी इच्छा से 'प्र अभवत्', 'अनु अभूत्' ऐसा सन्धिरहित प्रयोग नहीं किया जा सकता। 'राजपुरुष' इत्यादि समास में भी 'सन्धि' नित्य होती है। केवल 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति', 'त्वं किं पश्यति' इत्यादि वाक्यों में वक्ता की इच्छा है। यदि वह 'सन्धि' न करना चाहे तो न भी करे। इसलिये वाक्य में 'सन्धि' के विवक्षाधीन होने से 'देवदत्तः ग्रामम् गच्छति', 'त्वम् किम् पश्यसि' इस प्रकार सन्धिरहित प्रयोग भी हो सकता है।

इस सूत्र में 'पर' ग्रहण का प्रयोजन बताते हुए बृहच्छब्देन्दुशेखरकार कहते हैं कि 'परः' अर्थात् आधी मात्रा काल से अतिरिक्त काल के व्यवधान से रहित जो वर्णों का सन्निकर्ष है, उसकी 'संहितासंज्ञा' होती है।[5] अवग्रह में आधी

---

१. महा०भा०, प्रकृत सूत्र, पृ० ३५५-५६। तुलना करो—ऋक्०प्रा० २.१ 'संहिता पदप्रकृतिः'। वाजसनेयि प्रा० १.१५० 'वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता'।

२. निरुक्त, १.६।

३. द्र० काव्यप्रकाश, ७.५३ "प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धिहतवृत्तम्।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरुक्तम्"॥

४. वै०सि०कौ०भा० ३, सू० ८.४.१८, पृ० ५३।

५. द्र०बृ०श०शे०भा० १, सू० १.४.११०, पृ० ९३ "अतिशयित इति—अर्धमात्रातिरिक्तकालव्यवायेन रहितः। परः किम् अवग्रहे मा भूत्। मात्राकालो ह्यवग्रहः......परग्रहणे तु तत्सामर्थ्यात् अर्धमात्राकालातिरिक्तकालव्यवायाभावरूपसन्निकर्षस्य ग्रहणान् न दोषः।"

मात्रा काल से अतिरिक्त काल लगता है[१] अतः वहाँ 'संहितासंज्ञा' नहीं होगी। वर्णों का सन्निकर्ष भी प्रायः परले वर्ण का अधिक मिलता है। कहीं-कहीं पूर्व वर्ण का सन्निकर्ष भी देखा जाता है। जैसे—'सवायँ[२]', 'दधिँ', 'मधुँ' यहाँ 'अवसान' में "अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः"[३] से अनुनासिक विधान में 'अ', 'इ', 'उ' इन पूर्व वर्णों का सन्निकर्ष है। इनके साथ किसी परले वर्ण का सन्निकर्ष नहीं है। आगे नागेश भट्ट स्वयं ही लिखते हैं कि कुछ लोग सूत्र में 'पर' ग्रहण को व्यर्थ मानते हैं। क्योंकि पुरुष भेद से वर्णों का सन्निकर्ष अव्यवस्थित है। कोई वर्णों को कम मिलाकर बोलता है, कोई बहुत। ऐसी अवस्था में "सन्निकर्षः संहिता" इतना सूत्र होने पर सूत्रारम्भसामर्थ्य से सन्निकर्ष में प्रकर्षगति जानी जायेगी।[४] वर्णों का कैसा सन्निकर्ष जो कि आधी मात्रा काल से अतिरिक्त काल के व्यवधान से रहित हो। इस प्रकार सूत्र की आवश्यकता होने के कारण इसका प्रत्याख्यान समुचित नहीं कहा जा सकता। अतः सूत्र स्थापनीय है॥

विरामोऽवसानम्॥ १.४.११०॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'अवसान संज्ञा' करता है। सूत्र में 'विराम' शब्द के भावसाधन तथा करणसाधन होने के कारण दो प्रकार के अर्थ हो जाते हैं। भावसाधन पक्ष में 'विराम' का ग्रर्थ रुकना है अर्थात् बोलते-बोलते वर्ण के उच्चारण का अभाव। उस पक्ष में सूत्र का अर्थ होगा—'वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा होती है।' जब उच्चारण करते-करते वर्ण का अभाव हो जाये तब उस अभाव का नाम 'अवसान' है। करणसाधन पक्ष में 'विराम' शब्द का अर्थ जिससे विराम होता है, वह वर्ण होगा। जिस वर्ण के उच्चारण के बाद दूसरा वर्ण उच्चरित नहीं होता अर्थात् जो अन्तिम वर्ण है, उसकी 'अवसान संज्ञा' होती

---

१. महा०प्र०सू० १.१.७ तथा महा०प्र०उ०भा० १, पृ० १८३—कैयट तो अवग्रह में आधी मात्रा काल मानते हैं। उनका कहना है "अर्धमात्राकालोऽवग्रह इष्यते।" किन्तु नागेश "मात्राकालोऽवग्रहः" ऐसा मानते हैं।

२. द्र०ऋक्० १.११३.१। "यथा प्रसूता सवितुः सवायँ।"

३. पा० ८.४.५७।

४. द्र०बृ०श०शे०भा० १, सू० १.४.११०, पृ० ९३। "केचित्तु पुरुषभेदेन सन्निकर्षस्याव्यस्थिततया सूत्रारम्भसामर्थ्यादेवोक्तसन्निकर्षलाभे परग्रहणं व्यर्थमेवेत्याहुः।"

है। इस प्रकार वर्णों के उच्चारणाभाव या उच्चारणाभाव वाला अन्तिम वर्ण दोनों की 'अवसान संज्ञा' पर्यवसित होती है।

'अवसान संज्ञा' के प्रयोजन हैं—"वावसाने",[१] "खरवसानयोर्विसर्जनीयः"[२] इत्यादि सूत्रों द्वारा अवसान में किये गये कार्य। जैसे—'वृक्षः' यहाँ 'अवसान' में 'वृक्ष' शब्द से परे 'रु' के रेफ को विसर्ग हो गया। 'वाक्', 'वाग्' यहाँ 'वाच्' शब्द से परे 'अवसान' में 'झल्' को 'चर्' विकल्प से हो गया। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि जब 'अवसान' अभाव रूप है तब उसमें पौर्वापर्य कैसे होगा—'अवसान परे रहते विसर्ग हो', 'अवसान परे रहते चर्त्वविकल्प हो' इत्यादि पूर्वपरभाव तो भावपदार्थ में ही हो सकते हैं, अभाव में नहीं तो इसका समाधान भाष्यकार ने 'संहितासूत्र' के भाष्य में उच्चरित प्रध्वंसी वर्णों का परस्पर सन्निकर्ष या पौर्वापर्य सिद्ध करते हुए कर दिया है। वहाँ वर्णों के पौर्वापर्याभाव की शङ्का उठाकर बड़े युक्तियुक्त सुन्दर शब्दों में उसका समाधान किया है। भाष्यवार्तिककार लिखते हैं—"न हि वर्णानां पौर्वापर्यमस्ति। किं कारणम्। एकैकवर्णवर्तित्वाद् वाचः। उच्चरितप्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम्। एकैकवर्णवर्तिनी वाक्। न द्वौ युगपदुच्चारयति। गौरिति गकारे यावद् वाग् वर्तते, नौकारे न विसर्जनीये। यावद् औकारे न गकारे, न विसर्जनीये। यावद् विसर्जनीये न गकारे, न औकारे। उच्चरित प्रध्वसिनः खल्वपि वर्णाः। उच्चरितः प्रध्वस्तः। अथापरः प्रयुज्यते न वर्णो वर्णस्य सहायः।"[३] भाष्यकार के ये शब्द इतने स्पष्ट हैं कि इनकी व्याख्या की कोई जरूरत नहीं। ये स्वयं निगदव्याख्यात हैं। इन शब्दों में शङ्का उठाकर आगे समाधान करते हैं—

"एवं तर्हि—बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तन्वन्नीतिः।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्॥

बुद्धिविषयमेव शब्दानां पौर्वापर्यम्। इह य एष मनुष्य।
प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति अस्मिन्नर्थे अयं शब्दः प्रयोक्तव्यः।
अस्मिंस्तावच्छब्दे अयं तावद् वर्णः। ततोयं ततोऽयम् इति"॥[४]

१. पा० ८.४.५६।
२. पा० ८.३.१५।
३. महा०भा० १, सू० १.१.१०९, पृ० ३५६।
४. वही।

भाव यह है कि सब पौर्वापर्यभाव बुद्धिप्रकल्पित है। वर्णों का परस्पर सन्निकर्ष भी बुद्धिकल्पित है। बुद्धि में शब्दों से वाच्य अर्थों को रखकर बुद्धि द्वारा ही उनका पूर्वपरभाव कल्पित कर लेना चाहिये। बुद्धि में असंभव अर्थ भी संभव बना लिये जाते हैं। इसी प्रकार अभाव की 'अवसान संज्ञा' में अभाव में भी बुद्धिकृत पौर्वापर्य हो जायेगा तो 'अवसान परे रहते' इत्यादि व्यवहार सिद्ध हो जायेंगे।

लोकविदित होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का भाष्यकारोक्त प्रत्याख्यान प्रकार तो "परः सन्निकर्षः संहिता" इस पूर्व सूत्र के प्रत्याख्यान के साथ ही निर्दिष्ट कर दिया है। अतः उसे यहाँ दुबारा लिखने की आवश्यकता नहीं।[१]

समीक्षा एवं निष्कर्ष

इस सूत्र के प्रत्याख्यान से पूर्व भाष्यकार ने यह विचार किया है कि "विरामोऽवसानम्" ऐसा रखा जाये या "अभावोऽवसानम्"। क्योंकि कुछ लोग "अभावोऽवसानम्" ऐसा सूत्र पढ़ते हैं और कुछ "विरामोवसानम्" ऐसा। वहाँ दोनों पाठों में युक्तिपूर्वक विचार करते हुए दोनों का ही परित्याग करके "वर्णोऽन्त्योवावसानम्" इस वचन द्वारा "अन्त्यो वर्णोऽवसानम्" ऐसा सूत्र बनाना चाहिये, यह सिद्ध किया है, जिससे अति स्पष्ट हो जाये कि अन्तिम वर्ण की 'अवसानसंज्ञा' होती है। अन्त में इस न्यास को भी लोकप्रसिद्ध मानकर सूत्र का ही खण्डन कर दिया है। 'अवसान' का अर्थ समाप्ति प्रसिद्ध ही है। अन्य अर्थों के होते हुए भी प्रकरण या सामर्थ्य के आधार पर यहाँ शास्त्र में 'अवसान' शब्द का समाप्ति अर्थ ही गृहीत हो जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

इस विषय में न्यासकार का मत भी द्रष्टव्य है। ये लिखते हैं—"नार्थः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धेन। प्रदेशे एव ह्यन्तग्रहणं कर्तव्यम्। खरन्त्ययोरिति। एतदपि नास्ति। एवं हि सन्देहः स्यात्—किमन्त्यस्य वर्णस्य उत पदस्य आहोस्विद् वाक्यस्येति। तत्रान्त्यस्य विशेषणार्थं वर्णग्रहणं कर्तव्यं स्यात्। तस्मात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः कर्तव्यः"।

यहाँ न्यासकार का भाव यह है कि अवसान संज्ञा विधायक यह सूत्र बनाना ही चाहिये। यदि यह कहा जाये कि जहाँ जहाँ 'अवसान प्रदेश' हैं, वहाँ वहाँ

१. देखें पूर्व पृ० ८२-८४।

'अन्त्य' ग्रहण कर दिया जायेगा। उससे भी इष्टसिद्धि हो जायेगी। "खरवसानयोर्विसर्जनीयः"[1] यहाँ "खरन्त्ययोर्विसर्जनीयः" ऐसा न्यास हो जायेगा। "वावसाने"[2] यहाँ "वान्त्ये" ऐसा हो जायेगा तो इस संज्ञा सूत्र के बिना भी काम चल जायेगा, यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि "खरन्त्ययोः" इत्यादि निर्देश करके उनमें 'अन्त्य' क्या वर्ण लिया जायेगा या पद या वाक्य लिया जायेगा, यह सन्देह ही रहेगा। उसकी निवृत्ति के लिए वर्णग्रहण करना होगा जिससे असंदिग्ध रूप में अन्त्य वर्ण ही लिया जाये, पद या वाक्य नहीं। इसलिये इस सूत्र द्वारा 'अवसान संज्ञा' का विधान करना ही उत्तम है। जिससे 'अवसान प्रदेशों' में संज्ञा द्वारा संज्ञी का ग्रहण हो सके। वस्तुतः 'संहिता' के समान 'अवसान संज्ञा' भी आवश्यक होने से रहनी ही चाहिये। इसलिए अन्यान्य ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख मिलता है ॥[3]

वर्णो वर्णेन ॥ २.१.६८ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र तत्पुरुष समास का विधान करता है। इसका अर्थ है कि 'वर्णवाची' शब्द का 'वर्णवाची' शब्द के साथ समानाधिकरण तत्पुरुषसमास होता है। 'वर्ण' का अर्थ है रंग और वह "निर्विशेषं न सामान्यम्"[4] इस सिद्धान्त के अनुसार विशेष ही होगा। "सह सुपा"[5] के अधिकार से सुबन्तों का ही समास होता है, इसलिये 'वर्णविशेषवाची सुबन्त का वर्णविशेषवाची सुबन्त के साथ समानाधिकरण तत्पुरुष होता है' यह अर्थ निश्चित होता है। समानाधिकरण शब्द का अर्थ है कि जब भिन्न भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले शब्द समानविभक्ति द्वारा विशेषण-विशेष्य के रूप में एक ही अर्थ के अभिधायक हों, तब समानाधिकरण कहाते हैं। एक द्रव्य का अभिधान ही समानाधिकरण है। भिन्न-भिन्न द्रव्यों का या भिन्न-भिन्न विभक्तियों द्वारा अभिधान व्यधिकरण है। समानाधिकरण को ही कर्मधारय कहते हैं।[6] जैसे—'कृष्णसारङ्गः'।

---

१. पा० ८.४.५६।
२. पा० ८.३.१५।
३. द्र० ऋक् प्रा० १.१५, "तस्मादन्यमवसाने तृतीयं गार्ग्यं स्पर्शम्"।
४. बाल मनोरमा, भा० १, सू० २.३.५०, पृ० ६७२ 'न हि निर्विशेषं सामान्यम् इति न्यायात्'।
५. पा० २.१.४।
६. द्र० पा० १.२.४२ 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः'।

कृष्णश्चासौ सारङ्गश्चेति कृष्णसारङ्गः' एक ही वस्तु जो काली और चितकबरी है उसे कृष्णसारङ्ग कहते हैं। 'लोहितशबल:' (लाल और चित्र-विचित्र एक ही पदार्थ)। यहाँ कृष्ण और सारङ्ग तथा लोहित और शबल ये शब्द 'वर्णविशेष' के वाचक हैं अतः समानाधिकरण तत्पुरुष समास हो जाता है।

प्रथम 'वर्ण' ग्रहण करने का प्रयोजन यह है कि 'परमशुक्ल:' यहाँ इस सूत्र से समास नहीं होता। क्योंकि 'परम' शब्द 'वर्णवाची' नहीं है। दूसरे 'वर्ण' ग्रहण करने का प्रयोजन है कि 'कृष्णतिल:' यहाँ इस सूत्र से समास नहीं होता। क्योंकि 'तिल' शब्द 'वर्णवाची' नहीं है। उक्त दोनों प्रत्युदाहरणों में "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्"[1] से समास होता है। उसका स्वर "समासस्य"[2] से अन्तोदात्त होता है। इस सूत्र से होने वाले तत्पुरुष में "वर्णो वर्णेष्वनेते"[3] से पूर्वपदप्रकृतिस्वर हो जाता है। "विशेषणं विशेष्येण०" सूत्र से सिद्ध होने पर जो इस सूत्र से समासविधान किया है वह "वर्णो वर्णेष्वनेते" इस सूत्र द्वारा विहित पूर्वपदप्रकृतिस्वर करने के लिये किया है जिससे "वर्णो वर्णेन" यह प्रतिपदोक्त वर्णस्वर ही "वर्णो वर्णेष्वनेते" में ग्रहण किया जाये, अन्य सूत्र से विहित 'वर्णवाची' तत्पुरुषसमास उस स्वर विधान में न लिया जाये,[4] यह इस सूत्र का प्रयोजन है। 'कृष्णसारङ्गः' 'लोहितशबल:' इत्यादि इस सूत्र के उदाहरणों में 'कृष्ण' और 'लोहित' अवयव हैं। 'सारङ्ग' और 'शबल' ये समुदाय हैं। क्योंकि चितकबरे रंग में काला और लाल भी विद्यमान रहते ही हैं। इसलिये अवयव द्वारा समुदाय के साथ समानाधिकरण्य होने से समानाधिकरण तत्पुरुष बन जाता है। समुदाय में अवयव के गौण या उपसर्जन होने से 'कृष्ण' और 'लोहित' का पूर्वनिपात भी "उपसर्जनं पूर्वम्"[5] से सिद्ध हो जाता है।

लाघव के कारण सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के प्रत्याख्यान में सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार सूत्र के प्रत्याख्यान में कोई विशेष लाघव नहीं दिखाई देता किन्तु भाष्यकार ने "तस्मात् समानाधिकरण इत्येव पक्षो ज्यायान्"[6] कहकर इस सूत्र का खण्डन

१. पा० २.१.५७।
२. पा० ६.१.२२०।
३. पा० ६.२.३।
४. द्र०परि०सं० ११४ "लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्।"
५. पा० २.२.३०।
६. महा०भा० १, सू० २.१.६८, पृ० ४०३।

कर दिया है। इस विषय में प्रकृत सूत्र के बनाने में गौरव को देखकर भाष्यकार इसके प्रत्याख्यान के लिये विचार करते हुए कहते हैं—"इदं विचार्यते वर्णेन तृतीयासमासो वा स्यात् कृष्णेन सारङ्गः कृष्णसारङ्गः इति। समानाधिकरणो वा कृष्णः सारङ्गः कृष्णसारङ्गः इति।"[1] भाव यह है कि 'कृष्णसारङ्ग' में दो प्रकार का समास सम्भव है। एक—'कृष्णेन सारङ्गः कृष्णसारङ्गः' यह तृतीया-तत्पुरुष जो कि "तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन"[2] सूत्र से होता है। दूसरा—समानाधिकरण तत्पुरुष 'कृष्णः सारङ्गः, कृष्णः सारङ्गः' जो वर्णो वर्णे॰" इस सूत्र से भी हो सकता है और "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्"[3] से भी हो सकता है। 'कृष्ण' और 'सारङ्ग' दोनों शब्द गुणोपसर्जन द्रव्यवाची हैं अतः 'कृष्णेन कृष्ण-गुणेन कृतः सारङ्गः चित्र इति कृष्णसारङ्गः' इस प्रकार "तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन" इस सूत्र से तृतीया तत्पुष समास उत्पन्न हो सकता है। समाना-धिकरण या कर्मधारय तो स्पष्ट ही है। दोनों प्रकार के समासों में गौरव लाघव को विचारते हुए आगे कहते हैं—"वर्णेन तृतीयासमासे एतप्रतिषेधे वर्णग्रहणम्"[4] अर्थात् 'कृष्णसारङ्गः' में यदि तृतीया तत्पुरुष समास माना जाता है तो "वर्णो वर्णेष्वनेते" इस पूर्वपदप्रकृति स्वरविधायक सूत्र में 'अनेते' कहकर जो 'एत' शब्द का प्रतिषेध किया है, उसके साथ 'वर्ण' ग्रहण भी करना होगा। "अनेते वर्णः" ऐसा सूत्र बनाना होगा। 'वर्णेषु' यह जो दूसरा 'वर्ण' ग्रहण है, इसकी बचत हो जायेगी। किन्तु पहला 'वर्ण' ग्रहण तो करना ही होगा। क्योंकि तृतीया समास में "तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीया सप्तम्युपमानाव्ययद्वितीया कृत्याः"[5] इस सूत्र से ही पूर्वपदप्रकृतिस्वर सिद्ध होने पर "वर्णोऽनेते" यह सूत्र बनाना होगा जिससे वर्णवाची शब्द में 'एत' शब्द परे रहते प्राप्त पूर्वपद-प्रकृतिस्वर का निषेध हो सके। 'एत' शब्द वर्णवाची है ही। 'आ + इतः = एतः' इस प्रकार सन्धि से बना हुआ 'एत' शब्द अन्यथासिद्ध होने से यहाँ नहीं लिया जायेगा। 'अनेते' कहने से यह लाभ होगा कि 'कृष्णेन एतः कृष्णैतः' (काले से मिला सफेद) यहाँ पूर्वपदप्रकृतिस्वर न होगा। "किन्तु "समासस्य" से विहित समासान्तोदात्त ही हो जायेगा। 'वर्ण' ग्रहण करने से यह लाभ

---

१. महा॰ भा॰ १, सूत्र २-१.६८, पृ॰ ४०२।

२. पा॰ २.१.३०।

३. पा॰ २.१.५७।

४. महा॰भा॰ १, सू॰ २.१.६८ पर वार्तिक, पृ॰ ४०२।

५. पा॰ ६. .२।

होगा कि 'हिमेन एत: हिमैत:' (बर्फ से सफेद) यहाँ पूर्वपदप्रकृतिस्वर हो ही जायेगा। हिम शब्द के वर्णवाची न होने से 'अनेते' यह निषेध नहीं लगेगा। इस प्रकार 'कृष्णसारङ्ग:' में तृतीया समास मानने पर "वर्णो वर्णेष्वनेते"[१] इस स्वरविधायक सूत्र में एक 'वर्ण' ग्रहण न करने की बचत हो जाती है। किन्तु सभी 'वर्णवाची' शब्दों में तृतीयासमास प्राप्त नहीं होगा। जैसे—'शुकबभ्रु:', 'हरितबभ्रु:' यहां शुककृत या हरितकृत बभ्रुत्व कुछ नहीं अपितु 'शुक (हरा) होता हुआ बभ्रु (पीला)' ऐसा अर्थ है। 'सह'योग में तृतीया होकर तृतीया-समास मानने पर भी "तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीया०"[२] इस स्वरविधायक सूत्र में "तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन"[३] इस सूत्र से विहित प्रतिपदोक्त तृतीयासमास लिया जाता है। उसके लिये "वर्णो वर्णेन" यह सूत्र बनाना ही होगा जिससे 'वर्णवाची' शब्द का 'वर्णवाची' शब्द के साथ प्रतिपदोक्त तृतीयासमास सिद्ध हो जाये। इसलिये तृतीयासमासपक्ष में तीन 'वर्ण' ग्रहण करने पड़ते हैं। दो तो "वर्णो वर्णेन" यहां समास में और एक "वर्णोऽनेते" यहाँ स्वरविधान में।

अब 'कृष्णसारङ्ग:' में समानाधिकरण तत्पुरुष मानकर यदि 'कृष्णश्चासौ सारङ्गश्च' ऐसा विग्रह किया जाये तो उस पक्ष में कहते हैं—"समानाधिकरणे द्विवर्णग्रहणम्"[४] अर्थात् 'कृष्णसारङ्ग:' में समानाधिकरण तत्पुरुष मानने पर "वर्णो वर्णेष्वनेते" यहां स्वरविधान में दो 'वर्ण' ग्रहण करने पड़ेंगे। यदि लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से स्वरविधान में "वर्णो वर्णेन" इस सूत्र से विहित वर्णसमास ही लिया जाये तब तो एक 'वर्ण' ग्रहण की बचत हो सकती है। "वर्णोऽनेते" ऐसा सूत्र ही पर्याप्त है। इसके साथ ही यदि समानाधिकरणसमास को "विशेषणं विशेष्येण०"[५] सूत्र से ही सिद्ध माना जाये, "वर्णो वर्णेन" यह सूत्र न बनायें तब तो स्वरविधान में "वर्णो वर्णेष्वनेते" यहां दो 'वर्ण' ग्रहण करने ही पड़ेंगे। क्योंकि फिर प्रतिपदोक्त 'वर्णसमास' नहीं मिलेगा। 'परमशुक्ल:', 'कृष्णतिल:' इत्यादि लाक्षणिक समानाधिकरण समासों में पूर्वपदप्रकृतिस्वर की व्यावृत्ति के लिये वहां दो 'वर्ण' ग्रहण करने आवश्यक हैं। हां, यहां के दो 'वर्ण' ग्रहणों से छुट्टी मिल जायेगी। तब इस सूत्र की आवश्यकता ही न

---

१. पा० ६.२.३।
२. पा० ६.२.२।
३. पा० २.१ ३०।
४. महा०भा० १, सू० २.१.६८ पर वार्तिक, पृ ४०२।
५. पा० २.१.५७।

होगी। इस प्रकार समानाधिकरण समास में केवल दो ही "वर्ण" स्वरविधि में कर देने से लाघव है। और समानाधिकरण समास भी इस सूत्र से न होकर "विशेषणं विशेष्येण०" इस सामान्य सूत्र से हो जायेगा तो यह सूत्र अनावश्यक होने से प्रत्याख्येय है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

तृतीयासमास की अपेक्षा समानाधिकरणसमास में एक 'वर्ण' ग्रहण का लाघव देखकर भाष्यकार ने इस सूत्र का खण्डन कर दिया है। स्वरविधि में दो 'वर्ण ग्रहण' तो अवश्य करने पड़ेंगे। इस सूत्र के दोनों 'वर्ण ग्रहण' अथवा यह समस्त सूत्र ही जब न रहेगा तब "वर्णो वर्णेष्वनेते" इस स्वरविधायक सूत्र में तो दोनों तरफ 'वर्णग्रहण' करने की आवश्यकता होगी ही। अब इस सूत्र से विहित समास में तथा "वर्णो वर्णेष्वनेते" इस स्वरविधायक सूत्र में मिलाकर चार 'वर्ण' ग्रहण हैं। उनमें भाष्यकार ने स्वरविधि वाले दो 'वर्ण' ग्रहण स्वीकार करके इस सूत्र के दोनों 'वर्ण' ग्रहण या यह सूत्र ही खण्डित कर दिया है। शब्दकौस्तुभकार भी इस बात से सहमत हैं कि स्वरविधि में दोनों 'वर्ण' ग्रहण आवश्यक हैं।[1]

'कृष्णशुक्लः', 'हरितशुक्लः' इत्यादि में समास के लिये यह सूत्र भी आवश्यक है। क्योंकि 'कृष्णशुक्लः' में 'कृष्णेन शुक्लः' इस प्रकार तृतीयासमास सर्वथा अनुपपन्न है। 'कृष्णकृत शौक्ल्य' कभी हो नहीं सकता। अतः 'कृष्णश्चासौ शुक्लश्च' इस प्रकार 'कुछ काला कुछ सफेद' इस अर्थ को प्रकट करने के लिये इस सूत्र द्वारा कर्मधारयसमास करना आवश्यक है। किन्तु यदि वह समास "विशेषणं विशेष्येण०" इस सामान्य सूत्र से सिद्ध हो जाता है तो यह सूत्र प्रत्याख्यानयोग्य ही बन जाता है। वैसे भी "वर्णो वर्णेष्वनेते" इस स्वर विधायक सूत्र में तत्पुरुषसमास की अनुवृत्ति होने से सामर्थ्यात् 'वर्ण' से परे समानाधिकरण 'वर्ण' ही लिया जायेगा, व्यधिकरण नहीं, तो उससे भी इसकी गतार्थता सिद्ध हो जाती है।

इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी अवश्य ध्यातव्य है कि यद्यपि "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" यह कर्मधारय समास का विधान करने वाला सामान्य सूत्र

---

१. द्र० श०कौ० सू० २.१.६८, पृ० १६० 'वस्तुतस्तु वर्णो वर्णेष्वनेते इति यथान्यासमस्तु। प्रकृतसूत्रमेव तु न कर्तव्यम् 'विशेषणं विशेष्येण०' इत्येव समासस्य सिद्धत्वात् इति ध्येयम्'।

अत्यन्त व्यापक है। अत: प्रायः बहुत से प्रयोग उसी से सिद्ध हो सकते हैं तथापि तत्तत् स्थलों का पृथक्-पृथक् पढ़ने का प्रयोजन समास में उनका पूर्वनिपात है। किन्तु प्रकृत सूत्र में वैसी बात नहीं है। क्योंकि यहां 'वर्ण' शब्द प्रथमा और तृतीया दोनों विभक्तियों में समानरूप से एक साथ निदिष्ट हुआ है। अत: समास में कौन सा 'वर्णविशेषवाची' शब्द पहले आये तथा कौन सा बाद में आये इसका निर्णय सुगम नहीं है। इसलिए प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रकृत सूत्र प्रत्याख्येय ही ठहरता है।[1] यही कारण है कि अर्वाचीन वैयाकरण आचार्य चन्द्र, देवनन्दी तथा हेमचन्द्र ने इस सूत्र को नहीं पढ़ा है। केवल शाकटायन तथा भोजराज ने ही (सम्भवतः स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ) इसका समर्थन करते हुए उसे पढ़ा है[2] जो कि लाघव की दृष्टि से चिन्त्य ही कहा जायेगा ॥

पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे ॥ २.२.१ ॥

अर्धं नपुंसकम् ॥ २.२.२ ॥

द्वितीय तृतीय चतुर्थ तुर्याण्यन्यतरस्याम् ॥ २ २ ३ ॥

---

१. भाष्य (जोशी) कर्मधारयह्निक, व्याखयाभाग, सू० २.१.६९, पृ० २०१ "There are many more rules prescribed in the Samanadhikarana Section whose examples are covered by P. 2.1.57. In this respect P. 2.1.59 is not an exception. But the point is here that the others are still required for purvanipata. This is not so in the case of P. 2.1.69. Since in this rule the word varna is mentioned in the nominative as well as in the instrumental, we have no clue to decide which member should come first in the cp. Therefore, P. 2.1.69 is redundant in all respect.".

२ (क) प्रकृत सूत्र चान्द्र व्याकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति में २.२.१८ पर भी खण्डित किया गया है।

(ख) प्रकृत सूत्र जैनेन्द्र व्याकरण की महावृत्ति में १.३.६४ पर भी खण्डित किया गया है।

(ग) शा०सू० २ १.७७ 'वर्णैर्वर्णः'।

(घ) स०सू० ३.२.६६. 'वर्णो वर्णेन'।

(ङ) हैमव्याकरण में यह सूत्र वृत्ति में भी वर्णित नहीं हुआ है।

सूत्रों का प्रतिपाद्य

ये तीनों सूत्र एकदेशी तत्पुरुष समास का विधान करते हैं।[१] एकदेशी तत्पुरुष के ये तीन ही सूत्र हैं। यह समास षष्ठीतत्पुरुषसमास का अपवाद है। क्रम से सूत्रों का अर्थ इस प्रकार है—(१) 'पूर्व', 'अपार', 'अधर', 'उत्तर' इन शब्दों का एकदेशी सुबन्त के साथ तत्पुरुषसमास होता है, एकत्वं संख्या विशिष्ट अवयवी के कहने में। 'एकश्चासौ देशश्च एकदेशः'। एकदेश का अर्थ अवयव है। 'एकदेशः अवयवः अस्यास्तीति एकदेशी अवयवी'। 'एकाधिकरणे' अर्थात् एक द्रव्य का अभिधान करने में। यह पहले सूत्र का अर्थ हुआ। यथा— 'पूर्वकायः'। 'अपरकायः'। 'अधरकायः'। 'उत्तरकायः'। 'कायस्य पूर्वो भागः अवयवो वा पूर्वकायः' (शरीर का पूर्वभाग)। 'अपरकायः' (शरीर का पिछला भाग)। 'अधरकायः' (निचला भाग)। 'उत्तरकायः' (ऊपर का भाग)।

यहां 'पूर्वादि' शब्द उपलक्षणमात्र हैं।[२] 'पूर्वादि के समान अन्य अवयववाची शब्दों का भी अवयवी के साथ तत्पुरुषसमास होता है! यथा—'अह्नः पूर्वोभागः पूर्वाह्णः'। 'अह्नः मध्यः मध्याह्नः'। 'अह्नः सायः सायाह्नः'। 'रात्रेः पूर्वोभागः पूर्वरात्रः'। 'अपररात्रः। 'मध्यरात्रः' इत्यादि। समास करने वाले इस सूत्र में 'पूर्वापराधरोत्तरम्'' यह प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट है। इसलिये ''प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्''[३] से 'पूर्वादि' की 'उपसर्जनसंज्ञा' होकर ''उपसर्जनं पूर्वम्''[४] से 'पूर्वादि' का पूर्वनिपात हो जाता है। इस सूत्र के अभाव में षष्ठी समास करने वाले ''षष्ठी''[५] इस सूत्र में षष्ठी के प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'काय' आदि का पूर्वनिपात होकर 'कायपूर्वः' 'रात्रिमध्यः', 'दिनमध्यः' इत्यादि रूप प्राप्त होते हैं।

---

१. द्र० डिक्शनरी आफ संस्कृत ग्रामर, एकदेशी तत्पुरुष को ही 'अंशि समास' 'अवयवविधान' या 'अवयवविधिसमास' तथा 'अवयव षष्ठीतत्पुरुष' आदि नामों से भी पुकारा जाता है।

२. इस विषय में ''संख्या विसाय पूर्वस्य०'' (पा० ६.३.११०) सूत्र में 'साय' शब्द का 'अहन्' शब्द के साथ एकदेशी तत्पुरुष का विधान ही ज्ञापक है। उससे न केवल 'अहन्' के साथ ही बल्कि कालवाची 'रात्रि' शब्द के साथ भी एकदेशी समास सिद्ध हो जाता है।

३. पा० १.२.४३।

४. पा० २.२.३०।

५. पा० २.२.८।

सूत्र में 'एकदेशि' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'पूर्वं नाभेः कायस्य' यहां 'नाभि' के साथ 'पूर्वं' का समास नहीं हुआ। क्योंकि 'नाभि' एकदेशी या अवयवी नहीं है अपितु 'काय' का एकदेश है, अवयव है। हां, 'काय' तो एकदेशी है। उसके साथ 'पूर्वं' का समास होकर 'पूर्वकायो नाभेः' ऐसा रूप बन सकता है।

'एकाधिकरण' ग्रहण करने का प्रयोजन यह है कि 'पूर्वः छात्राणाम्' यहां छात्रों के एकत्व संख्यायुक्त होने से 'पूर्व' शब्द का समास नहीं हुआ। छात्र अलग-अलग अधिकरण हैं, जिनमें वह पहला है। एक अधिकरण नहीं है, अतः समास नहीं होता।

दूसरे सूत्र का अर्थ है कि समान अर्थ का वाचक, जो नपुंसकलिङ्ग 'अर्ध' शब्द है, उसका एकदेशी के साथ तत्पुरुषसमास होता है। यथा—'अर्धंपिप्पल्याः इति अर्ध पिप्पली' (आधी पिप्पली)। पिप्पली के बराबर दो भाग करके एक-एक भाग का नाम 'अर्धपिप्पली' है। यहां षष्ठी समास को बाधकर "अर्धं नपुंसकम्" इस से एकदेशी तत्पुरुष समास हो जाता है तो 'अर्ध' शब्द के प्रथमा निर्दिष्ट होने से 'उपसर्जनसंज्ञा' होकर "अर्ध" का पूर्वनिपात हो गया। साथ ही "एकविभक्ति चापूर्वनिपाते"[1] से 'पिप्पली' शब्द की प्राप्त 'उपसर्जनसंज्ञा' का "एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्"[2] इस वार्तिक से निषेध हो गया तो "गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य"[3] से 'पिप्पली' को ह्रस्व नहीं होता। षष्ठीविभक्त्यन्त की 'उपसर्जनसंज्ञा' का निषेध केवल एकदेशी तत्पुरुषसमास में ही होता है। उससे 'पञ्चानां खट्वानां समाहारः पञ्चखट्वी' यहां समाहार द्विगुसमास में षष्ठ्यन्त 'खट्वा' शब्द की "एकविभक्तिचापूर्वनिपाते" सूत्र से उपसर्जनसंज्ञा हो गई तो "गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य" से 'खट्वा' शब्द को ह्रस्व होकर अदन्त हो जाने से 'द्विगोः'[4] सूत्र से 'ङीप्' सिद्ध हो जाता है। समानविभागवाची 'अर्ध' शब्द के नित्य नपुंसकलिङ्ग होने पर भी, जो सूत्र में 'नपुंसक' ग्रहण किया है, उससे "सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्"[5] यह परिभाषा ज्ञापित होती है। इस परिभाषा का भाव यह है कि सूत्रों में लिङ्ग और वचन

---

१. पा० १.२.४४।
२. पा० १.२.४४ पर वार्तिक।
३. पा० १.२.४८।
४. पा० ४.१.२१।
५. परि० सं० ७३।

का निर्देश मुख्य रूप से विवक्षित नहीं होता। उससे "तस्यापत्यम्[1]" सूत्र में 'तस्य' यह एकवचन अविवक्षित होने से 'द्वयोर्मात्रोरपत्यम् द्वैमातुरः' यहां द्विवचनान्त से भी 'अण्' प्रत्यय हो जाता है। 'अपत्यम्' यहां नपुंसकलिङ्ग की विवक्षा न होने से 'दक्षस्यापत्यं पुमान् दाक्षिः' में पुल्लिङ्ग अपत्य में भी "अत इञ्"[2] से 'इञ्' प्रत्यय हो जाता है। वैसे 'नपुंसक ग्रहण' का प्रयोजन यह भी हो सकता है कि 'ग्रामार्धः', 'नगरार्धः' इत्यादि में 'अर्ध' शब्द के पुल्लिङ्ग होने से एकदेशी तत्पुरुषसमासविधायक इस सूत्र की प्रवृत्ति न होकर 'ग्रामस्य अर्धः ग्रामार्धः' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुषसमास हो जाता है।

तीसरे "द्वितीय तृतीय चतुर्थं०" इस सूत्र का अर्थ है कि 'द्वितीय', 'तृतीय', 'चतुर्थ', 'तुर्य' इन शब्दों का एकदेशी के साथ तत्पुरुषसमास विकल्प से होता है।[3] जब यह समास नहीं होगा, तब षष्ठीतत्पुरुषसमास हो जायेगा। यथा—'भिक्षाया द्वितीयो भागः द्वितीयभिक्षा'। 'तृतीयभिक्षा'। 'चतुर्थभिक्षा'। 'तुर्यभिक्षा'। इन सब में भिक्षा एकदेशी है, अवयवी है। उसका एकदेश (अवयव) 'द्वितीय', 'तृतीय' आदि है। एकदेशी तत्पुरुषसमास होने पर 'द्वितीयादि' के प्रथमानिर्दिष्ट होने से उनका पूर्वनिपात सिद्ध हो जाता है। पक्ष में षष्ठीसमास होकर 'भिक्षाया द्वितीयो भागः भिक्षाद्वितीयम्'। 'भिक्षातृतीयम्' इत्यादि रूपों में षष्ठी के प्रथमानिर्दिष्ट होने से उसका पूर्वनिपात हो जाता है।

अन्यथासिद्धि के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान

प्रस्तुत सूत्रों के प्रत्याख्यान में वार्तिककार कात्यायन मौन हैं। 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः'[4] सूत्र के भाष्य में भाष्यकार इन तीनों सूत्रों में 'अर्धं नपुंसकम्" इस सूत्र को उपलक्षण मान कर एकदेशी समास विधायक

---

१. पा० ४.१.९२।

२. पा० ४.१.९५।

३. यहाँ यह अवश्य ध्यातव्य है कि पाणिनि ने तो 'चतुर्थ' और 'तुर्य' इन शब्दों के साथ ही एकदेशीसमास का विधान किया है किन्तु काशिकाकार ने एक इष्टि को उद्धृत करके 'तुरीय' शब्द के साथ भी एकदेशी समास इष्ट माना है—"तुरीयशब्दस्यापीष्यते"। अर्वाचीन वैयाकरणों ने तो 'तुरीय' के साथ-साथ 'तल' और 'अग्र' आदि शब्दों का भी एकदेशीसमास विधान किया है।

४. पा० २.४.२६।

उक्त तीनों सूत्रों का ही प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"एकदेशिसमासो नारप्स्यते। कथमर्धपिप्पली इति। समानाधिकरणो भविष्यति—अर्धं च सा पिप्पली च अर्धपिप्पली इति। न सिध्यति। परत्वात् षष्ठीसमासः प्राप्नोति। अद्य पुनरयमेकदेशिसमासः आरभ्यमाणः षष्ठीसमासं बाधते। इष्यते च षष्ठीसमासोऽपि। तद्यथा—अपूपार्धं मया भक्षितम् ग्रामार्धं मया लब्धम् इति। एवं पिप्पल्यर्धमित्यपि भवितव्यम्। कथमर्धपिप्पलीति। समानाधिकरणो भविष्यति।"[1] इसका भाव सर्वथा स्पष्ट है कि एकदेशी तत्पुरुषसमास के बिना भी 'अर्धपिप्पली" 'पूर्वकायः', 'द्वितीयभिक्षा' इत्यादि रूप बना लिये जायेंगे। समानाधिकरण तत्पुरुषसमास, जो कि कर्मधारय कहलाता है,[2] उससे ये रूप सिद्ध हो जायेंगे। 'अर्धं च सा पिप्पली च' इस विग्रह द्वारा एक ही पिप्पली रूप अधिकरण को कहने के लिये अवयव 'अर्ध' शब्द को उपचार से पिप्पली मानकर कर्मधारयसमास हो जायेगा। "समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दाः अवयवेष्वपि वर्तन्ते"[3] इस न्याय से अवयववाची शब्द अवयवी का समानाधिकरण बन सकता है। 'अर्धं च तद् उक्तं च इति अर्धोक्तम्' इत्यादि में समानाधिकरण स्पष्ट ही है।

यदि यह कहा जाये कि षष्ठीतत्पुरुषसमास को बाधने के लिये उसका अपवादस्वरूप यह एकदेशी तत्पुरुष का विधान है, तो भी ठीक नहीं। क्योंकि 'अर्धपिप्पली' इत्यादि में षष्ठीतत्पुरुषसमास भी अभीष्ट है। 'पिप्पल्या अर्धम् पिप्पल्यर्धम्' यह रूप भी सर्वसम्मत है। जैसे 'अपूपस्य अर्धम् अपूपार्धम्', 'ग्रामस्य अर्धम् ग्रामार्धम्' ये रूप षष्ठीतत्पुरुषसमास के प्रसिद्ध हैं वैसे 'पिप्पल्यर्धम्', 'भिक्षाद्वितीयम्', 'दिनमध्यम्', 'रात्रिमध्यम्' इत्यादि भी षष्ठीसमास करके इष्ट रूप बन जाते हैं। 'अर्धपिप्पली', 'पूर्वकायः', 'द्वितीयभिक्षा' इत्यादि में 'अर्धं च सा पिप्पली च', 'पूर्वश्च कायश्च', 'द्वितीया च सा भिक्षा च' इस प्रकार अवयवावयवी का समानाधिकरण तत्पुरुषसमास बिना किसी विघ्न-बाधा के बन सकता है। ऐसी अवस्था में भाष्यकार के अनुसार इन तीनों सूत्रों का प्रत्याख्यान हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

उक्त तीनों एकदेशी तत्पुरुषसमासविधायक सूत्रों के प्रत्याख्यान में कैयट आदि सभी सहमत हैं। कैयट तो स्पष्ट लिखते हैं—"पूर्वापराधरोत्तरमिति-

---

१. महा० भा० १, सू० २.४.२६, पृ० ४७९।

२. पा० १.२.४३ 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः'।

३. महा० पस्पशा० पृ० १२।

योगोऽयं नारभ्यते। मुनिद्वयाच्च भाष्यकारः प्रमाणतरमधिकलक्ष्यदर्शित्वात्"[१]। इनके कहने का तात्पर्य यह है कि एकदेशी तत्पुरुषसमास का विधान करने वाले तीनों सूत्रों का प्रत्याख्यान ही भाष्यकार को अभिप्रेत है, न केवल 'अर्धपिप्पली' वाले "अर्धं नपुंसकम्" इस सूत्र का ही। आचार्य पाणिनि तथा कात्यायन इन दोनों मुनियों की अपेक्षा भाष्यकार पतंजलि ही अधिक प्रमाण हैं। क्योंकि वे लक्षणैकचक्षुष्क होने के साथ-साथ लक्ष्यैकचक्षुष्क भी हैं। उन्होंने पूर्ववर्ती मुनियों से अधिक लक्ष्यों का दर्शन किया है। एक दृष्टि से बात ठीक भी है। भाषाविज्ञानशास्त्र में उत्तरोत्तर विकास की परम्परा को स्वीकार करते हुए पतंजलि द्वारा किया गया उन सूत्रों का अथवा एकदेशी तत्पुरुष समास का खण्डन ही न्याय्य है। उत्तरवर्ती संस्कृत काव्यों में दोनों समासों के ही उदाहरण मिलते हैं। महाकवि कालिदास ने "पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्"[२] तथा 'प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य"[३]। यहाँ 'पूर्वकायम्' यह एकदेशी तत्पुरुष का तथा 'शरीरार्धहराम्' एवं 'पश्चार्धेन' ये षष्ठीतत्पुरुष के उदाहरण प्रयोग किये हैं। आचार्य पिङ्गल ने भी "स्वरा अर्धं चार्यार्धम्[४]" ऐसा कहते हुए 'आर्यार्धम्' का प्रयोग किया है। 'अर्धचन्द्र', 'अर्धजरतीयादि' तो प्रसिद्ध ही हैं। "द्वितीयतृतीय०" सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण करने से स्पष्ट ही षष्ठी समास की स्वीकृति आचार्य पाणिनि ने स्वयं दे दी है।

किन्तु इन तीनों सूत्रों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि ये तीनों सूत्र प्रत्याख्येय नहीं हैं। क्योंकि इनमें प्रथम सूत्र "पूर्वापराधरोत्तर०" की तो षष्ठीतत्पुरुषसमास के निषेध प्रसङ्ग में अनिवार्य आवश्यकता है। पूर्वकायः तो भले ही समानाधिकरण कर्मधारय से निष्पन्न हो जाये किन्तु इस सूत्र के अभाव में 'पूर्वकायः इस कर्मधारय के साथ-साथ 'कायपूर्वः' यह अनिष्ट रूप भी प्राप्त होता है। क्योंकि उक्त प्रकृत सूत्र षष्ठी तत्पुरुषसमास का अपवाद है। अतः इस सूत्र के अभाव में षष्ठीतत्पुरुषसमास की अवश्य प्राप्ति होगी। उसको रोकने के लिये सूत्र की सार्थकता बनी रहती

---

१. महा० प्र० भा० २, सू० २.४.२६, पृ० ८६२।

२. अभिज्ञानशाकुन्तल, १.७। तुलना करो—बुद्धचरित, ३.१० 'नीलोत्पलार्धैरिव कीर्यमाणम्'।

३. कुमारसम्भव, १.५०।

४. पिङ्गलछन्दःसूत्र, ४.१४।

है।[1] इसीलिये शब्दकौस्तुभकार इस सूत्र के प्रत्याख्यान को उचित न समझते हुए कहते हैं—"इदं च प्रत्याख्यानं दुर्बलम्। कायपूर्व इत्यादिष्वनभिधानाश्रयण-भगतिकगतिरितिसन्प्रत्ययविधौ भाष्य एवोक्तत्वात्"[2] पदमंजरीकार भी इसके खण्डन में अरुचि दिखाते हुए कहते हैं—"गौणत्वात् सामानाधिकरण्यस्य विशेषणसमासो न किल स्यादित्यमारम्भः"[3]।

यद्यपि अनिष्ट प्रयोगों के वारण के लिये तो शेष दोनों सूत्रों की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यहाँ एकदेशीसमास तथा षष्ठीतत्पुरुषसमास दोनों ही इष्ट हैं तथापि ये सूत्र भी रहने चाहियें। इनमें नपुंसकलिङ्ग 'अर्ध' शब्द का ही एकदेशीसमास हो, पुंलिग का न हो। पुंलिङ्ग का षष्ठीसमास ही हो, यह बताने के लिए "अर्धं नपुंसकम्" यह सूत्र आवश्यक है।[4] इस सूत्र के अभाव में ऐसी कोई विनिगमना न होने से सन्देह रहेगा। अतः यह सूत्र भी स्थापनीय ही है।

"द्वितीयतृतीयचतुर्थ०" यह सूत्र भी एकदेशी समास, षष्ठीतत्पुरुषसमास तथा वाक्य इन तीनों के लिये आवश्यक है। क्योंकि प्रकृत सूत्रस्थ 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण के बिना ये तीनों रूप नहीं बन सकेंगे। यदि यह कहा जाये कि ये तीनों रूप तो ऊपर से चले आ रहे महाविभाषाधिकार[5] से ही सिद्ध हो जायेंगे। अतः यह सूत्र

---

१. द्र० श० कौ० भा० २, सू० २.२.१, पृ० १६३ "तथा च कायपूर्व इति प्रयोगोऽनेन व्यावर्त्यते। पूर्वकाय इति प्रयोगस्तु पूर्वश्चासौ कायश्चेति कर्मधारयेणापि सिद्धः। समुदायेषु हि वृत्ताः शब्दा अवयवेऽपि वर्तन्ते इति न्यायात् ऊर्ध्वकाय इतिवत्"। प्रस्तुत प्रसंग में नागेश का यह कथन कि 'मुनिद्वयाच्चेति एवंचेति सूत्रत्रयविषयेऽपि षष्ठीसमासस्य साधुत्वं कर्मधारयस्य चेतिभावः" (महा० प्र० भा० २,सू० २.४.२६,पृ० ८६२) भी चिन्त्य ही मानना होगा। क्योंकि ऐसा मानने पर 'पूर्वकायः' के समान 'कायपूर्वः' यह षष्ठीसमास भी प्राप्त होगा जोकि इष्ट नहीं है। अतः "पूर्वापर०"सूत्र का खण्डन युक्तिसंगत नहीं है।

२. द्र० श० कौ० भा० २, सू० २.४.२६, पृ० २६१।

३. प० म० सू० २.२.२।

४. भाष्य(जोशी)तत्पुरुषाह्निक,सू० २.२.२, पृ० १ के फुटनोट २ से उद्घृत "The Neuter अर्धम् means समप्रविभागः equal part or portion i. e. the exact half. The masculine अर्धः means part 'piece, approximate half."

५. पा० २.१.११-१२।

अनावश्यक है, यह ठीक नहीं। क्योंकि उक्त महाविभाषाधिकार से या तो षष्ठी-तत्पुरुष और वाक्य का ही विकल्प सिद्ध हो सकेगा अथवा समानाधिकरण कर्म-धारय और वाक्य का विकल्प बन सकेगा। षष्ठीतत्पुरुष और समानाधिकरण इन दोनों का परस्पर विकल्प नहीं बन सकता अर्थात् इस एक विभाषा में इतनी शक्ति नहीं है कि यह एक साथ ही दो विकल्पों का विधान करे। ऐसी स्थिति में एक और विकल्प वाचक शब्द पढ़ना पड़ेगा। इसलिये 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण सार्थक है।[1] यदि महाविभाषाधिकार में इतनी शक्ति मान ली जाती है कि यह एक साथ उक्त दोनों विकल्पों का विधान कर सके तो 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण व्यर्थ हो सकता है।

अथवा 'उपगोरपत्यम्', 'औपगवः', 'उपग्वपत्यम्' यहां क्रमशः वाक्य, तद्धित वृत्ति तथा समासवृत्ति की सिद्धि के लिये भाष्यकार ने जैसे दो विकल्पों का ग्रहण आवश्यक माना है,[2] वैसे ही यहाँ भी उक्त तीनों रूपों की सिद्धि के लिये महाविभाषाधिकार तथा प्रकृत 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण करना ही चाहिये। इसके अतिरिक्त "विशेष नियम सामान्य नियमों को बाध लिया करते हैं, जब तक वहां कोई विकल्प का वाचक शब्द न पढ़ा गया हो" इसको ज्ञापित करने के लिये भी 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण की आवश्यकता है।[3]

इसी सन्दर्भ में व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार भी इस सूत्र के प्रत्याख्यान को ठीक नहीं समझते। उनके कहने का आशय यह है कि 'भिक्षायाः द्वितीयम्' यहां 'पिप्पल्या अर्धम्' की तरह या 'कायस्य पूर्वम्, की तरह षष्ठीसमास नहीं हो सकता। क्योंकि 'द्वितीय', 'तृतीय' ये दोनों शब्द 'तीय' प्रत्ययान्त होने से पूरणार्थक हैं। उनमें "पूरणगुण सुहितार्थसदव्यय"[4] से सूत्र षष्ठीसमास का निषेध

---

१. द्र० प० मं० सू० २.२.३ "नैतत् सुष्ठूच्यते, अनेनैव खलु अन्यतरस्यां ग्रहणेन षष्ठीसमासः प्राप्यते। कथमस्मिन् योगेऽसति भविष्यति।'

२. महा० भा० १, सू० २.२.३, पृ० ४०८ "अस्त्यत्र विशेषः। द्वे ह्यत्र विभाषे। दैवयज्ञि शौचिवृक्षि सात्यमुग्रिकाण्ठेविद्धिभ्योऽन्यतरस्यामिति समर्थानां प्रथमाद्वा इति च। तत्रैकया वृत्तिविभाषापरया वृत्तिविषये विभाषापवादः" इत्यादि।

३. भाष्य(जोशी) तत्पुरुषाह्निक, सू० २.२.३, पृ० ३९ "In other words the main purpose of अन्यतरस्याम् in P. 2.2.3. is to teach us that a special rule sets aside a general rule, unless, an option word has been stated,.

४. पा० २.२.११।

हो जायेगा। यदि यह कहा जाये कि सूत्र बनाने पर भी उक्त "पूरणगुण" सूत्र से षष्ठीसमास का निषेध प्राप्त होता है तो इसका उत्तर है कि 'अन्यतरस्याम्' के ग्रहणसामर्थ्य से निषेध की प्रवृत्ति नहीं होगी। पक्ष में 'भिक्षायाः द्वितीयम्' इस वाक्य की सिद्धि के लिये तो 'अन्यतरस्याम्' की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह तो महाविभाषाधिकार से ही सिद्ध हो जायेगा। यदि कहो कि "पूरणाद्भागे तीयादन्"[१] इस सूत्र से स्वार्थ में विहित 'अन्' प्रत्यय करने पर षष्ठीसमास का निषेध नहीं होगा क्योंकि वह पूरणार्थक नहीं रहा तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति के अर्थ से ही अर्थवान् होते हैं।[२] इसलिये 'अन्' प्रत्यय के स्वार्थिक होने से वह पूरणार्थक ही माना जायेगा।[३]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में ही भाष्यवार्तिककार द्वारा प्रस्तावित संशोधनों पर विचार करने वाले अर्वाचीन वैयाकरण सम्प्रदायों पर भी दृष्टिपात करना असमीचीन नहीं होगा। वहां आचार्य चन्द्रगोमी तथा पूज्यपाद देवनन्दी ने तो भाष्यकार का समर्थन करते हुए उक्त त्रिसूत्री को अपने-अपने तन्त्रों में नहीं रखा प्रत्युत उनकी वृत्तियों में इनका प्रत्याख्यान दिखाया गया है किन्तु शाकटायन, भोज तथा हैम व्याकरणों में इन सूत्रों को ईषत् परिवर्तन एवं परिवर्धन के साथ पढ़ा गया है।[४] इसका तात्पर्य है कि ये आचार्य इन सूत्रों को प्रत्याख्येय नहीं समझते। ऐसी स्थिति में समन्तात् समीक्षा करने के बाद यही कहा जा सकता है कि ये तीनों ही सूत्र आवश्यक होने से प्रत्याख्येय नहीं हैं ॥

---

१. पा० ५.३.४८।

२. महा० भा० १, सू० १.१.२७, पृ० ८९ 'स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितोऽविशिष्टा भवन्ति।'

३. द्र० व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि, भा० २, सू० २.२.३, पृ० ९७५-न च अत्रापि पूर्ववत् कर्मधारयषष्ठीसमासाभ्यां सूत्रवैयर्थ्यम्। पूरणगुणेति षष्ठीसमासनिषेधात्। न च सूत्रारम्भेऽपि तद्दोषसाम्यम्। विभाषाग्रहणसामर्थ्यान्निषेधाप्रवृत्तेः। न च पाक्षिकवाक्यार्थं तत्। महाविभाषयैव तत्सिद्धेः। न च पूरणाद्भागे तीयादनिति स्वार्थे अन् प्रत्ययं कृत्वा षष्ठीसमासनिषेधो नास्तीति कल्पयितुं शक्यम्। स्वार्थिकानां प्रकृत्यर्थेनार्थवत्वादन्नन्तस्यापि पूरणार्थत्वमिति सिद्धान्तात्"।

४. शा० सू० २.१.२५-२७ "पूर्वापराधरोत्तरमंशिनाभिन्नेन"। "समेऽर्धम्" "द्वित्रचतुर्ङ्वा"।

(ख) स० सू० ३.२.१२२-१२७ "पूर्वापराधरोत्तराण्येकदेशिनैका-

सनाद्यन्ता धातवः ।। ३.१.३२ ।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'धातुसंज्ञा' करता है। 'सन्', 'क्यच्', 'काम्यच्' इत्यादि प्रत्यय हैं अन्त में जिनके ऐसे शब्द समुदायों की 'धातुसंज्ञा' होती है। एक 'धातुसंज्ञा' तो "भूवादयो धातवः"[1] इस सूत्र से धातुपाठ में पठित 'भू' आदि क्रियावाची शब्दों की होती है। दूसरी 'धातुसंज्ञा' यह है जो सनादि प्रत्ययान्तों की होती है। 'सन्' आदि प्रत्यय १२ हैं। तद्यथा—'सन्', 'क्यच्', 'काम्यच्', 'क्यङ्', 'क्यष्', 'आचारक्विप्', 'णिच्', 'यङ्', 'यक्', 'आय', 'ईयङ् और 'णिङ्'[2]। इन प्रत्ययों के विधायक सूत्र ये हैं — 'सन्' —"गुप्तिज्किद्भ्यः सन्"[3], "मान्बधदान् शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य"[4] "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा"[5]। 'क्यच्'— "सुप आत्मनः क्यच्"[6]। 'काम्यच्'—"काम्यच्च"[7]। 'क्यङ्'—"कर्तुः क्यङ् सलोपश्च"[8] इत्यादि। 'क्यष्' — "लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्"[9]। 'आचारक्विप्'— "सर्वप्रातिपदिकेभ्य आचारे क्विब् वक्तव्यः"[10]। 'णिच्'—मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवण-

---

धिकरणे"। 'सायाह्न मध्याह्न मध्यन्दिन मध्यरात्रादयः'। 'अर्धं समप्रविभागे वा"। 'अर्धजरतीयार्धवैशसार्धोक्तादयः'। 'द्वितीय तृतीय चतुर्थ तुर्य तुरीय तलाग्रादयश्च'।।

(ग) है० सू० ३.१.५२-५६ 'पूर्वापराधरोत्तरमभिन्नेनांशिना'। 'सायाह्नादयः'। "समें शेर्धं न वा"। 'जरत्यादिभिः'। 'द्वित्रि चतुष्पूरणाग्रादयः"।।

१. पा० १.३.१।

२. द्र० त० बो० प्रकृत सूत्र, इनका संग्रहश्लोक भी प्रसिद्ध है—

"सन् क्यच् काम्यच् क्यङ् क्यषोऽथाचारक्विप् णिज्यङौ तथा।

यगायेयङ् णिङश्चेति द्वादशामी सनादयः"

३. पा० ३.१.५।

४. पा० ३.१.६।

५. पा० ३.१.७।

६. पा० ३.१.८।

७. पा० ३.१.९।

८. पा० ३.१.११

९. पा० ३.१.१३।

१०. पा० ३.१.११ पर वार्तिक।

व्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच्"[१], "सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्"[२] "हेतुमति च"[३]। 'यङ्'—"धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्"[४] "नित्यं कौटिल्ये गतौ"[५] "लुप सद चर जप जभ दह दश गृभ्यो भावगर्हायाम्"[६]। 'यक्' — "कण्ड्वादिभ्यो यक्"[७]। 'आय' — "गुपू धूपविच्छि पणि पनिभ्य आयः"[८]। 'ईयङ्' — "ऋतेरीयङ्"[९]। 'णिङ्' — "कमेर्णिङ्"।[१०]

इनके कुछ उदाहरण ये हैं—'जुगुप्सते'। 'मीमांसते' 'चिकीर्षति'। 'पुत्रीयति'। 'पुत्रकाम्यति'। 'श्येनायते'। 'कामयते' इत्यादि। 'जुगुप्सते' में "गुप्तिज् किद्भ्यः सन्" से स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय होता है। सन्नन्त 'जुगुप्स' की इस सूत्र से 'धातुसंज्ञा' हो जाती है। उससे लट्, आत्मनेपद, 'त' प्रत्यय, टेरेत्व और 'शप्' होकर 'जुगुप्सते' बन जाता है। 'मीमांसते' में 'मान्' धातु से "मान् बध दान् शान्भ्यः" इस उक्त सूत्र के द्वारा स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय होकर 'मीमांस' बन जाता है। सन्नन्त 'मीमांस' की इस सूत्र से 'धातु संज्ञा' होकर लट्, आत्मनेपद आदि हो जाते हैं 'चिकीर्षति' में 'कर्तुमिच्छति' इस अर्थ में 'कृ' धातु से "धातोः कर्मणः" इस उक्त सूत्र से 'सन्' प्रत्यय होता है। सन्नन्त 'चिकीर्ष' की इस सूत्र से 'धातुसंज्ञा' होकर लट्, परस्मैपद, 'तिप्', 'शप्' आदि हो जाते हैं। 'पुत्रीयति' में 'पुत्रमात्मन इच्छति' इस अर्थ में 'पुत्रम्' सुबन्त से "सुप आत्मनः क्यच्" से 'क्यच्' प्रत्यय होता है। क्यजन्त 'पुत्रीय' शब्द की प्रकृत सूत्र से 'धातुसंज्ञा' होकर लट्, 'तिप्'; 'शप्' हो जाते हैं। इसी प्रकार 'पुत्रकाम्यति' में 'काम्यच्' प्रत्यय है। 'श्येन इवाचरति श्येनायते' यहां 'श्येन' शब्द से "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" से 'क्यङ्' प्रत्यय होता है। 'श्येनाय' इस क्यङन्त की इस सूत्र से 'धातुसंज्ञा' होकर लट्, 'त' प्रत्यय' टेरेत्व और 'शप्' हो जाता है। 'कामयते' में 'कम्' धातु से स्वार्थ में "कमेर्णिङ्" से

---

१. पा ३.१.२१।
२. पा० ३.१.२५।
३. पा० ३.१.२६।
४. पा० ३.१.२२।
५. पा० ३.१.२३।
६. पा० ३.१.२४।
७. पा० ३.१.२७।
८. पा० ३.१.२८।
९. पा० ३.१.२९।
१०. पा० ३.१.३०।

'णिङ्' प्रत्यय होता है। 'कामि' इस णिङन्त की इस सूत्र से 'धातुसंज्ञा' होकर लडादि हो जाते हैं।

सूत्र में 'अन्त' ग्रहण इसलिये किया है कि 'सनादि' प्रत्ययान्तों की 'धातुसंज्ञा' हो, केवल 'सनादि' प्रत्ययों की न हो। अन्यथा "संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति"[1] इस परिभाषा के वचन से प्रत्ययों की संज्ञा करने में तदन्तविधि नहीं होती। 'सनादि' भी प्रत्यय हैं। उनकी 'धातुसंज्ञा' करने में तदन्तविधि प्राप्त नहीं थी अतः 'अन्त' ग्रहण किया है। जैसे "सुप्तिङन्तं पदम्"[2] सूत्र में 'अन्त' ग्रहण करने से सुबन्त तिङन्त शब्दों की पदसंज्ञा होती है, केवल 'सुप्' 'तिङ' प्रत्ययों की नहीं। "भूवादयो धातवः"[3] के बाद "सनाद्यन्ताश्च" ऐसा सूत्र तो नहीं बनाया। उससे १२ 'सनादि' प्रत्ययों का निर्धारण कैसे होता ? वह पहले अध्याय का सूत्र है। 'सनादि प्रत्यय' तीसरे अध्याय में आते हैं। हां, "सनाद्यन्ता धातवः" इस सूत्र के बाद "भूवादयश्च" ऐसा सूत्र तो बनाया जा सकता है। वह आचार्य ने नहीं बनाया, यही बात है।[4] उसमें एक 'धातु' ग्रहण की बचत हो जाती है।

स्थानिवद्भाव द्वारा अन्यथासिद्धि होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान में वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इसका खण्डन करते हुए कहते हैं—"किमर्थं पुनरिदमुच्यते, न भूवादयो धातवः इत्येव सिद्धम्। न सिध्यति। पाठेन धातुसंज्ञा क्रियते। न चेमे तत्र पठ्यन्ते। कथं तर्ह्यन्येषामपठ्यमानानां धातुसंज्ञा भवति—'अस्तेर्भूः, ब्रुवो वचिः, चक्षिङः ख्याञ्' इति। यद्यप्येते तत्र न पठ्यन्ते,। प्रकृतयस्त्वेषां पठ्यन्ते। तत्र स्थानिवद्भावात् सिद्धम्। इमेपि तर्हि यद्यपि तत्र न पठयन्ते येषां त्वर्थे आदिश्यन्ते ते तत्र पठ्यन्ते। तत्र स्थानिवद्भावात् सिद्धम्। न सिध्यति। आदेशः स्थानिवदित्युच्यते। न चेमे आदेशाः। इमेप्यादेशाः। कथम्। आदिश्यते यः स आदेशः। इमेऽप्यादिश्यन्ते। एवमपि षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशाः स्थानिवद् भवन्तीत्युच्यते। न चेमे षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशाः। षष्ठीग्रहणं निवर्तयिष्यते। यदि निवर्तते अपवादे उत्सर्गकृतं प्राप्नोति। कर्मण्यण्, आतोऽनुपसर्गे कः इति केऽपि अण्कृतं प्राप्नोति। नैष दोषः। आचार्य-

---

१. परि० सं० २७।
२. पा० १.४.१४।
३. पा० १.३.१।
४. **द्र० श० कौ० प्रकृत सूत्र, पृ० ३६५ "सनाद्यन्ता इत्यस्यानन्तरं भूवादयश्च इति सूत्रयितुमुचितं तथा न कृतमित्येव"।**

प्रवृत्तिर्ज्ञापयति नापवादे उत्सर्गकृत भवतीति यदयं श्यन्नादीन् कांश्चित् शितः करोतिश्यन्, श्नम्, श्ना, श्नुरिति।"[1]

इसका भाव यह है कि यह सूत्र क्यों बनाया है जबकि "भूवादयो धातवः"[2] इस 'धातुसंज्ञाविधायक' सूत्र से ही 'सनादि' प्रत्ययन्तों की भी 'धातुसंज्ञा' सिद्ध हो सकती है। यहां यह कहना कि वह सूत्र तो धातुपाठ में पठितों की ही 'धातुसंज्ञा' करता है। ये 'सनादि' प्रत्ययान्त शब्द तो धातुपाठ में पढ़े नहीं गये अतः वह सूत्र पर्याप्त नहीं है, ठीक नहीं। क्योंकि फिर तो यह भी पूछा जा सकत है कि अन्य अपठित "अस्तेर्भूः", "ब्रुवो वचिः,', "चक्षिङः ख्याञ्"[3] इत्यादि सूत्रविहित 'भू' 'वच्' 'ख्याञ्' आदि की 'धातुसंज्ञा' कैसे होगी। यदि यह कहा जाये कि यद्यपि 'भू' -'वच्'-'ख्याञ्' ये आदेश धातुपाठ में पठित नहीं हैं तो भी इनकी प्रकृतियां 'अस्', 'ब्रू', 'चक्षिङ्' तो धातुपाठ में पठित ही हैं। वहां स्थानिवद्भाव से आदेशभूत इनकी भी 'धातुसंज्ञा' हो जायेगी तो वही बात यहां भी है। यद्यपि ये 'सनादि' प्रत्ययान्त शब्द धातुपाठ में नहीं पढ़े गये हैं तो भी जिनके अर्थ में इनका विधान है, वे प्रकृतियां तो धातुपाठ मे पढ़ी ही गई हैं। इच्छा में 'सन्' होता है, वह 'इष्' धातु धातुपाठ में पठित ही है। सुबन्त से विहित 'क्यच्' में भी 'इष्' धातु का इच्छा अर्थ ही प्रधान है। इसलिए वहां भी 'इष्' धातु ही स्थानी होगी, सुबन्त नहीं तो 'पुत्रीय' की धातु संज्ञा बन जायेगी।

आचार में 'क्यच्', 'क्यङ्' होते हैं। वह 'चर्' धातु धातुपाठ में पठित ही है। भृशादि लोहितादियों से 'भवति' के अर्थ में 'क्यङ्', 'क्यष्' होते हैं वह 'भू' धातु धातुपाठ में पठित ही है। 'कष्ट' से 'क्रमण' अर्थ में, 'शब्द', 'वैरादि', से 'करने अर्थ में 'क्यङ्' होता है, वह 'क्रम्' और 'कृ' धातु धातुपाठ में पठित ही हैं। 'पुच्छादि' शब्दों से 'उदसनादि' अर्थ में 'णिङ्' होता है वह 'असु क्षेपणे' इत्यादि धातु धातुपाठ में पठित ही है। 'वाष्प', 'ऊष्म' शब्दों से 'उद्वमन' अर्थ में 'क्यङ्' होता है, वह 'वम्' धातु धातुपाठ में पठित ही है। 'नमस्,' 'वरिवस्', 'चित्र,' 'मुण्ड', 'मिश्र' आदि शब्दों से 'करने' अर्थ में क्रम से 'क्यच्' और 'णिच्' प्रत्यय होता है। वह 'कृ' धातु धातुपाठ में पठित ही है। 'गुप्', 'तिज्', 'कित्', 'गुपू', 'धूप' आदि से जो स्वार्थिक प्रत्यय 'सन्,' 'आय' आदि होते हैं, उनका अपना

---

१. महा० भा० २, सू० ३.१.३२, पृ० ४२।

२. पा० १.३.१।

३. पा० २.४.५२, ५३, ५४।

निन्दा, रक्षण आदि अर्थ धातुपाठ में पठित ही है। एकाच् हलादि धातु से विहित 'यङ्' प्रत्यय के क्रिया समभिहार अर्थवाली 'हृ' धातु धातुपाठ में पठित ही हैं। इस प्रकार सभी १२ सनादि प्रत्ययान्तों के अर्थ धातुपाठ में पठित होने से तत्तदर्थ वाचक धातुत्व स्थानिवद्भाव से इनमें भी आ जायेगा तो "भुवादि" सूत्र से ही 'धातुसंज्ञा' सिद्ध हो जाने पर यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

यदि यह कहा जाये कि तब भी बात नहीं बनती। क्योंकि आदेश स्थानीवत् होता है और वह षष्ठीविभक्ति का जहां निर्देश है उसके स्थान में होता है। यहां 'इच्छादि' अर्थ में होने वाले 'सन्' आदि आदेश नहीं हैं किन्तु प्रत्यय हैं और न इनमें षष्ठीविभक्ति के निर्देश द्वारा आदेश विधान का कोई लक्षण है। ऐसी अवस्था में स्थानिवद्भाव कैसे होगा तो इसका उत्तर है कि आदेश के लिये यह कोई आवश्यक नहीं कि वह षष्ठीविभक्तिनिर्दिष्ट के स्थान में हो। 'आदिश्यते यः स आदेशः' इस यौगिक व्युत्पत्ति से जो भी आदिष्ट या निर्दिष्ट किया जाये वही आदेश है। जब ये 'इच्छादि' अर्थ में आदिष्ट किये हैं तो ये भी आदेश ही हैं। आनुमानिक भी तो आदेश होता है। जैसे—"एरुः"[1] यहां प्रत्यक्ष तो 'एः' इस षष्ठी के स्थान में 'उ' आदेश का विधान है किन्तु अप्रत्यक्षतः 'तेस्तुः' से तात्पर्य है। 'ति' के स्थान में 'तु' आदेश का विधान अनुमान से किया जाता है। तभी तो 'पचति' में 'ति' के स्थान में होने वाले 'तु' आदेश से 'पचतु' यह तिङन्त पद बनता है। अन्यथा केवल 'ति' की 'इ' के स्थान में 'उ' आदेश मानने से 'पचतु' की पदसंज्ञा नहीं बन सकती। इसलिये षष्ठी निर्देश के बिना भी आदिष्ट होने से ये 'सनादिप्रत्ययान्त' शब्द स्थानिवद्भाव से धातुसंज्ञक हो जायेंगे। इसमें कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। 'चिकीर्ष' में 'कर्तुमिच्छति' इस करणेच्छा वाली 'इष्' धातु के स्थान में 'चिकीर्ष' आदेश कल्पित कर लिया जायेगा। करणेच्छा युक्त 'इष्' 'चिकीर्ष' की स्थानी होगी। 'जिहीर्ष' में हरण इच्छा वाली 'इष्' धातु स्थानी होगी। 'पुत्रीय' में सुबन्त पुत्रकर्मक इच्छा वाली 'इष्' धातु स्थानी होगी। इसी तरह सब में समझना चाहिये। इसलिये अन्यथासिद्ध होने से यह सूत्र व्यर्थ ही है। इसीलिए आचार्य चन्द्र, शाकटायन तथा हैमचन्द्र ने अपने व्याकरणों में प्रस्तुत सूत्र को नहीं रखा है। केवल 'सन्', 'क्यच्', 'काम्यच्' आदि प्रत्ययों का वर्णन किया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहां पर भाष्यकार ने सनादिप्रत्ययान्त शब्दों की स्थानिवद्भाव से 'धातुसंज्ञा'

---

१. पा० ३.४.८६।

सिद्ध करके इस सूत्र का खण्डन कर दिया है। इच्छादि अर्थ में होने वाले 'सन्' आदि प्रत्ययों का स्थान्यादेशभाव कैसे होता है, यह भी दिखाया जा चुका है।[1] प्रश्न केवल इतना ही है कि इस सूत्र के बिना सनाद्यन्त शब्दों की 'धातुसंज्ञा' कैसे बनेगी। क्योंकि "संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति"[2] इस परिभाषा के वचन से प्रत्ययों की संज्ञा करने में तदन्तविधि नहीं होती है। तदादिविधि तो होती है। इसीलिए 'देवदत्तश् चिकीर्षति' में देवदत्तसहित को सन्नन्त नहीं माना जाता अपितु जिससे 'सन्' प्रत्यय किया है वह 'कृ' धातु है आदि में जिसके ऐसा 'चिकीर्ष' शब्द ही सन्नन्त है। अङ्गसंज्ञा भी 'सन्' परे रहते 'कृ' की ही होती है। उससे 'देवदत्तः प्राचिकीर्षत्' यहां 'चिकीर्ष' के अङ्ग होने से उसी से पूर्व अडागम होता है, देवदत्त से पूर्व नहीं। उक्त परिभाषा का फल यह है कि "तरप्-तमपौ घः"[3] यह 'घ' संज्ञा केवल 'तरप्', 'तमप्' प्रत्ययों की होती है, तरबन्त तमबन्त की नहीं। इसलिये 'कुमारी गौरितरा' यहां 'गौरितरा' के तरबन्त न होने से "घ रूप कल्पचेलड्"[4] सूत्र से 'कुमारी' शब्द को ह्रस्व नहीं होता। केवल 'तरप्' की 'घसंज्ञा' होने से उसके परे रहते 'गौरी' शब्द को ह्रस्व हो जाता है। उक्त परिभाषा से यहां भी तदन्त ग्रहण का निषेध होकर केवल 'सन्' आदि प्रत्ययों की ही 'धातुसंज्ञा' प्राप्त होती है, 'सनाद्यन्त' की नहीं। उससे 'सन्' आदि से पूर्व ही अङ्गसंज्ञा प्रयुक्त अडादि प्राप्त होंगे, सन्नन्त से पूर्व नहीं, यह दोष

---

१. वस्तुतः संस्कृत वैयाकरण एक शब्द से अन्य शब्द की परमार्थतः उत्पत्ति मानते ही नहीं। उनके अनुसार 'पा' धातु से 'सन्' प्रत्यय होकर 'पिपास' नाम का सन्नन्त धातु नहीं बनता अपितु जैसा 'पा' एक स्वतन्त्र धातु है वैसा 'पिपास' भी है। केवल शब्दार्थ सादृश्य के कारण लाघव करने के लिये एक से अन्य का उद्भव शब्दशास्त्र में दिखाया जाता है। दरअसल शब्दों के अपने-अपने प्रयोग के विषय निश्चित होते हैं। जैसे 'क्रोष्टृ' और 'क्रोष्टु', 'पाद' और 'पद', 'अस्' और 'भू' तथा 'ब्रू' और 'वच्' आदि के अपने-अपने प्रयोगक्षेत्र निश्चित हैं। उन-उन अर्थों में उनका अभिधान है, शास्त्र तो केवल उनका अन्वाख्यान या अनुमोदन करता है, ऐसे ही 'पा' और 'पिपास' भी अपने-अपने निश्चित प्रयोगक्षेत्र वाले स्वतन्त्र शब्द हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी यह मार्ग न्याय्य है। इसे ही प्राचीन वैयाकरणाचार्य 'बुद्धिविपरिणाम' कहते हैं।

२. परि० सं० २७।

३. पा० १.१.२२।

४. पा० ६.३.४३।

आता है। साथ ही "गुपूधूप०"[1] इत्यादि से शुद्ध स्वार्थ में होने वाले 'आयादि' प्रत्ययों का कौन स्थानी होगा जिसकी निवृत्ति करके उसके प्रसङ्ग में 'आयादि' होवें। इन आक्षेपों का समाधान करने के लिये भाष्यकार के प्रति भक्त्यतिशय दिखाते हुए प्रदीपकार कैयट कहते हैं—'कर्तुमिच्छतीति करणाङ्गे इष्यर्थे वर्तमानस्य इषेः प्रसङ्गे सर्वे सर्वपदादेशाः इति न्यायात् चिकीर्ष शब्दः सन्नन्तः आदिश्यते इति सिद्धं तदन्तस्य धातुत्वम्। एवं समभिहारविशिष्टलवनक्रियावाचि लू शब्दप्रयोगप्रसङ्गे लोलूयशब्दः आदिश्यते, गुपेः प्रसङ्गे गोपाय इति भगवतो भाष्यकारस्याभिप्रायः"।[2] इसका तात्पर्य प्रत्याख्याननिरूपण में प्रकट कर दिया गया है। शब्दकौस्तुभकार भी भाष्यकारोक्त सूत्र के प्रत्याख्यान का समर्थन करते हुए कहते हैं—"न च पुत्रीयादिरादेशः सुबन्तस्यैव न त्विषेरिति वाच्यम्, अणुरपि विशेषोऽध्यवसायकरः इतिन्यायेन प्रधान समर्पकस्य इषेरेव तदभ्युपगमात्। वा-क्यषः' इत्यादि लिङ्गैरपि धातुत्वस्यावश्यकत्वे स्थिते तन्निर्वाहाय इच्छायामाचारे भुवि इत्यादि क्रियासमर्पकाणामेव स्थानित्वनिर्णयाच्च[3]"। अर्थात् "वा क्यषः"[4] इत्यादि लिङ्गों से भी 'क्यष्' आदि प्रत्ययान्तों की 'धातुसंज्ञा' होती है और उसमें 'इच्छायाम्', 'आचारे', 'भुवि' इत्यादि क्रियासमर्पक शब्द ही स्थानी बन सकते हैं, यह ज्ञापित होता है। किन्तु उद्योतकार नागेश तो इस प्रकार को एकदेशी की उक्तिमानते हैं। उनकी दृष्टि में स्थानिवद्भाव से 'धातुसंज्ञा' नहीं सिद्ध हो सकती है। अतः यह सूत्र सनाद्यन्तों की 'धातुसंज्ञा' के लिए आवश्यक है।[5]

इस विषय में दो प्रकार के उदाहरण शास्त्र में मिलते हैं। प्रत्ययान्तों को मूलप्रकृति भी माना जाता है और नहीं भी। "उपसर्गात् सुनोति०"[6] सूत्र से जहां 'अभिषुणोति' यहां 'सु' धातु को षत्व होता है वहां 'अभिषावयति' यहां णिजन्त 'सावि' को भी षत्व हो जाता है। 'सावि' को भी मूल 'सु' ही समझकर तत्प्रयुक्त काम हो गया। "हेरचङि"[7] से जहां 'जिघीषति' यहां 'हि' धातु को कुत्व होता है

---

१. पा० ३.१.२८।

२. महा० प्र० सू० ३.१.३२ भा० ३ पृ० १०६।

३. श० कौ० सू० ३.१.३२, पृ ३६६।

४. पा० १.३.९०।

५. प्रकृत सूत्रस्थ महा० प्र० उ० भा० ३, पृ० १०६ 'भगवतो भाष्यकारस्येति—एकदेशिन इति शेषः अनेन इमेऽपि तर्हि यद्यपि इत्यादि भाष्यग्रन्थ एकदेशिनः उक्तिप्रत्युक्तिपरतया प्रौढिवाद एव इति ध्वनितम्'।

६. पा० ८.३.६५।

७. पा० ७.३.५६।

वहां 'जिघाययिषति' यहां 'हायि' इस णिजन्त को भी हो जाता है। परिभाषा भी है—"प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम्"।[1] 'हायि' यह णिजन्त भी 'हि' धातु ही है। इसी तरह 'गोपाय' भी 'गुप्' है। 'लोलूय' भी 'लू' है। 'चिकीर्ष' भी 'कृ-इष' है। 'पुत्रीय' भी 'पुत्र-इष' है इत्यादि। 'सन्' आदि 'णिङन्त' प्रत्ययान्त शब्द भी मूल धातु ही बन जाते हैं। इसके विपरीत 'न भा भू पू कमि०"[2] सूत्र में 'भा', 'भू' आदि धातुओं से णिजन्तों का ग्रहण न प्राप्त होने पर "ण्यन्तभादीनामुपसंख्यानम्"[3] इस वार्तिक से उनका उपसंख्यान करना पड़ा है। उससे 'प्रभानीयम्' के समान 'प्रभापनीयम्' में भीणत्व निषेध हो जाता है। वस्तुतः सनादि प्रत्ययान्तों की धातुसंज्ञा करने के लिये यह सूत्र रहना ही चाहिये। अन्यथा 'पुत्रीय' आदि की 'धातुसंज्ञा' के बोध में क्लिष्टता रहेगी। इसीलिये अर्वाचीन वैयाकरण पूज्यपाद देवनन्दी ने प्रकृत पाणिनीय सूत्र का प्रतिरूप स्थानापन्न "तदन्ता धवः"[4] यह सूत्र बनाया है। ऐसी स्थिति मेंप्रकृत सूत्र का अन्वाख्यान न्याय्य ही है॥

———

१. परि०सं०९१।
२. पा०८.४.३४।
३. पा०८.४.३४ पर वार्तिक।
४. जै०सू०२.१.२९। जैनेन्द्र व्याकरण में धातु को 'धु' शब्द से व्यवहृत किया गया है।

द्वितीय अध्याय

(परिभाषा सूत्रों का प्रत्याख्यान)

(न धातुलोप आर्धधातुके ।।१.१.४।।)

सूत्र का प्रतिपाद्य

पाणिनि ने उक्त सूत्र गुणवृद्धि के निषेध के लिए बनाया है। गुणवृद्धि स्थलों में इक्पदोपस्थितिविधायक "इको गुणवृद्धि"[1] इस पूर्ववर्ती परिभाषासूत्र का यह निषेध नहीं करता अपितु धातु के एकदेश या अवयव के लोप के निमित्त आर्धधातुकप्रत्यय परे रहने पर इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध करता है। इक् परिभाषा प्रोक्त इक् पदोपस्थिति का निषेध मानने पर तो 'बेभिदः', 'मरीमृजः' इत्यादि में 'दकार और 'जकार' व्यञ्जनों को गुण प्राप्त होने लगेगा और 'लोलुवः' 'पौपुवः' इत्यादि में गुण का निषेध न होकर सर्वथा गुण प्राप्त होगा।

यहां 'धातु' शब्द धातु के एकदेश या अवयव में लाक्षणिक है। क्योंकि पूरे धातु का लोप होने पर तो गुणवृद्धि का प्रसंग ही नहीं। यद्यपि 'दूरम्' यहां पूरे धातु का लोप भी सम्भव है। क्योंकि 'दुर्' उपसर्ग पूर्वक 'इण्गतौ' धातु से "दुरीणो लोपश्च"[2] इस औणादिक सूत्र द्वारा 'रक्' प्रत्यय और 'इण्' धातु का लोप हो जाता है। "रोरि"[3] से 'रेफ' का लोप तथा "ढ्रलोपे पूर्वस्याणो दीर्घः"[4] सूत्र से पूर्व 'अण्' को दीर्घ होकर 'दूरम्' निष्पन्न होता है। 'दु खेन ईयते प्राप्यते इति दूरम्'। तथापि यहाँ किसी भी प्रकार की गुण या वृद्धि की प्राप्ति न होने से निषेध करना व्यर्थ है। इसलिए 'धातु' शब्द की धातु के अवयव या एदेकश में लक्षणा मानी जाती है।

'धातुलोप' शब्द में बहुव्रीहिसमास है। और यह 'आर्धधातुक' का विशेषण है। 'धातोः लोपो यस्मिन्' अर्थात् धातु या धात्वेकदेश का लोप हुआ है जिस आर्धधातुक के परे होने पर वह 'आर्धधातुक धातुलोप' है—इस

---

१. पा० १.१.३।

२. उणादि, २.१७७।

३. पा० ८.३.१४।

४. पा० ६.३.१११।

प्रकार बहुव्रीहि समास मानने पर लोप और गुणवृद्धि दोनों का एक आर्धधातुक प्रत्यय निमित्त होगा तो गुणवृद्धि का निषेध यह सूत्र करेगा अन्यथा नहीं। 'धातोर्लोपो धातुलोपः' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास मानने पर तो लोप और गुणवृद्धि दोनों का एक आर्धधातुक प्रत्यय निमित्त नहीं बनता। इसलिए बहुव्रीहि समास को माना जाता है।

सूत्र में 'धातु' ग्रहण इसलिये किया है अनुबन्ध या प्रत्यय का लोप होने पर गुण वृद्धि का निषेध न हो। 'अनुबन्ध' लोप यथा—'लूञ्', 'लविता'। 'लवितुम्'। यहां 'लूञ्' के 'ञकार' अनुबन्ध का लोप हुआ है। वह धातु नहीं है क्योंकि क्रियावाचित्व केवल 'लू' में होने से वही धातु है।[1] इसलिए 'लविता' आदि में गुण का निषेध नहीं होता।

'प्रत्यय' लोप—'रेट्'। 'रिषतीति रेट्'।

यहां 'रिष्' धातु से "अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते"[2] सूत्र से 'विच्' प्रत्यय हुआ है। 'विच्' का सर्वापहारी लोप हो जाता है।[3] उसको प्रत्यय-लक्षण मान कर[4] लघूपध गुण[5] होता है यहाँ **'विच्'** प्रत्यय का लोप हुआ है, धातु का नहीं। इसलिये यहाँ गुण का निषेध नहीं हुआ।

'आर्धधातुक' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते गुणवृद्धि का निषेध न हो। जैसे—'रौरवीति', यहां [illegible]ुन्त 'रु' धातु से 'तिप्' प्रत्यय सार्वधातुक परे है। इसलिये सार्वधातुक गुण का निषेध नहीं हुआ।

इस प्रकार उक्त सूत्र का अर्थ हुआ कि जिस आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहने पर धातु के अवयव का लोप हुआ है, उसी आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मानकर प्राप्त होने वाले इग्लक्षण गुणवृद्धि नहीं होते। यहां धातु के अवयव का लोप तथा गुणवृद्धि की प्राप्ति दोनों एक ही आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मानकर होने चाहियें। किन्तु जब धातु के अवयव का लोप तो किसी अन्य को निमित्त मानकर हुआ हो तथा गुणवृद्धि किसी अन्य आर्धधातुक को निमित्त मानकर प्राप्त हों तब इस सूत्र की प्रवृत्ति न होकर गुणवृद्धि का निषेध प्रकृत सूत्र न कर सकेगा। जैसे—'भेद्यते', 'छेद्यते' आदि हैं। यहां णिजन्त 'भिद्', 'छिद्' धातुओं से 'यक्'

---

१. द्र०महा०भा०१, सू०१.३.१,पृ०२५४, "क्रियावचनो धातुः।"
२. पा०३.२.७५।
३. पा०६.१.६६ "वैरपृक्तस्य।"
४. पा०१.१.६२ "प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्।"
५. पा०७.३.८६'पुगन्तलघूपधस्य च'।

प्रत्यय हुआ है। धातु के अवयव 'णिच्' का लोप[1] तो 'यक्' प्रत्यय को मानकर हुआ है और गुण[2] 'णिच्' प्रत्यय को मानकर हुआ है अतः दोनों के भिन्न निमित्त होने के कारण उक्त सूत्र से लघूपध गुण का निषेध नहीं होता। इसके अतिरिक्त गुणवृद्धि भी इग्लक्षण ही होने चाहियें अर्थात् जहां "इको गुणवृद्धि" इस परिभाषा की प्रवृत्ति से गुण वृद्धि प्राप्त हों तो वहीं यह सूत्र गुणवृद्धि का निषेध करता है, अनिग्लक्षण में नहीं।[3] जैसे—'रागः', 'अभाजि' आदि हैं। यहां 'रञ्ज्' तथा 'भञ्ज्' आदि धातुओं के 'नकार' का लोप होने पर क्रमशः 'घञ्' और 'णिच्' प्रत्यय परे रहते "अत उपाधायाः"[5] सूत्र से उपधालक्षण वृद्धि हो जाती है। क्योंकि वह इग्लक्षणा वृद्धि नहीं है अपितु उपधाभूत अकारलक्षणा वृद्धि है। अतः इस सूत्र से उस वृद्धि का निषेध नहीं होता।

सूत्र के उदाहरण इस प्रकार हैं—'लोलुवः', 'पोपुव' 'मरीमृजः' इत्यादि। इन प्रयोगों में गुणवृद्धि का निषेध ही इसका प्रयोजन है। तद्यथा—'पुनः पुनः लुनाति इति लोलुवः'। 'पुनः पुनः पुनाति इति पोपुवः'। 'पुनः पुनः मार्ष्टि इति मरीमृजः'। यहां 'लोलूय', 'पोपूय' तथा 'मरीमृज्य' इन यङन्त धातुओं से "पचाद्यच्"[6] प्रत्यय करने पर "यङोऽचि च"[7] सूत्र से परे 'यङ्' प्रत्यय का (य्+अ =अच् हल सहित पूरे 'य' समुदाय का) लुक् हो जाता है। 'अच्' प्रत्यय को मानकर धातु के अवयव 'य' का लुक् (लोप) हुआ है तथा उसी 'अच्' प्रत्यय को निमित्त मानकर सार्वधातुक गुण[8] तथा "मृजेर्वृद्धिः"[9] से वृद्धि प्राप्त होती है। उन दोनों का इस सूत्र से निषेध हो गया तो 'लोलुव', पोपुवः' में 'उवङ्' होकर इष्ट रूप बन जाता है। 'मरीमृजः' में भी वृद्धि का निषेध होकर 'मरीमृजः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध हो जाता

---

१. पा० ६.४.५१ "णेरनिटि"।

२. पा० ७.३.८६ "पुगन्तलघूपधस्य च"।

३. द्र० महा० भा० १, सू० १.१.४, पृ० ५१ 'इक्प्रकरणान्नुम्लोपे वृद्धिः····'।

४. (क) पा० ३.४.२७ 'घञि च भावकरणयोः'।
   (ख) पा० ६.४.३३ 'भञ्जेश्च चिणि'।

५. पा० ७.२.११६।

६. पा० ३.१.१३४ "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः।"

७. पा० २.४.७४।

८. पा० ७.३.८४ 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'।

९. पा० ७.२.११४।

है। 'अच्' प्रत्यय आर्धधातुक है। उसको निमित्त मानकर धातु के अवयव का लोप हुआ है और उसी को निमित्त मानकर इग्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त होते हैं, जिनका निषेध उक्त सूत्र से होता है। यही इस सूत्र का प्रयोजन है।

स्थानिवद्भाव द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यकार तथा वार्तिककार दोनों ने इस सूत्र के प्रयोजन को अन्यथा सिद्ध करके इस सूत्र का खण्डन कर दिया है। इन्होंने स्पष्ट ही कहा है—

"अनारम्भो वा। अनारम्भो वा पुनरस्य योगस्य न्याय्यः"।[1] इनके अनुसार 'लोलुवः' 'पोपुव' 'मरीमृजः' इत्यादि जो, इस सूत्र के प्रयोजन हैं वे इस सूत्र के बिना भी सिद्ध किये जा सकते हैं। क्योंकि 'लोलुवः' इत्यादि में 'यङ्' प्रत्यय के पूरे अच् हल् समुदाय सहित 'य' (य्+अ) का लुक् न मानकर यदि "अतोलोपः"[२] से केवल यकारान्तर्वर्ती 'अकार' का लोप माना जाये तथा शेष 'य्' शब्द का यङोऽचि च" से लुक् स्वीकार किया जाये तब उस अवस्था में 'अकार' का लोप 'अच्' के स्थान में आदेश हो जाएगा तो "अचः परस्मिन्पूर्वविधौ" सूत्र से उस 'अकार लोप' को स्थानिवद्भाव मानकर उसका व्यवधान हो जाने से सार्वधातुक गुण तथा "मृजेर्वृद्धिः" दोनों की ही प्राप्ति नहीं होगी। 'स्थानिवद्भाव' एक सुगम उपाय है जो अनेक इष्ट प्रयोगों का साधक है। अच् हल् सहित पूरे 'य' शब्द का लोप तो केवल 'अच्' के स्थान में आदेश न होने से स्थानिवद्भाव' का विषय नहीं बनता इसलिए उसे अजादेश बनाने के लिए 'यङ्' के 'अकार' का लोप और 'य्' का लोप पृथक्-पृथक् मानना चाहिये। उससे कहीं पर दोष नहीं आता।

यहां यह कहना भी उचित नहीं कि "यङोऽचि च" तो पूरे 'य' शब्द का एक साथ लोप करने के लिए बनाया हैं वह अनवकाश होने के कारण "अतो-लोपः" को बाध लेगा। क्योंकि "यङोऽचि च" को बाधने के लिए "अतोलोपः" "यस्य हलः[३]" इन आगे आने वाले सूत्रों में 'यस्य' इतना अलग एक सूत्र-विभाग कर लिया जाएगा। उसमें "अतो लोपः" से 'अतः' की अनुवृत्ति करके 'यकार', के 'अकार' का लोप विशेष रूप से विधान करेंगे तो उससे "यङोऽचि च" की बाधा हो जाएगी, अकार का लोप अजादेश हो जाएगा तो उसके 'स्थानिवद्भाव' होने से गुणवृद्धि स्वतः रुक जायेंगे। उनके लिए "न धातु लोप०" इस सूत्र की

१. महा० भा० १ प्रकृतसूत्र पृ० ५२।
२. पा० ६.४.४८।
३. पा० १.१.५७।

कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।[1]

यदि यह कहा जाये कि 'लोलुवः' आदि में 'अल्लोपः' को 'स्थानिवद्भाव' मानकर उसका व्यवधान होने से सार्वधातुक गुण तो रुक जाएगा, किन्तु उस के बाद 'उवङ्' होकर, जो लघुपधगुण प्राप्त होगा, वह कैसे रुकेगा। इसके लिए "न धातु लोप०" सूत्र की आवश्यकता है, क्योंकि 'उवङ्' के आदिष्ट 'अच्' से पूर्व हो जाने के कारण वहाँ 'स्थानिवद्भाव' भी नहीं हो सकता। तो इसका उत्तर है कि 'लोलुव +अ' इस अवस्था में 'उवङ्' आदेश के आदिष्ट 'अच्' से पूर्व हो जाने पर भी उसे स्थानी 'लोलू' के द्वारा अनादिष्ट 'अच्' से पूर्व मानकर अकार लोप के 'स्थानिवद्भाव' होने में कोई आपत्ति नहीं। क्योंकि 'अकार' के स्थान में लोप रूप आदेश होने से पूर्व 'लोलू' विद्यमान है। इस प्रकार 'उवङ्' हो जाने पर भी 'स्थानिवद्भाव' से ही लघूपध गुण की निवृत्ति हो जाएगी तो इस निषेध सूत्र का कोई औचित्य नहीं।[2]

यङन्त 'जंगम्य' धातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर 'जंगमः' यह रूप बनता है। यहां यह कहना उचित नहीं कि 'यङ्' के अकार लोप को 'स्थानिवद्भाव' मानकर 'अच्' परे हो जाने से "गम हन जन खन घसाम्०"[3] सूत्र से 'गम्' धातु की उपधा का लोप प्राप्त होता है। क्योंकि स्थानिवद्भाव मानने पर भी साक्षात् अजादि प्रत्यय परे विद्यमान नहीं है। साथ ही यह बात भी तो है कि 'यङ्' के 'अकार' लोप को स्थानिवद्भाव मानने से वह 'अङ्' बन जाएगा। उस अवस्था में 'अनङि' यह निषेध स्पष्ट ही है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

जहां इस सूत्र की स्थापना मजबूत है, वहां इसका प्रत्याख्यान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। युक्ति-प्रयुक्ति-पूर्वक 'स्थानिवद्भाव' द्वारा उक्त सूत्र का निराकरण किया गया है। भाष्यकार की तो यह शैली ही रही है कि वे जैसा

---

१. द्र० महा० २ प्रकृतसूत्र, पृ० ५३ 'अल्लोपे योगविभागः करिष्यते। अतो लोपः। ततो यस्य। यस्य च लोपो भवति। अत इत्येव। किमर्थमिदम्। लुकं वक्ष्यति तदाधनार्थम्।'

२. द्र० प्रकृत सूत्रस्थ त० बो० 'न चैवमपि लोलुव इत्यादावुवङ्कृते लघूपधगुणः स्यात् तद्वारणाय निषेधोऽयमावश्यकः। उवङः आदिष्टादचः पूर्वत्वेन लघूपधगुणे कर्तव्ये स्थानिवत्त्वाभावादिति वाच्यम्, स्थानिद्वारानादिष्टादचः पूर्वत्वेन उवङो दृष्टत्वात्।'

३. पा० ६.४.९८।

समय देखते हैं वैसा समाधान कर देते हैं। "पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति"[1] इस न्याय का आश्रयण करते हुए वे खण्डन करते समय मण्डनीय वस्तु का भी खण्डन करने से नहीं चूकते। जैसे—'लृकारोपदेश' के समर्थन के समय शब्दों की चतुष्टयी प्रवृत्ति स्वीकार की तथा जाति शब्द, गुणशब्द तथा क्रिया शब्दों के साथ यदृच्छा शब्दों की सत्ता को भी मान लिया। बाद में जब लृकारोपदेश के प्रत्याख्यान का समय आया तो चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति न मानकर केवल त्रयी प्रवृत्ति को ही अङ्गीकार कर लिया। "न सन्ति यदृच्छा शब्दाः" कह कर यदृच्छा शब्दों की सत्ता को ही समूलोन्मूलित कर दिया। ऐसी स्थिति में भाष्यकार का क्या सिद्धान्त है—यह जानना बहुत कठिन है। इन्होंने दोनों बातें मान भी लीं तथा दोनों को उखाड़ भी दिया। भाष्यकर की यह विचित्र शैली प्रायः समस्त भाष्य ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है।

वैसे इस सूत्र के निर्माण में संभवतः पाणिनि की भी विशेष अभिरुचि नहीं थी, क्योंकि पाणिनि के ही सूत्रों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि पाणिनि भी परोक्ष रूप से "न धातु लोप०" सूत्र को प्रत्याख्येय समझते हैं, किन्तु जो सूत्र एकबार पढ़ दिया उसे आचार्य लोग हटाया नहीं करते।[2] इसलिए सूत्र-पाठ में उक्त सूत्र यथास्थान विद्यमान है। इसीलिए इन्होंने 'धिनोति', कृणोति' इन प्रयोगों की सिद्धि के लिए "धिन्विकृण्व्योरच"[3] सूत्र की रचना की। इसमें उन्होंने 'धिन्व्', 'कृण्व्' धातुओं से 'उ' प्रत्यय करके साथ ही प्रत्यय-सन्नियोग से 'धिन्व्', 'कृण्व्' के अन्तिम 'वकार' के स्थान में 'अकार' आदेश का विधान भी किया है। 'उ' प्रत्यय आर्धधातुक है। उसके परे रहते 'वकार' स्थानीय 'अकार' का "अतो लोपः"[4] से लोप हो जाता है। 'अकार' का लोप हो जाने पर 'धिन्', कृण्' इस अवस्था में लघूपध गुण प्राप्त होता है। उसको रोकने के लिए "अचःपरस्मिन् पूर्वविधौ"[5] सूत्र से 'अकार' लोप का 'स्थानिवद्भाव' माना जाता है। इतरथा गुण रुक नहीं सकता। फिर क्या कारण है कि पहले तो "धिन्विकृण्व्योरच" सूत्र से 'उ' प्रत्यय के साथ 'धिन्व्' 'कृण्व्' के 'व्' को 'अ' किया। फिर उसका लोप किया जिससे अल्लोप को 'स्थानिवद्भाव' मानकर गुण

---

१. महा० भा० १ ऋलृक् सूत्र, पृ २०।
२. द्र० महा० पस्पशा, पृ० १२ 'न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति।'
३. पा० ३.१.८०।
४. पा० ६.४.४८।
५. पा० १.१.५७।

रुक सके ।

इसकी अपेक्षा यह अधिक अच्छा रहता है कि "धिन्विकृण्व्योरच" की जगह "धिन्विकृण्व्योर्लोपश्च" ऐसी सूत्र रचना होती जिससे 'धिन्व्', 'कृण्व्' के 'वकार' का लोप होकर 'उ' प्रत्यय परे रहते 'धिनोति', 'कृणोति' रूप सिद्ध हो सकें। किन्तु पाणिनि देखते हैं कि "अ च" की जगह "लोपश्च" कहने पर 'उ' प्रत्यय परे रहते प्राप्त होने वाला लघूपध गुण कैसे रुक सकेगा। "अ च" कहने पर तो "अतो लोपः" से उसका 'स्थानिवद्भाव' मानकर गुण रोक लिया जायेगा। इसलिये इतना गौरव कर रहे हैं कि पहले 'अ' का विधान करें और फिर उसका लोप करें। किन्तु जब 'अकार' का लोप करना ही है तो क्यों न सीधा 'धिन्व्,' 'कृण्व्' के 'वकार' का ही लोप विधान कर दिया जाये। उसमें लाघव भी है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में यदि यह कह दिया जाये कि "धिन्विकृण्व्योर्लोपश्च" ऐसा सूत्रन्यास करने पर फिर गुण कैसे रुकेगा तो उत्तर स्पष्ट है कि "न धातुलोप०" सूत्र से गुण का निषेध हो जाए। क्योंकि आर्धधातुक 'उ' प्रत्यय के परे रहते 'धिन्व्', 'कृण्व्' धातुओं के अवयव 'वकार' का लोप हुआ है इसलिए प्राप्त होने वाले इग्लक्षण लघूपध गुण का "न धातु लोप०" सूत्र से निषेध स्पष्ट ही है। ऐसा मानने में कहीं पर दोष नहीं आता। किन्तु आचार्य देखते हैं कि यदि "न धातुलोप०" सूत्र विद्यमान न हो, जैसा कि आगे आने वाले वार्तिककार तथा भाष्यकार ने इसका खण्डन कर दिया है, तो उस अवस्था में 'धिनोति', 'कृणोति', में प्राप्त लघूपध गुण निवृत्ति का क्या समाधान होगा? किन्तु "न धातुलोप०" सूत्र विद्यमान क्यों नहीं होगा जब इन्होंने स्वयं इसका निर्माण किया है किन्तु बाद में आने वाले कात्यायन तथा पतंजलि ने उसका प्रत्याख्यान भी तो कर दिया है। उस समय सूत्रकार एवं प्रत्याख्यानवादियों की प्रतिस्पर्धा में शायद प्रत्याख्यानवादी का मत प्रबल माना जाये, सम्भवतः इस भविष्य की आशंका से पाणिनि ने "धिन्विकृण्व्योर्लोपश्च" ऐसा सूत्र न बना करके "धिन्विकृण्व्योरच" ऐसा सूत्र बनाया।[1]

---

१. प्रौढ़मनोरमास्थ लघुशब्दरत्न, सं० सीताराम शास्त्री भा० १ सू० १.१.२६, पृ० ३४४-४५ 'एतदेवाभिप्रेत्य धिन्विकृण्व्योरच इति सूत्रे किमर्थमत्वविधीयते वलोप एवास्तु इत्याशङ्क्य अत्वे अल्लोपे तस्य स्थानिवत्वेन गुणाभावाय तत्। न च वलोपेऽपि न धातु इति गुणनिषेधः सिद्ध इति वाच्यम्। तत्प्रत्याख्यानपक्षे गुणप्राप्तेरित्युक्तम्। अनेन सूत्रमतात् प्रत्याख्यानवादिमतं प्रबल-

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वयं पाणिनि भी इस सूत्र के प्रत्याख्यान को मौन संवेदन द्वारा स्वीकार करते हैं। जब व्याकरण के आधारभूत मुनि-त्रय ही इस सूत्र के प्रति उदासीन हैं, तब इसके प्रत्याख्यान में अन्य किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। ऐसी स्थिति में आचार्य चन्द्रगोमिन् आदि प्रमुख अर्वाचीन वैयाकरणों द्वारा इस सूत्र को अपने-अपने तन्त्रों में रखना[1] लाघव की दृष्टि से विचारणीय ही कहा जायेगा[2]॥

एच इग्घ्रस्वादेशे ॥ १. १. ४८ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह परिभाषासूत्र या नियमसूत्र है। इसका अर्थ है कि 'एचों' को ह्रस्व के प्रसङ्ग में अर्थात् शास्त्र द्वारा ह्रस्व करते समय 'इक्' ही ह्रस्व होते हैं, अन्य नहीं। 'एचों' में 'ए', 'ओ', 'ऐ', 'औ' ये चार वर्ण आते हैं। ये चारों सन्ध्यक्षर हैं। 'ए' में 'अ', 'इ', 'ओ' में 'अ', 'उ' मिले हुए हैं। इसी प्रकार 'ऐ' में 'अ', 'इ' और 'औ' में 'अ', 'उ' मिले हुए हैं। 'ए', 'ओ' में अकार इस प्रकार प्रश्लिष्ट है कि पांसूदकवत् उसका विभाग नहीं किया जा सकता। 'ऐ', 'औ' में अकार कुछ विश्लिष्ट हैं, उसका विभाग किया जा सकता है। 'इ', 'उ' तो स्पष्ट ही अधिक मात्रा वाले 'ऐ', 'औ' के उच्चारण में अनुभव होते हैं। 'इक्' प्रत्याहार में 'इ', 'उ', 'ऋ', 'लृ' ये चार वर्ण हैं। उनमें 'ऋ', 'लृ' का ह्रस्व-प्रसङ्ग न होने से उनका इस सूत्र में कोई प्रयोजन नहीं। 'ए', 'ओ' को जब किसी सूत्र से ह्रस्व की प्राप्ति

मिति प्रत्याख्यानवादिसंमतलक्ष्यमेव कथञ्चित् सूत्रमतेऽपि साध्यम्, न तु विपरीतंसम्भवे। अन्यथा सूत्रमप्रमाणमेवेति च प्रत्याख्यानं सूत्रसंमतमिति च ध्वनितम्।'

१. (क) चा० सू० ६.२.१२, 'अतिङ्याच्च तल्लोपे'।
(ख) जै० सू० १.१.१८ न घुखेऽगे'।
(ग) शा० सू० २.२.१७ 'अक्ङिल्लुग्घेतौ'.
(घ) स० सू० ७.२.१० 'यङ् यक् क्यलोपे वृद्धिश्चातिङि'।
(ङ) है० सू० ४.३.११ 'न वृद्धिश्चाञ्ञिति क्ङिल्लोपे'।

२. प्रस्तुत सूत्र लेखक के एक शोध लेख के रूप में भी प्रकाशित हो चुका है— Annals of the Bhandarkar oriental Reseach Institute Poon—A Citigue on Paninis, sutra Na Dhatu lopa Ardhadhatuke, Vol. LXIV pp. 241-48 1983.

होगी तो उनमें अकार के प्रश्लिष्ट होने के कारण अकार तो ह्रस्व न होगा। परन्तु किन्हीं आचार्यों के मत में एकमात्रिक ह्रस्व एकार, ओकार माने गये हैं।[1] उन एकमात्रिक 'ए', 'ओ' की प्राप्ति अवश्य होगी। उसको रोकने के लिए यह सूत्र है कि 'ए', 'ओ' को 'इक्' अर्थात् 'इ', 'उ' ही ह्रस्व हों। ह्रस्व माने हुए 'ए', 'ओ' न हों।

इसी प्रकार 'ऐ', 'औ' इन दोनों वर्णों में अकार का विभाग संभव होने से अकार भी ह्रस्व प्राप्त होता है और 'इ', 'उ' भी। इस सूत्र के नियम से 'इ', 'उ' ही ह्रस्व होंगे, अकार नहीं। जैसे—'सुद्यु दिनम्'। 'उपगु'। यहां 'शोभना द्यौः यस्मिन् दिने तत् सुद्यु'। 'गोः समीपम् उपगु' इन प्रयोगों में 'द्यो' और 'गो' शब्द जो ओकारान्त हैं, उनको नपुंसकलिङ्ग की विवक्षा में 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य''[2] से ह्रस्व करते हुए उकार ही ह्रस्व होता है। क्योंकि प्रकृत नियम से 'इक्' ही ह्रस्व होना है, अन्य वर्ण नहीं। 'प्रकृष्टा रामः यस्मिन् कुले तत् प्ररि'। 'शोभना नावः यस्मिन् सरसि तत् सुनु'। यहां 'रै' और 'नौ' शब्दों को ह्रस्व करने में इकार, उकार ही ह्रस्व होते हैं, अकार नहीं। एकारान्त शब्द का उदाहरण प्रयोग में संभव नहीं है कल्पित करना होगा। इस प्रकार सूत्र का प्रयोजन उदाहरण सहित सिद्ध हो जाता है।

लोकव्यवहार द्वारा अन्यथासिद्धि अथवा स्वतः सिद्धि होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान में वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों सहमत हैं। प्रत्याख्यान विषयक वार्तिक हैं—'सिद्धमेङः सस्थानत्वात्। ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्''[3]। इनका भाव यह है कि 'एङ्' अर्थात् 'ए', 'ओ' वर्णों के समान स्थान वाले एकमात्रिक ह्रस्व एकार, ओकार, जो किन्हीं आचार्यों ने माने हैं, वह उनका अपना स्वतन्त्र मत है, पार्षद कृति है। क्योंकि न तो लोक में और न

---

१. महा० भा०, सू० १.१.४८, पृ० ११७ 'ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीयाः अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते। सुजाते ए अश्व सूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्। शुक्रं ते ए अन्यद्यजतं ते ए अन्यदिति'। गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण तथा निर्णयसागर संस्करणों में थोड़ा पाठान्तर मिलता है—'सुजाते एश्वसूनृते, अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्' इत्यादि।

२. पा० १.२.४७।

३. महा० भा० १, सू० १.१.४८, पृ० ११७-१८।

किसी वेद की शाखा में ही एकमात्रिक ह्रस्व एकार, ओकार उपलब्ध होते हैं।[1] इसलिये वे तो ह्रस्व होंगे ही नहीं। अकार प्रश्लिष्ट होने के कारण विभक्त नहीं हो सकता तो पारिशेषानुमान से 'इ', 'उ' ही ह्रस्व होंगे, अन्य कोई नहीं। इस प्रकार 'एङ्' अर्थात् 'ए', 'ओ' के लिये तो इस सूत्र की आवश्यकता नहीं। 'ए' 'ओ' को ह्रस्व प्राप्ति में 'इक्' ही ह्रस्व होगा, यह सिद्ध हो जाता है। तालव्य एकार के स्थान में तालव्य इकार का होना और ओष्ठ्य ओकार के स्थान में ओष्ठ्य उकार का होना ही एष्टव्य है।

अब रह गये 'ऐच्' अर्थात् 'ऐ', 'औ' 'इनमें भी अकार, इकार की मात्रा में अकार की अपेक्षा इकार की मात्रा का आधिक्य होने से इकार ही ह्रस्व होगा, अकार नहीं। जैसे किसी गांव में ब्राह्मण अधिक हों तो वह 'ब्राह्मणों का गांव' कहलाता है। ब्राह्मणों के आधिक्य या बाहुल्य से उस गांव का नाम ही 'ब्राह्मणों का गांव' पड़ जाता है। यद्यपि उस गांव में कम से कम कुम्हार, चमार, बढ़ई, नाई और धोबी ये पांच शिल्पी तो अवश्य ही होते हैं। फिर भी ब्राह्मणों के अधिक होने से गांव का नाम 'ब्राह्मणवास' प्रसिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'ऐ', 'औ' में अकार की मात्रा के अल्प होने से तथा इकार, उकार की मात्रा के अधिक होने से अधिक मात्रा वाले की बात मानी जायेगी तो इकार, उकार ही ह्रस्व होंगे, अकार नहीं। इसलिये 'ऐ', 'औ' के लिये भी इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है।[2] इस प्रकार व्यर्थ होने से या लोक-व्यवहार द्वारा अन्यथासिद्धि होने से यह सूत्र प्रत्याख्येय है।

---

१. 'अराद्ध्या एदिधिषुः पतिम्' (मा० यजु० ३०.९) में 'एदिधिषु पतिम्' ऐसा पदपाठ मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (भा० २, ३.४.१.४, पृ० ६५९) में तो 'अराध्यै दिधिषुपतिम्' ऐसा पाठ मिलता है। लौकिकसाहित्य में भी 'दिधिषुपतिः' पाठ प्रसिद्ध है। अमरकोष (२.६.२३) में 'पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषुः पतिः' अर्थात् दुबारा ब्याही गई स्त्री के पति को 'दिधिषूपति' कहते हैं। 'ए दिधिषुः पतिम्' यह पाठ माध्यन्दिन संहिता को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता। यदि कोई वहां 'अराद्ध्यै'+ए=अराद्ध्या ए' इस प्रकार अर्ध एकार मानकर परे 'दिधिषुः पतिम्' ऐसा पदपाठ मानने की कल्पना करता है तो वह भी उसकी पार्षद कृति ही मानी जायेगी। अतः अर्ध एकार तथा अर्ध ओकार लोक वेद में कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होते।

२. महा० भा० १, सू० १.१.४८, पृ० ११८ 'ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वादवर्णो न भविष्यति। भूयसी मात्रा इवर्णोवर्णयोरल्पीयसी अवर्णस्य। भूयस

समीक्षा एवं निष्कर्ष

"ए ओङ्" "ऐ औच्" सूत्र के भाष्य में भी इस सूत्र की आवश्यकता पर विचार किया गया है। वहां "अतपर एच इग्ह्रस्वादेशे"[1] इस वार्तिक द्वारा 'ए', 'ओ', 'ऐ', 'औ' के अतपर पक्ष में इसकी आवश्यकता बताकर अन्त में इसका प्रत्याख्यान ही उचित माना गया है। यहां तो स्पष्ट ही इसका खण्डन कर दिया है। अतः पाणिनि की दृष्टि में मन्दबुद्धियों के लिये स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ होते हुए भी व्युत्पन्न बुद्धियों के लिये यह सूत्र अनावश्यक ही है।

यहां 'एङ्' के विषय में विशेष विचारणीय यह है कि यदि किसी प्रातिशाख्य में 'एङ्' ('ए', 'ओ') के सस्थानतर अर्ध एकार, अर्ध ओकार अर्थात् ह्रस्व एकार, ओकार माने गये हैं तो वे आचार्य पाणिनि के द्वारा अपने शास्त्र में स्वीकार्य नहीं हैं। यदि वे स्वीकार्य होते तो आचार्य प्रत्याहार सूत्रों में वर्णों का उपदेश करते हुए ह्रस्व एकार, ओकार ही पढ़ लेते। उनके 'अण्' होने से "अणुदित्०"[2] इस ग्रहणक शास्त्र से वे अपने सवर्णी, दीर्घ, प्लुत एकार, ओकार का भी ग्रहण करा देते। जैसे "अ इ उण्" में ह्रस्व अकारादि पढ़े हुए अपने दीर्घ प्लुत आदि सवर्णियों का भी ग्रहण कराते हैं। "अदेङ् गुणः"[3] इस पर स्थल में दीर्घ एकार ओकार ही पढ़ दिये जाते तो इष्टसिद्धि हो सकती थी, किन्तु आचार्य ने वे नहीं पढ़े। इससे जाना जाता है कि वे सर्वमान्य नहीं हैं, केवल पार्षद कृति हैं। प्रकृत सूत्रस्थ तथा "ए ओङ्", "ऐ औच्" सूत्रों के भाष्य में पतंजलि लिखते हैं— "न तौ स्तः। यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत्" इत्यादि। अतः परिशेषानुमान से 'ए', 'ओ' में 'इ', 'उ' ही ह्रस्व होंगे। अकार तो अत्यन्त प्रश्लिष्ट होने के कारण अविद्यमान प्राय है अतः उसके ह्रस्व होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

'ऐच्' ('ऐ' 'ओ') के विषय में भी स्मरणीय है कि उन दोनों में भी आधी

एव ग्रहणानि भविष्यन्ति। तद्यथा—ब्राह्मणग्राम आनीयतामित्युच्यते तत्र चावरत पञ्चकारुकी भवति'। इसी स्थल पर द्र० महा० प्र० उ० भा०, पृ० ३५६ 'कुलालकर्मारवर्धकिनापितरजकाः इती पञ्चकारुकी'।

१. महा० भा० १, सू० एओङ् ऐ औच्, पृ० २२।

२. पा० १.१.६६।

३. पा० १.१.२।

मात्रा अवर्ण की है और डेढ़ मात्रा इवर्ण, उवर्ण की है। इस प्रकार वे द्विमात्रिक बनते हैं। इनमें इवर्ण, उवर्ण की मात्रा अधिक होने से 'ब्राह्मणग्राम' एवं 'मल्लग्राम' न्याय से 'इ', 'उ' ही ह्रस्व होंगे, अवर्ण नहीं। यदि 'ऐ', 'औ' में अवर्ण और इवर्णोवर्ण की मात्रा का समान प्रविभाग मानते हैं अर्थात् मात्रा अवर्ण की तथा मात्रा ही इवर्ण उवर्ण की, दोनों मिलकर द्विमात्रिक 'ऐ', 'औ' बनते हैं जैसा कि "प्लुतावैच इदुतौ"[1] सूत्र भाष्य में समप्रविभाग माना गया है। वहां इकार, उकार को प्लुत करने पर तीन मात्रायें इकार, उकार की और एक मात्रा अकार की मिलकर चार मात्रा वाला प्लुत इष्ट है। कहा भी है—"चतुर्मात्रः प्लुत इष्यते"[2]। उस पक्ष में भी 'ऐ', 'औ' के उच्चारण में 'इ', 'उ' इन अन्तिम वर्णों का श्रवण मुख्य होने से 'इ', 'उ' ही ह्रस्व होंगे, अवर्ण नहीं। "तालव्यावेकारचवर्गो इकारैकारौ, यकारः शकारः शेष ओष्ठ्योपपाद्यः"[3] इस सूत्र में 'ऐ', 'औ' को भी 'इ', 'उ' के समान केवल तालु और केवल ओष्ठस्थान वाला माना गया है, कण्ठतालु और कण्ठोष्ठ नहीं। तब तो स्पष्ट ही स्थान-तौल्य होने से इकार, उकार ही ह्रस्व होंगे। इस प्रकार 'एङ्' और 'ऐच्' दोनों में 'इ', 'उ' के ही ह्रस्वसिद्ध हो जाने से यह सूत्र अनावश्यक हो जाता है। इसलिये इसका प्रत्याख्यान उचित ही है। इस विषय में शब्दकौस्तुभ तथा तत्त्व-बोधिनी भी सम्मत है। इसकी अनावश्यकता के कारण ही अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी इसे अपने-अपने तन्त्रों में नहीं पढ़ा है। अतः कुल मिलाकर यह सूत्र प्रत्या-ख्येय ही ठहरता है।

षष्ठी स्थानेयोगा ॥ १. १. ४९ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह परिभाषा सूत्र है। यह षष्ठीविभक्ति के अर्थ-सम्बन्ध का निश्चय करता है। लोक या शास्त्र में षष्ठी के, जो एक सौ से ऊपर अनेक अर्थ हैं[4] वे सब षष्ठी का उच्चारण करने पर प्रसङ्गानुसार प्राप्त होते हैं। यह सूत्र नियम कर

---

१. पा० ८.२.१०६।

२. द्र० महा० भा० ३, सू० ८.२.१०६, पृ० ४२१ 'इष्यत एव चतुर्मात्रः प्लुतः'।

३. ऋक्० प्रा० १.१९।

४. द्र० महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ११८ 'एकशतं षष्ठ्यर्था यावन्तोवा…।'

देता है कि शास्त्र में, जो षष्ठी किसी निश्चित अर्थ सम्बन्ध वाली नहीं है, वह स्थानयोगा होती है, उसका स्थान से सम्बन्ध होता है। जैसे—"अस्तेर्भूः"[१] यहां 'अस्ते' इस षष्ठी का कोई निश्चित अर्थ सम्बन्ध नहीं कहा है तो यह स्थान अर्थ वाली होगी। 'अस्तेः' का अर्थ 'अस् के स्थान में' होकर उसके स्थान में 'भू' आदेश हो जाता है, यह उस सूत्र का अर्थ निश्चित बनता है। इसी प्रकार "ब्रुवो वचिः"[२] यहां 'ब्रू' के स्थान में 'वचि' आदेश होता है। "इको यणचि"[३] यहां 'इक्' के स्थान में 'यण्' आदेश होता है, इत्यादि शास्त्रीय अर्थ सिद्ध होते हैं।

जिस षष्ठी के अर्थ का सम्बन्ध पहले से निश्चित है वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। अनिश्चित षष्ठी के अर्थ में ही यह सूत्र स्थानसम्बन्ध का नियम करता है। 'ऊदुपधाया गोहः"[४] "शास उदङ्हलोः"[५] यहां उभयत्र 'गोहः' और 'शासः' ये षष्ठियां निश्चित अर्थसम्बन्ध वाली हैं इसीलिये यहां 'गोहः' का अर्थ 'गोह के स्थान में और 'शासः' का अर्थ 'शास्' के स्थान में नहीं होगा। 'गोहः' की षष्ठी 'उपधायाः' इस षष्ठी के प्रति निश्चित अर्थ वाली है। 'गोह्' की जो उपधा या 'शास्' की जो उपधा इस प्रकार 'गोह' की अवयवभूत उपधा के स्थान में अथवा 'शास्' की अवयवभूत उपधा के स्थान में क्रमशः ऊकार और इकार होते हैं, यह अर्थ परिष्कृत होता है। 'गोहः' और 'शासः' की अवयवषष्ठी का निश्चय होने पर वहां स्थानसम्बन्ध नहीं होगा। केवल 'उपधायाः' इस षष्ठी के अर्थ-सम्बन्ध का अनिश्चय होने के कारण वहां स्थानसम्बन्ध होकर 'उपधा के स्थान में' ऐसा अर्थ स्थिर हो जाता है। यदि निर्णीत सम्बन्ध वाली षष्ठी में भी स्थान का सम्बन्ध माना जाये तो 'गोहः' के स्थान में और किसी धातु की उपधा के स्थान में अथवा 'शास्' के स्थान में और किसी धातु की उपधा के स्थान में क्रमशः ऊकार, इकार होते हैं, ऐसा अनिष्ट अर्थ प्रसक्त हो जायेगा। उसकी व्यावृत्ति के लिये अनिश्चित सम्बन्ध वाली षष्ठी में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, यह सिद्धान्तरूप से माना जाता है।

परिभाषा द्वारा गतार्थ होने के कारण सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार कात्यायन प्रकृत सूत्र के खण्डन में मौन हैं। इसलिये उन्होंने

---

१. पा० २.४.५२।

२. पा० २.४.५३।

३. पा० ६.१.७७।

४. पा० ६.४.८९।

५. पा० ६.४.३४।

सूत्र की सार्थकता को स्वीकार करते हुए इसके प्रयोजनमात्रों का अन्वाख्यान किया है। किन्तु इतना उपयोगी और नियमविधायक सूत्र होने पर भी भाष्यकार पतंजलि पूर्ण अभीष्ट अर्थ की सिद्धि न होने के कारण इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहते है—"यदि नियमः क्रियते, यत्रैका षष्ठी अनेकं च विशेष्यं तत्र न सिध्यति। अङ्गस्य हलः अणः, सम्प्रसारणस्येति। हलपि विशेष्यः, अणपि विशेष्यः सम्प्रसारणमपि विशेष्यम्। असति पुर्नियमे कामचारः एकया षष्ठ्या अनेकं विशेषयितुम्।"[1]

इनके कहने का तात्पर्य है कि उक्त सूत्र द्वारा षष्ठी के अर्थ सम्बन्ध का नियम बन जाने पर 'अङ्गस्य' यह एक ही षष्ठी 'अणः', 'सम्प्रसारणस्य' इत्यादि अनेक षष्ठियों के साथ कैसे विशेषणविशेष्यभाव को प्राप्त होगी अर्थात् 'अङ्ग' के अवयव 'हल्' से परे जो 'सम्प्रसारणान्त अङ्ग' उसके 'अण्' को दीर्घ होता है, यह "हलः"[2] सूत्र का अर्थ कैसे निश्चित किया जा सकेगा। सभी षष्ठियां अपने-अपने अर्थ में स्वतन्त्र हैं। सभी का 'स्थान' अर्थ हो जायेगा तो 'अङ्ग' के स्थान में, 'हल्' से परे जो 'सम्प्रसारण' है, उसके स्थान में फिर 'अण्' के स्थान में 'सम्प्रसारण' होता है, ऐसा असम्बद्ध अनिष्ट अर्थ प्राप्त होगा। जब यह नियम सूत्र नहीं बनाया जाता है तो स्वतन्त्र इच्छा होगी कि किसी षष्ठी को विशेष्य माना जाये, किसी को विशेषण। किसी को अवयवषष्ठी तथा किसी को स्थान-षष्ठी मानकर अभीष्ट अर्थ सिद्ध कर लिया जायेगा। जैसे—'देवदत्तस्य पुत्रः पाणिः, कम्बलः' यहां एक ही 'देवदत्तस्य' यह षष्ठी 'पुत्र' के प्रति जन्य-जनकभाव सम्बन्ध वाली है। 'पाणि' (हाथ) के प्रति अवयवावयविभाव सम्बन्ध वाली है। 'कम्बल' के प्रति स्वस्वामिभाव सम्बन्ध वाली है। इसलिये षष्ठी के अर्थ का कोई नियम न बनाकर उसे स्वतन्त्र छोड़ दीजिये। प्रेक्षावान् मनीषी लोग उसके अर्थ का प्रकरणानुसार यथोचित उपयोग कर लेंगे।

यहां यह शङ्का करना ठीक नहीं कि इस नियमसूत्र के अभाव में 'स्थान' अर्थ के साथ-साथ 'अनन्तर', 'समीप' आदि अर्थ भी प्रसक्त होंगे। "इको यणचि"[3] का अर्थ 'इक्' के स्थान में 'यण्' होता है, ऐसा न होकर 'इक्' के समीप या अव्यवहित 'यण्' होता है, ऐसा अनिष्ट अर्थ भी होने लगेगा। क्योंकि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्"[4] इस ज्ञापकसिद्ध

---

१. महा०भा० १, सू० १.१.४९, पृ० ११९।

२. पा० ६.४.२।

३. पा० ६.१.७७।

४. परि० सं० १।

परिभाषा से सब बातों का निर्णय आचार्यों के व्याख्यान[1] से कर लिया जायेगा, अनिष्ट नहीं होने दिया जायेगा। इस परिभाषा का यही अर्थ है कि प्रत्येक सन्दिग्ध बात का निर्णय प्राचीन आचार्यों के व्याख्यान से ही होना चाहिये। केवल सन्देह करने मात्र से वास्तविक सिद्धान्त को अपसिद्धान्त नहीं बनाना चाहिये। इस प्रकार सभी सन्देहों की निवृत्ति होकर मुनित्रय के व्याख्यान से अनिश्चित सम्बन्ध वाली षष्ठी का 'स्थान' अर्थ से योग स्वतः हो जायेगा तो इस सूत्र की आवश्यकता विशेष महत्त्व नहीं रखती।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

उपर्युक्त युक्तिपूर्ण वचनों द्वारा भाष्यकार इस सूत्र का खण्डन करके अन्त में पूछते हैं—"न तर्हीदानीमयं योगो वक्तव्यः। वक्तव्यश्च। किं प्रयोजनम्। षष्ठ्यन्तं स्थानेन यथा युज्येत, यतः षष्ठ्युच्चारिता। किमेतेन कृतं भवति। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति परिभाषा न पृथक् कर्तव्या भवति।"[2] भाष्यकार का आशय यह है कि इस सूत्र की आवश्यकता कोई विशेष न होने पर भी यह सूत्र "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति"[3] इस परिभाषा के प्रयोजन सिद्ध करने में तात्पर्यग्राहक हो जायेगा। उससे "पादः पत्"[4] इत्यादि षष्ठ्यन्त स्थलों में, जो साक्षात् निर्दिश्यमान या उच्चार्यमाण षष्ठ्यन्त पद है, उसे ही आदेश होगा। वही स्थानसंबन्ध से युक्त होगा। सारा षष्ठ्यन्त 'अङ्ग' कार्यभाक् न होगा। उससे 'सुपात्' शब्द में केवल षष्ठ्युच्चारित 'पाद' शब्द को ही 'पद' आदेश होगा। समस्त 'सुपाद्, शब्द को नहीं होगा तो 'सुपदः' 'सुपदा' इत्यादि अभीष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे। यह महिमा इस सूत्र की ही है जो इसके द्वारा निर्दिश्यमान शब्द को ही आदेश की सिद्धि हो जायेगी। वही वस्तुतः कार्यभाक् होगा जिससे षष्ठी उच्चारण की गई है। समस्त 'पाद्' शब्दान्त 'अङ्ग' 'पद्' आदेश होने से बच जायेगा। इसलिये या तो इस सूत्र को रखना ठीक है या फिर "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति" इस परिभाषा को रखना समीचीन है, यह कह कर भाष्यकार चुप हो

---

१. द्र० महा०पस्पशा०, पृ०११ 'न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानं वृद्धिः आत् ऐजिति। किं तर्हि। उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति'

२. महा०मा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ११६।

३. परि००सं १२, इस परिभाषा का अर्थ है कि जो निर्दोश्यमान है, उच्चार्यमाण है, उसी के स्थान में आदेश होता है। प्रतीयमान के स्थान में आदेश नहीं होता।

४. पा० ६.४.१३०।

जाते हैं। स्पष्ट है कि यह सूत्र अत्यन्त उपयोगी है।

इस सूत्र के "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति" इस परिभाषा में तात्पर्यग्राहक मानने पर भी "अलोऽन्त्यस्य"[1] तथा "आदेःपरस्य"[2] ये दो परिभाषासूत्र तो आरम्भसामर्थ्य से इसके बाधक बन जाते हैं। "अलोऽन्त्यस्य" का उदाहरण जैसे— "त्यदादीनामः"[3] यह सूत्र है। इसका अर्थ है कि 'त्यदादि' शब्दों के स्थान में अकार आदेश होता है विभक्ति परे रहते। 'सः परमसः'। यहां 'तद्' 'पमरतद्' शब्दों से 'सु' विभक्ति परे रहते "त्यदादीनाम्" इस षष्ठी के निर्देश से निर्दिश्यमान सम्पूर्ण 'तद्' शब्द के स्थान में अकार आदेश प्राप्त होता है। किन्तु "अलोऽन्त्यस्य" के नियम से 'तद्' के अन्तिम 'अल्' दकार के स्थान में होता है। इसी प्रकार "आदेः परस्य" का उदाहरण जैसे—"ईदासः"[4] सूत्र है। इसका अर्थ है कि 'आस्' धातु से परे 'शानच्' के 'आन' को ईकारादेश होता है। 'आसीनः' यहां 'आस्' धातु से परे' शानच्' का 'आन' है। 'आसः' इस पञ्चमी के बलवान् होने से "तस्मादित्युत्तरस्य"[5] के नियम से "आने मुक्"[6] से अनुवृत्त 'आने' यह सप्तमी षष्ठी में परिवर्तित हो जाती है। 'आनः' इस षष्ठी के निर्दिश्यमान होने से सम्पूर्ण 'आन' शब्द के स्थान में इकारादेश प्राप्त होता है किन्तु "आदेः परस्य" इस परिभाषा से 'आन' के आदि अक्षर आकार को इकार होकर 'आसीनः' यह इष्ट रूप बन जाता है। "अनेकाल्शित् सर्वस्य"[7] के साथ तो इसका बाध्यबाधकभाव नहीं है किन्तु परस्पर सहयोग से दोनों की प्रवृति होती है।[8] 'अनेकाल्' जैसे— "अस्तेर्भूः"[9] 'भविता'। 'भवितुम्'। यहां अनेकाल् 'भू' आदेश षष्ठी से निर्दिश्य-

---

१. पा० १.१.५२।
२. पा० १.१.५४।
३. पा० ७,२.१०२।
४. पा० ७.२.८१।
५. पा० १.१.६७।
६. पा० ७.२.८२
७. पा० १.१.५५।
८. द्र० श० मा० १, सू० १.१.४९, पृ० १९२ "अलोन्त्यस्य" आदेः परस्य इति तु योगौ आरम्भसामर्थ्यादस्य बाधकौ "अनेकाल्शित् सर्वस्य' इत्यनेन तु सहाविरोधादस्य समुच्चयेन प्रवृत्तिरितिः...फलं तु स्फुटप्रत्तिपतिरिति दिक्'।
९. पा० २.४.५२।

मान 'अस्ति' के स्थान में ही होता है। 'शित्' जैसे—"इदम इश्"[1]। 'इतः। इह'। यहां 'शित्' 'इश्' आदेश 'इदमः' इस षष्ठी के स्थान में ही होता है। इस प्रकार निर्दिश्यमान परिभाषा के ज्ञापन की दृष्टि से प्रकृतसूत्र की आवश्यकता बनी रहती है। सम्भवतः इसीलिए पूज्यपाद देवनन्दी ने भी अपने जैनेन्द्र व्याकरण में एतत्सूत्र-प्रतिपाद्यविषयक 'ता स्थाने'[2] यह सूत्र बनाया है। इस तरह से सूत्र स्थापनीय ही है॥

स्थानेऽन्तरतमः ॥ १.१.५० ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना:

यह आदेशनियामक सूत्र है। इसमें 'स्थान' ग्रहण करने के कारण ऊपर से 'आदेश' का अध्याहार किया जाता है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है कि किसी के स्थान में होने वाला आदेश उसके 'अन्तरतम' अर्थात् सदृशतम हो। उसमें स्थान-प्रयत्न आदि से पूर्ण सादृश्य हो। जैसे—'इको यणचि'[3] इस सूत्र से 'इक्' के स्थान में यणादेश का विधान किया गया है। इस सूत्र के नियम से तालुस्थानी 'इ' के स्थान में तालुस्थानी यकार होगा। ओष्ठस्थानी 'उ' के स्थान में ओष्ठ-स्थानी वकार होगा। मूर्धास्थानी 'ऋ' के स्थान में मूर्धास्थानी रेफ होगा और दन्तस्थानी 'लृ' के स्थान में दन्तस्थानी लकार होगा। इसी प्रकार "अकः सवर्णे दीर्घः"[4] से 'अक्' से परे सवर्ण अच् परे होने पर दीर्घ विधान किया गया है। इस सूत्र के नियम से 'अ' से होने पर उसका सदृशतम आकार ही दीर्घ होता है। 'इ' से परे 'इ' होने पर उसका सदृशतम ईकार ही दीर्घ होता है इत्यादि इस सूत्र के अनेक प्रयोजन हैं।

यहां "षष्ठी स्थानेयोगा"[5] इस पूर्वसूत्र से 'स्थान' शब्द की अनुवृत्ति आने पर भी, जो दोबारा 'स्थानग्रहण' किया है, उससे यह बात सूचित होती है कि जहां अनेक प्रकार का आन्तर्य या सादृश्य संभव हो वहां स्थानकृत आन्तर्य ही बलवान् होता है। अन्य सब सादृश्यों की अपेक्षा 'स्थान' का सादृश्य ही पहले देखा

---

१. पा० ५.३.३.।
२. जै० सू० १.१.४६। दूसरे चन्द्र आदि आचार्य इस सूत्र के विषय में मौन धारण किये हुए हैं। इससे उनकी दृष्टि में प्रकृत सूत्र प्रत्याख्यात प्रतीत होता है।
३. पा० ६.१.७७।
४. पा० ६.१.१०१।
५. पा० १.१.४९।

जायेगा। उससे "यत्रानेकविधमान्तर्य संभवति तत्र स्थानकृतमेवान्तर्य बलीयो भवति"[1] यह परिभाषा सिद्ध हो जाती है। इसका लाभ यह है कि 'चेता', स्तोता' यहां 'चि', 'स्तु' धातुओं को सार्वधातुक गुण[2] करने में तालुस्थानी 'चि' के इकार को तालुस्थानी एकार गुण होता है तथा ओष्ठस्थानी 'स्तु' धातु के उकार को ओष्ठस्थानी ओकार गुण होता है। यदि स्थानकृत आन्तर्य बलवान् न माना जाये तो एकमात्रिक प्रमाण वाले 'चि' और 'स्तु' के इकार और उकार को एकमात्रिक प्रमाण वाला अकारगुण प्राप्त होकर 'चता', 'स्तता' इस प्रकार अनिष्ट रूप बनने लगेगा। यहां प्रमाणकृत आन्तर्य को बाधकर स्थानकृत आन्तर्य की बलवत्ता से ठीक व्यवस्था होकर 'चेता', 'स्तोता' ये शुद्ध रूप बन जाते हैं।

आन्तर्य भी स्थान, अर्थ गुण और प्रमाण भेद से चार प्रकार का है। स्थान-कृत आन्तर्य "इको यणचि"[3] इत्यादि ऊपर दिये गये हैं। अर्थकृत आन्तर्य का उदाहरण जैसे—पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्०"[4] इत्यादि सूत्र में 'पद्', 'दत्', 'नस्' 'मास्', 'हृद्' इत्यादि केवल आदेश ही दिये गये हैं। उनके स्थानियों का निर्देश, नहीं किया गया है। अर्थकृत आन्तर्य को लेकर उन्हीं के समान अर्थ वाले 'पाद', 'दन्त', 'नासिका' 'मास', 'हृदय' इत्यादि स्थानी कल्पित कर लिये जाते हैं। गुणकृत आन्तर्य का उदाहरण जैसे 'पाकः', 'रागः', 'त्यागः'। यहां 'पच्' 'रञ्ज्', 'त्यज्' धातुओं से 'घञ्' प्रत्यय परे रहते उपधावृद्धि[5] होकर 'चजोः कु घिण्यतोः"[6] से कुत्व करते हैं। कुत्व करने में गुणकृत आन्तर्य को लेकर, विवार, श्वास, अघोष एवं अल्पप्राण गुणवाले चकार के स्थान में विवार, श्वास आदि गुणवाला ककार आदेश होता है। संवार, नाद, घोष एवं अल्पप्राण गुणवाले जकार के स्थान में गकार आदेश होता है। प्रमाणकृत आन्तर्य का उदाहरण जैसे—अमुम्' 'अमू' इत्यादि। यहां 'अदस्' शब्द से 'अम्', 'औ' विभक्ति परे रहते "अदसोऽसेर्दा-दुदोमः"[7] से 'द' को 'म' होता है। साथ ही प्रमाणकृत आन्तर्य को लेकर दकार से परे ह्रस्व अक्षर को ह्रस्व उकार और दीर्घ अक्षर को दीर्घ ऊकार हो जाता है।

---

१. परि० सं० १३।
२. द्र०. ७.३.८४ 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः'।
३. पा० ६.१.७७।
४. पा० ६.१.६३।
५. द्र० ७.२.११६, अत 'उपधायाः'।
६. पा० ७.३.५२।
७. पा० ८.२.८०।

अन्तरतमः' यहां 'तमप्' ग्रहण का यही प्रयोजन है कि होने वाला आदेश सदृश होने पर भी पूर्ण सदृशतम हो। जैसे—'वाग् हसति' यहां "झयो होऽन्यतरस्याम्"[1] सूत्र से 'झय्' गकार से परे हकार को पूर्वसवर्ण करने में हकार ज के संवार नाद, घोष और महाप्राण होने के कारण उसका पूर्ण सदृशतम आदेश घकार ही होता है तो 'वाग्घसति' यह इष्ट सन्धि का रूप बन जाता है। 'तमप्' ग्रहण के बिना पूर्ण सादृश्य के अभाव में यत्किंचित् सादृश्य को लेकर भी आदेश प्राप्त हो जायेगा। उस अवस्था में केवल संवार, नाद, घोष प्रयत्न वाला गकार भी आदेश प्राप्त होगा तथा केवल महाप्राण प्रयत्न वाला खकार भी आदेश प्राप्त होगा। 'तमप्' ग्रहण करने पर, जो पूर्ण सदृशतम अर्थात् संवार, नाद, घोष होने के साथ-साथ महाप्राण भी हो, वह आदेश होगा तो हकार के स्थान पर घकार ही आदेश होता है। इस प्रकार सूत्र की प्रयोजनवत्ता सिद्ध हो जाती है।

लोकव्यवहार द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों ही इस सूत्र के प्रत्याख्यान में सहमत हैं। इतने उपयुक्त शास्त्रकार्यसाधक प्रकृत सूत्र का भी वार्तिककार तथा भाष्यकार अपनी अकाट्य युक्ति-प्रयुक्तियों से स्वभावसिद्ध मानकर प्रत्याख्यान करने में संकोच नहीं करते। भाष्यवार्तिक है—"अन्तरतमवचनं चाशिष्यम्। कुतः स्वभावसिद्धत्वात्। तद्यथा-समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते नैव कृशा कृशैः सहासते। न पाण्डवः पाण्डुभिः। येषामेव किंचिदर्थकृतमान्तर्यं तैरेव सहासते। तथा गावो दिवसं चरितवत्यो यो यस्याः प्रसवो भवति तेन सह शेरते"[2] इत्यादि। इनका तात्पर्य यही है कि अन्तरतम व्यवहार के स्वभावसिद्ध होने के कारण इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है। जो चीज लोक-व्यवहार या स्वभाव से ही सिद्ध हो, उसके लिए शास्त्र बनाना निष्प्रयोजन है। लोक में यह देखा जाता है कि समाजों में, सहभोजों एवं सभा सोसाइटियों में 'बैठिये' कहने पर जिनका जिनके साथ आन्तर्य या नजदीकी सम्बन्ध होता है, वे उन्हीं के साथ बैठते हैं। यह आवश्यक नहीं कि दुबले-दुबलों के साथ ही बैठें, या मोटे मोटों के साथ। यह तो आपसी सम्बन्ध या प्रेम की बात है कि जहां जिसका कुछ भी थोड़ा मोटा सम्बन्ध होता है, वह उसी के पास बैठना पसन्द करता है। कहा भी है—

"यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्॥"[3]

---

१. पा० ८.४,६२।

२. महा भा०१, सू०१.१.५०, पृ० १२३।

३. न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य, अध्याय १ आह्निक २, सू० ९।

संस्कृत में सूक्ति प्रसिद्ध है—

"मृगाः मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति, गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः ।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम्" ।।[1]

अर्थात् गायें दिन भर जंगल में चरने के लिये जाकर सायंकाल घर आती हुई अपने-अपने बछड़ों के साथ ही जा मिलती हैं। वे दूसरों के बछड़ों को अपना स्तन्यपान नहीं करातीं। बछड़े-बछड़ियां भी अन्य गायों के पास दूध पीने न जाकर अपनी माता के पास ही सानन्द जाकर दुग्धपान करती हैं। यह लोक-व्यवहार स्पष्ट बता रहा है कि परस्पर सम्बन्ध होने में कोई अन्तर्वर्ती अन्तरतम कारण है। कोई अदृश्य सादृश्य है जिससे विवश होकर दो वस्तुयें परस्पर सम्बद्ध होती हैं।[2] इस प्रकार वस्तु-स्वभाव तथा लोक व्यवहार के आधार पर सदृशतम आदेश के स्वतः सिद्ध हो जाने से यह सूत्र प्रत्याख्येय है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

स्वभावसिद्ध या लोकव्यवहारसिद्ध होने पर भी शास्त्रीय कार्य की सिद्धि तो वचन द्वारा अन्तरतम आदेश विधान के बिना नहीं हो सकती। अन्तरतम आदेशों में भी जो विवाद हैं, उनका निर्णय शास्त्र से ही किया जा सकता है। अन्य सब आन्तर्यों की अपेक्षा स्थानकृत आन्तर्य ही बलवान् है, यह भी शास्त्र से ही जाना जा सकता है। अतः सदृशतम आदेशविधायक यह सूत्र रखना ही चाहिये।

शब्दकौस्तुभकार भट्टोजिदीक्षित इस सूत्र के भाष्योक्त प्रत्याख्यान प्रकार को अपने शब्दों में यूं प्रकट करते हैं—"सभायामास्यतामित्युक्ते हि पण्डिताः पण्डितैः सह समासते, शूराः शूरैः, कवयः कविभिः न तु संकरेण। किं बहुना, गवां संघं प्रति गौर्धावति, अश्वोऽश्वानामित्यादिव्यवस्था तिर्यक्ष्वपि दृश्यते। तस्मात् प्रथमवाक्यार्थस्य लोकत एव लाभान् न तदर्थं सूत्रमारम्भणीयम्। एवं स्थानत

---

१. पञ्चतन्त्र, १.३०५।

२. महाकवि भवभूति ने उत्तररामचरित में (६.१२) आन्तर सादृश्य को ही परस्पर सम्बन्ध का हेतु बताते हुए यह सुन्दर श्लोक कहा है—

"व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः,
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं,
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ।।"

आन्तर्यं बलीय इत्यदि लोकत एव सिद्धम्। तथाहि, भूयः सहचरितयोरश्वयोर्गवोर्वा सजातीयान्तरसंवलने सत्यपि कृशत्वपाण्डुत्वादिगुणसदृशानपि हित्वा स्थानसाम्यपुरस्कारेणैव परस्परापेक्षा दृश्यते। तदेवं लोकतः सिद्धे किं वचनेनेति।"[1] इसका अर्थ तो स्पष्ट ही है। फिर वे आगे सूत्र की आवश्यकता को प्रकट करते हुए लिखते हैं—"यद्वा स्थानेऽन्तरम इत्यत्र तन्त्रेण द्वेधा छेदः सूत्रकृतः सम्मतः। भाष्यकृता लौकिकन्यायाश्रयणेन सूत्रप्रत्याख्यानपक्षेऽपि प्रकृतितः आदेशतश्चेत्युभयथाप्यन्तरतमनिवृत्तिरस्त्येव"[2]। इसका भाव यह है कि भाष्यकार द्वारा लौकिक न्याय का आश्रयण करके इस सूत्र का प्रत्याख्यान करने पर भी इस सूत्र की आवश्यकता रहती है। क्योंकि सूत्र की सत्ता में तन्त्र द्वारा "स्थानेन्तरतमः" यह प्रथमान्तपद का सन्धिच्छेद तथा "स्थानेऽन्तरतमे" यह सप्तम्यन्तपद का सन्धिच्छेद दोनों ही निकाले जा सकते हैं। दोनों प्रकार का पदपाठ संभव है। सूत्र के अभाव में यह हो नहीं सकता। भाष्यकार स्वयं भी लिखते हैं—

"उभयथापि तुल्या संहिता। स्थानेन्तरतम उरण्रपर इति।"[3]

'अन्तरतमः' इस प्रथमान्त पाठ में सर्वविदित अर्थ है—स्थान में अन्तरतम (सदृशतम) आदेश होता है। इस पक्ष में 'अन्तरतमः' यह आदेश का विशेषण है। इसमें स्थानी के अन्तरतम न होने पर भी आदेश अन्तरतम होगा तो "इकोयणचि"[4] से अन्तरतम या अनंतरतम सभी 'इकों' के स्थान में 'यण्' आदेश हो जायेगा। उससे जहां 'दध्यत्र' यहां एकमात्रिक इकार के स्थान में 'यण्' होता है वहां 'कुमार्यत्र' यहां द्विमात्रिक ईकार के स्थान में भी हो जाता है। इसके विपरीत "स्थानेऽन्तरतमे" इस सप्तम्यन्त पाठ में अर्थ होगा—अन्तरतम स्थानी में आदेश होता है। इस पक्ष में आदेश के अन्तरतम न होने पर भी स्थानी के अन्तरतम होने पर आदेश हो जायेगा। उससे "इको यणचि" में अर्धमात्रिक 'यण्' का अन्तरतम स्थानी "स्वल्पान्तरं न दोषाय" के न्याय से 'दध्यत्र' यहां एकमात्रिक इकार है, उसको तो 'यण्' हो सकता है, द्विमात्रिक ईकार को 'यण्' नहीं हो सकता तो 'कुमार्यत्र' में 'यण्' न हो सकेगा। इस प्रकार सप्तम्यन्त पाठ में कई अन्य दोष भी उपस्थित होते हैं। कुछ दोष प्रथमान्त पाठ में भी आते हैं। जैसे—"वान्तो यि प्रत्यये"[5] से 'एचों' के स्थान में होने वाला 'अव्, 'आव्' रूप वान्ता-

---

१. श० कौ० भा० १, पृ० १९५-९६।
२. श० कौ० भा० १, पृ० १९५।
३. महा० भा० १, सू० १.१.५०, पृ० १२०।
४. पा० ६.१.७७।
५. पा० ६.१.७९।

देश 'ए', 'ऐ' के स्थान में भी प्राप्त होता है क्योंकि प्रथमान्त पाठ में अनन्तरतम स्थानी में भी आदेश की प्रसक्ति होगी। सप्तम्यन्त पाठ में तो अन्तरतम स्थानी को देखना होगा। 'अव्', 'आव्' के अन्तरतम स्थानी 'ओ', 'औ' हैं, 'ए', 'ऐ' नहीं हैं, अतः वहां वान्तादेश की प्रसक्ति नहीं हो सकती। उक्त दोषों का समाधान भी हो जाता है। अन्त में प्रथमान्त पाठ को ही सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया गया है। वैसे "ल्वादिभ्यः"[1], "ष्वादीनां ह्रस्वः"[2] इत्यादि निर्देशों से सप्तम्यन्त पाठ के दोषों का भी परिहार कर दिया गया है। वह सब प्रकृत सूत्र के भाष्य में तथा शब्दकौस्तुभ में ही द्रष्टव्य है।

तात्पर्य यह है कि स्थानी और आदेश दोनों प्रकार से अन्तरतम की निवृत्ति (निष्पत्ति) सूत्र से अपेक्षित है। वह इस सूत्र की सत्ता में ही सम्भव है। अतः सूत्र का रखना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी भाष्यकार के प्रत्याख्यान का समर्थन न करके सूत्रकार पाणिनि के सूत्र का ही अनुमोदन किया है।[3]

अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ॥ ६ १ १५८ ॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

स्वरविधि विषयक यह परिभाषा सूत्र है। इसका अर्थ है कि जिस पद में किसी 'अच्' को उदात्त या स्वरित विधान किया गया है, उस एक 'अच्' को छोड़कर शेष वह पद अनुदात्त होता है। उस पद में विद्यमान शेष 'अच्' अनुदात्त हो जाते हैं। केवल वही 'अच्' उदात्त या स्वरित रहता है। यही 'शेषनिघात' कहलाता है। यथा—'गोपायति'। यहाँ 'गुप्धातु' से स्वार्थ में "गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्यः आयः"[4] से 'आय' प्रत्यय होता है। लघूपधगुण होकर 'गोपाय' बनता है। 'गोपाय' की "सनाद्यन्ता धातवः"[5] से 'धातुसंज्ञा' होकर "धातोः"[6]

---

१. पा० ८.२.४४।
२. पा० ७.३.८०।
३. (क) जै० सू० १.१.४७ 'स्थानेऽन्तरतमः'।
   (ख) शा० सू० १.१.७ 'आसन्नः'।
   (ग) है० सू० ७.४.१२० 'आसन्नः'।
४. पा० ३.१.२८।
५. पा० ३.१.३२।
६. पा० ६.१.१६२।

से अन्तोदात्त हो जाता है। 'गोपाय' धातु का यकारोत्तरवर्ती अकार उदात्त है। शेष 'गोपा' शब्द "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" इस सूत्र से अनुदात्त हो जाता है। 'गोपाय' से वर्तमान काल में लट् लकार होकर उसके स्थान में प्रथम पुरुष का एकवचन 'तिप्' प्रत्यय होता है। 'तिप्' प्रत्यय पित्' होने से "अनुदात्तौ सुप्पितौ"[1] से अनुदात्त है। मध्य में "कर्तरि शप्"[2] से शप् विकरण होता है। वह भी 'पित्' होने से अनुदात्त है। गोपाय का 'शप्" के अकार के साथ "अतो गुण"[3] से पररूप एकादेश हो जाता है। उदात्त और अनुदात्त का एकादेश "एकादेश उदात्तेनोदात्तः"[4] से उदात्त बन जाता है। इस प्रकार 'गोपायति' में अन्तोदात्त 'गोपाय' से परे 'तिप्' प्रत्यय जो अनुदात्त है वह "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"[5] से स्वरित होता है तो 'गोपाय ति' ऐसा शुद्ध स्वर-युक्त रूप बन जाता है।

सूत्र में 'पद' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'पद' में ही एक उदात्त या स्वरित 'अच्' को छोड़कर शेषनिघात हो। 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' यहां वाक्य में 'शेषनिघात' न होकर प्रत्येक पद का अपना अपना स्वर होता है। समस्त स्वरविधि में यह सूत्र व्याप्त होता है। इसके अनेक उदाहरण हैं जहां 'शेष-निघात' किया जाता है।

ज्ञापकों द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

स्वरविधान में बहुत व्यापक इस सूत्र की ज्ञापक से अन्यथासिद्धि करते हुए भाष्यकार इसका प्रत्याख्यान करते हैं—"यौगपद्यं तवै सिद्धम्"[6] अर्थात् पद में जिस एक 'अच्' को उदात्त या स्वरित विधान किया है वहां इस सूत्र के बिना भी शेष 'अच्' अनुदात्त ही होंगे। क्योंकि पद में वर्तमान शेष 'अच्' या तो युग-पत् उदात्त प्राप्त होंगे या पर्यायशः। यानि एक साथ सब 'अच्' उदात्त प्राप्त होते हैं या क्रम से। उनमें युगपत् तो सब 'अच्' उदात्त हो नहीं सकेंगे। "अन्तश्च तवै युगपत्"[7] यह सूत्र 'तवै' प्रत्यय को युगपत् (एक साथ) आद्युदात्त और

---

१. पा० ३.१.४।
२. पा० ३.१.६८।
३. पा० ६.१.९७।
४. पा० ८.२.५।
५. पा० ८.४.६६।
६. महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ९७।
७. पा० ६.१.२००।

अन्तोदात्त विधान करता है। यह इस बात का ज्ञापक होगा कि यदि एक साथ उदात्त हो तो 'तवै' प्रत्यय में ही हो। 'दातवै'[१] यहां 'तवै' प्रत्यय एक साथ ही आद्युदात्त भी है और अन्तोदात्त भी है। इसलिये उक्त ज्ञापक से अन्यत्र उदात्तों का यौगपद्य न होगा तो इष्ट सिद्ध हो जायेगा।

क्रम से उदात्त की प्राप्ति में भी भाष्यवार्तिककार कहते हैं—"पर्यायो रिक्त शासनात्"[२] अर्थात् 'रिक्ते विभाषा'[३] सूत्र से 'रिक्त' शब्द को पर्याय (क्रम) से आद्युदात्त और आन्तोदात्त विधान किया गया है। 'रिक्तः, रिक्तः' ये दो रूप स्वरभेद से 'रिक्त' शब्द के बनते हैं। वह इस बात का ज्ञापक है कि 'रिक्त' शब्द में ही पर्याय से उदात्त होता है। अन्यत्र एक 'अच्' को छोड़कर शेषनिघात ही रह जायेगा। यदि यह कहा जाये कि 'उदात्ते ज्ञापकं त्वेतत्' अर्थात् ये दोनों ज्ञापक तो उदात्त के सम्बन्ध में ही हैं, 'स्वरिते न समाविशेत्' यानि स्वरित के सम्बन्ध में ये ज्ञापक नहीं है। इसलिये स्वरित में तो स्वरित का समावेश प्राप्त होता ही है। जहां एक अच् को स्वरित कहा गया है वहां इस सूत्र के बिना शेषनिघात न होकर कई स्वरितों का समावेश अनिष्ट रूप से प्राप्त होगा[४] तो उसके उत्तर में भाष्यवार्तिककार कहते हैं—"स्वरितेऽप्युदात्तोस्ति"[५] अर्थात् स्वरित में भी उदात्त का अंश रहता है। क्योंकि "समाहारः स्वरितः"[६] से उदात्त-अनुदात्त का समाहार सम्मिश्रण ही स्वरित है। इसलिये जब उदात्त का समावेश उक्त ज्ञापकों से रुक गया तो स्वरित का समावेश भी उदात्त के साथ स्वतः एव प्रतिरुद्ध हो गया। इसलिये इस सूत्र के बिना भी पद में एक 'अच्' ही उदात्त या स्वरित रहेगा। शेष 'अच्' अनुदात्त रह जायेंगे। ऐसी अवस्था में यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

---

१. ऋक्० ४.२१.६।

२. महा० भा० १ प्रकृत सूत्र, पृ० ६७।

३. पा० ६.१.२०८।

४. महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ६७ 'उदात्ते ज्ञापकं त्वेतत् स्वरिते न समाविशेत्'।

५. वही।

६. पा० १.२.३१।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यद्यपि भाष्यवार्तिककार ने ज्ञापकों से इस सूत्र के प्रयोजनों की सिद्धि मान कर इसका प्रत्याख्यान कर दिया है तथापि यह सूत्र स्वरविधि में अत्यन्त उपकारक होने के कारण रखना ही चाहिये । "ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र"[१] इस न्याय के अनुसार सर्वत्र ज्ञापकसिद्ध बात को स्वीकार नहीं किया जाता। ज्ञापकों द्वारा 'शेष निघात' को समझने में क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है, स्पष्ट प्रतिपत्ति नहीं होती। उक्त परिभाषासूत्र के होने पर तो पद में एक उदात्त या स्वरित 'अच्' को छोड़कर सर्वत्र 'शेषनिघात' हो जाता है । इस सूत्र से पूर्वविहित उदात्त हो या परविहित, सब जगह उसकी प्रवृत्ति होने से इष्ट सिद्ध होता है। इसलिए भाष्यकार ने सूत्र का प्रत्याख्यान करने के बाद कहा—"आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन् योगे···"[२] इत्यादि । तात्पर्य यह है कि "स्थानिवत्" सूत्र के समान या "असिद्धवदत्राभात्" सूत्र के समान प्रत्याख्यात हुआ भी यह सूत्र आरम्भ करने योग्य ही है ।[३] इसीलिए अन्य व्याख्याकारों ने भी अपनी-अपनी टीकाओं में इसके प्रत्याख्यान का कोई संकेत नहीं दिया । किन्तु पाणिनि सम्प्रदाय से भिन्न वैयाकरणों ने भी इस विषय में मौन धारण किया हुआ है ! इसका कारण संभवतः इन वैयाकरणों द्वारा केवल लौकिक संस्कृत का व्याकरण लिखा जाना है[४]। क्योंकि यह परिभाषासूत्र स्वरविधिविषयक है और स्वर का सम्बन्ध मुख्यरूप से वैदिक भाषा से है। अतः इन वैयाकरणों के तत्तत् ग्रन्थों में इस सूत्र का सर्वथा अभाव परिलक्षित होता है। ऐसी स्थिति में इन वैयाकरणों का प्रकृत सूत्र के विषय में क्या अभिमत है, यह कहना कठिन है।

---

१. परि० सं० १२५।

२. महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ९८ ।

३. पा० १.१.५६ 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'। पा०६.४.२२ 'असिद्धवदत्राभात्'। इन दोनों सूत्रों का खण्डन करने के बाद भाष्यकार ने इन दोनों के अन्त में भी ये ही 'आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन् योगे' इत्यादि वचन कहे हैं।

४. द्र० सं० व्या० शा० ३, भा० १, १७ वां अध्याय (आचार्य पाणिनि से अर्वाचीन वैयाकरण) इस विषय में युधिष्ठिर मीमांसक का मत है कि इन अर्वाचीन वैयाकरणों (चन्द्रगोमी आदि) ने लौकिक के साथ-साथ वैदिक व्याकरण भी लिखा था।

अस्तु, प्रस्तुत प्रसङ्ग में यही समझना चाहिये कि भाष्यकार ने आपाततः इस सूत्र का ज्ञापकों द्वारा खण्डन करके भी, जैसी कि उनकी शैली रही है, उसके अनुसार उन्होंने इस सूत्र का आरम्भ ही उचित माना है। व्याकरण में स्वर विषय अत्यन्त व्यापक हैं। उसको स्पष्ट समझने के लिए इस सूत्र का होना अत्यन्त आवश्यक एवं उचित है॥

——

तृतीय अध्याय

भाग—क

विधि सूत्रों का प्रत्याख्यान

जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् ॥१.२.५८॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र जातिपदार्थनिष्ठ एकत्व में पाक्षिक बहुत्व का अतिदेश करता है। अर्थात् जो जाति पदार्थ में रहने वाला एकत्व सामान्य है उसमें विकल्प से बहुत्व का अतिदेश हो जाता है। "जात्याख्यायाम्" यहां जाति शब्द से जाति पदार्थ की प्रधानता विवक्षित है, द्रव्य की नहीं। अतः सूत्र का अर्थ हुआ कि जाति पदार्थ की प्रधानता कहने में जाति के एकत्व के साथ पक्ष में उसका बहुत्व भी अतिदिष्ट होता है। जैसे—'ब्राह्मण पूज्य होता है'। इसके साथ 'ब्राह्मण पूज्य होते हैं', यह भी कह सकते हैं। 'ब्राह्मणत्वजात्याक्रान्त सभी ब्राह्मण' इस सूत्र के अनुसार एकत्व तथा बहुत्व के सम्बन्ध से प्रयुक्त किये जा सकते हैं। इसी प्रकार 'घड़ा मिट्टी से बनता है' यह एकत्व से अभिधान है। इस सूत्र के अनुसार 'घड़े मिट्टी से बनते हैं', यह बहुत्व से भी अभिहित हो सकता है। 'कपड़ा साफ रखो', 'कपड़े साफ़ रखो', । 'इस साल गेहूं-चना खूब हुआ', 'गेहूं चने खूब हुए'। 'धान मन्दा रहा', 'धान मन्दे रहे'। 'बर्तन धो लेना चाहिये' बर्तन धो लेने चाहिए' इत्यादि अनेक जातिवाची शब्दों के एकत्व तथा बहुत्व के सम्बन्ध से प्रयुक्त होने वाले उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

भाष्यकार पतंजलि ने पस्पशाह्निक में प्रश्न किया है कि "किं पुनराकृतिः पदार्थः आहोस्विद् द्रव्यम्"[1] अर्थात् इस शास्त्र में आप आकृति यानि जाति पदार्थ को मानते हैं या द्रव्य को। आकृति जाति एक ही बात है। इसी प्रकार द्रव्य या व्यक्ति एकार्थवाची हैं। प्रश्न का उत्तर देते हुए आगे कहा है—"उभयमित्याह। उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। द्रव्यं पदार्थं मत्वा सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ इत्येक शेष आरभ्यते। आकृतिं पदार्थं मत्वा जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् इत्युच्यते"[2]। इसका भाव यही

---

1. महा० भा० १, पस्पशा०, पृ० ६।
2. वही।

है कि इस सूत्र द्वारा जाति पदार्थ की भी सत्ता स्वीकार की गई है। सब घट, पट आदि शब्दों का घटत्व, पटत्व आदि जाति ही प्रधानतया वाच्य है। जाति के द्रव्य या व्यक्ति भी कार्यान्वयी होने से गौणतया वाच्य हैं। जाति और व्यक्ति ये दोनों पक्ष समस्त शास्त्र में यथास्थिति लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित हैं। जातिपदार्थवादी के मत में जाति प्रधान रहती है, द्रव्य गौण है। द्रव्य पदार्थवादी के मत में द्रव्य प्रधान रहता है, जाति गौण है[1]। इस प्रकृत सूत्र में जातिपक्ष की प्रधानता को लेकर विचार हुआ है कि क्योंकि जाति सर्वत्र एक है। उसमें एकत्व के साथ बहुत्व का अतिदेश भी पाक्षिक मानना चाहिए।

व्यक्ति द्वारा जाति का अभिधान होने से अथवा पक्षान्तर को लेकर सूत्र का प्रत्याख्यान

सूत्र की स्थापना के बाद वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"अशिष्यं वा बहुवत् पृथक्त्वाभिधानात्। जातिशब्देन हि द्रव्याभिधानम्"[2] अर्थात् जातिपदार्थ को मानते हुए, जो इस सूत्र द्वारा एकत्व के साथ बहुत्व का विकल्प से अतिदेशविधान किया है, वह अशिष्य है। इसके अनुशासन की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यहां केवल जातिपदार्थ ही अभीष्ट नहीं है अपितु जाति के साथ व्यक्ति या द्रव्य पदार्थ भी अभीष्ट है। जाति यद्यपि एक है किन्तु व्यक्तियां पृथक्-पृथक् हैं। उसके लिए अलग सूत्र बनाना व्यर्थ है। जब जाति की प्रधानता विवक्षित होगी तब एकत्व का प्रयोग होगा और जब व्यक्ति या द्रव्य की प्रधानतया विवक्षा होगी तब व्यक्तियों के बहुत होने से बहुत्व का प्रयोग हो जाएगा। जाति शब्द से द्रव्य का अभिधान कैसे संभव है यह बताते हुए आगे कहा जाता है—

"एवं हि कश्चिन् महति गोमण्डले गोपालकमासीनं पृच्छति—अस्त्यत्र कांचिद् गां पश्यसि इति। स पश्यति—पश्यति चायं गाः, पृच्छति च—

---

१. द्र०, महा० भा० १, सू० १.२.६४, पृ० २४६, 'न ह्याकृतिपदार्थिकस्य द्रव्यं न पदार्थो, द्रव्यपदार्थिकस्य वाकृतिः न पदार्थः। उभयोरुभयं पदार्थः। कस्यचित्तु किंचित्प्रधानभूतं किंचिद्गुणभूतम्। आकृतिपदार्थिकस्य आकृतिः प्रधानभूता द्रव्यं गुणभूतम्। द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिः गुणभूता'।

२. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २३०।

'काञ्चिद् गां पश्यसीति । नूनमस्य द्रव्यं विवक्षितमिति । तद् यदा द्रव्याभिधानं तदा बहुवचनं भविष्यति । यदा सामान्याभिधानं तदैकवचनं भविष्यतीति'' [1]

यहां भाष्यकार द्वारा दिया हुआ गोपालक से पूछने वाले मनुष्य का दृष्टान्त अत्यन्त स्पष्ट है । जो गोसमूह को प्रत्यक्ष देखता हुआ भी गौ के विषय में पूछता है कि क्या आप यहां गोसमूह में किसी गौ को देखते हैं । ऐसे पूछते हुए उस मनुष्य का यही भाव है कि मैं सामान्यतया गोसमूह को तो देख रहा हूं परन्तु जो मेरी दिदृक्षित विशेष गौ है, उसे नहीं देख रहा हूं । उसके विषय में आपसे पूछता हूं कि क्या आप विशेष गौ को देख रहे हैं । इस गोपालक से पूछने वाले व्यक्ति-विशेष के व्यवहार से प्रकट होता है कि गौ-जाति में भी गोव्यक्ति घुसा हुआ है जिसे विशेष रूप में वह देखना चाहता है । इससे सिद्ध है कि जातिवाचक शब्द सेभी द्रव्य का अभिधान होता है । अन्यथा गोजाति के दर्शन से ही उसकी आकांक्षा निवृत्त हो जाती । जब जाति के साथ व्यक्ति और व्यक्ति के साथ जाति नित्यसम्बद्ध है, दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है, तब जाति पदार्थ के साथ व्यक्तिपदार्थ का प्रत्यवभास अवश्यंभावी है । अत: जाति को प्रधान मानने पर भी तदन्तर्गत व्यक्तियों के बहुत्व को लेकर एकत्व के साथ बहुत्व भी सिद्ध हो जायेगा । ऐसी अवस्था में इस सूत्र का बनाना निष्प्रयोजन है । 'ब्राह्मण पूज्य होते हैं' यहां ब्राह्मणत्व जात्यन्तर्गत 'ब्राह्मण व्यक्ति पूज्य होते हैं' ऐसा भाव समझा जायेगा । सर्वत्र अन्य उदाहरणों में भी जाति और व्यक्ति के आधार पर एक वचन एवं बहुवचन की व्यवस्था सिद्ध हो जाएगी ।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वस्तुत: यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य ही है । क्योंकि ''जात्याख्यायाम्०'' यहां जाति शब्द से यदि जात्युपलक्षित व्यक्ति या द्रव्य लिया जाये तो उन व्यक्तियों के बहुत होने से उनमें एकत्व है ही नहीं । उसके लिए 'एकस्मिन् बहुवचनम्' यह कहना असंगत है । जब व्यक्ति एक है ही नहीं तो 'एकस्मिन्' कहना सर्वथा व्यर्थ है । उस अवस्था में सूत्र-रचना ''बहुष्वेकवचनम्'' ऐसी होनी चाहिए । भाष्यकार ने कहा भी है—''इदमयुक्तं वर्तते । किम युक्तम् । बहवस्तेऽर्थाः तत्र युक्तं बहुवचनम् । तद् यदेकवचने शासितव्ये बहुवचनं

---

१. वही ।

शिष्यते एतदयुक्तम्"।[1]

और यदि जाति शब्द से सब व्यक्तियों में नित्य समवेत एकत्वविशिष्ट सामान्य लिया जाता है तो उसके नित्य एक होने से उसमें बहुत्व ही संभव नहीं तो वहां 'बहुवचनम्' ऐसा कहना अनुपपन्न है। जो सदा एक ही रहता है उसमें बहुवचन कैसा। नित्य एकरस रहने वाली ब्राह्मणत्वादि जाति में भी यदि बहुत्व माना जायेगा तो उसमें और ब्राह्मणादि व्यक्तियों में क्या भेद रहेगा। एक में बहुवचन कहने का तो यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि एक व्यक्ति के विषय में पक्ष में बहुवचन का भी प्रयोग किया जा सकता है। यह तभी संभव है जब जाति शब्द का अर्थ व्यक्ति या द्रव्य लिया जाये। इस प्रकार दोनों ओर से घिर कर जाति शब्द का अर्थ यहां 'जातिविशिष्ट व्यक्ति' ही लिया जा सकता है। तब जाति की प्रधानता में 'एकस्मिन्' यह अंश तो घट जाता है किन्तु 'बहुवचनम्' इस अंश की संगति नहीं बैठती। व्यक्ति की प्रधानता में 'बहुवचनन्' यह अंश तो घट जाता है किन्तु 'एकस्मिन्' यह अंश असंगत ही रहता है क्योंकि व्यक्ति एक नहीं है। इस प्रकार सूत्र की रचना बड़ी विषम तथा सन्देह में डालने वाली हो जाती है। उससे अभीष्टार्थ की सिद्धि नहीं होती।

बड़ी स्पष्ट बात है कि जाति में एकवचन तथा व्यक्ति में बहुवचन अभीष्ट है, वह इस सूत्र के बिना भी अनायास सिद्ध हो जाता है। व्यक्ति की विवक्षा में बहुवचन तथा जाति की विवक्षा में एकवचन स्वतः सिद्ध हो जाने से वह सूत्र निष्प्रयोजन बन जाता है। लोक-व्यवहार में अदृष्ट असंभव बात को सूत्रकार कैसे कह सकते हैं कि एकत्वविशिष्ट जाति में बहुवचन हो जाता है। जातिवाची शब्दों के जो एकवचन तथा बहुवचन में उदाहरण पहले दिये गये हैं, वे न केवल जाति के और न केवल व्यक्ति के समझने चाहिएं प्रत्युत 'जातिविशिष्ट व्यक्ति' के साझले समझने चाहिए। एकवचन को देखकर जाति की प्रधानता तथा व्यक्ति की गौणता एवं इसी प्रकार बहुवचन को देखकर व्यक्ति की प्रधानता एवं जाति की अप्रधानता सर्वत्र द्रष्टव्य एवं अनुभवगम्य है। 'सरूपसूत्र' में भाष्यकार ने कहा ही है---

"उभयोरुभयं पदार्थः। कस्यचित् किंचित् प्रधानभूतं, किञ्चिद्गुणभूतम्। आकृतिपदार्थिकस्य आकृतिः प्रधानभूता, द्रव्यं गुणभूतम्। द्रव्यपदार्थिकस्य

---

१. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २२६।

द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता''[1] ॥

अर्वाचीन ग्रन्थों चान्द्रव्याकरण तथा जैनेन्द्र व्याकरण में भी प्रकृत सूत्र नहीं मिलता। अतः इनकी दृष्टि में भी यह सूत्र प्रत्याख्यात ही है। जैनेन्द्र-महावृत्तिकार तो बड़े स्पष्ट शब्दों में कहता है—''जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् इति न वक्तव्यम्। सामान्यविशेषात्मकत्वाद्वस्तुनः[2] इत्यादि।

प्रस्तुत संदर्भ में शाकटायन[3] तथा हेमचन्द्र ने उक्तसूत्र को अपने-अपने तन्त्रों में जातिपदार्थ में पाक्षिक बहुवचन विधान के लिए आवश्यक माना है। लेकिन, यह विचारणीय ही कहा जा सकता है। अस्तु, हैम व्याकरण में एक नई बात यह आई है कि वहां बहुवद्भाव करने वाले इन सूत्रों को कारक प्रकरण में पढ़ा गया है, जबकि पाणिनि ने इस बहुवद्भाव को शेष प्रकरण में स्थान दिया है, कारक में नहीं। इससे पाणिनि की दृष्टि में बहुवद्भाव कारकीय प्रतीत नहीं होता। परन्तु हेमचन्द्र ने इसे कारकीय मानकर अपनी वैज्ञानिकता का परिचय दिया है। क्योंकि एकवचन या द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का होना अर्थात् 'सु', 'औ' के स्थान पर 'जस्' का होना कारकीय जैसा ही प्रतीत होता है। अतः हेमचन्द्र ने इन सूत्रों को कारकपाद के अन्त में तत्सदृश होने से ग्रन्थित कर दिया है।[4] इस बहुवद्भाव का संबन्ध आगे आने वाले पादों से नहीं है। इससे स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने बहुवद्भाव को भी कारक जैसा विधान ही माना है।

अस्मदो द्वयोश्च ॥१.२.५९॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'अस्मद्' शब्द के एकत्व और द्वित्व अर्थ में पाक्षिक बहुत्व का अतिदेश करता है। इसका अर्थ है कि 'अस्मद्' शब्द के एकत्व और द्वित्व दोनों अर्थों में विकल्प से बहुत्व का अतिदेश होकर बहुवचन हो जाता है।

---

१. महा० भा० १, सू० १.२.६४, पृ० २४६।
२. जैनेन्द्र व्याकरण महावृत्ति-१.१.९७।
३. शा० सू० १.३.९४ 'जातिर्बहुवद्वैकाख्यायाम्'।
४. है० सू० २.२.१२१ 'जात्याख्यायां न वैकोऽसंख्यो बहुवत्'।

जैसे—'अहं ब्रवीमि' (मैं कहता हूं) यहां 'अस्मद्' शब्द के एकत्व अर्थ में एकवचन होता है। साथ ही इस सूत्र के द्वारा बहुत्व का अतिदेश होकर 'वयं ब्रूमः' (हम कहते हैं) यह बहुवचन का प्रयोग भी पक्ष में होता है। जो अर्थ 'अहं ब्रवीमि' का है वही 'वयं ब्रूमः' का भी है। इसी प्रकार 'आवां ब्रूवः' (हम दोनों कहते हैं) यहां द्वित्व अर्थ वाले 'अस्मद्' शब्द से द्विवचन होता है। साथ ही इस सूत्र द्वारा बहुत्व का अतिदेश होकर बहुवचन भी हो जाता है। 'वयं ब्रूमः' (हम कहते हैं) यहां 'हम दोनों कहते हैं' इस अर्थ को प्रकट करने के लिए 'वयं ब्रूमः' यह बहुवचन का प्रयोग भी होता है। यह अतिदेश केवल 'अस्मद्' शब्द के विषय में ही है। 'युष्मद्' शब्द के विषय में तो एकत्व अर्थ में केवल एकवचन और द्वित्व अर्थ में केवल द्विवचन ही होता है, वहां बहुवचन नहीं होता। 'त्वं ब्रवीषि', 'युवां ब्रूथः।' कुछ वृत्तिकारों ने "युष्मदि गुरावेकेषाम्[1]" यह वचन पढ़कर 'गुरु' अर्थ के अभिधान में 'युष्मद्' शब्द से भी एकत्व अर्थ में बहुवचन का विधान किया है। 'त्वं मे गुरुः'। 'यूयं मे गुरवः'। दोनों का एक ही अर्थ है कि तू मेरा गुरु है या आप मेरे गुरु हैं। परन्तु यह वचन भाष्यवार्तिक में कहीं उपलब्ध नहीं होता, अतः अन्वेष्टव्य ही है।

'अस्मद्' शब्द में "सविशेषणस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः[2]" इस वार्तिक द्वारा उद्देश्यभूत 'अस्मद्' के विशेषण में बहुवचन नहीं होता। इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरणों ने अपने सूत्रों में 'अविशेषण' पद को जोड़कर सूत्र बनाया है। जैसे—"द्वौ चास्मदोऽविशेषणे"[3]। सूत्र के उदाहरण इस प्रकार हैं—'अहं पटुर्ब्रवीमि'। 'अहं देवदत्तो ब्रवीमि' (मैं पटु बोल रहा हूं। मैं देवदत्त बोल रहा हूं)। यहां 'पटु' और 'देवदत्त' ये दोनों 'अस्मद्' के विशेषण हैं। अतः बहुवचन न होकर केवल एकवचन ही होता है। इसी प्रकार "त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः"[4] (तू राजा है तो हम भी गुरुओं की उपासना

---

१. का० भा० १, सू० १.२.५९, पृ० ३६८।

तुलना करो—(क) जैनेन्द्रमहावृत्ति, सू० १.१९७ 'युष्मदि गुरावुभयविवक्षा'। (ख) है० सू० २.२.१२४ 'गुरावेकश्च'.

२. का० भा० १, सू० १.२.५९, पृ० ३६८।

३. शा० सू० १.३.९५। तुलना करो—है० सू० २.२.१२२ 'अविशेषणे द्वौ चास्मदः।'

४. वैराग्य शतक, २३। शार्ङ्गधर पद्धति-२०४।

से प्राप्त प्रजा के अभिमान से ऊंचे है) यहां 'अस्मद्' शब्द का विशेषण जो उन्नतत्व है, वह विधेय विशेषण है, उद्देश्य विशेषण नहीं हैं, इसलिए 'अस्मद्' शब्द के विशेषण युक्त होने पर भी बहुवचन का निषेध नहीं हुआ तो 'वयम्... उन्नता:' यहां बहुवचन हो गया। उपर्युक्त श्लोकवचन के समान ही 'अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतटक्रीडाकाननकेलिकोतुकजुषाम्'[१] इस 'अस्मद्' शब्द के विधेयविशेषण युक्त होने पर भी बहुवचन का निषेध नहीं हुआ।

लोकव्यवहार द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार कात्यायन इस सूत्र के अन्वाख्यान तथा प्रत्याख्यान दोनों में मौन हैं। यह प्रत्याख्यान भाष्यकार की अपनी मौलिक कल्पनाशक्ति का परिणाम है। इसलिए ये उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्—अहं ब्रवीमि, वयं ब्रूमः। आवां ब्रूमः, वयं ब्रूमः। इमानीन्द्रियाणि कदाचित् स्वातन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति तद्यथा—इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति। अयं मे कर्णः सुष्ठु श्रृणोति इति। कदाचित् पारतन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति—अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि। अनेन कर्णेन सुष्ठु श्रृणोमि इति। तद् यदा स्वातन्त्र्येण विवक्षा तदा बहुवचनं भविष्यति। यदा पारतन्त्र्येण तदैकवचनद्विवचने भविष्यतः"[२]।

यहां भाष्यकार का आशय यह है कि यदि इस सूत्र के बिना ही 'अस्मद्' शब्द का बहुत्व अर्थ सिद्ध हो जाये तो वहां "बहुषु बहुवचनम्"[३] इस सामान्य नियम से बहुवचन हो जायेगा। उस अवस्था में इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं। 'अस्मद्' शब्द का बहुत्व अर्थ सिद्ध करने के लिए भाष्यकार यहां बहुत सुन्दर दृष्टान्त उपस्थित करते हैं कि हमारी ये इन्द्रियां कभी स्वतन्त्र रूप से क्रिया को करने वाली विवक्षित होती हैं, कभी परतन्त्ररूप से। 'यह मेरी आंख बहुत अच्छी तरह देखती है'। 'यह मेरा कान बहुत अच्छी तरह सुनता है' इन वाक्यों में चक्षुः इन्द्रिय तथा कर्णेन्द्रिय दोनों अपने व्यापार में स्वतन्त्र विवक्षित हुई कर्ता बनी हुई हैं। इसके विपरीत जब उक्त इन्द्रियों का

---

१. बृ० श० शे० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० १०७७ से उद्धृत।

२. महा० भा० १, सू० १.२.५९ पृ० २३०-३१।

३. पा० १.४.२१।

व्यापार परतन्त्रतया विवक्षित होगा तो हम कहेंगे कि मैं इस आंख से बहुत अच्छा देखता हूं। मैं इस कान से बहुत अच्छा सुनता हूं। यहां इन्द्रियों का व्यापार स्वतन्त्र न होकर देखने या सुनने वाले 'मेरे' अधीन हो जाता है। तब 'मैं' क्रिया का कर्ता बनता हूं। इन्द्रियां करण रहती हैं। इन्द्रियों के व्यापार की स्वतन्त्रता में इन्द्रियां कर्ता होती हैं। 'मैं' गौण हो जाता हूं।

देहेन्द्रियसंघात विशिष्ट आत्मा को कर्ता माना जाता है। सांख्य या वेदान्त के सिद्धान्त में अहंकार से रहित आत्मा कर्ता नहीं हो सकता। इन्द्रियां भी भौतिक होने के साथ-साथ अहंकारोत्पन्न भी हैं अतः आहंकारिक मानी जाती हैं। ऐसी अवस्था में जब इन्द्रियां भी अहंकारयुक्त होने से स्वतन्त्र क्रिया की कर्ता हैं और आत्मा भी देहेन्द्रियादि के अहंकार से युक्त हुआ क्रिया का कर्ता है तब इन्द्रियों के बहुत होने से वहां बहुवचन स्वतः सिद्ध है। 'अहं ब्रवीमि' का वाक्य जब अहंकारयुक्त आत्मा कहेगा तो इन्द्रियों के व्यापार की स्वातन्त्र्येण विवक्षा न होने से आत्मा के एक होने के कारण वहां एकवचन हो जायेगा। दो आत्माओं के द्वित्व के कारण द्विवचन हो जायेगा। 'आवां ब्रूवः'। इन्द्रियों के अहंभाव के साथ जब उनके व्यापार की स्वतन्त्रता विवक्षित होगी तब देखने-सुनने वाली इन्द्रियों से भिन्न अन्य इन्द्रियां भी अपने व्यापार में उदासीन सी हुई उक्त इन्द्रियों की सहयोगिनी होंगी। उन सबके बहुत होने के कारण 'वयं ब्रूमः' या 'वयं पश्यामः' इस प्रकार बहुवचन स्वतः सिद्ध हो जायेगा तो बहुवचन विधान के लिए प्रकृत सूत्र की आवश्यकता नहीं रहती है।

समीक्षा और निष्कर्ष

भाष्यकार पतंजलि द्वारा, जो उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान किया गया है, वह एक नई सूझ है। दार्शनिकों के मतभेद के कारण वह विचारणीय है। सांख्य या वेदान्त एवं वैयाकरण सिद्धांत के अनुसार आत्मा के समान इन्द्रयों में भी अहम्भाव है। सांख्यदर्शन में इन्द्रियों को भौतिक न मानकर अहंकारोत्पन्न ही माना जाता है; क्योंकि सांख्य दर्शन का सूत्र है—

'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि उभयमिन्द्रियम्, इन्द्रियेभ्यः पञ्चस्थूलभूतानि पुरुष

इति पञ्चविंशतिर्गण:" ।

इसलिए उक्त दर्शन के अनुसार तो अहंकारविशिष्ट आत्मा के समान इन्द्रियां भी कर्ता बन सकती है और उनका स्वातन्त्र्येण क्रिया करने में प्रयोग भी हो सकता है। किन्तु सांख्यसिद्धांत से भिन्न, जो न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन हैं, उनके मत में तो चेतन आत्मा ही कर्ता हो सकता है, जड़ इन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि नहीं। न्यायमुक्तावली में कारिका भी हैं—

"शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारत:।
तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृति:"[१]।

इन्द्रियों में अहम्भाव न होने से 'अहं पश्यामि' या 'अहं ब्रवीमि', 'अहं श्रृणोमि' इत्यादि व्यपदेश जड़ इन्द्रियों में अनुपपन्न हैं। यह तो चेतन आत्मा ही है जो अहंकार का आश्रय है। वह जब देखने सुनने बोलने वाला एक होगा तो वहां एक वचन ही प्राप्त होगा, बहुवचन कैसे हो सकेगा। दो आत्माओं में द्विवचन और बहुतों में बहुवचन होगा। यहां एक ही आत्मा में एक वचन के साथ बहुवचन का प्रयोग भी अभीष्ट है। वह इस सूत्र के बिना कैसे सिद्ध होगा। दो आत्माओं में द्विवचन के साथ बहुवचन भी अभीष्ट है। उसकी सिद्धि भी इस सूत्र के द्वारा ही हो सकती है। हां, आदरार्थ में यदि बहुवचन माना जाये तो इस सूत्र की सर्वथा आवश्यकता नहीं रहती। एक ही आचार्य के लिए आदर प्रकट करने हेतु कह दिया जाता है कि 'एतदस्माकमाचार्या: कथयन्ति'। 'इमेऽस्माकं गुरव:' इत्यादि।

जिस प्रकार हिन्दी भाषा में 'तू' की जगह 'तुम' या 'आप' यह आदरार्थ प्रयुक्त होता है उसी प्रकार 'मैं' की जगह 'हम' का प्रयोग भी अहंकार को प्रकर्ष प्रकट करने के लिए किया जा सकता है। न केवल 'अस्मद्' के विषय में ही, प्रत्युत 'युष्मद', 'भवत्' इत्यादि अन्य शब्दों मे भी आदरार्थ बहुवचन का प्रचुर प्रयोग प्रचलित हो गया है। 'के यूयम्', 'भवन्त: किं कथयन्ति', 'एते महानुभावा: किं ब्रुवते'[२] इत्यादि बहुवचन के प्रयोग केवल एक व्यक्ति के विषय में भी दृष्टिगोचर होते हैं। यह सब शब्दशक्ति के स्वभाव के कारण ऐसा होता है। इसलिए केवल 'अस्मद्' के लिए सूत्र बनाना निरर्थक है।

---

१. सांख्यदर्शन, १.६१।

२. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली (भाषा परिच्छेद) प्रत्यक्ष खण्ड, कारिका सं० ४८।

'निवेदयामि वयं शिवदत्तः' इत्यादि वृद्धों के प्रयोग तो सूत्र की सत्ता या असत्ता होने पर भी सर्वथा अपशब्द ही माने जायेंगे। इसी बात को ध्यान में रखते हुए आचार्य चन्द्रगोम्मिन् तथा पूज्यपाद देवनन्दी ने प्रकृत सूत्र को अपने व्याकरण में नहीं रखा। हां उनकी टीकाओं (चान्द्रस्वोपज्ञवृत्ति तथा जैनेन्द्र महावृत्ति) ने अवश्य विचार किया गया है। वहां भी इसे विवक्षा के आधार पर प्रत्याख्येय सिद्ध किया गया है। ऐसी स्थिति में शाकटायन तथा हेमचन्द्र द्वारा इस सूत्र को 'सविशेषण अस्मद्' में बहुवचन को रोकने के लिए आवश्यक मानना चिन्त्य ही प्रतीत होता है[1]॥

फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे ॥ १.२.६० ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र नक्षत्रवाचक 'फल्गुनी' और 'प्रोष्ठपदा' शब्दों के द्वित्व में विकल्प से बहुवचन का विधान करता है। 'फल्गुनी' नामक नक्षत्र पूर्व-उत्तर भेद से दो हैं। 'प्रोष्ठपदा' भी पूर्वोत्तरभेद से दो हैं। दोनों में द्विवचन ही प्राप्त था। इस सूत्र से पक्ष में बहुवचन भी हो जाता है। सूत्र का अर्थ है कि 'फल्गुनी' और 'प्रोष्ठपदा' इन दो-दो नक्षत्रों के द्वित्व अर्थ में विकल्प से बहुवचन होता है। उदाहरण जैसे—'पूर्वे फल्गुन्यौ', 'पूर्वाः फल्गुन्यः'। 'उत्तरे फल्गुन्यौ', ''उत्तरा फल्गुन्यः'। पूर्वे प्रोष्ठपदे', 'पूर्वाः प्रोष्ठपदाः'। 'उत्तरे प्रोष्ठपदे', 'उत्तराः प्रोष्ठपदाः'। 'प्रोष्ठपदा' नक्षत्र का दूसरा नाम 'भद्रपदा' भी है। 'भद्रपदा' नक्षत्र से सम्बद्ध 'भाद्रपद' मास है। इसी प्रकार 'फल्गुनी' से सम्बद्ध 'फाल्गुन' मास है।

लक्षणा वृत्ति द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान केवल भाष्यकार ने किया है, वार्तिककार तो इस सूत्र पर सर्वथा मौन हैं। भाष्यकार इस सूत्र को विशेष आवश्यक न समझते हुए कहते हैं-'अयमपि योगो शक्योऽवक्तुम्। कथम् उदिते पूर्वे फल्गुन्यौ। उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः। उदिते पूर्वे प्रोष्ठपदे। उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः। फल्गुनीसमीपगते

---

१. शा० सू० १.३.६५ 'द्वौ चास्मदोऽविशेषणे'। इस पर अमोघवृत्ति द्रष्टव्य है—'सविशेषणप्रतिषेधार्थवचनम्। एकानेकस्वभावस्यात्मनोऽनेकस्य विवक्षायां सिद्धं बहुवचनम्। अत एव अन्ययुष्मदोरपि गुरौ बहुवचनं प्रयुज्यते···।' है० सू० २.२.१२२ 'अविशेषणे द्वौ चास्मदः'।

चन्द्रमसि फल्गुनीशब्दो वर्तते। बहवस्तेऽर्थास्तत्र युक्तं बहुवचनम्। यदा तयोरेवाभिधानं तदा द्विवचनं भविष्यति"[1]। भाष्यकार का आशय है कि 'फल्गुनी' और 'प्रोष्ठपदा' शब्दों में इस सूत्र द्वारा बहुवचन विधान की आवश्यकता नहीं है। दोनों नक्षत्रों का चन्द्रमा के साथ समय-समय पर योग होता ही रहता है। कई बार संयुक्त हुआ चन्द्रमा ही उपचार से 'फलगुनी' और 'प्रोष्ठपदा' शब्दों से व्यवहृत हो सकता है। उस अवस्था में चन्द्र संयोग बहुत होने के कारण दोनों शब्दों में बहुवचन स्वतःसिद्ध हो जायेगा। 'फल्गुनी' नक्षत्र और 'प्रोष्ठपदा' नक्षत्र के समीपगत चन्द्रमा को ही 'फल्गुनी' और 'प्रोष्ठपदा' शब्दों से अभिहित होने में लक्षणावृत्ति प्रयोजक है। "पुंयोगादारव्यायाम्"[2] सूत्र के भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं—"चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् स इत्येतद् भवति। तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सागहचर्यात्, तत्सामीप्यात् इति"[3]।

तत्सामीप्य से भी तद्भिन्न में 'तत्' शब्द का प्रयोग हुआ करता है। जैसे- 'छत्रिणो यान्ति' (छत्रधारी जा रहे हैं) यहां कुछ लोगों के छत्रधारी होने के कारण उनके सामीप्य से अन्य छत्ररहितों को भी 'छत्रधारी' शब्द से कथन कर दिया जाता है। यह अजहत्स्वार्था लक्षणावृत्ति का माहात्म्य है। इसी प्रकार 'फल्गुनीसमीपगत' चन्द्रमा को भी 'फलगुनी' कहा जा सकता है। यद्यपि 'फल्गुनी' और 'प्रोष्ठपदा' शब्दों का वाच्य अर्थ चन्द्रमा नहीं है, नक्षत्र ही है। जब केवल उक्त नक्षत्रों का ही अभिधान विवक्षित होगा तब दोनों के दो-दो होने के कारण द्विवचन भी हो जायेगा। इस प्रकार द्विवचन और बहुवचन की सिद्धि हो जायेगी तो सूत्र का बनाना निष्प्रयोजन है। इसीलिए चान्द्र व्याकरण और जैनेन्द्र व्याकरण में प्रकृत सूत्र का अभाव दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि चान्द्रस्वोपज्ञवृत्ति तथा जैनेन्द्र महावृत्ति में सांकेतिक रूप से इसका विचार हुआ है किन्तु वहां भी विवक्षाभेद से इसका खण्डन ही द्योतित किया गया है[4]। हां शाकटायन और हेमचन्द्र के द्वारा इसका ग्रहण अवश्य विचार का विषय है।[5]

---

१. महा० भा० १, सू० १.२.६०, पृ० २३१।

२. पा० ४.१.४८।

३. महा० भा० २, सू० ४.१.४८, पृ० २१८।

४. द्र० जैनेन्द्र महावृत्ति, सू० १.१.६७, 'यदा फल्गुनीसमीपगते चन्द्रमसि फल्गुनीशब्दो विवक्ष्यते तदा बहुत्वमन्यदा द्वित्वम्'।

५. (क) शा० सू० १.३.९६, 'फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य नक्षत्रम्'।
(ख) है० सू० २.२.१२३, 'फल्गुनीप्रोष्ठपदस्य भे'।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यकार द्वारा किया गया उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान युक्तियुक्त ही है। "अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः"[१] अर्थात् शब्द का प्रयोग अर्थ को समझने के लिये है। वह साक्षात् अभिधा या लक्षणा द्वारा किसी वृत्ति से भी हो जाये तो इसमें कोई दोष नहीं। वैसे भी उक्त नक्षत्रों के ये द्विवचन बहुवचनान्त प्रयोग वैदिक मन्त्र ब्राह्मणों के हैं। उनमें "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति"[२] इस ब्रह्मास्त्र से भी समाधान हो सकता है।

द्विगुरेकवचनम् ॥ २.४. १ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र द्विगुसमास में एकवद्भाव करता है। द्विगुसमास तत्पुरुषसमास का ही भेद है। "तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च"[३], "संख्यापूर्वो द्विगुः"[४] इन सूत्रों के अनुसार तद्धितार्थ में, उत्तरपद परे रहते तथा समाहार में जो संख्यापूर्वक समानाधिकरण पद वाला तत्पुरुष है उसकी द्विगुसंज्ञा होती है। यहाँ समाहार द्विगु ही लिया गया है। क्योंकि उसी में एकत्व अर्थ का संभव है, तद्धितार्थ द्विगु में नहीं। 'एकवचनम्' यहां 'वक्तीति वचनम्। एकस्य वचनमेकवचनम्'[५] इस प्रकार बाहुलकात् कर्त्ता में 'ल्युट्' माना जाता है। उससे सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है कि द्विगुसमास एकार्थ का वाचक होता है। समाहार शब्द में 'समाहरणं समाहारः समूहः राशीकरणमिति यावत्' इस प्रकार भाव में 'घञ्' प्रत्यय होता है, कर्म में नहीं। समूह या राशि एक होती है। जैसा कि भाष्यकार कहते हैं-"एकोऽयमर्थो राशिर्नाम"[६] समाहार शब्द को कर्मसाधन मानने में एकत्व अर्थ नहीं आता है। उदाहरण जैसे—'पञ्चानां पूलानां समाहारः पञ्चपूली'। 'पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम्'। यहां द्विगु समास में एकवद्भाव होने से एकवचन हो जाता है। 'पञ्चपूली' में "अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते"[७] इस वार्तिक से स्त्री-

१. महा० भा० १, सू० १.१.४४, पृ० १०५। तुलना करो—अर्थनित्यः परीक्षेत'—निरुक्त २.१॥
२. महा० भा० १, सू० १.१.६, पृ० ५५।
३. पा० २.१.५१।
४. पा० २.१.५२।
५. श० कौ० प्रकृत सूत्र, पृ० २४८।
६. महा० भा० १, सू० २.२.२, पृ० ४०७।
७. पा० २.४.१७ पर वार्तिक।

लिङ्ग होकर "द्विगोः"[१] से 'ङीप्' प्रत्यय होता है। 'पञ्चगवम्' में "गोरतद्धित-लुकि"[२] से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होकर "स नपुंसकम्"[३] से नपुंसकलिङ्ग हो जाता है।

द्विगुसमास के एकार्थवाचक होने के कारण उसके साथ अनुप्रयुज्यमान 'इदम्' इत्यादि विशेषण शब्दों से भी एकवचन होता है। 'इयं पञ्चपूली शोभना'। 'इदं पञ्चगवं तिष्ठति' इत्यादि। 'पञ्चपूली' इत्यादि में समास का अर्थ अन्त में समाहार ही दिखाना चाहिये। 'पञ्चानां पुलानां समाहारः' इस प्रकार विग्रह से समाहार की प्रधानता स्पष्ट होती है। वैसे 'पञ्च पूलाः समाहृताः' इस प्रकार भी इसका विग्रह दिखाया जाता है किन्तु इससे समाहार की मुख्य प्रतीति नहीं होती अपितु समाह्रियमाण पदार्थों का ही प्राधान्य रहता है। 'अष्टाध्यायी', 'शताब्दी' इत्यादि अनेक इस सूत्र के उदाहरण हैं। 'अष्टानामध्यायानां समाहारः', 'शतस्य शब्दानां समाहारः' यही विग्रह समाहार को मुख्य रूप से प्रकट करता है। इससे एकार्थवाचकता द्विगु समास की स्पष्ट हो जाती है। समाहार शब्द में जब कर्म में 'घञ्' मानकर 'समाह्रियते इति समाहारः' ऐसा विग्रह किया जायेगा तो 'अष्टौ अध्यायाः समाहृताः', 'शतमब्दाः समाहृताः' इस प्रकार समाहृत पदार्थों की प्रधानता प्रकट होती है।

समाहार के एक होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार और भाष्यकार दोनों ही पहले इस सूत्र का प्रयोजन बताकर पीछे से प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं--"प्रत्यधिकरणं वचनोत्पत्तेः संख्यसामानाधिकरण्याच्च द्विगोरेकवचनविधानम्"[४] अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की संख्या के साथ उसकी वाचक विभक्ति उत्पन्न होती है। द्विगुसमास का जो अर्थ है, वह अनेक द्रव्यात्मक है। 'पञ्चपूली' में 'पञ्च पूलाः समाहृताः' इस विग्रह से समाह्रियमाण पूलों की संख्या पाँच है। राशीकृत पाँच पूलों के बहुत होने के कारण वहां बहुवचन प्राप्त होता है। इष्ट है कि एक वचन हो, इसलिए "द्विगुरेकवचनम्" यह सूत्र बनाया है। बाद में प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"न वा समाहारैकत्वात्। न वा योगारम्भेणैवार्थः। किं कारणम्। समाहा-

---

१. पा० ४.१.२१।

२. पा० ५.४.९२।

३. पा० २.४.१७।

४. महा० भा० १, सू० २.४.१ पर वार्तिक, पृ० ४७२।

रैकत्वादैकवचनं भविष्यति"।[१]

भाव यह है कि इस सूत्र में समाहार द्विगु माना जाता है और समाहार, समूह रूप होने से एक ही होता है। जैसे 'वनम्', 'यूथम्' ये समुदाय एकार्थक हैं। इसलिये समाहार के एक होने से 'पञ्चपूली' में एक वचन ही होगा, बहुवचन नहीं, तो यह सूत्र व्यर्थ है। संभवतः इसी लिये अर्वाचीन व्याकरण ग्रन्थों में प्रकृत सूत्र नहीं मिलता।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहां पर भाष्यवार्तिककार ने द्विगुसमास को समाहार मानकर और समाहार शब्द को भी भावसाधन स्वीकार करके उसके एक होने के कारण इस सूत्र का खण्डन कर दिया है। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि समाहार शब्द को 'समाह्रियते इति समाहारः' इस प्रकार कर्मसाधन मानकर 'पञ्चपूली', पञ्चगवम्' इत्यादि में 'पञ्च पूलाः समाहृताः' "पञ्चगावः समाहृताः' इत्यादि विग्रह से द्विगु समास का अर्थ समाहृत पदार्थ माना जाये और पदार्थों का समूह न माना जाय तो इस सूत्र के बिना क्या गति होगी। साथ ही "स नपुंसकम्"[२] इस उत्तर सूत्र द्वारा नपुंसकलिङ्ग का विधान भी सूत्र के बिना कैसे होगा। इसका समाधान करते हुए शब्दकौस्तुभकार कहते हैं—

"समाहारशब्दे कर्मसाधनभ्रमं वारयितुमिदमारभ्यते। स नपुंसकम् इत्यस्य प्रवृत्त्यर्थं च। दृश्यते च भ्रमनिवृत्तयेऽपि सूत्रकृतो यत्नः। यथा—उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे इति। तत्र हि अद्वन्द्वे इत्यस्य द्वन्द्वग्रहणं नानुवर्तते इत्यर्थो भाष्ये स्थितः"।[३]

भाव यह है कि शब्दकौस्तुभकार के मत में यह सूत्र केवल भ्रम की निवृत्ति के लिये है जिससे यह भ्रम निवृत्त हो जाये कि समाहार का अर्थ 'समाह्रियमाण पदार्थ' यहां लिया गया है। यह सूत्र समाहार को भावसाधन समझने में तात्पर्यग्राहक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पञ्चपूली', 'पञ्चगवम्' इत्यादि द्विगुसमास में समाहार एवं समूह प्रधान अर्थ वाला ही विग्रह होना चाहिये। 'पञ्चानां पूलानां समाहारः', पञ्चानां गवां समाहारः' यही वास्तविक विग्रह द्विगुसमास में समाहार अर्थ की प्रधानता को प्रकट कर सकता है।

तत्त्वबोधिनीकार इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि यदि

१. वही, पृ० ४७३।
२. पा० २.४.१७।
३. श० कौ० प्रकृत सूत्र, पृ० २४८।

द्विगु समास का अर्थ पदार्थ समूह न मान कर समाहृत पदार्थ मानें तो 'पञ्चखट्वी' न बनेगा। 'पञ्चखट्वी' में "द्विगोः"[1] सूत्र से ङीप् न हो सकेगा। क्योंकि समाहृत पदार्थ द्विगु का अर्थ मानने पर 'पञ्चखट्वाः समाहृता', 'पञ्चसु खट्वासु समाहृतासु' इत्यादि अनेक विभक्तियुक्त विग्रह होने से "एकविभक्ति चापूर्व निपाते"[2] से 'खट्वा' शब्द की उपसर्जन संज्ञा नहीं प्राप्त होगी। उपसर्जनसंज्ञा न होने से "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य"[3] से 'खट्वा' को ह्रस्व न हो सकेगा। तब "आबन्तो वा"[4] इस वार्तिक द्वारा स्त्रीलिङ्ग पक्ष में अदन्त लक्षण "द्विगोः" से 'ङीप्' न होगा। इसके विपरीत जब द्विगु समास का अर्थ पदार्थ समूह माना जाता है तो एकविभक्ति एवं नियत विभक्ति होने से 'खट्वा' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा अव्याहत है।[5] समाहारप्रधान विग्रह में वर्तिपदार्थ नियम से षष्ठी विभक्त्यन्त ही रहेंगे। उससे 'पञ्चखट्वी' यह इष्टरूप निर्बाध सिद्ध हो जायेगा।

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि सूत्र की सत्ता में भी 'पञ्चपूली च पञ्चपूली च पञ्चपूली च इति पञ्चपूल्यः' यहां पञ्चपूली शब्द के एकशेष में भी द्विगु होने से एकवद्भाव नहीं होता। क्योंकि यहां पांच पूलों का समाहार नहीं अपितु समाहृत पांच पूलों का समाहार है। भाष्यवार्तिक भी है—"न वान्यस्यानेकत्वात्। नैतद् द्विगोरनेकत्वम्। किं तर्हि। द्विग्वर्थसमुदायस्य"[6]। इसी प्रकार तद्धितार्थ द्विगु में भी इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए 'पञ्चकपालौ', 'पञ्चकपालाः' यहां एकवद्भाव नहीं होता। 'पञ्चगवधनः' यहां बहुव्रीहि समास में 'धन' शब्द उत्तरपद परे रहते जो 'पञ्चगव' शब्द द्विगु है, उसमें भी एकवद्भाव निष्प्रयोजन है। क्योंकि उत्तर पद परे रहते जो द्विगु है, वह बहुव्रीहिसमास के प्रति गुणीभूत है। वहां बहुव्रीहि का ही अर्थ प्रधान है, द्विगु का नहीं। इस प्रकार प्रकृत सूत्र समा-

---

१. पा० ४.१.२१.
२. पा० १.२.४४।
३. पा० १.२.४८।
४. पा० २.४.१७ पर वार्तिक।
५. द्र.त० बो० प्रकृत सूत्र--'न च द्विगुरेकवचनमिति सूत्रान्नैवमिति वाच्यम्, पञ्चखट्वीत्यसिद्धेः। तत्र हि पञ्च खट्वाः समाहृताः, पञ्चसु खट्वासु समाहृतासु इत्येवं विग्रहसंभवेन नियतविभक्तिकत्वाभावाद् एकविभक्तिचापूर्वनिपाते इत्यप्रवृत्तेरनुपसर्जनत्वाद् गोस्त्रियोः इति ह्रस्वो न स्यात्। ततश्च आबन्तो वा इति स्त्रीत्वपक्षे द्विगोः इत्यदन्तलक्षणो ङीप् न स्यात्। भावसाधनत्वे त्वेकविभक्तित्वादुपसर्जनत्वमव्याहतमेव।
६. महा० भा० १, सू० २.४.१, पृ० ४७२।

हार को भावसाधन समझने में तात्पर्य ग्राहक होने के कारण प्रत्याख्येय नहीं है ॥

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ॥ १.२.६४ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'एकशेष' का विधान करता है, इसका अर्थ है कि समान रूप वाले शब्दों में 'एक विभक्ति' परे रहते 'एकशेष' होता है। अन्यों की निवृत्ति हो जाती है। जैसे—'वृक्षश्च, वृक्षश्च वृक्षौ'। 'वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षाः'। यहां समान रूप वाले 'वृक्ष' शब्दों में एक 'वृक्ष' शब्द शेष रहकर अन्य निवृत्त हो जाते हैं। 'वृक्षौ' यहां द्विवचन में एक 'वृक्ष' की निवृत्ति तथा 'वृक्षाः' यहां दो 'वृक्ष' शब्दों की निवृत्ति हो जाती है। सर्वत्र द्विवचन बहुवचनों में इसी प्रकार 'एक शेष' रह कर बाकी निवृत्त हो जाते हैं। सूत्र का प्रयोजन बताते हुए भाष्य वार्तिककार कहते हैं—

"प्रत्यर्थं शब्दनिवेशान्नैकेनानेकस्याभिधानम्। तत्रानेकार्थाभिधानेऽनेक-शब्दत्वं प्राप्नोति। इष्यते चैकेनाप्यनेकस्याभिधानं स्यात्। तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यति। तस्मादेकशेषः। एवमर्थमिदमुच्यते"[1]।

इनका भाव यही है कि अलग-अलग अर्थों को कहने के लिये अलग-अलग अनेक शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। क्योंकि एक शब्द से एक साथ अलग-अलग अनेक अर्थों का अभिधान नहीं हो सकता। अभीष्ट है कि एक ही शब्द से अलग-अलग अनेक अर्थों का अभिधान हो सके। वह बात यत्न विशेष के बिना सिद्ध नहीं होती। अतः 'एकशेष' का विधान इस सूत्र द्वारा किया गया है जिससे 'वृक्षौ', 'वृक्षाः' इत्यादि में एक ही 'वृक्ष' शब्द से द्वित्व, बहुत्वविशिष्ट 'वृक्ष' अर्थ का भी बोध हो सके। यह 'एकशेष' का ही माहात्म्य है जो एक अवशिष्ट 'वृक्ष' शब्द अपने से भिन्न द्वित्व-बहुत्वविशिष्ट 'वृक्ष पदार्थों' का बोध कराता है। 'कृत्', 'तद्धित', 'समास', 'एकशेष' और 'सनाद्यन्त धातु' रूप ये पांच वृत्तियां व्याकरण-शास्त्र में मानी जाती हैं[2]। इनमें 'एकशेष' भी गिनायी गई है "परार्थाभिधानं वृत्तिः"[3] यह वृत्ति का लक्षण है। जिस शक्ति से अन्तर्निहित अन्य अर्थ का, वर्ति-पदार्थ से भिन्न अर्थ का, अभिधान हो वह वृत्ति होती है। 'एकशेष' में यह शक्ति है कि वह एक शब्द द्वारा अनेक अर्थों का बोध करा देता है। कहा भी है—'यः

१. महा० भा० १, सू० १.२.६४, पृ० २३३।
२. द्र० वै० सि० कौ० भा० २, सर्वसमासशेष प्रकरण, पृ० २१५, कृत्तद्धित-तसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्चवृत्तयः'।
३. वही।

शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी"[1] अर्थात् जो शेष रहता है वह लुप्त हुए शब्दों के अर्थ को प्रकट करता है।

सूत्र में 'रूप' ग्रहण इसलिये किया है कि रूप की समानता में ही 'एकशेष' हो, अर्थ की समानता हो या न हो। अर्थ की समानता न हो पर भी केवल शब्द स्वरूप की समानता से 'एकशेष' हो जाता है। जैसे—'अक्षाः', 'पादाः', 'माषाः' यहां अक्षादि शब्दों के अनेक अर्थ हैं। बहेड़े के फल को 'अक्ष' कहते हैं। गाड़ी के धुरे को भी 'अक्ष' कहते हैं। द्यूतक्रीड़ा में प्रयुक्त होने वाला 'पासा' भी 'अक्ष' कहा जाता है। इसी प्रकार 'पाद' शब्द के 'पैर', 'चौथाई हिस्सा' तथा 'किरण' आदि अनेक अर्थ हैं। 'माष' के भी 'उड़द', 'परिमाण वाचक मासा' आदि अर्थ हैं। अर्थ भिन्न-भिन्न होने पर भी अक्षादि शब्दों के रूप समान हैं। अतः 'अक्षश्च अक्षश्च अक्षश्च अक्षाः'। 'पादश्च पादश्च पादश्च पादाः',। 'माषश्च माषश्च माषश्च माषाः'। यहां 'आक्षाः', 'पादाः','माषाः'। यह 'एकशेष' हो जाता है। समान अर्थ वाले विरूप शब्दों में 'एकशेष' का विधान "एकार्थानामपि विरूपाणाम्"[2] इस वार्तिक द्वारा किया गया है। उससे 'घटश्च कलशश्च घटौ कलशौ वा' ये 'एकशेष' के रूप सिद्ध होते हैं। विरूपों का 'एकशेषविधान' करना इस सूत्र का विषय नहीं है। यहां तो सरूपों का ही 'एकशेषविधान' है, वे सरूपशब्द चाहे समानार्थक हों या भिन्नार्थक।

'एकविभक्तौ' यहाँ 'एकविभक्ति' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि एक सी विभक्ति या एकविभक्ति में जो समान रूप वाले ही शब्द हैं, जो कभी किसी विभक्ति में विरूप नहीं होते, उन्हीं का 'एकशेष' होता है। उससे जननी वाचक 'मातृ' शब्द तथा परिच्छेत्तृवाचक 'मातृ' शब्द के 'भ्याम्, भिस्' आदि विभक्तियों में 'मातृभ्याम्' इस प्रकार समान रूप वाले होने पर भी 'औ' विभक्ति परे रहते जननी वाचक के 'मातरौ' तथा परिच्छेत्तृवाचक के 'मातारौ' ये विभिन्न रूप होने के कारण 'माता च माता च मातरौ' या 'मातारौ' यह 'एकशेष' नहीं होता। 'भ्याम्' में भी 'मातृभ्याम्' यह एकशेष नहीं होगा तो दोनों शब्दों के सभी विभक्तियों में अलग-अलग रूप बनेंगे। 'एकशेष' होने पर अर्थ में सन्देह होगा, अतः वहां 'एकशेष' नहीं होता है। इसी प्रकार 'ब्राह्मणाभ्यां च कृतं', ब्राह्मणाभ्यां च देहि' यहाँ तृतीया चतुर्थी विभक्त्यन्त 'ब्राह्मण' शब्दों में भी समान विभक्ति न होने से 'एकशेष' नहीं होता। 'कीदृगसौ जगन्माता आभ्यां मातृभ्याम्' इत्यादि प्रयोगों में कवि लोग श्लेष अलंकार द्वारा जननी एवं निर्मातृविषयक दो अर्थ बेशक

---

१. द्र० श० कौ भा० २, पृ० ४०।

२. द्र० 'एकार्थानामपि विरूपाणाम्'—प्रकृत सूत्र पर वार्तिक।

कर लें किन्तु वहां 'एकशेष' कदापि संभव नहीं है[1]।

वस्तुतः 'एकशेष' का मूल आधार सहविवक्षा है। दो अर्थों के एक साथ कहने की इच्छा को सहविवक्षा कहते हैं। सहविवक्षा में इतरेतर योग अवश्यं-भावेन अपेक्षित है। इतरेतर योग में द्वन्द्व समास प्राप्त है। उस द्वन्द्वसमास को बाध कर यह 'एकशेष' का आरम्भ किया है। जहां समान रूप वाले शब्द नहीं है किन्तु सह विवक्षा है, वहां द्वन्द्व ही होता है। जैसे-'प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्य-ग्रोधौ'। समान रूप वालों में भी शब्दशक्ति का ऐसा स्वभाव है कि एक से लेकर दस तक संख्यावाची शब्दों में 'एकशेष' नहीं होता। जैसे—'एकश्च एकश्च' यहां 'एकशेष' होकर 'एकौ' नहीं बनता किन्तु एक और एक मिलकर 'दो' हो जाते हैं, अतः 'द्वौ' बनता है। 'द्वौ' का 'एक' शब्द के साथ सारूप्य न होने से यहां 'एकशेष' का अनभिधान ही मान लिया जाता है। अनभिधान के कारण ही 'एकश्च एकश्च' यहां द्वन्द्वसमास भी नहीं होता। 'द्वौ च द्वौ च इति चत्वारः'। 'पञ्च च पञ्च चेति दश' यही रूप बनेंगे। इन्हें चाहे 'एकशेष' का रूप समझा जा सकता है। हां, 'विंशतिश्च विंशतिश्च विंशती' यहां तो 'एकशेष' हो जाता है। यह सब शब्दशक्ति की महिमा है।

सूत्र में 'शेष' ग्रहण इस लिये किया है कि एक 'शेष' ही रहे, आदेश न हो। अन्यथा "सरूपाणामेक एकविभक्तौ" ऐसा सूत्र होने पर 'समानरूप वाले शब्दों में अन्तरतम एक आदेश होता है' ऐसा सूत्रार्थ हो जाता। उससे 'अश्वश्च अश्वश्च अश्वौ' यहां दो 'अश्व' शब्दों के स्थान में एक 'अश्व' शब्द आदेश मानकर 'अश्व' शब्द के आद्युदात्त तथा अन्तानुदात्त होने से दो उदात्तों तथा दो अनुदात्तों वाला अन्तरतम 'अश्व' शब्द श्रुयमाण होगा जो कि सर्वथा अनिष्ट है। 'शेष' ग्रहण करने से एक आदेश की निवृत्ति होकर एक अवशेष रहता है, यह अभीष्टार्थ सिद्ध हो जाता है। यह तो सर्वविदित है कि व्यक्ति या द्रव्यपक्ष को लेकर इस सूत्र का आरम्भ है। जातिपक्ष में तो जाति के सर्वत्र एक होने से एक शब्दत्व स्वतः सिद्ध है। उस पक्ष में 'एकशेष' की आवश्यकता नहीं। द्रव्य या व्यक्ति अनन्त हैं।

---

१. शा० सू० २.१.८२ की अमोघवृत्ति---यद्यपि उपर्युक्त प्रयोग में शाकटायन व्याकरण की अमोघवृत्ति में एक पक्षीय 'एकशेष' स्वीकार किया गया है यथा—'सुपि इति मातृमातारौ। जनयित्रीवाचिनः मातरौ, धान्यमातृ-वाचिनो मातारौ इत्यादि रूपं भिद्यते। यत्र तु न भिद्यते तत्र मातृभ्यां, मातृभिः इत्येके। यत्र यस्मिन् सुपि ये शब्दाः समाना एकरूपा भवन्ति तस्मिन् सुपि तेषां सहवचने एकवचनम् एव प्रयोक्तव्यम् इत्यर्थः'।

उनमें एक को शेष रख कर अनेकों की निवृत्ति करने के लिये यह सूत्र बनाया गया है। यद्यपि सरूपों के 'एकशेष' के समान विरूपों का 'अनेकशेष' भी विधान किया जा सकता था फिर भी आचार्य पाणिनि ने सरूपों का एकशेष विधान ही सुगम तथा सुन्दर माना है। भाष्यकार कहते हैं--

"लघीयसी विरूपप्रतिपत्तिः। किं कारणम्। यत्रहि बहूनां सरूपाणामेकः शिष्यते तत्रावरतो द्वयोः सरूपयोर्निवृत्तिर् वक्तव्या स्यात्। एवमप्येतस्मिन् सति किंचिदाचार्यः सुकरतरकं चैकशेषारम्भं मन्यते"[1]।

पक्षान्तर ारा सूत्र का प्रत्याख्यान

उक्तरीति से सूत्र की सप्रयोजन स्थापना करके भाष्यवार्तिककार इसके प्रत्याख्यान की भूमिका तैयार करते हुए कहते हैं द्विवचनबहुवचना प्रसिद्धिरेकार्थत्वात्"[2] अर्थात् 'वृक्षौ', 'वृक्षाः' यहां 'एकशेष' हुए 'वृक्ष' शब्द से परे द्विवचन बहुवचन नहीं आने चाहियें। क्योंकि अवशिष्ट एक 'वृक्ष' शब्द एकार्थवाची है, द्व्यर्थ या बह्वर्थवाची शब्द नहीं है।

यदि यह कहा जाये कि 'एकशेष' के आरम्भसामर्थ्य से यहां अवशिष्ट एक 'वृक्ष' शब्द एकार्थवाची न होकर द्व्यर्थ और बह्वर्थवाची है। क्योंकि वह लुप्त हुए अनेक 'वृक्ष' शब्दों का अवशिष्ट है अतः उसमें अनेकार्थद्योतकता है तो इसका उत्तर देने से पूर्व भाष्यकार इस बात पर विचार करते हैं कि एक शब्द में अनेकार्थ बोधन की शक्ति स्वाभाविक मानी जाये वा वाचनिक। यदि स्वाभाविक मानी जाय तो 'अशिष्य एकशेष एकेनोक्तत्वात्'[3] अर्थात् एक शब्द में अनेकार्थबोधन की शक्ति स्वाभाविक मानने पर 'एकशेषविधान' की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि एक 'वृक्ष' शब्द स्वभाव से अनेक वृक्षार्थों का वाचक है। उस अवस्था में एक से ही काम चल जाने पर दूसरे तीसरे 'वृक्ष' शब्द का प्रयोग ही नहीं होगा तो 'एकशेषविधान' व्यर्थ है। यदि एक शब्द में 'अनेकार्थबोधन' शक्ति वाचनिक मानी जाय तो एकशेषविधायक सूत्र में 'एकशेष' के साथ 'अनेकार्थश्च' भी कहना होगा। "सरूपाणामेकशेषोऽनेकार्थश्चैकविभक्तौ" ऐसी सूत्र रचना करनी होगी। क्योंकि बिना वचन के एकशब्द में अनेकार्थबोधकता नहीं आयेगी।

---

१. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २३४।

२. वही, पृ० २४०।

३. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र' पृ० २४०।

यहां यह शङ्का करना ठीक नहीं कि एकशेष विधानसामर्थ्य से ही अवशिष्ट एक शब्द में अनेकार्थवाचकता हो जायेगी। क्योंकि जो शब्द अवशिष्ट है वह लुप्त हुए शब्दों के अर्थ का बोधक है। 'यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी"। यतोहि अनेक अर्थ के अभिधान के लिये तो 'एकशेष' का आरम्भ किया गया है। यदि वही न हुआ और केवल एक शब्द से एकार्थ का ही अभिधान हुआ तो 'एकशेष' का आरम्भ करना सर्वथा व्यर्थ हो जायेगा। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि 'एकशेषविधान' के कारण यद्यपि एक 'वृक्ष' शब्द में अनेकार्थबोधकता मानकर द्विवचन बहुवचनादि की सिद्धि भले ही कर ली जाये किन्तु जब तक एक शब्द में अनेकार्थप्रत्यायन शक्ति स्वाभाविक नहीं मानी जायेगी तब तक एकार्थ-वाची शब्द 'एकशेष' करने पर भी अनेकार्थवाची नहीं बन सकता। इस सूत्र का आरम्भ इसी आधार पर हुआ था कि अलग-अलग अर्थों के लिये अलग-अलग शब्दों का अभिधान प्राप्त होता है। इष्ट है कि एक शब्द से ही अलग-अलग अनेक अर्थों का भी अभिधान हो, इसी प्रयोजन के लिये यह सूत्र बनाया गया था। यदि स्वाभाविक रूप से एक शब्द से भी अनेक अर्थों का अभिधान मान लिया जाये तो इसकी क्या आवश्यकता रह जाती है, कुछ भी नहीं।

जहां यह पक्ष है कि "यावतामभिधानं तावतां प्रयोगो न्याय्यः"[1] अर्थात् जितने अर्थ हों उतने ही शब्द हों, वहां यह पक्ष भी न्याय्य होने से माननीय होना चाहिये—"एकेनाप्येनेकस्याभिधानम्"[2] यानि एक शब्द से भी अनेक अर्थों का अभिधान होता है। 'प्लक्षौ' 'वृक्षौ'यहां एक 'प्लक्ष' या 'वृक्ष' शब्द से भी स्वभावतः दो 'प्लक्ष' या 'वृक्ष' समझे जाते हैं। दो अर्थों की सहविवक्षा करके एक शब्द का प्रयोग हो सकता है। किन्तु शब्दशक्ति स्वाभाव्य से यह एक शब्द से अनेक अर्थ का अभिधान केवल समान रूप वाले शब्दों में ही होता है। विभिन्न रूप वाले 'प्लक्षन्यग्रोधौ' इत्यादि में नहीं। इसलिये उन दोनों को कहने के लिये 'प्लक्षौ' या 'न्यग्रोधौ' ऐसा एक शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। भाष्यवार्तिक है—'अभि-धानं पुनः स्वाभाविकम्। उभयदर्शनाच्च"[3] अर्थात् कहीं-कहीं सरूप और विरूप दोनों प्रकार के शब्दों से भी अनेक अर्थों का अभिधान देखा जाता है। जैसे--'द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते"[4] इस वेदमन्त्र में 'द्यावा' शब्द से द्युलोक और पृथिवीलोक

---

१. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २४१।

२. वही।

३. वही, पृ० २४२।

४. ऋक्० २.१२.१३।

दोनों का बोध होता है। 'पृथिवी' शब्द से भी पृथिवी तथा द्युलोक दोनों गृहीत होते हैं। यहां 'द्यावा' और 'पृथिवी' दोनों विरूप हैं। इनमें 'एकशेष' के बिना भी अनेकार्थबोधकत्व है तो 'वृक्षौ' इत्यादि सरूप शब्दों में तो प्रवृत्तिनिमित्त के एक होने से अनेकार्थवाचकता अधिक स्पष्ट है। इस प्रकार द्रव्यपक्ष में भी भाष्यकार और वार्तिककार दोनों ने इस सूत्र का खण्डन कर दिया है,[1] जातिपक्ष में तो इसका प्रत्याख्यान सर्वसम्मत है ही। प्रस्तुत सन्दर्भ में जाति व्यक्ति पक्ष को लेकर प्रकृत सूत्र के भाष्य में अतिविस्तृत विचार किया गया है। उसमें दोनों ही पक्षों कि आलोचना-प्रत्यालोचना करके अन्त में जातिपक्ष को ही सिद्धान्त रूपेण व्यवस्थापित किया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

एकशेषप्रकरण का यह मूर्धन्य सूत्र है। भाष्यवार्तिक दोनों ने ही इस सूत्र की स्थापना पहले तो बड़े विस्तार के साथ की है। इसके अर्थ में ६ पक्ष उपस्थित किये हैं। तद्यथा—१. विभक्ति परे रहते 'एकशेष', २. विभक्त्यन्तों का 'एकशेष', ३. समास से परे एकविभक्ति होने पर 'एकशेष', ४. प्रातिपदिकों का 'एकशेष', ५. प्रातिपदिक समुदाय से एकविभक्ति परे रहते 'एकशेष' और ६. सहविवक्षा में द्विवचन बहुवचनान्तों का 'एकशेष'।

इन पक्षों में पिछले तीन पक्ष स्वीकार करके सूत्रार्थ को व्यवस्थित किया गया है। वार्तिककार ने केवल इसी सूत्र से सन्तोष न करके 'नानार्थानामपि सरूपाणाम्', 'एकार्थानामपि विरूपाणाम्', 'स्वरभिन्नानां यस्योत्तरः स्वरविधिः', 'प्रथममध्यमोत्तमानामेकशेषोऽसरूपत्वात्'' ये तीन चार वार्तिक और बनाकर 'एकशेष' का विशेष विधान किया है। ठीक भी है, क्योंकि प्रयोजन तथा व्यवहार की दृष्टि से इस सूत्र की आवश्यकता है। व्यवहार तो द्रव्य या व्यक्ति से चलता है। द्रव्य अनेक हैं। उनमें सरूप-विरूप सभी प्रकार के हैं। सरूपों का 'एकशेष' आचार्य पाणिनि ने स्वयं विधान किया है। वार्तिककार ने उनसे और आगे बढ़कर विरूपों का भी 'एकशेष' स्वीकार किया है। भाष्यकार ने मध्यस्थ रहते हुए दोनों आचार्यों के मत का निरूपण किया है। जिन युक्तियों के आधार पर इस सूत्र की

---

१. द्र० प्रकृत सूत्रस्थ महा० प्र० 'तदेवं द्रव्यपक्षेऽपि प्रत्याख्यात एकशेषः। इसी स्थल पर महा० प्र० उ० 'इदं च प्रत्याख्यानमर्थस्यान्यप्रमाणत्वादित्यनेन सूत्रकृतापि दर्शितप्रायमेव'।

स्थापना की गई है, ठीक उनके विपरीत युक्तियों से इसका प्रत्याख्यान कर दिया है। 'नैकेनानेकस्याभिधानम्' अर्थात् एक शब्द से अनेक अर्थ का अभिधान नहीं हो सकता। प्रत्येक अर्थ के लिये अलग-अलग शब्द प्रयुक्त होते हैं। इष्ट है कि एक ही शब्द से अनेक अर्थ का बोध हो जाये। इसलिये इस सूत्र द्वारा 'एकशेष' का विधान करके उस एक शब्द से अनेक अर्थ का बोध स्वीकार किया है।

सूत्र की स्थापना में यही प्रबल युक्ति है कि एक शब्द से अनेक अर्थ का बोध अभीष्ट है और वह इस 'एकशेष विधान' से सिद्ध हो जाये। यह बात अच्छी तरह से सूत्र द्वारा सिद्ध कर दी है। किन्तु इस सूत्र के खण्डन के समय बिल्कुल इससे विपरीत यह युक्ति देकर कि 'एकेनाप्यनेकाभिधानम्' अर्थात् एक से अनेक अर्थ का भी अभिधान होता है, इस सूत्र का खण्डन कर दिया गया है। 'वृक्षः' यहां 'वृक्ष' शब्द से ऐकत्व अर्थ में 'सु' प्रत्यय होता है। यहां तो एक अर्थ होने के कारण अनेक 'वृक्ष' शब्दों का प्रसङ्ग ही नहीं जिनकी निवृत्ति के लिये एकशेष-विधान की आवश्यकता हो। 'वृक्षौ' यहाँ 'दो वृक्ष' कहने के लिये 'वृक्ष' शब्द को द्वित्वार्थक मानकर एक ही वृक्ष' शब्द से 'औ' प्रत्यय हो जायेगा तो 'एकशेष' की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार 'वृक्षाः', 'अक्षाः', 'पादाः', भाषाः', 'घटौ', 'कलशौ' इत्यादि में 'वृक्षादि' शब्द से द्वित्व बहुत्वादि अर्थ में द्विवचन-बहुवचनादि सिद्ध हो जायेंगे। इस तरह से एक ही शब्द से इष्ट सिद्ध होने पर यह सूत्र अप्रयोजक है। इसलिए पूज्यपाद देवनन्दी ने भी अभिधान को स्वाभाविक मानते हुए प्रकृत सूत्र के स्थान पर 'एकशेष' का अनारम्भ ही उचित माना है।[1] और इस तरह से उन्होंने समस्त 'एकशेष' प्रकरण को ही खण्डित कर दिया।

---

१. जै० सू० १.१.१०० स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः'। चान्द्र व्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति में भी २.२.८७ सूत्र पर प्रकृत सूत्र के साथ-साथ सारा 'एकशेष' ही प्रत्याख्येय सिद्ध किया गया है। हां, शाकटायन, भोज तथा हैम व्याकरण में इनका प्रत्याख्यान नहीं मिलता अपितु अन्वाख्यान ही दृष्टिगोचर होता है जोकि अनावश्यक गौरव ही है—

शा० सू० २.१.८१-८२ 'समानामेकः'। 'सुप्यसंख्येयः'।

स० सू० ३.३.१०३-१०५ 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ'। 'स्वरभिन्नानां यस्योत्तरस्वरविधिः'। 'विरूपाणामप्येकार्थानाम्'।

है० सू० ३.१.११८-११९ 'समानार्थेनैकः शेषः' 'स्यादावसंख्येयः'।

वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः ॥ १.२.६५ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'एकशेष' का विधान करता है। 'गोत्र' और 'युव' प्रत्यय की सहविवक्षा में यह 'गोत्र' प्रत्यय के 'एकशेष' का कथन करता है। सूत्र में 'वृद्ध' शब्द का अर्थ 'गोत्र' है। पूर्वाचार्यों ने 'अपत्यमन्तर्हितं वृद्धम्' इस वचन द्वारा 'गोत्र' की 'वृद्ध' संज्ञा मानी है।[1] आचार्य पाणिनि ने भी पूर्वाचार्यों का आदर करते हुए 'गोत्र' शब्द के स्थान में 'वृद्ध' शब्द का प्रयोग किया है। वैसे उनका 'गोत्र' संज्ञा विधायक "अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्"[2] यह सूत्र प्रसिद्ध है। पौत्र प्रभृति अपत्य की 'गोत्र' संज्ञा होती है। "जीवति तु वंश्ये युवा"[3] इस सूत्र द्वारा वंश के लोगों के जीवित रहते उसी 'गोत्र' की 'युव संज्ञा' हो जाती है। अपत्य तीन प्रकार के हैं—अनन्तरापत्य, गोत्रापत्य और युवापत्य। यह सूत्र गोत्रापत्य और युवापत्यविषयक है। इसका अर्थ है कि 'युवा' प्रत्यय के साथ 'गोत्र' के कथन करने में 'गोत्र' का 'एकशेष' होता है, यदि 'गोत्र' और 'युव' प्रत्ययों की प्रकृति में केवल दोनों प्रत्ययों का किया हुआ ही वैलक्षण्य हो, अन्य सब समान हो। यहां 'एव' शब्द भिन्न-क्रम है। 'तल्लक्षण एव चेद्विशेषः' ऐसा न्यास होना चाहिये। दोनों प्रत्ययों की मूल प्रकृति समान होनी चाहिये, केवल प्रत्ययों से होने वाला वैरूप्य ही हो, तब 'गोत्र' प्रत्यय का एकशेष होता है। जैसे—गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ'। यहां 'गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः'। 'गर्ग' शब्द से 'गर्गादिभ्यो यञ्'[4] से गोत्रापत्य में 'यञ्' प्रत्यय होकर 'गार्ग्यः' बनता है। उससे "यञिञोश्च"[5] से 'युवाप्रत्यय' 'फक्' होकर 'गार्ग्यायणः' बनता है। 'गार्ग्य' गोत्र है। 'गार्ग्यायण' युवा है। दोनों की सहविवक्षा में गोत्र प्रत्यय गार्ग्य का 'एकशेष' होकर 'गार्ग्यौ' बन जाता है।

'वृद्ध' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'गर्गश्च गार्ग्यायणश्च गर्गगार्ग्यायणौ' यहां 'वृद्ध' अर्थात् 'गोत्र' प्रत्यय न होने से 'एकशेष' नहीं हुआ। 'गर्ग' तो मूल

---

१. द्र० का० भा० १, सू० १.२.६५, पृ० ३८० 'वृद्धशब्दः पूर्वाचार्यसंज्ञा गोत्रस्य। अपत्यमन्तर्हितं वृद्धिमिति'।

२. पा० ४.१.१६२।

३. पा० ४.१.१६३।

४. पा० ४.१.१०५।

५. पा० ४.१.१०१।

प्रकृति है, 'गोत्र' नहीं है। 'यूना' कहने का प्रयोजन यह है कि 'गार्ग्यश्च गर्गश्च गार्ग्यगर्गौ' यहां गार्ग्य' 'गोत्र' तो है किन्तु 'युवा' नहीं है इसलिये 'एकशेष' नहीं हुआ। 'तल्लक्षण' ग्रहण करने का प्रयोजन यह है कि 'भागवित्तिश्च भागवित्तिकश्च भागवित्तिभागवित्तिकौ' यहां 'एकशेष' नहीं हुआ। 'भागवित्तस्य गोत्रापत्यं भागवित्तिः' यहां गोत्रापत्य में 'भागवित्त' शब्द से "अत इञ्"[1] सूत्र से 'इञ्' प्रत्यय हुआ। उससे युवापत्य में "वृद्धाट्ठक् सौवीरेषु बहुलम्"[2] से 'सौवीर गोत्र' की कुत्सा कहने में 'ठक्' प्रत्यय होकर 'भागवित्तिकः' बनता है। दोनों की सहविवक्षा में 'गोत्र' का 'एकशेष' इस लिये नहीं हुआ कि दोनों में केवल 'गोत्र' 'युव प्रत्ययमात्र' का ही भेद नहीं है, अपितु 'युवप्रत्यय' में 'सौवीरगोत्र' तथा 'कुत्सा' अर्थ भी अधिक है। इस लिये 'एकशेष' न होकर 'भागवित्तिभागवित्तिकौ' यह द्वन्द्व समास ही हो जाता है। इस सूत्र का प्रत्याख्यान तथा समीक्षा "पुमान्-स्त्रिया" (पा० १.२.६७) इस अग्रिम सूत्र के विचार में ही द्रष्टव्य है।

स्त्री पुंवच्च ॥ १.२.६६ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र "वृद्धो यूना"[3] इस विगत सूत्र का ही शेष है। इसका अर्थ है कि 'युव' प्रत्यय के साथ 'गोत्रप्रत्ययान्त' स्त्री शब्द का 'एकशेष' होता है और स्त्री शब्द को पुमर्थ का अतिदेश भी हो जाता है। अर्थात् स्त्रीलिङ्ग को पुंलिङ्ग मानकर उसमें पुंवत् कार्य हो जाते हैं। जैसे—'गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ'। यहां 'गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री गार्गी' यह स्त्रीलिङ्ग गोत्र प्रत्ययान्त शब्द है। उसकी 'गार्ग्यायण' इस 'युव प्रत्यय' के साथ विवक्षा में 'गोत्र प्रत्यय' का 'एकशेष' हो गया और 'गार्गी' इस स्त्रीलिङ्ग को पुंलिङ्ग होकर 'गार्ग्य' बन गया।

इसी प्रकार 'गार्ग्यश्च स्त्रियो बह्व्यः गार्ग्यायणश्चैकः इति गर्गाः' यहां 'गोत्र प्रत्ययान्त' बहुवचनान्त 'गार्गी' शब्द को पुमर्थ का अतिदेश होने से बहुवचन में "यञिञोश्च"[4] से 'यञ्' का 'लुक्' हो गया। पुंलिङ्ग में ही 'यञ्' का 'लुक्' होता है, स्त्रीलिङ्ग में नहीं। 'गार्गी चैका गार्ग्यायणौ च द्वौ तान् गर्गान् पश्य' यहां

---

१. पा० ४.१.९५।

२. पा० ४.१.१४८।

३. पा० १.२.३५।

४. पा० २.४.६४।

स्त्री के पुंवत् होने से 'तस्माच्छसो नः पुंसि"[1] से 'नत्व' भी हो गया। "तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः"[2] की अनुवृत्ति यहां भी आती है। इस लिए 'गार्गी च वात्स्यायनौ च इति गार्गीवात्स्यायनौ' यहां 'एकशेष' तथा पुंवत् नहीं होता, किन्तु द्वन्द्व समास ही हो जाता है। 'गार्गी' और 'वात्स्यायन' में स्त्रीप्रत्यय के वैलक्षण्य के साथ प्रकृति का भी वैलक्षण्य है। इस सूत्र का प्रत्याख्यान तथा समीक्षाकरण भी अग्रिम "पुमान् स्त्रिया" (पा० १.२.६७) सूत्र के विचार में द्रष्टव्य है॥

पुमान् स्त्रिया॥ १.२.६७॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भी 'एकशेष' का विधान करता है। स्त्रीलिङ्ग शब्द के साथ विवक्षा में पुंलिङ्ग शब्द का एकशेष होता है, यदि केवल तल्लक्षण ही विशेष हो अर्थात् स्त्रीपुंसकृत प्रत्ययों का ही वैरूप्य हो, अन्य मूल प्रकृति आदि सब समान हो।[3] से—'ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणौ'। 'कुक्कुटश्च कुक्कुटी च कुक्कुटौ'। यहां स्त्रीलिङ्ग के साथ पुंलिङ्ग के कहने में 'ब्राह्मण' तथा 'कुक्कुट' इन पुंलिङ्ग शब्दों का एकशेष हो गया। स्त्रीलिङ्ग 'ब्राह्मणी' तथा 'कुक्कुटी' शब्दों की निवृत्ति हो गई। 'एकशेष' के सामर्थ्य से 'ब्राह्मणौ' में 'ब्राह्मण' के साथ 'ब्राह्मणी' के अर्थ का भी बोध होता है। जहां दो केवल 'ब्राह्मण' ही होंगे वहां तो 'ब्राह्मणौ' बनता ही है। वह "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ"[3] इस सूत्र का विषय है। इस सूत्र द्वारा एकशेष हुए 'ब्राह्मणौ' शब्द से ब्राह्मणी अर्थ भी 'ब्राह्मण' के साथ समझा जाता है। जैसे 'भ्रातरौ' कहने पर दो भाई तो प्रतीत होते ही हैं किन्तु "भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्"[4] से एकशेष होने पर भाई-बहन ये दोनों भी प्रतीत होते हैं। 'पितरौ' कहने से दो पिताओं की तरह पिता और माता भी एक साथ प्रतीत होते हैं। यही 'एकशेष' का महत्त्व है।

---

१. पा० ६.१.१०३।

२. पा० १.२.६५।

३. पा० १.२.६४।

४. पा० १.२.६८।

'तल्लक्षणविशेष' ग्रहण का प्रयोजन यहीं है कि कुक्कुटश्च मयूरी च कुक्कुट-मयूर्यौ' यहां 'एकशेष' नहीं हुआ, किन्तु द्वन्द्व समास ही होता है। क्योंकि 'कुक्कुट' और 'मयूरी' में केवल स्त्रीपुंसकृत प्रत्ययों का ही वैरूप्य नहीं है अपितु मूल प्रकृति में भी स्पष्ट वैरूप्य है।

विशेष के स्थान पर सामान्य की विवक्षा से सूत्रों का प्रत्याख्यान

"वृद्धो यूना०"[1], "स्त्री पुंवच्च"[2], पुमान् स्त्रिया इन तीनों सूत्रों के प्रत्याख्यान करने से पूर्व भाष्यकार क्रमशः उक्त सूत्रों के उदाहरण देते हुए पूछते हैं कि 'अजश्च वर्करश्च' 'अश्वश्च किशोरश्च', 'उष्ट्रश्चकरभश्च' यहां 'वृद्धो यूना०' सूत्र से 'एक-शेष' क्यों नहीं होता क्योंकि इनमें एक बूढ़ा है, एक जवान है। 'तल्लक्षणविशेष भी है। क्योंकि 'अज' और 'बर्कर' की समान आकृति है, केवल शब्द का ही वैरूप्य है। इसी प्रकार 'अजा च बर्करश्च'; 'बडवा च किशोरश्च', 'उष्ट्री च करभश्च' यहां "स्त्री पुंवच्च" से 'एकशेष' तथा स्त्रीशब्द को पुंवत् क्यों नहीं होता। क्योंकि 'अजा' और 'वर्कर' इन दोनों की आकृति समान है, केवल शब्द का ही वैरूप्य है, इसी प्रकार 'हंसश्च वरटा च', 'कच्छपश्च डुलिश्च', 'ऋश्यश्च रोहिच्च' यहां "पुमान् स्त्रिया" से पुंलिङ्ग का 'एकशेष' क्यों नहीं होता। क्योंकि 'हंस' और 'वरटा' (हंसिनी) की आकृति समान है, केवल शब्द का ही वैरूप्य है। आगे आने वाले "भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्"[4] इस सूत्र के विषय में पूछते हैं कि इसकी क्या आवश्यकता है। क्योंकि यह तो "पुमान् स्त्रिया" इससे ही गतार्थ हो सकता है। 'भ्राता च इति भ्रातरौ' यहां भ्राता' पुंलिङ्ग है और स्वसा' स्त्रीलिङ्ग है। 'पुत्रश्च दुहिता च इति पुत्रौ' यहां भी 'पुत्र' पुंलिङ्ग है और 'दुहिता' स्त्री लिङ्ग है।

इन सबका एक साथ उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यहां 'तल्लक्षण विशेष' नहीं है। 'अज', बर्कर' आदि शब्दों में समान आकृति तो है किन्तु शब्द की मूल प्रकृति समान नहीं है, एक नहीं है। 'अज' और

---

१. पा० १.२.६५।

२. पा० १.२.६६।

३. पा० १.२.६७।

४. पा० १.२.६८।

'बर्कर' ये दोनों भिन्न-भिन्न विरूप हैं। इसके अतिरिक्त "वृद्धो यूना०", सूत्र में 'वृद्ध', 'युवन्' शब्दों में 'बूढ़ा' और 'जवान' अर्थ नहीं लिये गये अपितु शास्त्रीय परिभाषित 'गोत्र' और 'युव' प्रत्यय लिये गये हैं। इसलिये 'अज', 'बर्कर' दोनों शब्दों का तो किसी भी प्रकार 'एकशेष' प्राप्त नहीं होता। 'यल्लक्षणविशेष' को समझाते हुए भाष्यकार कहते हैं—"यत्रोर्ध्वं प्रकृतेः स्यात् तल्लक्षण एव विशेषः तत्रैकशेषो भवति"[1] अर्थात् जहां प्रत्ययों की मूल प्रकृति एक हो, समान हो, केवल प्रत्ययों में ही वैरूप्य हो वही 'तल्लक्षणविशेष' यहां लिया गया है। 'अजश्च बर्करश्च', 'अजा च बर्करश्च', 'हंसश्च वरटा च' इत्यादि सभी पूर्वोक्त उदाहरणों में मूल प्रकृति एक न होने से 'तल्लक्षणविशेष' नहीं हैं। अतः कहीं पर भी 'एकशेष' नहीं होगा। "पूर्वयोर्योगयोर्भूयान् परिहारः—यावद् ब्रूयाद् गोत्रं यूना इति, तावद् वृद्धो यूना इति। पूर्वसूत्रे गोत्रस्य वृद्धमिति संज्ञा क्रियते"[2]। 'तल्लक्षणविशेष' को समझ लेने पर 'भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ' यहां "भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्" से ही 'एकशेष' होगा। "पुमान्स्त्रिया" से उसकी गतार्थता नहीं हो सकती।

अब भाष्यवार्तिककार एक साथ उक्त तीनों सूत्रों अर्थात् "वृद्धो यूना०", "स्त्रीपुंवच्च", "पुमान् स्त्रिया" की अन्यथासिद्धि दिखाते हुए इनका प्रत्याख्यान करते हैं—

"असरूपाणां युवस्थविरस्त्रीपुंसानां विशेषस्याविवक्षितत्वात् सामान्यस्य च विवक्षितत्वात् सिद्धम्"[3]।

इसका भाव यह है कि 'गोत्र-युव' प्रत्ययान्त 'गार्ग्य' और 'गार्ग्यायण', स्त्रीलिङ्ग, पुंलिङ्ग 'ब्राह्मण' और 'ब्राह्मणी' ये सब असरूप हैं। इनमें जो 'गार्ग्य' एवं 'गार्ग्यायण' हैं अथवा 'गार्गी' और 'गार्ग्यायण' हैं सबमें गर्गापत्यत्व समान है। 'गार्ग्य', 'गार्गी' और 'गार्ग्यायण' सब 'गर्ग' के अपत्य हैं। केवल 'गोत्र युव' प्रत्यय तथा स्त्रीप्रत्यय का ही विशेष भेद है। उन सब में विशेष वाचक प्रत्ययों की विवक्षा न करके यदि सामान्य गर्गापत्यत्व की

---

१. महा० भा० १, सू० १.२.६८, पृ० २४८।
२. वही।
३. वही।

विवक्षा कर ली जाये तो 'गार्ग्यायिण' के 'गर्गगोत्रीय' होने के कारण उसको भी 'गार्ग्य' मानकर 'गार्ग्यश्च गार्ग्यश्च गार्ग्यौ' इस प्रकार 'गार्ग्य' शब्द समान रूप होने से "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ"[1] उस पूर्व सूत्र से ही 'एकशेष' सिद्ध हो जायेगा तो "वृद्धो यूना०" और "स्त्री पुंवच्च" ये दोनों सूत्र व्यर्थ हो जाते हैं। 'गार्ग्यौ' से ही 'गार्ग्यायिण' की भी प्रतीति हो जायेगी। अब भी तो 'गार्ग्यश्च गार्ग्यायिणश्च गार्ग्यौ' यहाँ "वृद्धो यूना०" से 'एकशेष' मानने पर उक्त प्रतीति होती ही है। इस प्रकार 'तल्लक्षणविशेष' अथवा असरूप होने से, जो इस सूत्र की आवश्यकता रहती थी, वह निरस्त हो जाती है। सामान्य 'गर्ग' के 'गोत्रापत्य गार्ग्य' शब्द से ही 'गार्ग्यायिण' का भी बोध संभव हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है। 'गार्गी' इस स्त्रीलिङ्ग 'गोत्रप्रत्ययान्त' शब्द में भी स्त्री अपत्य का भेद न करके 'गार्ग्य' शब्द से ही काम चल जायेगा। क्योंकि 'गर्ग' के अपत्य स्त्री या पुरुष सब समान ही हैं। अतः 'गार्ग्य' शब्द के 'एकशेष' से 'गार्गी' और 'गार्ग्यायिण' ये दोनों ही प्रतीत हो जायेंगे तो "स्त्री पुंवच्च" यह सूत्र भी अनावश्यक हो जाता है।

शेष रहे 'ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणो' यहाँ यह 'एकशेष' भी 'पुमान् स्त्रिया" से न होकर "सरूपाणामेकशेषः०" सूत्र से ही सिद्ध हो जायेगा। क्योंकि 'ब्राह्मण' और 'ब्राह्मणी' दोनों में ब्राह्मणत्व जाति समान है। उसकी समानता से लिङ्ग की विवक्षा न करके 'ब्राह्मणश्च ब्राह्मणश्च इति ब्राह्मणो' यह 'एकशेष' हो जायेगा। उससे ब्राह्मण स्त्री का भी बोध संभव होगा। जैसे'—मृगक्षीरम्' (मृगी का दूध)। यहाँ 'मृग्याः क्षीरम्' यह विग्रह न करके मृगत्व जाति सामान्य की विवक्षा से 'मृगस्य क्षीरम्' ऐसा विग्रह अभीष्ट माना जाता है। और उस 'मृग' शब्द से 'मृगी' कर ही अर्थ—बोध होता है। इसलिये स्त्रीलिङ्ग-पुंलिङ्ग शब्दों में पुंलिङ्ग का 'एकशेष' करने के लिये "पुमान् स्त्रिया" इस सूत्र की भी आवश्यकता नहीं है। 'विशेष' की विवक्षा न करके 'सामान्य' की विवक्षा मान लेने से उक्त उदाहरणों के सब शब्द सरूप हो जायेंगे तो "सरूपसूत्र" से ही इष्टसिद्ध हो जाने पर भाष्य-वार्तिककार ने इन तीनों सूत्रों का प्रत्याख्यान कर दिया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

'सामान्य' की विवक्षा मानकर उक्त सूत्रों का प्रत्याख्यान करने में

---

१. पा० १.२.६४।

भाष्यवार्तिककार का तात्पर्य यही है कि किसी प्रकार इन सूत्रों से सिद्ध होने वाले शब्द सरूप बना लिये जायें। सरूप बन जाने पर "सरूपाणाम्०" सूत्र से ही 'एकशेष' सिद्ध हो जायेगा। 'गार्ग्यायण' को 'गार्ग्य' मानकर तथा 'ब्राह्मणी' को 'ब्राह्मण' मान कर दोनों 'गार्ग्य' तथा 'ब्राह्मण' शब्द सरूप हो जाते हैं तो 'गार्ग्यौ' और 'ब्राह्मणौ' ये 'एकशेष' के रूप पूर्वसूत्र से स्वयमेव सिद्ध हो जाते हैं। इन सूत्रों की आवश्यकता केवल प्रत्ययप्रयुक्त वैरूप्य के कारण भी, वह वैरूप्य अब रहा नहीं, तो ये सूत्र व्यर्थ हैं। 'गार्ग्यौ' से 'गार्ग्यायण' की तथा 'ब्राह्मणौ' से 'ब्राह्मणी' की प्रतीति प्रकरणादिवशात् हो जायेगी।

किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि क्या उक्त उदाहरणों की तरह सर्वत्र 'सामान्य' की विवक्षा से काम चल जायेगा। 'तल्लक्षणविशेष' को लेकर बनाये गये इन सूत्रों की कहीं भी आवश्यकता न होगी। उदाहरण के रूप में 'पुमान्स्त्रियां' को ही लेते हैं, क्या इस सूत्र के अभाव में 'इन्द्रश्च इन्द्राणी च इन्द्रेन्द्राण्यौ' यहाँ 'सामान्यविवक्षा' द्वारा 'इन्द्र' शब्द का 'एकशेष' प्राप्त नहीं होगा[1]। 'इन्द्राणी' में पुंयोगकृत विशेष है। साथ ही स्त्रीप्रत्यय 'ङीष्' एवं 'आनुक्' का आगम भी है। इस सूत्र के रहते हुए तो यह कहा जा सकता है कि यहाँ केवल 'तल्लक्षणविशेष' ही नहीं है अपितु पुंयोगकृत विशेष भी है। अतः इस सूत्र से 'एकशेष' नहीं होगा। इसी प्रकार आगे "नपुंसकमनपुंसकेन०"[2] इस सूत्र में भी 'तल्लक्षणविशेष' की अनुवृत्ति आने से 'अरण्यं च अरण्यानी च इति अरण्यारण्यान्यौ', 'हिमं च हिमानी च इति हिमहिमान्यौ' यहाँ 'एकशेष' नहीं होता। क्योंकि वहाँ स्त्रीप्रत्ययप्रयुक्त वैरूप्य के साथ 'महत्त्व' भी विशेष है। 'सामान्यविवक्षा' द्वारा तो 'अरण्य' और 'अरण्यानी' को तथा 'हिम' और 'हिमानी' को 'अरण्य' या 'हिम' मानकर 'एकशेष' हो जाना चाहिये। भामह ने भी 'पुमान्स्त्रियां' सूत्र के सन्दर्भ में लिखा था कि द्वन्द्व समास करने पर पुरुषवाचक शब्द अवशिष्ट रहता है, अतः 'वरुण' और 'वरुणानी', 'इन्द्र' और 'इन्द्राणी', 'भव' और 'भवानी', 'शर्व' और 'शर्वाणी'

---

१. ग्रन्थों में उपलब्ध निम्न एक शेष के प्रयोग के साथ तुलना करो—'रुद्रश्च रुद्राणी च रुद्रौ' जिसके समाधान के लिये वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र में निम्न सूत्र बनाया है—'रुद्रावित्येकशेषोऽन्वेष्यः' (काव्यालंकार सूत्र, ५.२.१)।

२. पा० १.२.६९।

तथा 'मृड' और 'मृडानी' इन द्वन्द्वों में केवल 'वरुणो', 'इन्द्रो', 'भवो', 'शर्वो' और 'मृडो' कहना पर्याप्त होगा। यहाँ यद्यपि स्त्रीवाचक शब्दों का लोप रहेगा तथापि उनके अर्थ का बोध रुकेगा नहीं, क्योंकि अवशिष्ट शब्द ही उन लुप्त शब्दों के अर्थ का भी बोध करायेंगे। किन्तु वामन ने इस उपपत्ति या व्यवस्था पर और बारीकी से विचार किया और इसे पाणिनीय व्याकरण के विरुद्ध बताया। पाणिनि व्याकरण में लोप केवल उसी स्त्रीवाचक शब्द का होता है जिससे निकलते अर्थ में केवल स्त्रीत्व की प्रतीति हो रही हो। जैसे 'हंस' और 'हंसी'। इनको संस्कृत में केवल 'हंसौ' कहा जा सकेगा। कारण कि 'हंसी' का अर्थ है 'मादा हंस', न कि 'हंस की स्त्री'। अभिप्राय यह है कि 'हंसौ' कहने से निकलने वाले अर्थों में 'दाम्पत्य' की विवक्षा नहीं है। यह अभीष्ट नहीं है कि जिस 'हंसी' शब्द को छोड़ दिया गया है, उससे प्रतीत होने वाली 'हंसी', जो 'हंस' शब्द बचा है, उससे प्रतीत होने वाले 'हंस' की पत्नी जाया या गृहिणी अथवा घरवाली है। यदि वह 'हंस' की जाया के रूप में विवक्षित होती तो उसके वाचक 'हंसी' शब्द का लोप न होता और 'हंसौ' न कहा जा सकता।

निष्कर्ष यह है कि स्त्रीवाचक शब्द के साथ पुरुषवाचक शब्द का समास होने पर 'एकशेष' तब संभव है जब उन दोनों शब्दों के अर्थों में केवल स्त्रीत्व और पुंस्त्व की प्रतीति हो रही हो। यानि वे दोनों केवल जातिवाचक शब्द हों। भामह ने जिनमें 'एकशेष' की व्यवस्था की है उन 'वरुणानी' और 'वरुण', 'भवानी' और 'भव' में स्त्रीवाचक शब्द केवल स्त्रीत्व का वाचक नहीं है। उसका निर्माण 'भव' आदि शब्दों में जिस प्रत्यय को लगाकर किया गया है वह प्रत्यय 'दाम्पत्य' अर्थ में है। 'भवानी' वही होगी जो 'भव' की स्त्री होगी। इसी प्रकार 'वरुणानी', 'इन्द्राणी', 'शर्वाणी' या 'मृडानी' वे ही होंगी जो 'वरुण' आदि की पत्नी होंगी। निदान, 'भवानी' आदि शब्दों से केवल स्त्रीत्व की प्रतीति नहीं होगी। उनसे स्त्रीत्व के साथ-साथ पत्नीत्व की भी प्रतीति होगी। इस स्थिति में पाणिनि के अनुसार 'एकशेष' नहीं होगा और 'भवानी' तथा 'भव' इस विवक्षा में केवल 'भवौ' नहीं बोला जा सकेगा। ठीक भी है, केवल 'भवौ' बोलने पर प्रतीत होगा—'दो भव' न कि 'भव' और 'भवानी'। फलतः 'एकशेष' यहां हानिकारक होगा। क्योंकि उसमें बचा हुआ शब्द लुप्त हुए शब्द के अर्थ का बोध नहीं करा पायेगा, साथ ही अभीष्ट अर्थ का बोध भी नहीं करा सकेगा। जिस प्रयोग से इस

प्रकार की अव्यवस्था उपस्थित हो, वह संस्कृत न होकर असंस्कृत होगा।

भामह की इस व्यवस्था में वामन भामह पर एक चोट भी करते हैं। भामह ने 'एकशेष' के जो उदाहरण दिये थे, उनका आधार पाणिनि का "इन्द्रवरुणभवशर्व'।, (४.१.४६) सूत्र था। इससे 'इन्द्राणी', 'वरुणानी', 'भवानी', 'शर्वाणी', 'रुद्राणी', 'मृडानी', 'हिमानी', 'अरण्यानी', 'यवानी', 'यवनानी', 'मातुलानी' तथा आचार्यानी' शब्द बनते हैं। भामह ने इनमें से अपने—

"सरूपशेषं तु पुमान् स्त्रिया यत्रानुशिष्यते ।
यथाह वरुणाविन्द्रौ भवौ शर्वौ मृडाविति ।।[1]

इस पद्य में 'इन्द्र', 'वरुण', 'भव', 'शर्व', और 'मृड' को तो अपना लिया केवल 'रुद्रो' को छोड़ दिया गया। वामन ने इसी को अपनाया और सूत्र लिखा—

"रुद्रावित्येशेषोऽन्वेष्यः" (५.२.१)।

इसकी वृत्ति में वामन ने भामह के ही क्रम में लिखा—"एतेन इन्द्रौ, भवौ, शर्वौ इत्यादयः प्रयोगाः प्रत्युक्ताः।"

अस्तु, यह ठीक है कि 'सामान्यविवक्षा' रूप द्वारा हेतु इन्हीं तीन सूत्रों का ही खण्डन किया गया है। आगे 'भ्राता-स्वसा', 'पुत्र-दुहिता' और 'श्वशुरश्वश्रू' इनमें अन्य हेतु देकर उनका भी प्रत्याख्यान कर दिया गया है तथापि वैरूप्य की स्थिति का तो अपलाप नहीं कर सकते। जैसे 'भ्राता-स्वसा' विरूप हैं वैसे 'गार्ग्य-गार्ग्यायिण' भी विरूप हैं। 'ब्राह्मण-ब्राह्मणी' भी विरूप हैं, सर्वथा सरूप नहीं है। इनमें 'तल्लक्षणविशेष' है। उसी तत्तत्प्रत्ययलक्षण विशेष' को लेकर इन सूत्रों से 'एकशेष' का विधान किया गया है। यदि यह कहा जाये कि 'इन्द्र' और 'इन्द्राणी' में कोई 'सामान्य' नहीं बनता। क्योंकि इन्द्रत्व कोई 'सामान्य' नहीं है। 'इन्द्राणी' केवल इन्द्ररूप पुंयोग के कारण कहलाती है। ऐसी अवस्था में वहां 'इन्द्र' शब्द का एकशेष नहीं हो सकता। 'इन्द्र' और 'इन्द्राणी विरूप

---

१. काव्यालंकार, ६.३२

हैं। अतः द्वन्द्व ही रहेगा, 'एकशेष' नहीं। तब तो भाष्यवार्तिककार द्वारा किया गया उक्त तीनों सूत्रों का प्रत्याख्यान माननीय हो जाता है। विस्तृत वाङ्मय में कहीं न कहीं तो दोष की संभावना रहती ही है तथापि भाष्यकार का वचन निर्दोष समझकर स्वीकार कर लेना चाहिये। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि भाष्यकार ने समस्त 'एकशेष' प्रकरण का ही प्रत्याख्यान कर दिया है। सरूप सूत्र[1] से लेकर "ग्राम्यपशुसंघेषु०"[2] इस अन्तिम सूत्र तक सभी एकशेषविधायक सूत्र खण्डित हो गये हैं। भाष्यकार को प्रमाण मानने के कारण ही संभवतः चन्द्रगोमी तथा देवनन्दी ने भी सारे एकशेष-प्रकरण को उड़ा दिया है। यहां केवल उक्त तीनों का ही खण्डन दिखाया है। उसमें 'सामान्य विवक्षा' को आधार माना है। अगले सूत्रों में प्रातिस्विक हेतुविशेष द्वारा खण्डन किया गया है। वह उनके विचार के साथ ही विवेचनीय है।

"पुमान्स्त्रिया" इस सूत्र से विहित 'एकशेष विधान' में एक यह बात विशेष विचार का विषय है कि 'गौरियं गौश्चायम् इति गावौ' यहां स्त्रीपुंवाचक दो 'गो' शब्दों के 'गावौ' इस 'एकशेष' को किससे हुआ माना जाना चाहिये। यदि 'गो' शब्द के सरूप होने से "सरूपाणामेकशेष०" से यहां 'एकशेष' हुआ माना जाये तो उससे होने वाला 'एकशेष' पुंवाचक 'गो' शब्द के समान स्त्रीवाचक 'गो' शब्द का भी संभव है। उस अवस्था में 'एतौ गावौ' यहां 'एतद्' शब्द से निश्चित रूपेण पुंलिङ्ग का प्रयोग न हो सकेगा, अपितु स्त्रीवाचक 'गो' शब्द को सूचित करने के लिये 'एते गावौ' ऐसा स्त्रीलिङ्ग प्रयोग भी प्राप्त होगा। 'पुमान् स्त्रिया" से यदि 'गावौ' में 'एकशेष' माना जाये तो वह निश्चित रूप से पुंलिङ्ग ही होगा। तब नियम से 'एतौ गावौ' में 'एतद्' शब्द से पुंलिङ्ग ही आयेगा। किन्तु 'गो' शब्द के सर्वथा सरूप होने से कहीं भी वैरूप्य नहीं है। अतः 'तल्लक्षणविशेष' के न होने से "पुमान् स्त्रिया" से यहां एकशेष' प्राप्त नहीं होता। 'तल्लक्षणविशेष' से यदि यह अभिप्राय लिया जाये कि "उस प्रत्यय से भिन्न जो प्रकृति, तल्लक्षण अर्थात् प्रकृतिप्रयुक्त विशेष का न होना ही तल्लक्षणविशेष है, और वह 'गो' शब्द में है ही, तब तो "पुमान् स्त्रिया" से ही 'एकशेष' हो जायेगा। वह

---

१. पा० १.२.६४।
२. पा० १.२.७३।

पुंलिङ्ग ही होगा। उसके पुंलिङ्ग होने से 'एतौ गावौ' में 'एतौ' यह पुंलिङ्ग निर्देश निश्चित रूप से निर्बाध है।[1]

यदि यह कहा जाये कि सरूपसूत्र से एकशेष विधान में स्त्रीवाची 'गो' शब्द का 'एकशेष होने पर भी "त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गवचनानि"[2] इस वार्तिक के नियम से त्यदादिगणपठित सर्वनाम संज्ञक 'एतद्' शब्द से पुंलिङ्ग ही होगा तो यहां भी नियम से 'एतौ गावौ' ही बनेगा, 'एते गावौ' नहीं। तो उसका उत्तर यह है कि "विशेष्ये यल्लिङ्गं तद्विशेषणेऽपि" अर्थात् विशेष्य में जो लिङ्ग होता है, वही उसके विशेषण में भी होता है, इस नियम से स्त्रीवाची 'गो' शब्द के 'एकशेष' में उसके विशेषण 'एतद्' शब्द से भी स्त्रीलिङ्ग ही होगा तो 'एते गावौ' ही प्राप्त होगा। 'एतौ गावौ' यह नियम से न बन सकेगा। इसलिए "सरूपसूत्र" से "गावौ' में "एकशेष' न मानकर

---

१. (क) नन्वेवमपि गौरियं गौश्चायं तयोः सहोक्तौ एतौ गावौ इति नियमतो न स्यात्। नैष दोषः। इयमयमिति पदान्तरगम्येऽपि तल्लक्षणविशेषे 'पुमान् स्त्रिया' इत्यस्य प्रवृत्तिसंभवादिति कैयटः'। श० कौ० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० ४६

(ख) द्र० स्यादेतत्—गौरियं गौश्चायं—तयोः सहोक्तौ 'एतौ गावौ' इति नियमतो न स्यात्, तल्लक्षणविशेषाभावात्। किन्तु स्त्रीवाचकस्य पुंवाचकस्य वा सरूपाणाम्०' इत्येकशेषोऽनियमेन स्यात्। अत्राहुः 'तद्धितरकृतविशेषाभावे तात्पर्यान्न दोषः' इति। स्यादेतत्—एतौ गावौ इति नियमतो न स्यात् इति मनोरमादौ यदुक्तं तत्कथं संगच्छताम्। 'त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतः' इति नियमप्रवृत्त्या स्त्रीवाचि गोशब्दस्य शेषेऽपि 'एतौ गावौ' इति नियमतः प्रयोगः सिद्ध्यत्येवेति चेत्—अत्र केचित् —दिक्प्रदर्शनमात्रमिदम् —विशेष्ये यल्लिङ्गं तदेव विशेषणेष्वपि इति सर्वसंमतत्वात्, एवं च द्वन्द्वतत्पुरुषविशेषणेष्विव एकशेषविशेषणेऽपि 'एतौ' इत्यत्र 'त्यदादितः शेषे०' इत्यादि नियमाप्रवृत्या विशेष्यगतमेव लिङ्गं भवतीति स्त्रीवाचिगोशब्दस्य शेषे 'एते' इति स्यादेव इति एतौ गावौ इति नियमतो न स्यादित्याक्षेपः संगच्छते एवेति दिक्—त० बो० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० २०६-२१०।

२. महा० भा० १, सू० १.२.७२ पर वार्तिक, पृ० २५१।

"पुमान् स्त्रिया," से ही पुंलिङ्ग का 'एकशेष' मानना चाहिये। तभी 'एतौ गावौ' (ये दो गाय और बैल हैं) यहां पुरुषवाचक 'गो' शब्द के एकशष' में 'एतौ' यह पुंलिङ्ग निर्देश निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है। इस तरह से सामान्य विवक्षा को आधार मानने पर भी प्रथम दो सूत्र तो न सही, कम से कम "पुमान् स्त्रिया" यह सूत्र तो अवश्य ही रखना चाहिये जिससे उक्त 'एतौ गावौ' यह इष्ट 'एकशेष' का रूप बन सके। इसीलिए शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण तथा हैम व्याकरण में केवल 'पुमान् स्त्रिया" यही सूत्र नहीं, अपितु पूर्व के दोनों सूत्र भी यथास्थान पठित हैं।[1] यहां इतना अवश्य ध्यातव्य है कि शाकटायन, भोजराज तथा हेमचन्द्र ने चन्द्र तथा देवनन्दी के समान 'एकशेष' प्रकरण का खण्डन नहीं किया है अपितु पाणिनि सूत्र स्थानापन्न सभी सूत्र यहां पढ़े गये हैं। चन्द्रगोमी आदि द्वारा इन सूत्रों के प्रत्याख्यान का कारण संभवतः उनका भाष्यकार का अनुकरणातिशय है।

भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् ॥१.२.६८॥

पिता मात्रा ॥१.२.७०॥

श्वशुरः श्वश्र्वा ॥१.२.७१॥

सूत्रों की सप्रयोजन स्थापना

ये तीनों सूत्र भी 'एकशेष' का विधान करते हैं। क्रम से इनका अर्थ है—

१—'भ्रातृ' और 'स्वसृ' शब्दों की सहविवक्षा में 'भ्रातृ' शब्द शेष रहता है, 'स्वसृ' शब्द की निवृत्ति हो जाती है। उसी प्रकार 'पुत्र' और 'दुहितृ' में 'पुत्र' शब्द शेष रहता है, 'दुहितृ' शब्द की निवृत्ति हो जाती

---

१. (क) शा० सू० २.१.८७-८९ 'वृद्धो यूनानन्यार्थप्रकृतौ'। 'पुरुषः'। 'स्त्रिया'।

(ख) स० सू० ३.३.१०६-१०८ 'पौत्रादिजीवद् वंश्यादीनां तन्निमित्त एव चेद्विशेषः'। 'स्त्री पुंवच्च'। 'पुमान् स्त्रिया'।

(ग) हे० सू० ३.१.१२४-१२६ 'वृद्धो यूना तन्मात्रभेदे। स्त्री पुंवच्च'। 'पुरुषः स्त्रिया।'

है। 'भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ' (भाई-बहन)। 'पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ' (बेटा-बेटी)।

२—'मातृ' शब्द के साथ 'पितृ' शब्द शेष रहता है। 'माता च पिता च पितरौ' (मां-बाप) यहां पक्ष में द्वन्द्व समास भी इष्ट है 'मातापितरौ'।

३—'श्वश्रू' के साथ 'श्वशुर' शब्द शेष रहता है। 'श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ' (सास-सुसर)। पक्ष में द्वन्द्व समास भी इष्ट है 'श्वश्रूश्वशुरौ।'

यद्यपि अष्टाध्यायी सूत्रपाठ में "भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्"[1] इस सूत्र के बाद "नपुंसकमनपुंसकेन०"[2] इस सूत्र का क्रम है तो भी भाष्यवार्तिककार ने 'भ्राता', 'पुत्र', 'पिता' तथा 'श्वशुर' इनके सम्बन्धी शब्द होने के कारण तद्विषयक इन तीनों सूत्रों को एक साथ ही विचारकोटि में रख लिया। वैसे सूत्रक्रम तो यथापूर्व व्यवस्थित है। वस्तुतः अष्टाध्यायीसूत्रपाठ में भी इन तीनों सूत्रों को एक साथ ही रखना चाहिये। "नपुंसकमनपुंसकेन०" इस सूत्र को इनसे पूर्व "पुमान् स्त्रिया"[3] के बाद रखना उचित है। क्योंकि उसमें 'तल्लक्षणविशेष' की अनुवृत्ति आती है जो कि अभीष्ट है। संभवतः आचार्य पाणिनि ने "पिता मात्रा", "श्वशुरः श्वश्र्वा" इन दोनों सूत्रों में 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति लाने के लिये "नपुंसकमपुंसकेन०" इस सूत्र को उन दोनों से पूर्व रखा है। इसी कारण "भ्रातृपुत्रौ०" इस सूत्र को "पिता मात्रा", "श्वशुर श्वश्र्वा" इन सम्बन्धविषयक सूत्रों से व्यवहित किया है। "भ्रातृपुत्रौ" सूत्र में "एकशेष" नित्य अभीष्ट है। "पिता मात्रा", "श्वशुरः श्वश्र्वा" इन दोनों में 'एकशेष' का विकल्प इष्ट है। यदि पहले नपुंसकमन-पुंसकेन०" यह सूत्र पढ़कर उसके बाद "पिता मात्रा, श्वशुरः श्वश्र्वा" ये सूत्र पढ़े जायें तथा उनमें दोनों में 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति मान ली जाये। तत्पश्चात् "भ्रातृपुत्रौ०" यह सूत्र पढ़ा जाये और 'व्याख्यान'[4] से

---

१. पा० १.२.६८।

२. पा० १.२.६९।

३. पा० १.२.६७।

४. (क) द्र० 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' परि सं० १.।

(ख) 'न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानं वृद्धिः आत् ऐजिति, किं तर्हि। उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति'—महा० पस्पशा०, पृ० ११।

उसमें 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति न मानी जाये तो अभीष्टार्थ सिद्ध हो सकता है।[1] जो कुछ भी हो, कहीं न कहीं त्रुटि तो रहनी संभव है, अतः यही कहा जा सकता है कि—

"न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति।"[2]

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्रों का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इन तीनों सूत्रों की "पुमान् स्त्रिया" सूत्र से असिद्धि दिखाते हुए प्रत्याख्यान से पूर्व इनका प्रयोजन उपस्थित करते हैं—"भ्रातृ-पुत्रपितृश्वशुराणां कारणाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः।"

अर्थात् 'भ्राता', 'पुत्र', 'पिता' तथा 'श्वशुर' आदि शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न-भिन्न है। 'भ्राता' भाई को कहते हैं। 'स्वसा' बहन होती है। 'पिता' गर्भ का उत्पादक होता है। 'माता' गर्भ को धारण करने वाली होती है। विवाहित लड़के लड़कियों में एक दूसरे के 'माता-पिता' सास ससुर कहाते हैं। 'भ्राता' पुंलिङ्ग है, 'स्वसा' स्त्रीलिङ्ग है। 'पिता' पुंलिङ्ग है, 'श्वसुर' पुंलिङ्ग है, 'श्वश्रू' स्त्रीलिङ्ग है। ये सब आपस में सरूप न होकर विरूप हैं। सरूप न होने से इनमें "पुमान् स्त्रिया" सूत्र से 'एकशेष' प्राप्त नहीं होता। क्योंकि वह सरूप स्त्रीपुंस शब्दों में ही पुंलिङ्ग का 'एकशेष' करता है। इसलिये प्रवृत्तिनिमित्त की भिन्नता को लेकर तथा विरूप होने से 'एकशेष' की अप्राप्ति में इन सूत्रों से 'एकशेष' का विधान किया गया है। 'भ्रातरौ' इस 'एकशेष' में भाई-बहन दोनों का अर्थ सन्निविष्ट है। इसी प्रकार 'पितरौ' में माता और पिता ये दोनों का अर्थ सन्निहित हैं। 'श्वशुरौ' में भी सास-ससुर इन दोनों अर्थों का अभिधान है। सूत्रों का यह प्रयोजन कह कर अब इनका प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"भ्रातृपुत्रपितृश्वशुराणां कारणाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः इति चेत् तुल्यकारण-त्वात् सिद्धम्।"[3]

---

१. तुलना करो—स० सू० ३.३.११०-११२ 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्य वा। पितृश्वशुरौ मातृश्वश्रूभ्याम्। भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्।' यहां भोज व्याकरण में उपर्युक्त आनुपूर्वी से ही सूत्रों का क्रम रखा गया है।

२. वही, महा० पस्पशा०, पृ० ११।

३. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २५०।

अर्थात् यदि प्रवृत्तिनिमित्त की भिन्नता के कारण इन सूत्रों की आवश्यकता है तो वह व्यर्थ है। क्योंकि 'भ्राता' आदि इन सब शब्दों में प्रवृत्ति-निमित्त की तुल्यता हो सकती है। भिन्नता न मान कर तुल्यता मान ली जायेगी। वह कैसे ? इसका उत्तर है—यदि तावद् बिभर्ति इति भ्राता, स्वसर्यपि एतद् भवति। यदि पुनातीति प्रीणाति इति वा पुनः, दुहितर्यपि एतद् भवति। यदि पाति पालयतीति वा पिता, मातर्यपि एतद् भवति। यदि आशु आप्तव्यः श्वशुरः, श्वश्र्वामपि एतद् भवति।"[1] भाव यह है कि जो गुण-क्रिया 'भ्राता' आदि पुंलिङ्ग शब्दों में हैं, वही गुण-क्रिया 'स्वसा' आदि स्त्रीलिङ्ग शब्दों में भी है। यदि भाई भरण-पोषण करता है इसलिये भाई है तो 'स्वसा' अर्थात् बहन भी भरण-पोषण करती है। 'पिता-माता' में भी गुण-क्रिया समान हैं। 'श्वश्रू-श्वशुर' में भी समान गुण क्रियायें हैं। इस प्रकार सबके प्रवृत्ति निमित्त तुल्य होने से भ्रातृ आदि के साथ स्वसा आदि का भी अभिधान हो जायेगा।

यदि यह कहा जाये कि "दर्शनं वै हेतुः, न हि स्वसरि भ्रातृशब्दो दृश्यते" अर्थात् लोक में 'स्वसा' के लिये 'भ्रातृ' शब्द का प्रयोग नहीं दीखता तो इसका उत्तर है—"दर्शनं हेतुरिति चेत् तुल्यम्"[2] अर्थात् जब 'स्वसा' में भ्राता' के गुण हैं तो 'स्वसा' को 'भ्राता' कहने में क्या आपत्ति है। दोनों तुल्य हैं।[3]

यदि यह कहा जाये कि "न वै एष लोके सम्प्रत्ययः। न हि लोके भ्राता आनीयताम् इत्युक्ते स्वसा आनीयते"[4] अर्थात् लोक में ऐसा व्यवहार नहीं देखा जाता। भाई के बुलाने पर बहन नहीं लाई जाती, तो इसका उत्तर

---

१. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २५०।

२. वही।

३. लोक में भी यह देखा जाता है कि जब जिसके पास भाई के रूप में केवल लड़की (बहन) होती है और वह यदि उसको आज्ञा पालन आदि गुणों से आकर्षित करती है तो उसका भाई उसके (बहन के) सम्बन्ध में यह कह देता है कि यह मेरी बहन नहीं है अपितु दूसरा भाई है। क्योंकि उसमें भाई के गुण होते हैं।

४. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २५०।

स्पष्ट है—"तद्विषयं च"[1] अर्थात् 'भ्राता' से 'स्वसा' का अभिधान 'एकशेष विषय' में हो जाता है। 'एकशेष' में ऐसी शक्ति है कि वह परार्थाभिधान में समर्थ है। यदि 'भ्राता' और 'स्वसा' 'एकशेष' में "भ्रातरौ यह शब्द भाई के साथ बहन के अर्थ को न कहे तो 'एकशेष' करना ही व्यर्थ हो जायेगा। जब 'एकशेष' में 'भ्रातरौ' यह शब्द भाई-बहन को कह सकता है तो बिना 'एकशेष' के भी 'भ्रातरौ' में विद्यमान उभयार्थाभिधान शक्ति को कौन रोक सकता है। 'भ्रातरौ' से, जहां दो भाई का अर्थ प्रकट होता है, वहां सहविवक्षित बहन का अर्थ भी प्रकट हो जायेगा, क्योंकि 'भ्राता' और 'स्वसा' दोनों तुल्यप्रवृत्तिनिमित्त वाले शब्द हैं। ऐसी अवस्था में 'भ्राता च भ्रातरौ' अथवा 'भ्राता च भ्रात्री च भ्रातरौ' इस प्रकार सरूपसूत्र से ही 'एकशेष' सिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ है।

इसी प्रकार 'पिता च माता च पितरौ' यहां 'माता' में भी पालयितृत्व गुण को लेकर पितृव्यपदेश हो जायेगा तो इस सूत्र के बिना ही 'एकशेष' सिद्ध है। 'पितरौ' दो पिताओं के समान 'पिता और माता' यह अर्थ भी समाविष्ट समझा जायेगा। इसलिए "पिता मात्रा" यह सूत्र भी व्यर्थ है।

इसी प्रकार 'श्वशुरश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ' यहां भी 'श्वशुर' में 'श्वश्रू' के गुण भी होने के कारण 'सास और ससुर' इस अर्थ का बोध इस सूत्र के बिना ही हो जायेगा तो 'श्वशुरः श्वश्र्वा' यह सूत्र भी व्यर्थ है। 'भ्राता-स्वसारौ', 'पुत्रदुहितरौ' यह द्वन्द्व समास तो अनभिधान से रुक जायेया। हां, 'पितरौ' के साथ 'माता पितरौ', 'श्वशुरौ' के साथ 'श्वश्रूश्वशुरौ' यह द्वन्द्व समास तो अभियुक्तों द्वारा अभिहित होने से इष्ट है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

"स्वसा' आदि स्त्रीलिङ्ग शब्दों के साथ 'भ्राता' आदि पुंलिङ्ग शब्दों के 'एकशेषविधान' में भाष्यवार्तिककार ने जो इन तीनों सूत्रों का प्रत्याख्यान किया है उसमें यही विशेष युक्ति दी गई है कि इन सब शब्दों में प्रवृत्ति-निमित्त की भिन्नता न होकर तुल्यता ही दीखती है। 'भ्राता' और 'स्वसा' में, जहां भरणपोषणादि क्रिया की तुल्यता है, वहां एकोदरजन्यत्वरूप समानता

---

१. वही, पृ० २५१।

भी है। 'पुत्र' और 'दुहिता' में प्रीतिदायकत्वादि गुणसाम्य के साथ एकापत्यत्व रूप सामान्य भी है। 'पिता' और 'माता' में पालयितृत्वादि गुणों की समानता के साथ एकापत्योत्पादकत्वरूप सामान्य भी है। 'श्वशुर' और 'श्वश्रू' में आशु आप्तव्य (शीघ्र प्राप्ति के योग्य) अति निकट सम्बन्धी आदि गुणों के समान होने के साथ-साथ विवाहित पुत्र-पुत्रियों का जनकत्व रूप सामान्य भी है। इसलिये 'स्वसा' को 'भ्राता', 'दुहिता' को 'पुत्र', माता को 'पिता' और 'श्वश्रू' को 'श्वशुर' मानकर अकेले 'भ्रातृ' आदि शब्दों में ही 'स्वसा' आदि अर्थ समाविष्ट हैं। ऐसी अवस्था में 'सरूप' सूत्र से ही 'एकशेष' होकर 'भ्रातरौ' आदि बन जायेंगे तो ये सूत्र व्यर्थ हो जाते हैं। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो 'भ्राता च भगिनी च' यहां क्या 'भ्रातरौ' यह 'एकशेष' नहीं होगा। जैसे 'स्वसा' विरूप है वैसे तत्समानार्थक 'भगिनी' शब्द भी विरूप है। 'स्वसा' के समान 'भगिनी' कौमी 'भ्राता' शब्द से व्यवहार्य दोनों का 'एकशेष' सरूप सूत्र से सिद्ध है। जैसे 'भ्रातास्वसारौ' यह द्वन्द्वसमास अनिष्ट है, वैसे 'भ्रातृभगिन्यौ' यह भी अनिष्ट ही मानना चाहिये। इसलिये 'स्वसा' को उपलक्षण मानकर उसके समान अर्थ वाले 'भगिनी' शब्द से भी 'भ्रातृ' शब्द का 'एकशेष' होता है, यह भाष्यवार्तिककार का अभिप्राय विदित होता है। 'पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ' इसके समान 'पुत्रश्च सुता च पुत्रौ' यही 'एकशेष' का इष्ट रूप है। 'पिता च माता च पितरौ' के समान 'पिता च जननी च पितरौ' यही इष्ट होना चाहिये। इन सूत्रों के प्रत्याख्यान से यह स्पष्ट है कि 'भ्राता' और 'स्वसा' आदि इन विरूप शब्दों को किसी प्रकार सरूप बनाकर पुंलिङ्ग का 'एकशेष' कर दिया जाये। वह चाहे सरूप सूत्र से हो या "पुमान् स्त्रिया" से हो।

"पिता मात्रा" इस सूत्र के 'पितरौ' इस 'एकशेष' में चाहे 'पिता च माता च' यह विग्रह किया जाये अथवा 'माता च पिता च' दोनों अवस्थाओं में द्वन्द्व को बांध कर पक्ष में 'पितरौ' यहां 'पिता' का ही 'एकशेष' होगा। एकशेष के अभाव में 'माता पितरौ' बनेगा। वहां 'मातृ' शब्द के अभ्यर्हित होने से "अभ्यर्हितम् च"[1] के वचन से 'मातृ' शब्द का पूर्वनिपात होगा। इस विषय में व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि के प्रणेता विश्वेश्वरसुरि याज्ञवल्क्यस्मृति के मिताक्षराटीकाकार विज्ञानेश्वर को उद्धृत करते हुए कहते हैं—

१. पा० २.२.३४ पर वार्तिक।

"दौहित्राभावे पितरौ धनभाजावित्येतद् व्याख्याने यद्यपि युगपदधिकरण वचनतायां द्वन्द्वस्मरणात्तदपवादत्वादेकशेषस्य धनग्रहणे पित्रोः क्रमो न प्रतीयते तथापि विग्रहवाक्ये पूर्वनिपातादेकशेषाभावपक्षे च मातापितराविति मातृ-शब्दस्य पूर्वश्रवणात् पाठक्रमेणार्थक्रमावगमाद्धनसम्बन्धेऽपि क्रमापेक्षायां प्रतीतिक्रमानुरोधेनैव प्रथमं माता धनभाक्, तदभावे पितेतिगम्यते इति विज्ञानेश्वरः ।"[1]

भाव यह है कि 'पितरौ' इस एकशेष में यद्यपि 'माता' और 'पिता' दोनों का 'एकशेष' है और विग्रह वाक्य में कोई क्रय न होने से पहले 'पिता' भी धन प्राप्त करने वाला संभव है किन्तु 'एकशेष' के अभाव में 'माता पितरौ' इस द्वन्द्व समास में 'मातृ' शब्द के पूर्वनिपात को देखकर 'माता' ही पहले धन को प्राप्त करने वाली सिद्ध होती है । उसके अभाव में ही 'पिता' धनभाक् बनता है । इसी प्रकार "भवानपि त्वद्दयिता च शेषे सायुज्यमासादयतं शिवाभ्याम्" इस प्राचीन प्रयोग में 'शिवाभ्याम्' इस 'एकशेष' में 'शिवा च शिवश्च' इस विग्रह द्वारा प्रथम पार्वती उसके बाद फिर परमेश्वर शिव का ग्रहण सिद्ध हो जाता है ।[2] किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में शब्दकौस्तुभकार की दृष्टि में विज्ञानेश्वर का ग्रन्थ चिन्त्य है । क्योंकि उनके मत में एक पद जन्य बोध में क्रम का अभाव रहता है । विग्रह में भले ही 'माता' शब्द का प्रथम प्रयोग हो किन्तु यह आवश्यक नहीं कि 'एकशेष' में भी वही प्रथम धनभाक् हो । इसके लिए, भट्टोजि की दृष्टि में, प्रमाणान्तर अन्वेषणीय है ।[3]

---

१. मिताक्षरा टीका, व्यवहाराध्याय, दायविभाग, दुहित्राधिकार, पृ० २४३-२४४ ।

२. तुलना करो—रघुवंश १.१—'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।'

३. श० कौ० सू० १.१.७०, पृ० ४७-४८—"एतेन पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा' (या० स्मृ० १३५) इत्यादि व्याख्यावसरे विग्रहे क्रमप्रतीतेः 'प्रथमं माता धनभाक् तदभावे तु पिता' इति विज्ञानेश्वर-ग्रन्थश्चिन्त्यः एकपदजन्यबोधे क्रमाभावात् । सूत्रारम्भेऽप्येवमेव । प्रत्युत मुख्यार्थस्य प्रथमप्रतीतिरुचिता । न तु लक्ष्याया यातुः । यत्तु विग्रहे क्रमप्रतीतिरिति, तन्न । वृत्तिविग्रहयोः सहाप्रयोगात् । वृत्तेरेवेह व्याख्येये श्लोके प्रयोगात् । किं च वृत्तावपि प्रयुक्तायां विग्रहोऽपि स्मर्यतां कथंचित् । न तु तत्रापि पूर्वापरभावे किञ्चिन्नियामकमस्ति । तस्मात्-क्रमनिर्णये प्रमाणान्तरम् मृग्यम् ।"

प्रस्तुत प्रसङ्ग में सिद्धान्तकौमुदी के टीकाकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती तत्त्व-बोधिनी में तथा प्रौढ़मनोरमा में भट्टोजिदीक्षित विशेष विचार करते हुए लिखते हैं कि 'भ्रातृपुत्रौ०' सूत्र का प्रत्याख्यान तो यथा कथंचित् उचित माना जा सकता है। क्योंकि 'भ्रातृ' शब्द का 'एकशेष' तो भाष्यकारोक्त दिशा से 'भ्रातृ' शब्द में ही 'स्वसा' का अर्थ आरोपित कर सरूपसूत्र से ही जायेगा। 'एकशेष' के अभाव में जो 'भ्रातास्वसारौ' यह द्वन्द्व समास प्राप्त होता है उसकी निवृत्ति अनभिधान रूप ब्रह्मास्त्र से कर ली जायेगी। किन्तु 'पिता मात्रा' और "श्वशुरः श्वश्र्वा" ये दो सूत्र तो प्रत्याख्यान के अयोग्य हैं। इनका प्रत्याख्यान करना अनुचित है। कारण यह है कि इनमें 'एकशेष' के साथ द्वन्द्व समास भी इष्ट है। 'पितरौ' के समान 'मातापितरौ' यह द्वन्द्व भी माना जाता है। 'श्वशुरौ' के समान 'श्वश्रूश्वशुरौ' यह द्वन्द्व भी इष्ट है। 'पितरौ', 'श्वशरौ' इस 'एकशेष' को 'पितृ' शब्द में 'मातृ' शब्द के अर्थ का आरोप करके अथवा लक्षणा से इस सूत्र के बिना भी सिद्ध कर लिया जायेगा। इसी प्रकार 'श्वशुरौ' में 'श्वश्रू' के अर्थ सहित 'एकशेष' हो जायेगा।

किन्तु इन दोनों सूत्रों के बिना जैसे 'पितरौ', 'श्वशुरौ' ये एकशेष के रूप बन जायेंगे, वैसे 'मातरौ' और 'श्वश्र्वौ' ये 'एकशेष' के रूप भी प्राप्त होंगे। क्योंकि जैसे 'पितृ' शब्द में 'मातृ' शब्द के अर्थ का आरोप होता है वैसे 'मातृ' शब्द में भी 'पितृ' शब्द के अर्थ का आरोप हो सकता है। दोनों की सह विवक्षा है। 'श्वश्रू' में भी 'श्वशुर' शब्द के अर्थ का आरोप हो सकता है।

यदि यह कहा जाये कि ऐसा अभिधान नहीं है। स्त्री के अर्थ की अपेक्षा पुमर्थ की प्रधानता होती है। स्त्री शब्द का 'एकशेष' नहीं हो सकता, तो यह कहना भी युक्त नहीं है कि स्त्री का 'एकशेष नहीं होता। "ग्राम्यपशु-संघेषु०"[1] सूत्र के उदाहरण में 'गावः इमाः' यह स्त्री का 'एकशेष' प्रत्यक्ष है। अतः इन दोनों सूत्रों का बनाना अत्यन्त आवश्यक है जिससे 'पितृ' और 'श्वशुर' इन पुंलिङ्ग शब्दों का ही 'एकशेष' हो, 'मातृ' और 'श्वश्रू' इन

---

१. पा० १.२.७३।

स्त्रीलिङ्ग शब्दों का नहीं।[1] इसलिए अर्वाचीन वैयाकरणों ने इन सूत्रों को प्रत्याख्येय न मानकर इनका अन्वाख्यान ही समीचीन माना है।[2]

नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यायन्तरस्याम् ।। १.२.६९ ।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र नपुंसकलिङ्ग का 'एकशेष' विधान करता है। नपुंसक भिन्न के साथ नपुंसक की विवक्षा में नपुंसक का 'एकशेष' होता है। और उस नपुंसक को विकल्प से एकवद्भाव भी हो जाता है 'तल्लक्षणविशेष' होने पर। एकवद्भाव पक्ष में एकवचन हो जायेगा जैसे—'शुक्लश्च शुक्लं च इति शुक्लानि शुक्लं वा।' यहां पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिग 'शुक्ल' शब्दो में नपुंसकलिङ्ग 'शुक्ल' शब्द का 'एकशेष' हो गया और उसे एकवद्भाव भी पक्ष में हो गया। तीनों लिगों में 'शुक्ल' शब्द की प्रकृति में कोई वैलक्षण्य नहीं है, केवल स्त्री पुंसलक्षणप्रत्ययकृत ही विशेष है। 'शुक्लेन वस्त्रेण', 'शुक्लेन कम्बलेन इति तेनानेन शुक्लेन' यहां 'शुक्लेन' यह रूप पुंनपुंसक में समान है। अतः यहां 'तल्लक्षणविशेष' की प्रतीति नहीं होती किन्तु इनके मूल शब्द 'शुक्ल', 'शुक्लम्' में तो स्पष्टही 'तल्लक्षणविशेष' है। अतः सामान्य 'शुक्ल' शब्द में 'तल्लक्षणविशेष' मानकर सर्वत्र नपुंसक का 'एकशेष' हो जाता है। एकवद्भाव तो समाहारद्वन्द्व में भी हो सकता है किन्तु द्वन्द्वसमास की निवृत्ति के लिए इस सूत्र द्वारा 'एकशेष' का विधान किया गया है। पक्ष में 'एकशेष' हुए नपुंसक शब्द को एकवद्भाव का विधान भी कर दिया गया है।

---

१. द्र० प्रो० म० भा० १, पृ० ३६४—'न च पुर्वसूत्रसमूहवत् इदमपि (पिता माक्षा, श्वशुरः श्वश्र्वा) इति सूत्रद्वयं द्वन्द्वनिवृत्यर्थमिति वाच्यम्। इह द्वन्द्वस्यापि पक्षे इष्ठत्वात् इति चेन् मैवम्, पितृश्वशुर-शब्दयोरिव मातृश्वश्रूशब्दयोः उक्तविशये केवलयोः प्रयोगं वारयितुं सूत्रारम्भात्। अनभिधानमाश्रित्य प्रत्याख्यानं तु दुर्बलमिति दिक्।'

२. (क) शा० सू० २.१.८४-८६ 'भ्रातृपुत्राः स्वसृदुहितृभिः'। 'पिता मात्रा वा'। 'श्वशुरः श्वश्रूभ्याम्।

(ख) स० सू० ३.३.११२,१११—'भातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्'। 'पितृ-श्वशुरौ मातृश्वश्रूभ्याम्।'

(ग) हे० सू० ३.१.१२१-१२३—'भातृपुत्राः स्वसृदुहितृभिः'। पिता माता वा।' 'श्वशुरः श्वश्रूभ्यां वा'।

'सामान्यविवक्षा' द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के खण्डन में वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों सहमत हैं। भाष्यकार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"अयं योगः शक्योऽवक्तुम् । कथम्—शुकलश्च कम्बलः, शुक्लं च वस्त्रं ते इमे शुक्ले तदिदं शुक्लं वा । शुक्लश्च कम्बलः, शुक्ला च बृहतिका, शुक्लं च वस्त्रं तानीमानि शुक्लानि, तदिदं शुक्लं वा इति । प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाच्छेषः । प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाच्छेषो भविष्यति । किं च प्रधानम् । नपुंसकम् । कथं पुनर्ज्ञायते नपुंसकं प्रधानमिति । एवं हि दृश्यते लोके अनिर्ज्ञातेऽर्थे गुणसन्देहे च नपुंसकलिङ्गं प्रयुज्यते । किं जातमित्युच्यते । द्वयं चैव हि जायते । स्त्री वा पुमान् वा । तथा विदूरे अव्यक्तरूपं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति महिषीरूपमिव ब्राह्मणी रूपमिव । प्रधाने कार्यसंप्रत्ययात् नपुंसकस्य शेषो भविष्यति ।"[1]

इसका भाव यह है कि प्रधान और अप्रधान की सन्निधि में प्रधान में ही कार्य होता है, अप्रधान में नहीं । तीनों लिङ्गों में प्रधान कौन है ? नपुंसक कैसे जाना जाये कि नपुंसक प्रधान है । लोक में ऐसा देखा जाता है कि जो चीज अज्ञात है, निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है अथवा जहां गुण या लिङ्ग का सन्देह है, वहां नपुंसकलिङ्ग का ही प्रयोग होता है । जैसे देवदत्त के घर में कोई सन्तान उत्पन्न हुई तो पूछते हैं 'किं जातम्' । क्या उत्पन्न हुआ । 'कः जातः' या 'का जाता' ऐसा कोई नहीं पूछता । जबकि सबको मालूम है कि दो ही तरह की सन्तान उत्पन्न हो सकती है या तो लड़की या लड़का । नपुंसक तो उत्पन्न होता ही नहीं । तथापि 'किं जातम्' यह नपुंसकलिङ्ग का ही प्रयोग क्यों करते हैं । इससे सिद्ध है कि संदिग्धावस्था में सामान्य रूप से नपुंसकलिङ्ग का ही प्रयोग होता है स्त्रीलिङ्ग या पुलिंग का नहीं ।

"सामान्ये नपुंसकम्"[2] यह वार्तिक सर्वविदित है कि सामान्य अर्थ में नपुंसकलिङ्ग का ही प्रयोग किया जाता है । दूर से अस्पष्ट दीखने पर कहा जाता है कि भैंस जैसा रूप है । ब्राह्मणी जैसा रूप है । साफ नहीं कहा जाता कि यह भैंस है या ब्राह्मणी है । अपितु भैंस जैसी कुछ वस्तु है । इस लोक

---

१. महा० भा० १, सू० १.२.६९, पृ० २४९-५० ।

२. वै० सि० कौ० भा० २ सू० २.४.१७ पृ० १२५ पर वार्तिक ।

व्यवहार से प्रकट है कि भैंस में स्त्रीलिङ्ग होते हुए भी स्त्री का प्रयोग न करके 'किंचिद् वस्तु अस्ति' (कोई चीज है) यह सामान्य नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग करते हैं। जब तीनों लिङ्गों में सामान्य रूप से वर्तमान सबका सर्वनाम नपुंसक है तो उसके प्रधान होने से उसी का शेष स्वतः सिद्ध हो जायेगा। ऐसी अवस्था में यह सूत्र अनावश्यक है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यकार द्वारा उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान युक्तियुक्त ही है। नपुंसक का ही 'एकशेष' न्याय्य है। वह लोकव्यवहार से स्वतः सिद्ध है। स्त्री के 'एकशेष' होने पर पुमर्थ की प्रतीति नहीं होगी। पुलिङ्ग के 'एकशेष' में स्त्री के अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। नपुंसक के 'एकशेष' में दोनों लिङ्गों का अनुग्रह होकर निर्वाह हो जाता है। अन्यत्र भी सामान्य व्यवहार में कहा जाता है— 'भवता किं पठ्यते ग्रन्थः स्मृति र्वा' अर्थात् 'आप क्या पढ़ रहे हैं।' 'क्या कोई ग्रन्थ वेदादि या स्मृति।' यहां 'किं पठ्यते' इस प्रश्न में सामान्य पुस्तक समझी जाती है। वह चाहे पुंलिङ्ग वेद हो या स्त्रीलिङ्ग स्मृति। सबके लिये सामान्य पुस्तक रूप नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग सर्वसम्मत है। क्योंकि सामान्य नपुंसकलिङ्ग में स्त्रीलिङ्ग और पुलिङ्ग इन दोनों विशेष लिङ्गों का भी संग्रह हो जाता है इसलिए "निर्विशेषं न सामान्यम्"[1] इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार भी सामान्य नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग ही व्यवहारानुकूल होने से न्याय्य है।

लोक व्यवहार को मुख्य मानकर भाष्यकार ने न केवल इसी सूत्र को अपितु एकशेष विधायक "सरूपाणामेकशेषः०"[2] इत्यादि सभी दस सूत्रों को खण्डित कर दिया है। "जात्याख्यायामेकस्मिन्०"[3] इत्यादि वचनविधायक पांच सूत्रों के प्रत्याख्यान में भी भाष्यवार्तिककार का दृष्टिकोण लोकव्यवहार को मुख्य मानना ही है।

इस नपुंसकलिङ्ग सम्बन्धी प्रत्याख्यान से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सर्वत्र नपुंसकलिङ्ग ही प्रधान है। अपितु जहां स्पष्ट रूप से स्त्रीलिङ्ग-

---

१. बालमनोरमा, भा० १, सू० २.३.५०, पृ० ६७२ 'न हि निर्विशेषं सामान्यम् इति न्यायात्।'

२. पा० १.२.६४।

३. पा० १.२.५८।

पुंलिग का निर्देश है, वहां तो उन्हीं लिङ्गों की प्रतीति होगी । जैसे—'शुक्लाः शाटिकाः', 'शुक्लाः कम्बलाः ।' यहां साफ दीखने वाली स्त्रीलिङ्ग शाटिकाओं तथा पुलिङ्ग कम्बलों का ही 'एकशेष' द्वारा बोध होगा, निर्ज्ञात अर्थ में नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग ही नहीं होता । अतः उक्त तीनों लिङ्गों की सहविवक्षा जहां होगी वहीं नपुंसक की प्रधानता होने से उसका 'एकशेष' न्याय प्राप्त है । तदर्थ सूत्र द्वारा विधान करना निरर्थक है । यही भाष्यकार का तात्पर्य है । अर्वाचीन वैयाकरणों में भी आचार्य चन्द्र और पूज्यपाद देवनन्दी तो उक्त प्रत्याख्यान में सहमत हैं अतः वहां यह सूत्र नहीं मिलता । किन्तु शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण तथा हैम व्याकरणों में उक्त सूत्र पठित होने से उनकी दृष्टि में प्रत्याख्येय नहीं प्रतीत होता जो कि विचारणीय ही है ।[1]

त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ॥ १.२.७२ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भी 'एकशेष' का विधान करता है । इसका अर्थ है कि सर्वनामसंज्ञक 'त्यद्' आदि शब्दों का सबके साथ विवक्षा में नित्य 'एकशेष' होता है । 'सर्वैः' कहने का प्रयोजन यह है कि त्यादादियों के साथ भी और 'त्यादादियों' से भिन्न अन्य 'देवदत्तादि' शब्दों के साथ भी 'त्यदादियों' का 'एकशेष' होता है । 'नित्य' ग्रहण विकल्प की निवृत्ति के लिये है । 'नपुंसकपुंसकेन०'[2] इस पूर्वगत सूत्र से 'अन्तरस्याम्' की अनुवृत्ति आ सकती थी । 'नित्य' ग्रहण से उसकी निवृत्ति हो जाती है । जैसे—'स च देवदत्तश्च इति तौ' । 'यश्च देवदत्तश्च इति यौ' । 'स च यश्च इति यौ' । 'यश्च कश्च कौ' । यहां 'तद्', 'यम्' 'किम्' ये 'त्यदादि' शब्द हैं । इनका आपस की सहविवक्षा में 'एकशेष' हो गया । 'स च यश्च यौ' यहां दोनों 'त्यदादि' शब्दों में पिछले 'यद्' शब्द का 'एकशेष' होता है । ''त्यदादीनां मिथो यद् यत्परं तत् तच्छिष्यते''[3] यह वार्तिकवचन इसमें प्रमाण है ।

१. (क) शा० सू० २.१.६१—'नपुंसकमन्येनैकं च वा ।'
(ख) स० सू० ३.३.११०—'नपुंसकमन्येनैकवच्चास्य वा ।'
(ग) हैं० सू० ३.१.२२८—'क्लीबमन्येनैकं च वा !

२. पा० १.२.६६ ।

३, वै० सि० भा० २ सू० १.२,७२, एकशेषप्रकरण, पृ० २११ ।

इस सूत्र में वार्तिककार का कथन है कि "त्यदादितः शेषे पुनपुंसकतो लिङ्गवचनानि"[1] अर्थात् 'त्यदादियों' के 'एकशेष' में पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का ही 'एकशेष' होता है, स्त्रीलिङ्ग का नहीं। पुंलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग में भी नपुंसकलिङ्ग का 'एकशेष' इष्ट है। जैसे—'सा च देवदत्तश्च इति तौ।' यहां पुंलिङ्ग 'देवदत्त' को प्रकट करने वाला 'तौ' यह 'एकशेष' हुआ। स्त्रीलिङ्ग 'सा' का 'एकशेष' नहीं हुआ। 'तच्च देवदत्तश्च यज्ञदत्ताश्च इति तानि' यहां तीनों लिङ्गों की सहविवक्षा में 'तानि' यह नपुंसकलिङ्ग का 'एकशेष' हुआ। 'तच्च देवदत्तश्च ते' यहां केवल पुनपुंसक में नपुंसक 'ते' का 'एकशेष' हुआ। इसी पर एक वार्तिक और है—"अद्वन्द्वतत्पुरुषविशेषणानाम्"[2] अर्थात् द्वन्द्व और एकदेशी तत्पुरुष समास के विशेषण बने 'त्यदादियों' में उक्त नियम नहीं लागू होता यानि वहां नपुंसकलिङ्ग के 'एकशेष' का नियम न होकर लिङ्ग विशेष्यनिघ्न होता है। जो विशेष्य का लिङ्ग है, वही अनुप्रयुज्यमान 'त्यदादियों' का होगा। जैसे—'कुक्कुटश्च मयूरी च इति कुक्कुटमयूर्यौ इमे' यहां द्वन्द्व समास में "इमे' इस स्त्रीलिङ्ग का ही 'एकशेष' हुआ। 'तच्च सा च अर्ध पिप्पल्यौ ते' यहां भी 'ते' शव्द में स्त्रीलिङ्ग का ही 'एकशेष' हुआ। क्योंकि 'अर्धपिप्पली' इस तत्पुरुष समास में 'पिप्पली' यह स्त्रीलिङ्ग है। 'कुक्कुटमयूर्यौ' इस द्वन्द्वसमास में यद्यपि दोनों ही उभयपदार्थ प्रधान होने से विशेष्य हैं तो भी "परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः"[3] इस सूत्र से परवल्लिङ्गता के विधान से स्त्रीलिङ्ग की प्रधानता है। इसलिये 'ते' इस 'एकशेष' में उसी का लिङ्ग प्रधान माना जायेगा। 'पिप्पल्या अधर्म अर्धपिप्पली' यहां एकदेशी तत्पुरुष में भी परवल्लिङ्गता होने से 'पिप्पली' का स्त्रीलिङ्ग ही प्रधान है। अतः उसी लिङ्गवाला 'ते' यह 'एकशेष' हो गया।

'सामान्यार्थ' मानकर सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"अयमपि योगःशक्योऽवक्तुम्। त्यदादीनां सामान्यार्थत्वात्। त्यदादीनां सामान्यमर्थः। अतश्च सामान्यं देवदत्ते हि स इत्येतद् भवति, यज्ञदत्तेपि। त्यदादीनां

---

१. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २५१।

२. महा० भा० १, सू० १.२.७२, पृ० २५१।

३. पा० २.४.२६।

सामान्यार्थत्वात् एकशेषो भविष्यति ।"[1] भाव यह है कि 'त्यदादि' शब्दों के सामान्य अर्थ का वाचक होने से 'त्यदादियों' का ही 'एकशेष' स्वतः प्राप्त है । अतः इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है । 'त्यदादि' शब्द सर्वनामसंज्ञक हैं और सर्वनाम सबके नाम होते हैं । वे सबके साझले होते हैं । 'देवदत्त' को भी 'वह' कहा जा सकता है, 'यज्ञदत्त' को भी अर्थात् 'वह' कहने से सभी का अभिधान हो सकता है । 'देवदत्त' का भी 'यज्ञदत्त' का भी । ऐसी अवस्था में 'स च देवदत्तश्च' ऐसा विग्रह न होकर इसके स्थान में 'स च स च तौ' इस प्रकार एक ही सर्वनामसंज्ञक 'तद्' शब्द से 'देवदत्त' का भी बोध हो जायेगा तो प्रकृत सूत्र द्वारा 'त्यदादियों' का 'एकशेषविधान' करना व्यर्थ है ।

यदि यह कहा जाये कि "परस्य शेषं वक्ष्यामि"[2] अर्थात् 'त्यदादियों' की सहविवक्षा में "यद्यत्परं तत्तच्छिष्यते"[3] इस वचन से पिछले का 'एकशेष' कहना इष्ट है और वह इस सूत्र के बनाये बिना संभव नहीं तो इसका उत्तर है 'परस्य चोभयवाचित्वात् । पूर्वशेषदर्शनाच्च ।"[4] अर्थात् 'पर' शब्द इष्ट वाची होने से पूर्व और पर दोनों का अभिधायक है । इसलिये 'स च यश्च यौ' इत्यादि में 'यद्' शब्द का 'एकशेष' इष्ट होने से वही हो जायेगा । साथ ही पूर्व का 'एकशेष' भी देखा जाता है । 'स च यश्च तमै' यहां पूर्व 'तद्' शब्द का 'एकशेष' भी अभीष्ट है । 'त्यदादियों' के 'एकशेष' में पूर्व पर का कोई नियम नहीं है । अतः सभी का 'एकशेष' इष्ट होने से, सभी के सर्वनाम होने से उनके 'एकशेष' हुए 'यौ', 'तौ' इत्यादि में 'देवदत्तादि' के अर्थ की भी प्रतीति सिद्ध है । अतः यह सूत्र व्यर्थ ही है ।

द्वन्द्वसमास की निवृत्ति के लिये भी इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि—"सामान्यविशेषवाचिनोश्च द्वन्द्वाभावात् सिद्धम्"[5] अर्थात् सामान्यवाची और विशेषवाची शब्दों का एक साथ द्वन्द्व समास नहीं हुआ करता । दोनों की परस्पर सहविवक्षा संभव नहीं है । अतः 'स च देवदत्तश्च तद्देव-

---

१. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २५१ ।

२. वही ।

३. का० में प्रकृत सूत्र पर उद्धृत वार्तिक ।

४. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २५१ ।

५. महा० भा० १, सू० १.२.७२, पृ० २५१ ।

दत्तौ' इस प्रकार सामान्य 'तद्' शब्द का और विशेष 'देवदत्त' शब्द का आपस में द्वन्द्व समास नहीं होगा तो 'तद्देवदत्तौ' यह प्रयोग ही अनिष्ट होने से नहीं बनेगा। 'शुद्राभीरम्' 'गोबलीवर्दम् तृणोलपम्' इत्यादि द्वन्द्व समास तो सभी विशेषवाची शब्द हैं; एक सामान्य और दूसरा विशेष नहीं है। 'शूद्राश्च आभीराश्च तेषां समाहार द्वन्द्वः शुद्राभीरम्' यहां 'आभीर' शब्द अहीरवाचक शुद्धविशेष नहीं है अपितु ब्राह्मण से उग्र कन्या में उत्पन्न एक संकर जातिविशेष है।[1] 'गावश्च बलीवर्दाश्च इति तेषां समाहार द्वन्द्वः गोबलीवर्दम्' यहां 'गो' शब्द पुंलिङ्ग गौ का वाचक बलीवर्द का विशेषण नहीं है अपितु गाय रूपी स्त्रीलिङ्ग अर्थ का वाचक है। 'तृणानि च उलपाश्च तेषां समाहार द्वन्द्वः तृणोलपम्' यहां 'उलप' शब्द वल्वज नामक तृणविशेष का वाचक नहीं है अपितु "अपामुलपमिति नामधेयम्"[2] इस भाष्यकार के वचन से जल का वाचक है। 'तं ब्राह्मणमानय गार्ग्यम्' इस वाक्य में 'तम्' इस सामान्य के साथ ब्राह्मण और गार्ग्य इन विशेष शब्दों का प्रयोग तो विशेषान्तर की व्यावृत्ति के लिये है। वहां पहले 'सामान्य' और कहकर फिर 'विशेष' कहा गया है। 'सामान्य' 'विशेष' दोनों एक साथ विवक्षित नहीं हैं। इसलिये 'तद्देवदत्तौ' यहां सामान्यविशेष का द्वन्द्व नहीं होगा तो उसकी निवृत्ति के लिये इस सूत्र द्वारा विहित 'एकशेष' सर्वथा अनावश्यक है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यवार्तिककार ने त्यदादियों को सामान्य अर्थ के वाचक मानकर इस सूत्र से विहित 'एकशेष' का खण्डन कर दिया है। क्योंकि सामान्यार्थक 'तद्', 'यद्' आदि सर्वनामसंज्ञक शब्दों से 'देवदत्त' आदि विशेष अर्थों की भी प्रतीति हो सकती है। इसलिये केवल 'तद्' शब्द के द्विवचन में 'तौ' कहने से 'वह' और 'देवदत्त' दोनों अर्थ स्पष्ट हो जायेंगे तो इस सूत्र द्वारा विशेष के साथ विवक्षा में 'त्यदादि' शब्दों के 'एकशेष' की आवश्यकता नहीं रहती। वैसे भी 'देवदत्तयज्ञदत्तौ गच्छतः' के स्थान में लोग प्रायः 'तौ गच्छतः' यह प्रयोग करते ही हैं। 'वे दो जा रहे हैं' इस अर्थ में 'वे दो' कोई भी हो सकते हैं।

१. द्र०, महा० प्र० सू० ५.१.१७२, पृ० १७०—'ब्राह्मणादुग्रकन्यायामाभीरो नाम जायते।'

२. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २५२।

व्यक्ति सामान्य तथा व्यक्तिविशेष दोनों के लिये 'तौ' यह प्रयोग व्यवहार में आता है। 'त्यदादियों' की यह सामान्यार्थता सब विशेषों को अपने अन्दर समेट लेती है। ऐसी अवस्था में भाष्यवार्तिककार द्वारा इस सूत्र का प्रत्याख्यान करना सर्वथा लोकव्यवहार संगत तथा उचित है। यहां भी अर्वाचीन वैयाकरणों में चन्द्रगोमी तथा देवनन्दी तो भाष्यकारप्रोक्त प्रत्याख्यान में सहमत हैं किन्तु शाकटायन, भोज तथा हैम व्याकरण में उक्त सूत्र प्रत्याख्यात नहीं स्वीकार किया गया है जो कि विचारणीय ही है।[1]

ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री ॥ १.२.७३॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भी 'एकशेष' का विधान करता है। 'ग्राम्य पशुओं' के स्त्री-पुंसात्मक 'संघ' की एक साथ विवक्षा में स्त्री का 'एकशेष' करने के लिये यह सूत्र बनाया है। इसका अर्थ है कि 'ग्रामीण पशुओं' के समुदाय की सहविवक्षा में स्त्री का 'एकशेष' होता है। यहां 'अतरुण' ग्रहण 'ग्राम्य पशुओं' का विशेषण है। ग्राम्य पशु 'अतरुण' होने चाहियें। 'संघ' तो समुदाय का नाम है, उसका 'तरुण' या 'अतरुण' होना संभव नहीं है। 'तरुण' का अर्थ 'नवयुवा' है। उससे भिन्न अर्थात् प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त 'गौ' आदि 'ग्रामीण पशुओं' के समुदाय में स्त्रीलिङ्ग शब्द का 'एकशेष' होता है। जैसे—

'गाव इमाः'। 'अजा इमाः' (ये गाय हैं, ये बकरियां हैं)।

यहां 'गावश्च गावश्च गावश्च इति गावः।' 'अजश्च अजा च अजाश्च इति अजाः' ग्रामीण गाय-बैल, बकरे-बकरी आदि पशु समुदाय में स्त्रीलिङ्ग गाय-बकरी के वाचक 'गो-अजा' शब्दों का 'एकशेष' हो जाता है। "पुमान् स्त्रिया"[2] से पुंलिङ्ग का 'एकशेष' प्राप्त था, उसका बाधक यह सूत्र है।

---

१. (क) शा० सू० २.१.८३—'त्यदादिः।'
(ख) स० सू० ३.३.११३—'सर्वेस्त्यदादीनि।'
(ग) है० सू० ३.१.१२०—'त्यदादिः।'

२. पा० १.२.६७।

'ग्राम्य' ग्रहण इसलिये किया है कि 'रुरवः इमे', 'पृषता इमे' यहां स्त्रीलिङ्ग का एकशेष न हो। क्योंकि 'रुरु' (रोज नामक जंगली पशु) और 'पृषत' (हिरण) ये ग्राम के पशु नहीं हैं। जंगल के हैं। अतः इनमें पुंलिङ्ग का ही शेष रहा। 'पशु' ग्रहण इसलिये किया है कि 'ब्राह्मणाः', 'क्षत्रियाः' यहां स्त्री का शेष न हो। ब्राह्मण-क्षत्रिय ग्राम के पुरुष हैं, पशु नहीं हैं। 'संघ' ग्रहण इसलिये किया है कि 'एतौ गावौ चरतः' (ये दो बैल चर रहे हैं) यहां 'ग्राम्य पशुओं' का 'संघ' न होने से स्त्री का 'शेष' नहीं होता। 'अतरुण' ग्रहण इसलिये किया है कि 'वत्सा इमे', 'वर्करा इमे' (ये बछड़े हैं) यहां 'ग्राम्य पशुसंघ तरुण' है, नवयुवा बछड़ों का समुदाय है, अतः यहां स्त्रीलिङ्ग का 'शेष' नहीं होता। यद्यपि उस संघ में बछड़ों के साथ बछड़ियां भी हैं तो भी 'अतरुण' न होने के कारण स्त्री का 'एकशेष' नहीं हुआ। यह सूत्र सर्वथा लोक व्यवहारानुगामी है।

लोक व्यवहार द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र पर सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथं गाव इमाश्चरन्ति अजा इमाश्चरन्ति? गाव उत्कालितपुंस्काः वाहाय च विक्रयाय च। स्त्रिय एवावशिष्यन्ते।"[1]

अर्थात् इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। स्त्रियों का 'एकशेष' स्वयंसिद्ध है। 'गाव इमाः', 'अजा इमाः' यहां स्त्री का 'एकशेष' कैसे होगा? गो पशुओं में जो पुंलिङ्ग हैं, बैल या सांड आदि, वे तो हल आदि में जोतने के लिये या बेचने के लिए अलग कर दिये जाते हैं, बाकी गाय-बछड़ी आदि स्त्री ही बचती हैं। उन्हीं का 'एकशेष' स्वयं हो जायेगा। इसी तरह 'अजा इमाः' यहां बकरे भी बेच दिये जाते हैं। अतः बकरियां शेष रह जाने से उन्हीं का 'एकशेष' हो जायेगा।

यदि यह कहा जाये कि 'ग्राम्य पशुओं' के समुदाय में ही स्त्री का 'एकशेष' करने के लिये यह सूत्र बनाया है तो ठीक नहीं। क्योंकि 'न्यङ्कवः इमे' (ये मृग हैं जो कि जंगल में रहते हैं) 'सूकरा इमे' (ये सूअर हैं) इन

---

१. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २५२।

जंगली पशुओं में कौन वाहन तथा विक्रय का काम लेता है। ये तो पकड़ में ही नहीं आ सकते। इसलिये वहां तो स्त्रीपुंससमुदाय में पुंलिङ्ग की प्रधानता होने से पुंलिङ्ग का ही शेष होगा। भाष्यकार के शब्द हैं—

"कः पुनरर्हति अग्राम्याणां पुंस उत्कालयितुं ये ग्रहीतुमशक्याः। कृत एव वाहाय च विक्रमाय च।"[1]

प्रकृत सन्दर्भ में यह शङ्का करना ठीक नहीं कि 'पशुसमुदाय' में स्त्री का 'एकशेष' करने के लिये सूत्र की आवश्यकता है। पुरुषसमुदाय में स्त्री का 'एकशेष' इष्ट नहीं है। क्योंकि "कः पुनरर्हतिअपशूनां पुंस उत्कालयितुं ये अशक्या वाहाय च विक्रयाय च"[2] अर्थात् पशुभिन्न मनुष्य समुदाय में कौन पुरुषों को निकाल सकता है जो न वाहन के और न विक्रय के काम आते हैं। इसलिये 'ब्राह्मणा इमे' यहां पुरुषसमुदाय में स्त्रीपुंससंघ होने पर भी पुरुष का ही 'एकशेष' सिद्ध हो जायेगा, स्त्री का नहीं।

पुनः यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है कि 'संघ' ग्रहण करने के लिये सूत्र की आवश्यकता है। अर्थात् 'ग्रामीण पशुओं' के 'संघ' में ही स्त्री का 'एकशेष' हो, एक-दो 'ग्रामीण पशुओं' की विवक्षा में स्त्री 'शेष' न हो। क्योंकि "कः पुनरर्हति निर्ज्ञातेऽर्थेऽन्यथा प्रयोक्तुम्।"[3] 'एतौ गावौ चरतः' (ये दो बैल चर रहे हैं) यहां निश्चित रूप से विज्ञात दो बैलों में कौन स्त्री का प्रयोग करेगा। स्पष्ट दीख रहा है कि ये गाय नहीं अपितु बैल हैं।

यदि यह कहा जाये कि 'अतरुण' ग्रहण करने के लिये सूत्र की आवश्यकता है तो वह भी बात ठीक नहीं है। क्योंकि "कः पुनरर्हति तरुणानां पुंस उत्कालयितु ये अशक्या वाहाय च विक्रयाय च।"[4] 'वत्सा इमे' (ये बछड़े हैं) यहां कौन मनुष्य वाहन और विक्रय में सर्वथा असमर्थ बछड़ों को बछड़ियों से अलग करेगा। बछड़ियों के साथ वहां बछड़े भी अवश्य होंगे। तब "पुमान् स्त्रिया"[5] से पुंलिङ्ग बछड़ों का ही 'एकशेष' होगा, स्त्रीलिङ्ग

१. वही सू० १.२.७३, पृ० २५२।
२. महा० भा० १, सू० १.२.७३, पृ० २५२।
३. वही।
४. वही।
५. पा० १.२.६७।

बछड़ियों का नहीं । इस प्रकार उक्त विशेषण सहित सम्पूर्ण सूत्र ही व्यर्थ हो जाता है ।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

लोकव्यवहार के पूर्ण पारदृश्वा पतंजलि ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान भी न्यायोचित ही किया है । क्योंकि "यश्चार्थो लोकतः सिद्धः किं तत्र शास्त्रीयेण यत्नेन"[1] अर्थात् जो बात लोक से ही सिद्ध है उसके लिये शास्त्र बनाना अकिंचित्कर है । खेतों में चरते हुए गौ पशुसमुदाय को देखकर प्रायः लोग कह ही देते हैं कि ये गायें चर रही हैं, यद्यपि उन गायों में पुंलिङ्ग बैल आदि पशु भी होते हैं । गांव के पशुओं में ही स्त्री का 'एकशेष' किया जाता है । जंगली जानवरों में तो सभी कहते हैं—'ये भैसे चर रहे हैं ।' 'हिरण जा रहे हैं ।' 'गीदड़ बोल रहे हैं ।' ऐसा कोई नहीं कहता कि ये भैंस चर रही हैं । गांव के पशुओं में तो कहते हैं, जंगल के में नहीं । जंगल के पशु-समुदाय में स्त्री-पुरुष दोनों ही होते हैं तथापि वहां केवल पुंलिङ्ग का प्रयोग होता है और 'ग्रामीण पशु समुदाय' में स्त्रीलिंग का प्रयोग सर्वत्र एषणीय है । इसलिए सर्वथा सभी अंशों में यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य है ।[2]

वार्तिककार को पीछे से ख्याल आया कि ग्रामीण पशुओं में भी कहीं-कहीं पुंलिङ्ग का 'शेष' होता है । जैसे—'अश्वाश्चरन्ति', 'गर्दभाश्चरन्ति' (घोड़े चर रहे हैं, गधे चर रहे हैं) तो इन्होंने 'अनेकशफेष्विति वक्तव्यम्'[3] कहकर एक से अधिक शफ अर्थात् खुर वाले गौ आदि पशुओं में ही स्त्रीलिङ्ग का 'एकशेष' स्वीकार किया है । एक शफ वाले अश्व, गर्दभ आदि ग्रामीण पशुओं में तो पुंलिङ्ग का ही एकशेष माना है । इससे भी लोकव्यवहार की परिपूर्णता तथा इस सूत्र की व्यर्थता सिद्ध होती है । ऊंट तो ग्राम में होने पर भी आरण्यक (जंगली) ही माने जाते हैं इसलिये उनके अनेक शफ वाला

---

१. का० भा० १, सू० १.२.५६; ५७, पृ० ३६३-६४ ।

२. किन्तु आचार्यों का यह नियम है कि "न चेदानीभाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति ।" अतः प्रत्याख्येय होने पर भी उक्त सूत्र सूत्रपाठ में यथास्थान व्यवस्थित है ।

३. चौखम्बा तथा कीलहार्न सम्पादित महाभाष्य में इसे वार्तिक नहीं माना गया है । वार्तिकरूप में इसकी स्थापना काशिकावृत्ति में की गई है ।

होते हुए भी स्त्रीलिङ्ग का 'एकशेष' नहीं होता।[1] 'उष्ट्राश्चरन्ति' (ऊंट चर रहे हैं) यह पुंलिङ्ग का 'एकशेष' ही लोकव्यवहार से माना जाता है। यहां भी पश्चाद्वर्ती वैयाकरणों में आचार्य चन्द्र तथा पूज्यपाद देवनन्दी तो भाष्यकार के साथ प्रत्याख्यान में अनुमत हैं किन्तु शाकटायन, भोज तथा हेमचन्द्र इसके खण्डन में सहमत नहीं हैं। अतः उनके व्याकरणों में प्रकृत सूत्र यथास्थान पठित हैं। हां, उन्होंने वार्तिककार कात्यायन के "अनेकशफेष्विति वक्तव्यम्" इस वार्तिक को अपने यहां सूत्र का रूप जरूर दे दिया है।[2]

दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ॥ १.३.५५ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

'दाण्' धातु 'दान' अर्थ में भ्वादिगण में पठित 'अनिट्' तथा परस्मैपदी है। उससे आत्मनेपद करने के लिये उक्त सूत्र बनाया है। इसका अर्थ है कि 'सम्' पूर्वक 'दाण्' धातु से तृतीया विभक्त्यन्त के साथ योग होने पर आत्मनेपद होता है, यदि वह तृतीया विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में हो। तृतीयाविभक्ति चतुर्थी के अर्थ में कैसे हो सकती है इसके लिये वार्तिककार कहते हैं—

"अशिष्टव्यवहारे तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवतीति वक्तव्यम्।"[3]

अर्थात् जो अशिष्ट व्यवहार है, शिष्टजनोचित व्यवहार नहीं है, उसके अभिधान में यहां तृतीयाविभक्ति चतुर्थीविभक्ति के अर्थ में हो जाती है। जैसे—'दास्या संप्रयच्छते। दास्यै ददातीत्यर्थः।' 'अपनी कामोपभोग की पूर्ति के लिये दासी को कुछ वस्त्रादि देता है—'इस अशिष्ट व्यवहार में 'दास्या' यह तृतीयाविभक्ति 'दास्यै' इस चतुर्थी के अर्थ में है। "पा घ्रा

---

१. द्र० प० मं०, प्रकृत सूत्र—'उष्ट्राणां त्वारण्यत्वादेकशेषाभावः।'

२. (क) शा० सू० २.१.९०—'ग्राम्यद्विखुरसंघेऽशिशौ स्त्रीप्रायः।'
   (ख) स० सू० ३.३.१०९—'ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणानेकशफेषु स्त्री।'
   (ग) है० सू० ३.१.१२७—ग्राम्याशिशुद्विशफसंघे स्त्री प्रायः।

३. वै० सि० कौ० भा० १, सू० २.३.२३ पर वार्तिक।

ध्मा स्था०"[1] इस सूत्र से 'दाण्' को 'यच्छ्' आदेश हो जाता है। यहां 'दाण्' धातु 'प्र' उपसर्गपूर्वक होती हुई भी 'सम्' उपसर्गपूर्वक भी है ही, अतः आत्मनेपद होने में कोई बाधा नहीं।

तृतीयाविभक्ति का अर्थ करण या सहयोग है। चतुर्थी का अर्थ सम्प्रदान है। यहां सम्प्रदान अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग न करके तृतीया का प्रयोग किया गया है, केवल अशिष्ट व्यवहार द्योतित करने के लिये।[2] 'दास्या' इस तृतीया को चतुर्थी के अर्थ में समर्थित करने के लिए ऐसा कहा जा सकता है कि दासी के साथ देता-लेता है। अर्थात् दासी के साथ इसका अनुचित व्यवहार चलता है। इस विषय विशेष में 'दास्या' यह तृतीया "दास्यै" के अर्थ को स्पष्ट प्रकट करती है अतः 'दाण्' धातु से आत्मनेपद सिद्ध हो जाता है।

धात्वर्थान्तर द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

उक्तरीत्या सूत्रार्थ को व्यवस्थित करके वार्तिककार तथा भाष्यकार इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"यद्येवं नार्थोऽनेन योगेन केनेदानीं तृतीया भविष्यति आत्मनेपदं च। संयुक्ते तृतीया स्याद् व्यतिहारे तङो विधि। सहयुक्ते प्रधाने इत्येव तृतीया भविष्यति। कर्तरि कर्मव्यतिहारे इत्यात्मनेपदम्।"[3]

अर्थात् इस सूत्र द्वारा 'दाण्' धातु के आत्मनेपद विधान की तथा चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विधान की कोई आवश्यकता नहीं है। 'दास्या' यहां "सहयुक्ते प्रधाने"[4] से सहयोग में तृतीया हो जायेगी और अशिष्ट व्यवहार की विवक्षा में "कर्तरि कर्मव्यतिहारे"[5] से आत्मनेपद हो जायेगा। 'दासी के

---

१. पा० १. ७.३.७८।
२. द्र० चा० सू० १.४.१०८ की स्वोपज्ञवृत्ति—'सम्प्रदानस्य करणत्व-विवक्षायामियं तृतीया। सा चेयमशिष्टव्यवहारे एव लौकिकी विवक्षा, तत्र तस्याः साधकतमत्वात्।'
३. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० २८४।
४. पा० २.३.१९।
५. पा० १.३.१४।

साथ कुछ लेन-देन करता है'—यहां सहयोग में तृतीया स्पष्ट है। दासी की अभीष्ट वस्तु कामुक व्यक्ति देता है और कामुक की इच्छापूर्ति दासी करती है। इस प्रकार दोनों तरफ से क्रिया की अदला-बदली होने से कर्म-व्यतिहार हो जाता है। तृतीया और आत्मनेपद स्वतःसिद्ध हो जाने पर यह सूत्र व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहां पर भाष्यवार्तिककार ने 'दाण्' धातु का अर्थ 'दानपूर्वक उपभोग' मानकर सूत्र का खण्डन कर दिया है जो उचित ही है। क्योंकि धातु अनेकार्थक होते हैं।[1] प्रकरणादिवशात् धातु का अर्थ बदल जाता है।[2] इसके साथ ही सूत्रपठित 'चेत्' शब्द को 'च' अर्थ में समझकर, जो तृतीया का विधान इसी सूत्र से माना था, वह भी निरस्त हो जाता है। किन्तु उद्-द्योतकार नागेश इससे सहमत नहीं है। वे इसके खण्डन को 'एकदेश्युक्ति' मानते हैं। वे कहते हैं कि यहां कर्मव्यतिहार नहीं बनता। "यत्रान्यसम्बन्धिनीं क्रियामन्यः करोति, इतरसम्बन्धिनीं चेतरः स कर्मव्यतिहारः। अर्थात् जहां एक ही क्रिया को दोनों अदल-बदल करके करें वहां कर्मव्यतिहार होता है। जैसे देवदत्त के खेत को यज्ञदत्त कटवा देता है और यज्ञदत्त के खेत को देवदत्त। किन्तु यहां ऐसी बात नहीं है। कामुक दासी का भोग करने के लिये उसे वस्त्रादि देता है और दासी उसकी भोगेच्छा की पूर्ति करती है। दोनों अलग-अलग क्रियायें हैं। एक ही क्रिया की अदला-बदली नहीं है। अतः कर्मव्यतिहार न होने से यहां "कर्तरि कर्मव्यतिहारे"[3] से आत्मनेपद सिद्ध नहीं होता। उसको कुछ देकर उसका उपभोग करता है, इसमें क्रिया

---

१. द्र० 'क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकेकोर्थो निदर्शितः।
प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः॥

२. वा० प० ३१५-१६
संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यविरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

३. पा० १.३.१४।

का व्यतिहार क्या है ? कुछ नहीं। मनुष्य अपनी स्त्री को वस्त्रादि दान देकर उसका उपभोग किया ही करता है। इसमें अशिष्ट व्यवहार भी प्रतीत नहीं होता। इसलिये केवल अशिष्ट व्यवहार में आत्मनेपद करने के लिये तथा चतुर्थी के स्थान में तृतीया का प्रयोग करने के लिये इसकी आवश्यकता है जिससे 'ब्राह्मण्यै संप्रयच्छति' यहां शिष्ट व्यवहार में तृतीया और आत्मनेपद न हो।[1]

वस्तुतः नागेश का उक्त कथन विचार की अपेक्षा रखता है। किन्तु इस सूत्र का खण्डन करते हुए भाष्यवार्तिककार का तात्पर्य यही है कि यह आवश्यक नहीं है कि एक ही क्रिया की अदला-बदली में क्रियाव्यतिहार हो बल्कि किसी स्वार्थवश जो अन्योन्यसम्बन्धी दोनों तरफ से भिन्न-भिन्न क्रिया की जाती है, वह भी क्रियाव्यतिहार ही है। प्रकरण विशेष को देखकर अशिष्ट व्यवहार में ही 'दाण्' धातु से आत्मनेपद समझा जायेगा। ऐसी अवस्था में यह सूत्र बनाना निरर्थक है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में अन्य चन्द्रगोमी आदि आचार्य भाष्यकारकृत इस सूत्र के प्रयाख्यान में सहमत न होकर स्व तन्त्रों में इसे यथास्थान पढ़ते हैं।[2]

---

१. महा० प्र० उ० सू० १.३.५५, भा० २, पृ० २५६—'अत्र वदन्ति-यद्येवमित्यादिपूर्वपक्ष्युक्तिरित्युक्तिप्रत्युक्तिस्वारस्येन प्रतीयते। तया सहोपभुङ्क्ते इत्येतन्मात्रेण व्यवहाराऽप्रतीतेः। विश्राणनमादाय तु न सः। अन्ययोग्यैकजातीयक्रियाणामन्येन करणं हि सः। तस्यै विश्राण्यतामुपभुङ्क्ते इत्यर्थे कर्मव्यतिहाराप्रतीतावप्यशिष्टत्वप्रतीत्या तत्र इष्टात्मनेपदासिद्धेश्च।'

२. चा० सू० १.४.१०८—'दाणः सा चेच्चतुर्थ्यर्थे', जैनेन्द्रव्याकरण में उक्त विषय का स्वतन्त्र सूत्र तो नहीं मिलता किन्तु यह वार्तिक अवश्य मिलता है—'दाणश्च सा चेदबर्थे शिष्टव्यवहारे इति वक्तव्यम्—'जै० सू १.२.५० पर वचन।

शा० सू० १.३.१३४—'दाणाधर्मे तङ् च देये।'

स० सू० ३.१.१०३—'दाणश्चसाचेच्चतुर्थ्यर्थे।

है० सू० २.२.५२—'दामः सम्प्रदानेऽधर्म्ये आत्मने च'।

हैम व्याकरण में प्रकृत सूत्र में 'दाण्' धातु के स्थान पर 'दाम्' धातु का पाठ मिलता है ;

उनकी दृष्टि में अशिष्ट व्यवहार तथा कर्मव्यतिहार को स्पष्ट सूचित करने के लिए सूत्र की आवश्यकता बनी रहती है। भाष्यकार ने तो अतिशय लाघव को प्रमुखता देते हुए ही इसे प्रत्याख्येय मान लिया किन्तु अशिष्ट व्यवहार आदि में स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए सूत्र की आवश्यकता है। इस तरह समन्तात् समीक्षा करने पर यही कहा जा सकता है कि प्रकृत सूत्र स्थापनीय ही है।

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि ॥२.३.१२॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र विभक्ति विधान करता है। इसका अर्थ है कि 'अध्व' अर्थात् मार्ग, उससे वर्जित गत्यर्थक धातुओं के कर्म में द्वितीया-चतुर्थी विभक्तियां होती हैं चेष्टा में, शरीर की क्रिया करने में। जैसे—'ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति', यहां गत्यर्थक 'गम्' धातु का कर्म 'ग्राम' है। उस 'ग्राम' में जाने के लिये शरीर की चेष्टा हो रही है, इसलिए 'ग्राम' शब्द से द्वितीया, चतुर्थी विभक्ति हो जाती हैं। सूत्र में 'गत्यर्थक' ग्रहण इसलिए किया है कि 'ओदनं पचति' यहां 'पच्' धातु के कर्म 'ओदन' में चतुर्थी विभक्ति नहीं हुई। केवल "कर्मणि द्वितीया"[1] से द्वितीया ही हो गई। 'कर्म' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'अश्वेन व्रजति' यहां गत्यर्थक 'व्रज्' धातु का 'अश्व' कर्म नहीं है। अपितु करण है 'अश्व' के साधन से जा रहा है। इसलिये करण-कारक की तृतीया विभक्ति हुई, द्वितीया-चतुर्थी न हुई। 'चेष्टा' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'मनसा हरि व्रजति' यहां गत्यर्थक 'व्रज्' धातु का कर्म जो 'हरि' है उसको मन से प्राप्त कर रहा है। शरीर द्वारा गति नहीं है, अतः चतुर्थी न हुई। द्वितीया तो "कर्मणि द्वितीया" से प्राप्त ही है। 'अनध्वनि' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'पन्थानं गच्छति' यहां गत्यर्थक धातु का कर्म 'अध्वा' है, मार्ग है अतः उसमें चतुर्थी न हुई। द्वितीया तो "कर्मणि द्वितीया" से हो जाती है।

सूत्र में 'अध्वन्' शब्द के स्वरूप का ग्रहण नहीं है बल्कि उसके अर्थ का ग्रहण है। 'अध्व' अर्थ के वाचक, जो मार्ग, पन्था आदि हैं, सबमें चतुर्थी का

---

१. पा० २.३.२।

निषेध हो जाता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो मार्ग आस्थित है, पकड़ा हुआ है, चलने वाला जिस पर चल रहा है, उसी में चतुर्थी का निषेध होता है, सर्वत्र नहीं। जब कुमार्ग को छोड़कर ठीक मार्ग पर चलेगा तब चतुर्थी हो ही जायेगी—'पथे गच्छति।' यहां पकड़े हुए मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग के लिये चल रहा है, अत: चतुर्थी हो गई। यहां 'अनध्वनि' के स्थान में 'असंप्राप्ते' ऐसा न्यास वार्तिककार ने किया है।[1] उससे न केवल आस्थित अध्वा का ही निषेध होगा अपितु जो भी 'असंप्राप्त' है उन सबमें भी चतुर्थी का निषेध हो जायेगा तो 'स्त्रियं गच्छति' यहां स्त्री के प्राप्त होने के कारण चतुर्थी का निषेध होकर द्वितीया ही हो गई। 'अजां नयति ग्रामम्' यहां तो अजा को गांव में पहुंचाता है, ले जाना पहुंचाना है, इसलिये गत्यर्थक 'नी' धातु के न होने से अजा में चतुर्थी न हुई। 'णीञ् प्रापणे' धातु प्राप्त्यर्थक है, गत्यर्थक नहीं है। यह बात दूसरी है कि गति के बिना प्राप्ति नहीं हो सकती तथापि वहां गति उपसर्जन है, प्राप्ति ही मुख्य है। कहीं प्राप्त्युपसर्जन गति भी होती है। जैसे 'डुलभष् प्राप्तौ' यहां 'लभ्' का अर्थ प्राप्ति है, साक्षात् गति नहीं है। लेकिन गति के बिना प्राप्ति के न होने से यहां गति को प्रधान मानकर प्राप्ति को उपसर्जन माना जाता है। जैसे—'न कमलं कमलम्भयदम्भसि०'[2] यहां 'लभ्' धातु को गत्यर्थक मानकर "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०"[3] सूत्र से अण्यन्तावस्था में कर्ता 'किम्' शब्द की ण्यन्तावस्था में कर्म संज्ञा स्वीकार की गई है। कर्म होने से 'केन' की जगह 'कम्' यह द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त की है। 'केन अलम्भयत्' कहा है। किन्तु उसी काव्य में—

---

१. द्र० प्रकृत सूत्र पर वार्तिक—'सिद्धं त्वसम्प्राप्तवचनात्।'
तुलना करो—शा० सू० १.३.१८७—'चेष्टा गत्याप्येऽनाक्रान्ते द्वितीया-चतुर्थ्यौ।' स० सू० ३-१.२४१ गत्यर्थानां चेष्टायामनास्थिताध्वनि वा।'

२. शिशुपाल वध, ६.४८—
'मुखसरोजरुचं मदपाटलामनुचकार चकोरदृशां मतः।
धृतनवातपमुत्सुकतामतो न कमलं कमलम्भयदम्भसि॥'

३. पा० १.४.५२।

"सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन् ।"[1]

यहां 'लभ्' धातु को गत्यर्थक न मानकर 'सितिम्ना लम्भयन्' में 'सितिमा' की कर्मसंज्ञा नहीं मानी है। इसलिये कर्मकारक की द्वितीया विभक्ति का प्रयोग न करके कर्तृकारक की तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया है। वामन के काव्यालङ्कारसूत्र में सूत्र भी है—"लभेर्गत्यर्थत्वात् णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे ।"[2]

विवक्षा भेद से सूत्र का प्रत्याख्यान

'वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन में मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए पूछते हैं—"किमर्थं पुनरिदमुच्यते। चतुर्थी यथा स्यात्। अथ द्वितीया सिद्धा। सिद्धा, कर्मणीत्येव। चतुर्थ्यपि सिद्धा। कथम्-सम्प्रदाने इत्येव। न सिध्यति। कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् इत्युच्यते। क्रियया चासौ ग्राममभिप्रैति। कया क्रियया। गमिक्रियया। क्रियाग्रहणमपि तत्र चोद्यते।"[3]

यहां भाष्यकार का भाव यह है कि इस सूत्र से विहित द्वितीया, चतुर्थी ये दोनों विभक्तियां अन्यथा सिद्ध हैं। इस सूत्र के बनाये बिना भी सिद्ध हो जाती हैं। द्वितीया तो "कर्मणि द्वितीया"[4] से सिद्ध है। 'ग्रामं गच्छति' यहां गमन क्रिया से ग्राम को प्राप्त करता है, अतः ग्राम कर्म है। चतुर्थी भी "कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्"[5] से ग्राम की सम्प्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी सम्प्रदाने"[6] से सिद्ध है। यहां यह कहना कि 'ग्रामाय गच्छति' में गमन क्रिया से ग्राम को उद्देश्य बनाता है। गमन क्रिया तो कर्म नहीं है। कर्मकारक से जिसको उद्देश्य बनाया जाता है, वहां सम्प्रदानसंज्ञा होती है। जैसे—

---

१. शिशुपाल वध, १.२५
'सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन् ।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः ।।'

२. अधिकरण ५, सू० ६, अध्याय २।

३. महा० भा० १, सू० २.३.१२, पृ० ४४८।

४. पा० २.३.२।

५. पा० १.४.३२।

६. पा० २.३.१३।

'उपाध्यायाय गां ददाति' यहां गौ रूप कर्मकारक से उपाध्याय को उद्देश्य बनाया जाता है। 'ग्रामाय गच्छति' में किस कर्मकारक से ग्राम को उद्देश्य बनाया जाता है, किसी से नहीं, केवल गमनक्रिया से ही ग्राम को उद्देश्य या लक्ष्य बनाया जाता है तो उक्त सूत्र से सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त नहीं होती। सम्प्रदानसंज्ञा न होने से चतुर्थी भी नहीं हो सकती तो उत्तर है कि वहां सम्प्रदानसंज्ञाविधायक सूत्र में "कर्मणा यमभिप्रैति०" के साथ "क्रियया यमभिप्रैति०" भी स्वीकार किया गया है। "क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्"[1] इस वचन द्वारा क्रिया से जिसको उद्देश्य बनाया जाये वह भी सम्प्रदान संज्ञक हो जाता है। जैसे 'युद्धाय संनह्यते' (युद्ध के लिये तैयार होता है) यहां संहनन क्रिया का उद्देश्य युद्ध है, अतः युद्ध की सम्प्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हो जाती है उसी प्रकार 'ग्रामायगच्छति' यहां भी गमनक्रिया से ग्राम को उद्देश्य बनाया जाता है अतः सम्प्रदान संज्ञा होकर "चतुर्थी सम्प्रदाने" से ही चतुर्थी सिद्ध हो जायेगी तो यह सूत्र व्यर्थ है। जब द्वितीया, चतुर्थी सिद्ध हो गई तो 'चेष्टायामनध्वनि' ये सब उपाधियां भी स्वतः निरस्त हो जाती हैं।

परन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में भाष्यकार "कर्मणा यमभिप्रैति०" सूत्रस्थ 'क्रिया ग्रहण' के आधार पर प्रकृत सूत्र का खण्डन कैसे कर सकते हैं, क्योंकि वह 'क्रिया' ग्रहण तो वहां प्रत्याख्यात हो चुका है। इस दृष्टि से यद्यपि उस खण्डित क्रिया ग्रहण के आधार पर इस सूत्र का खण्डन सयुक्तिक नहीं है तथापि कैयट ने अभ्युपायान्तर से भी इस सूत्र का खण्डन कर दिखाया है। ऐसी स्थिति में कुछ विद्वानों का यह विचार है कि "कर्मणा यमभिप्रैति०" सूत्रस्थ 'क्रिया' ग्रहण के खण्डन वाला अंश बाद का है।[2]

---

१. महा० भा० १, सू० १.४.३२, पृ० ३३०।

२. इस विषय में द्रष्टव्य, भाष्य (जोशी) अनभिहिताह्निक, इण्ट्रोडक्शन, पृ० xlviii 'But how can Patañjali say this. The fact is that in the discussion on P. 1.4.32 the addition of the word क्रिया i. e. क्रियया, to this rule has been rejected. To remove the apparent contradiction in the Bhāṣya, Kaiyat suggests that the use of dative endings in examples like ग्रामाय गच्छति

countd.

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यकार द्वारा इस सूत्र का प्रत्याख्यान समुचित ही है। "विवक्षाधीनानि

---

contd.

can be established even without the use of the word क्रिया in P. 1.4.32. In his discussion at the end of this rule the भाष्यकार or A भाष्यकार has stated that an action expressed by a verb can be looked upon as the कर्मन् of the supplied verb conveying the sense of सन्दर्शन, प्रार्थने or अध्यवसाय. Accordingly, we can paraphrase the meaning of ग्रामाय गच्छति as ग्रामगमनमध्यवस्यति: he decides to go to the village. Here it becomes clear that one has in view the village through the कर्मन् (the action of going) of the supplied verb अध्यवस्यति।

Therefore, on the basis of this meaning paraphrase, the designation सम्प्रदान can be made available to the item ग्राम and we can add the dative endings by P. 2.3.13 only.

As indicated above, the apparent contradiction in the भाष्य can also by removed by assuming that Bh Nos. 12.14 on P. 1.4. 32 is a latter addition. That is to say, it can be assumed that the author of Bh. Nos. 1-11 on this rule, who adds the word क्रिया to this rule and rejects P. 2.3.12 is not aware of the device of supplying an action as the कर्मन् in connection with the intransitive verb which for the author of the Bh. Nos. 12-14 on P. 1.4.32 forms the ground by which he rejects the addition of the word क्रिया in this rule and by which he accepts P. 2.3.12.

किन्तु इन विद्वानों का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। महाभाष्य के अन्तरङ्ग अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऐसा करना भाष्यकार की अपनी एक विशेष शैली है।

कारकाणि भवन्ति ।''[१] कारकविभक्तियां विवक्षा के अधीन होती हैं। ग्राम में जब कर्म की विवक्षा होगी तो 'ग्रामं गच्छति' यह रूप बन जायेगा। कर्म में द्वितीया होती ही है और जब सम्प्रदान की विवक्षा होगी तो 'ग्रामाय गच्छति' यह रूप बन जायेगा। सम्प्रदान में चतुर्थी प्रसिद्ध ही है। 'युद्धाय संनह्यते', 'पत्ये शेते' इत्यादि की तरह 'ग्रामाय गच्छति' में चतुर्थी सर्वथा उत्पन्न है। यदि यह कहा जाये कि गत्यर्थक धातुओं के कर्म में जहां द्वितीया की अपवाद रूप से बाधक षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है, उसको रोकने के लिये यहां 'द्वितीया' ग्रहण करना आवश्यक है अन्यथा 'चतुर्थी वा' ऐसा ही कह दिया जाता। ''द्वितीयाचतुर्थ्यौ'' कहकर साक्षात् द्वितीया का निर्देश किया है। उससे 'ग्रामं गन्ता' यहाँ तृजन्त 'गन्तृ' शब्द के प्रयोग में ''कर्तृकर्मणोः कृति''[२] से प्राप्त षष्ठी का द्वितीया से बाध हो जाता है तो इसका उत्तर है कि भाष्यकार द्वारा इस सूत्र का प्रत्याख्यान करने से यह बात ज्ञात होती है कि 'ग्रामं गन्ता' में द्वितीया न होकर षष्ठी ही होती है। 'ग्रामस्य गन्ता' यही इष्ट रूप है।[३] 'तृन्' प्रत्यय की बात और है, वहां तो ''नलोकाव्ययनिष्ठा''[४] से षष्ठी का निषेध होकर 'ग्रामं गन्ता' यह द्वितीया होती है। जैसे 'ग्रामं गमी' यहां भविष्यदर्थक 'इनि' के प्रयोग में ''अकेनो-र्भविष्यदाधमर्ण्ययोः''[५] से षष्ठी का निषेध होकर द्वितीया होती है। भाष्यकार प्रदत्त इस उदाहरण में 'गमी' यह गत्यर्थक धातु है। यदि षष्ठी की बाधक यह द्वितीया भाष्यकार को इष्ट होती तो 'गामं गमी' में द्वितीया निर्बाध थी। 'अकेनोर्भविष्यत्०'' सूत्र के तो 'शतं दायी' इत्यादि भी उदाहरण संभव

---

१. तुलना करो — वा० प० साधन समुद्देश, ३.१३३

'भेदाभेदविवक्षा च स्वभावेन व्यवस्थिता।
तस्माद् गत्यर्थकर्मत्वे व्यभिचारो न दृश्यते ॥'

२. पा०।

३. तुलना करो महा० प्र० सू० २.१.२४—'भाष्यकारेण तु गत्यर्थसूत्रस्य प्रत्याख्यानात् कृत्प्रयोगे षष्ठ्येवेष्यते इति तद्दर्शनेन सौत्रः षष्ठी निषेधः।'

४. पा० २.३.६९।

५. पा० २.३.७०।

है जो कि गत्यर्थक नहीं है।[1] इस प्रकार भाष्यकार के मत में प्रकृत सूत्र प्रत्याख्येय ही है। चन्द्रगोमी तथा देवनन्दी भी इसमें सहमत हैं। शाकटायन, भोज तथा हेमचन्द्र इस प्रत्याख्यान से एकमत न होकर इसे आवश्यक ही मानते हैं जो कि ज्यादा सयुक्तिक नहीं जंचता। इस तरह से सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्याय्य है।[2]

वा यौ ॥ २.४.५७॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र द्वितीयाध्याय के आर्धधातुक प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'यु' अर्थात् 'ल्युट्' प्रत्यय परे होने पर 'अज्' धातु को 'वी' आदेश विकल्प से होता है। जैसे—'प्राजनः'। 'प्रवयणः'। प्र पूर्वक 'अज्' धातु से करण कारक में "करणाधिकरणयोश्च"[3] से 'ल्युट्' प्रत्यय होता है। 'यु' को "युवोरनाकौ"[4] से अनादेश हो जाता है, "वा यौ" इस प्रकृत सूत्र से 'अज्' को 'वी' आदेश

---

१. द्र० श० कौ० प्रकृत सूत्र, पृ० २२६-२७—'द्वितीया ग्रहणमपवादविषयेऽपि यथा स्यात् 'तेन कृद्योगलक्षणा षष्ठी न भवति। अन्यथा चतुर्थ्येव ब्रूयादिति वदन् वृत्तिकारो ग्रामं गन्तेति तृजन्तयोगे उदाजहार। इदन्तु भाष्यविरुद्धम्। तथाहि—सन्दर्शनादिभिराप्यमानत्वात्क्रियापि कृत्रिमं कर्मेति क्रिययाभिप्रेयमाणस्य सम्प्रदानत्वं सिद्धम्। सन्दर्शनादीनां गमनस्य च भेदाविवक्षायां तु द्वितीयामपि सिद्धेति सूत्रमिदं प्रत्याख्यातं भाष्ये। एवं हि वदता कृद्योगे षष्ठ्येवेष्यते। अतएव 'अकेनोः' इति सूत्रे ग्रामं गमी इत्युदाहृतं भाष्ये।

२. प्रकृत सूत्र चान्द्र व्याकरण के २.१.७७ सूत्र की वृत्ति में खण्डित किया गया है। जैनेन्द्र व्याकरण में यह सूत्र स्वतन्त्र सूत्र के रूप में न होकर वार्तिक के रूप में मिलता है—'गत्यर्थानां चेष्टायामसम्प्राप्तावुभे'।
शा० सू० १.३.१८७—'चेष्टागत्याप्येऽनाक्रान्ते द्वितीयाचतुर्थ्यौ'।
स० सू० ३.१.२४१—'गत्यर्थानां चेष्टायामनास्थिताध्वनि वा'।
है० सू० २.२.६३—'गतेर्नवानाप्ते'।

३. पा० ३.३.११७।

४. पा० ७.१.१।

विकल्प से हो गया तो 'वी' पक्ष में सार्वधातुक गुण और अयादेश होकर 'प्रवयण:' बन जाता है। 'वी' आदेश के अभाव में 'प्राजन:' रहता है। 'प्रवयण:' में "कृत्यच:"[1] से 'न' को 'ण' होता है। यही इस सूत्र का प्रयोजन है।

अनुवृत्ति द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान न तो साक्षात् रूप से भाष्यकार ने किया है और न ही वार्तिककार ने, इस दृष्टि से यह अस्पष्टलिङ्ग प्रत्याख्यान है। केवल नागेश ने "अजेर्व्यघजपो:"[2] सूत्र के भाष्य में "घञ् अप् क्यप्ग्रहणवत् इदमपि व्यर्थमिति कश्चित्" ऐसा कहकर इसका प्रत्याख्यान सूचित किया है। 'कश्चित्' शब्द से नागेश का अभिप्राय संभवत: स्वयं से है या पदमंजरीकार हरदत्त से अथवा शब्दकौस्तुभकार भट्टोजिदीक्षित से है। कुछ भी हो, इस सूत्र का प्रत्याख्यान उन्होंने स्वीकार किया है। "अजेर्व्यघजपो:" सूत्र में वार्तिककार ने यह वार्तिक पढ़ा है—

"घञपो: प्रतिषेधे क्यप उपसंख्यानम्।"

इसका अर्थ है कि 'अज्' को 'वी' आदेश करने में 'घञ्' और 'अप्' के साथ 'क्यप्' प्रत्यय के निषेध का भी उपसंख्यान करना चाहिये। अर्थात् जैसे 'घञ्' और 'अप्' परे रहते अज् को 'वी' नहीं होता वैसे 'क्यप्' परे होने पर भी नहीं होता, यह कहना चाहिये। 'समज:', 'समाज:', 'समज्या' ये उदाहरण हैं। 'समज:' में सम् पूर्वक 'अज्' धातु से "समुदोरज: पशुषु"[3] से पशुसमुदाय में 'अप्' प्रत्यय होता है। पशुसमुदाय से भिन्न समुदाय में 'समाज:' बनता है। वहां 'अप्' न होकर औत्सर्गिक 'घञ्' प्रत्यय होता है। 'घञ्' के 'ञित्' होने से 'अज्' को उपधावृद्धि हो जाती है 'समज्या' में सम्पूर्वक 'अज्' धातु से "संज्ञायां समजनिषद निपत मन०"[4] इत्यादि सूत्र से 'क्यप्' होता है। तीनों प्रत्ययों के परे रहते 'अज्' को 'वी' आदेश का निषेध हो जाता है जो कि इष्ट है। इस पर भाष्यकार कहते हैं—

---

१. पा० ८.४.२९।
२. पा० २.४.५६।
३. पा० ३.३.६९।
४. पा० ३.३.९८।

"नार्थः उपसंख्यानेन, नापि घञपोः प्रतिषेधेन । इदमस्ति—चक्षिङः ख्याञ् । वा लिटि इति । ततो वक्ष्यामि अजेर्वी भवति वा व्यवस्थित विभाषा चेति । तेनेह च भविष्यति—प्रवेता, प्रवेतुम्, प्रवीतः, संवीतिः इति । इह च न भविष्यति-समाजः, उदाजः, समजः, उदजः, समजनम्, उदजनम् समज्येति । तत्र ायमप्यर्थः इदमपि सिद्धं भवति—प्राजितेति ।"[1]

यहां भाष्यकार का आशय यह है कि न तो 'क्यप्' के उपसंख्यान करने की जरूरत है और न ही 'अघञपोः' कहकर 'घञ्' और 'अप्' का निषेध करने की । "चक्षिङः ख्याञ्"[2] के बाद "वा लिटि"[3] सूत्र है । उसमें 'वा' ग्रहण है । उसकी अनुवृत्ति "अजेर्वी०" इस सूत्र में कर ली जायेगी और उस विकल्प को 'व्यवस्थित विभाषा' मान लिया जायेगा । 'व्यवस्थित विभाषा' का यह अभिप्राय होता है कि अपने अभीष्ट विषय में विकल्प को मानना या न मानना । 'व्यवस्थित विभाषा' से 'प्रवेता', 'प्रवेतुम्', 'प्रवीतः', 'संवीतिः' इत्यादि अभीष्ट आर्धधातुक प्रत्ययों के परे रहते 'अज्' को 'वी' आदेश नित्य हो जायेगा । वहां विकल्प से 'वी' आदेश नहीं माना जायेगा और 'समाजः', 'उदाजः', 'समजः' 'उदजः', 'समज्या' इत्यादि स्थलों में 'अज्' को 'वी' आदेश नहीं माना जायेगा । वहां केवल 'अज्' धातु के ही रूप होंगे । ऐसा मानने पर यह भी लाभ होगा कि 'प्राजिता' यह रूप भी बन जायेगा अर्थात् 'तृच्' के परे होने पर 'वीभाव' नहीं होगा, जोकि 'वा' ग्रहण के बिना नित्य प्राप्त होता है ।[4] यह 'तृच्' प्रत्यय वलादि आर्धधातुक का उपलक्षण होगा । उससे "वलादावार्धधातुके वेष्यते"[5] यह इष्टि सिद्ध हो जायेगी । इसी इष्टि को सिद्ध करने के लिये आगे बहुत सुन्दर एवं रोचक शब्दों में सूत और वैयाकरण का संवाद उपस्थित करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

"किं च भो इष्यते एतद्रूपम् । वाढमिष्यते । एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह—कोऽस्य रथस्य प्रवेता इति । सूत आह आयुष्मन् ! अहमस्य रथस्य

१. महा० भा० १, सू० २.४.५६, पृ० ४८८ ।

२. पा० २.४.५४ ।

३. पा० २.४.५५ ।

४. तुलना करो—स० सू० ६.४.६० 'तृच्योर्वा' । है० सू० ४.४.३ 'तृअने वा' ।

५. वै० सि० कौ० भा० ३, सू० २.४.५६, पृ० १११ ।

प्राजिता इति । वैयाकरण आह अपशब्द इति । सूत आह—प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियो न त्विष्टिज्ञः । इष्यते एतद्रूपम् इति । वैयाकरण आह—अहो खल्वेन दुरुतेन बाध्यामहे इति । सूत आह—न खलु वेञः सूतः । किं तर्हि । सुवतेरेव सूतः । यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम् इति ।"[1]

इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि 'प्रवेता' इस विधि प्राप्त रूप के साथ 'प्राजिता' यह रूप भी विध्यनुमोदित ही है। अर्थात् 'अज्' धातु को 'वी' आदेश वलादि आर्धधातुक में विकल्प से अभीष्ट है। भाष्यकार ने यहां सूत और वैयाकरण का संवाद उपस्थित करके जहां 'प्राजिता' और 'प्रवेता' की गुत्थी सुलझा दी, वहां 'सूत' शब्द की द्वेधा व्युत्पत्ति को भी प्रदर्शित कर दिया है। 'सु+उतः =सूतः' 'सु' पूर्वक 'वेञ्' धातु से 'क्त' प्रत्यय, और 'सू+तः=सूतः' इस प्रकार 'षू प्रेरणे' से 'क्तः' प्रत्यय। सूत ने किस प्रकार अपनी शाब्दिक योग्यता द्वारा वैयाकरण को निगृहीत किया है कि मुझे 'दुरुत' न कहिये, 'दुःसूत' कहिये। क्योंकि आपको मालूम नहीं है कि मैं कैसा 'सूत' हूं। कितना सुन्दर, आनन्दस्यन्दी मधुर आलाप है। अस्तु आगे भाष्यकार कहते हैं—

"न तर्हीदानीमिदं वा यौ इति वक्तव्यम्। वक्तव्यं च। किं प्रयोजनम्। नेयं विभाषा। किं तर्हि। आदेशोऽयं विधीयते वा इत्ययमादेशो भवति अजेर्यौ परतः वायुरिति"[2]।

अर्थात् यदि "अजेर्वी वा" को व्यवस्थित विकल्प मान कर अभीष्ट रूप सिद्ध कर लिया जायेगा तो "वा यौ" इस सूत्र के बनाने की भी कोई आवश्यकता न रहेगी। क्योंकि 'प्राजनः', 'प्रवयणः' यहाँ 'ल्युट्' प्रत्यय परे होने पर भी 'अज्' को 'वी' आदेश व्यवस्थितविभाषा से हो जायेगा। उत्तर में कहते हैं—यद्यपि 'वीभाव' का विकल्प करने के लिये सूत्र की आवश्यकता न रहेगी तो भी सूत्र में 'वा' का अर्थ 'विकल्प' न करके 'वा' आदेश कर लिया जायेगा। उससे 'वायुः' यहाँ 'अज्' धातु से "यजिमनि शुन्धि०"[3] से बाहुलकात् विहित 'युच्' प्रत्यय परे होने पर 'अज्' को 'वा' आदेश सिद्ध हो जाता है। 'वायुः' इस प्रयोग की सिद्धि भाष्यकार ने स्वोपज्ञप्रज्ञा से "वा यौ" इस सूत्र के 'वा' शब्द को 'वा' आदेश मानकर अभ्यूहित की है। कितनी सुन्दर है। इस पर नागेश लिखते हैं—

---

१. महा० भा० १, सू० २.४.५६, पृ० ४८८।

२. वही।

३. उणादि, ३००।

"यदि वातेरुणि वायुः प्रकारान्तरेण सिध्यति तर्हि घम् अप् क्यप् ग्रहण-वदिदमपि व्यर्थमिति कश्चित्"[1]।

अर्थात् 'वायु' शब्द की सिद्धि यदि "कृ वा पा जि मि स्वदि साध्यशूभ्य उण्"[2] इस उणादि सूत्र से 'वा' धातु से 'उण्' प्रत्यय करके युगागम द्वारा प्रकारान्तर से बुद्धिसिद्ध सिद्ध हो जाती है तब उसे 'अज्' धातु के स्थान में 'वा' आदेश मानकर सिद्ध करना अप्रयोजक है। 'वातीति वायुः' इस प्रकार 'वायु' शब्द की सिद्धि 'वा' धातु से अतिप्रसिद्ध है 'अजति क्षिपति इति वायुः' इस प्रकार 'अज्' धातु से बनाने की फिर कोई आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये अन्यथासिद्ध 'वायु' शब्द के साधन के लिये इस सूत्र का बनाना विशेष महत्त्व नहीं रखता। इसका प्रत्याख्यान ही उचित है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यद्यपि उद्द्योतकार ने 'वा यौ' इस सूत्र को केवल 'वायु' शब्द की सिद्धि के लिये अप्रयोजक मान कर खण्डित कर दिया है तथापि भाष्यकार की नवीन कल्पना का आदर करते हुए यह सूत्र रहना ही चाहिये। 'वायु', 'वीणा', 'वेणु' आदि शब्द 'अज्' धातु से भी बन सकते हैं और 'वेन', 'वीणा', 'वेणु', 'वीर' इत्यादि तो उणादि कोष में बनाये भी गये हैं।[3] इसीलिए जैनेन्द्र, भोज तथा हैम व्याकरणों में इस सूत्र की सत्ता को स्वीकार किया गया है।[4] पदमंजरीकार तो सूत्र प्रत्याख्यान को ही उचित मानते हैं। काशिका में "वलादावार्धधातुके विकल्प इष्यते"[5] इस इष्ट को लेकर वे कहते हैं—

---

१. प्रकृत सूत्रस्थ महा० प्र० उ, भा० १, पृ० ८८१।

२. उणादि—१।

३. (क) यथा वेन—'धा पॄ वस्यज्यतिभ्यो नः' उणादि, २८६।

(ख) वेणु 'अजिवृरीभ्यो निच्च'— उणादि, ३१८।

(ग) वीणा—'रास्ना सास्ना स्थूणा वीणाः'—उणादि, २६५।

(घ) वीर—स्फायितञ्चि वञ्चि शकि—'उणादि, १७०।

४. जै० सू० १.४.१२८-१२६— व्यजोऽघञयौ। बहुलं खौ।'

स० स० ६.४.८६-६०—'अजेर्व्यघञ्क्यप्सु। तृग्वो वा।'

है० स० ४.४.२-३—'अघञवयपलच्यजेर्वी। तृ—अने वा।'

५. का० भा० २ सू० २.४.५६, पृ० २६८।

"नार्थोऽनयेष्ट्या । नापि घञपोः प्रतिषेधेन । नापि क्यप उपसंख्यानेन । नापि वायौ इति सूत्रेण । एतावदस्तु—वा लिटि । अजेर्वीत्येव । व्यवस्थित-विभाषेयम् । तेन घञपोः क्यपि नैव भवति । वलादौ यौ च विकल्पः । अन्यत्र नित्यम् । समज्या इत्यत्र संज्ञाग्रहणाद् बीभावाभावः । न ह्यादेशेन संज्ञा गम्यते इति ।"[1]

किन्तु इनका यह मत सर्वग्राह्य नहीं है । अतः सूत्र का प्रत्याख्यान ठीक नहीं है । इसीलिये स्वामी दयानन्द भी अपने अष्टाध्यायी भाष्य में भाष्यकार का ही समर्थन करते हुए कहते हैं—"प्राचीन वृत्त्यनुरोधाज्जयादित्यस्त्वाह-पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते इति । 'जयादित्येनास्य सूत्रस्थायमर्थः कृतः—यौ ल्युटि प्रत्यये अज् धातोर्विकल्पेन वी इत्यादेशो भवति । तत्र रूपद्वयं साधितम् । तदिदं पूर्वसूत्रे विकल्पानुवर्तनेनैव सिद्धम्,' पुनर्महाभाष्यविरुद्ध-त्वाज्जयादित्यस्य व्याख्यानमत्यन्तमसङ्गतम् ।"[2]

ननौ पृष्टप्रतिवचने ॥३.२.१२०॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह लकारार्थप्रक्रिया का सूत्र है । यह भूतकाल में 'लट्' लकार का विधान करता है । इसका अर्थ है कि 'ननु' शब्द उपपद होने पर 'पूछी हुई बात का जबाब देने में' भूतकाल में धातु मात्र से 'लट्' लकार होता हैं । भूतकाल चार प्रकार का है । परोक्ष अनद्यतन भूत, अपरोक्ष अनद्यतनभूत, अनद्यतन भूत और केवल भूत । इनमें परोक्ष अनद्यतन भूत में "लट् स्मे"[3] सूत्र से 'स्म' शब्द उपपद होने पर 'लट्' लकार होता है । अपरोक्ष अनद्यतन भूत में "अपरोक्षे च"[4] सूत्र से 'स्म' शब्द उपपद होने पर 'लट्' लकार होता है । अनद्यतनभूत में "पुलिङ्ग चास्मे"[5] सूत्र से 'लट्' और 'लुङ्' लकार होते हैं । केवल भूत में "ननौ पृष्टप्रतिवचने" तथा 'नन्वोर्विभाषा'[6] इन दोनों

---

१. प० मं०, स० २.४.५६-४७ ।

२. दयानन्दकृतअष्टाध्यायीभाष्य, स० २.४.५७ ।

३. पा० ३.२.११८ ।

४. पा० ३.२.११९ ।

५. पा० ३.२.१२२ ।

६. पा० ३.२.१२१ ।

सूत्रों से क्रमशः 'ननु' एवं 'नु' शब्द उपपद होने पर 'लट्' लकार होता है। इसका उदाहरण जैसे—'अकार्षीः कटं देवदत्त !' (हे देवदत्त ! क्या तुमने कट बना लिया) यह प्रश्न है, जो भूतकालिक है। यह सामान्य भूत है। इसमें परोक्ष, अपरोक्ष, अद्यतन-अनद्यतन का कोई सवाल नहीं। इस सामान्य भूतकालिक प्रश्न का उत्तर देता हुआ देवदत्त कहता है—'ननु करोमि भोः !' (हां, मैं बना रहा हूं) कुछ बना लिया है, कुछ बाकी है। जो कट बना लिया है, वह भूतकाल का विषय है। उसमें इस सूत्र से 'लट्' लकार हो जाता है। 'अकार्षम्' की जगह यहां 'करोमि' यह लट् लकार हुआ है। सूत्र में 'पृष्ट' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि पूछे गये प्रश्न का प्रत्युत्तर देने में ही 'लट्' लकार हो। 'प्रतिवचन' शब्द का प्रतिकूल वचन अर्थ भी संभव है, उसकी व्यावृत्ति के लिये यहां 'पृष्ट' ग्रहण किया है जिससे प्रत्युत्तर अर्थ स्पष्ट हो जाये[1]।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का खण्डन करते हुए कहते हैं—"ननौ पृष्ट-प्रतिवचनं इत्यशिष्यं क्रियाऽसमाप्तेर्विवक्षितत्वात्। ननौ पृष्टप्रतिवचनेऽइत्य-शिष्यो लट्। किं कारणम्। क्रियाऽसमाप्तेर्विवक्षितत्वात्' क्रियाया अत्र असमाप्तिर्विवक्षिता। एष नामन्याय्यो वर्तमानः कालो यत्र क्रियाया असमाप्ति-र्भवति। तत्र वर्तमाने लट् इत्येव सिद्धम्। यदि वर्तमाने लट् इत्येव लङ् भवति शतृशानचौ प्राप्नुतः। इष्येते शतृशानचौ। ननु मां कुर्वन्तं पश्य। ननु मां कुर्वाणं पश्येति।"[2]

भाव स्पष्ट है कि "ननौ पृष्टप्रतिवचने" इस सूत्र की आवश्यकता नहीं। क्योंकि 'ननु करोमि भोः' इस प्रत्युत्तर से मालूम होता है कि अभी कट करने की क्रिया पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। कट कर ही रहा है कुछ कर चुका है, कुछ अभी करना बाकी है—यह वर्तमान क्रिया का विषय बन जाता

---

१. तुलना करो—शा० स० ४.३.२१६—'ननौ पृष्टोक्तौ।
है० स० ५.१.१७—'ननौ पृष्टोक्तौ सद्वत्।'
प्रतिवचन' शब्द में सन्देह होने से यहां स्पष्ट ही उक्त शब्द का प्रयोग किया गया है।

२. महा० भा० २, स० ३.२.१२०, पृ० १२२।

है। "प्रारब्धापरिसमाप्तत्वं वर्तमानत्वम्।[1] जो क्रिया आरम्भ करके अभी समाप्त नहीं हुई है वह वर्तमान ही समझी जायेगी। वर्तमान काल का यही न्याय्य एवं समुचित लक्षण है कि जहाँ क्रिया की समाप्ति न हुई हो, वहां उस क्रिया के अतीत क्षण भी वर्तमान काल में ही सम्मिलित समझे जाते हैं इसलिये यहां 'वर्तमाने लट्'[2] सूत्र से ही 'लट्' लकारसिद्ध हो सकता है। इस सूत्र से 'लट् विधान' की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि यह कहा जाये कि इसे वर्तमान काल मानकर यदि "वर्तमाने लट्" से ही 'लट्' लकार की सिद्धि हो जाती है तब तो वर्तमान काल में होने वाले 'शतृ-शानच्' प्रत्यय भी प्राप्त होंगे तो उत्तर है कि 'शतृ शानच्' इष्ट ही हैं। 'ननु करोमि' की तरह 'ननु कुर्वन्तं कुर्वाणं वा मां पश्य' यह प्रयोग होता ही है। इसी प्रकार भूतकाल में भी वर्तमान की विवक्षा करके इस सूत्र का खण्डन हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भूतकालिक प्रश्न का उत्तर देने में 'ननु' शब्द के उपपद होने पर जो 'लट्' लकार इस सूत्र से विधान किया है, उसका भाष्यवार्तिककार के द्वारा प्रत्याख्यान करना ठीक ही है। जिस क्रिया में यत्किंचित् भी वर्तमानता की गन्ध हो, वहां वर्तमान में सामान्य विहित 'लट्' लकार हो ही जायेगा। इस सूत्र से अलग विधान करना व्यर्थ है। कैयट लिखते हैं—

"निवृत्तायामपि पाकादिक्रियायां तत्कृतस्य श्रमादेरनुवर्तनात् तस्या एवासमाप्तिविवक्षायां लट् सिद्ध इत्यर्थः।"[3]

'ननु पचामि भोः'। यहां पाक क्रिया के निवृत्त हो जाने पर भी, जो उस क्रिया के करने में श्रम हुआ है, उसकी अनुवृत्ति अभी तक चल रही है, इसलिये वह क्रिया भूत होने पर भी वर्तमान की लपेट में आ जाती है। अतः वर्तमान की विवक्षा करके 'लट्' लकार अन्यथा सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र द्वारा भूतकाल में 'लट्' मानने पर यह कमी भी रह जाती है कि वर्तमान काल में 'शतृ-शानच्' प्रत्यय नहीं प्राप्त होंगे। वह न्यूनता भी

---

१. तुलना करो—'वर्तमानकालत्वं प्रारब्धापरिसमाप्तक्रियोपलक्षितत्वम्'—परमलघुमंजूषा, लकारार्थ निर्णय, पृ० २४८।

२. पा० ३.२.१२३.

३. महा० प्र० भा० ३, सू० ३.२.१२० पृ० २७८।

वर्तमान की विवक्षा से दूर हो जाती है। सब विवक्षा और आरोप का खेल है। भूत में वर्तमान का आरोप या विवक्षा करके 'लट्' सिद्ध हो जाता है। यह सूत्र सामान्य भूतकाल में 'लुङ्' को बाधने के लिये तथा परोक्ष अनद्यतन भूतकाल में 'लङ्', 'लिट्' को बांधने के लिये बनाया गया है। जब भूतकाल में वर्तमान का आरोप करके वर्तमान-काल कहना अभीष्ट होगा तब 'लट्' के सिद्ध हो जाने पर यह सूत्र अकिंचित्कर है। जैसे "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा"[1] सूत्र द्वारा भूत-भविष्यत्कालों में भी वर्तमान की विवक्षा करके वर्तमानवत् प्रत्ययों का विधान युक्तिसंगत है, वैसे यहां भी भूत में वर्तमान की सत्ता मानकर इसका खण्डन करना युक्तिसंगत ही है। इसीलिए आचार्य चन्द्रगोमिन् तथा देवनन्दी ने प्रकृत सूत्र को अपने-अपने व्याकरणों में नहीं रखा है। किन्तु शाकटयन, भोज तथा हेमचन्द्र ने इसे यथास्थान पढ़ा है। अतः उनकी दृष्टि में यह सूत्र प्रत्याख्येय प्रतीत नहीं होता जो कि स्फुट बोध की दृष्टि से भी युक्तिसंगत नहीं जंचता।[2]

गर्हायां लडपिजात्वोः ॥३.३.१४२॥

सूत्र की सप्रयोजना स्थापना

'गर्हा' का अर्थ निन्दा या कुत्सा है। 'गर्हा' गम्यमान होने पर 'अपि' और 'जातु' शब्द उपपद होने पर धातु मात्र से 'लट्' प्रत्यय होता है। यह सूत्र उक्त विषय में भूत-भविष्यत्-वर्तमान तीनों कालों में 'लट्' का विधान करता है। यद्यपि वर्तमान काल में तो "वर्तमाने लट्"[3] यह 'लट्विधायक' सामान्य सूत्र प्रसिद्ध ही है। भूतकाल में 'लट्स्मे', 'अपरोक्षे च'[4] इत्यादि सूत्रों से 'लट्' का विधान है। भविष्यत्काल में भी 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्'[5] सूत्र से 'लट्' का

१. पा० ३.३.१३१।
२. शा० सू० ४.३.२१६—'ननौ पृष्टोक्तौ।'
स० सू० १.४.१६२—'ननौ पृष्टप्रतिवचने।'
है० सू० ५.१.१७—'ननौ पृष्टोक्तौ सद्वत्।'
३. पा० ३.२.१२३।
४. पा० ३.२.११८, ११९।
५. पा० ३.३.४।

का विधान किया गया है। 'पुरा पठति' (निकट भविष्य में पढ़ेगा) तो भी यह सूत्र 'गर्हारूप' अर्थविशेष में तीनों कालों के लिये सामान्य 'लट्' का विधान करता है। जैसे—'अपि तत्रभवान् वृषलं याजयति'। 'जातु तत्रभवान् वृषलं याजयति'। 'गर्हामहे'। अहो, अन्याय्यमेतत्' (क्या आप वृषल का यज्ञ कराते हैं या कराते रहे हैं। कभी आपने वृषल का यज्ञ कराया या कराते हो या कराओगे)। काल सामान्य में 'यज्' धातु से 'लट्' लकार हो जाता है। वृषल याजन का शास्त्र में निषेध है। निषिद्धाचरण से निन्दा गम्यमान होती है। यह बहुत बुरी बात है। अन्याय्य है। अयुक्त है इससे आपकी निन्दा हो रही है फिर भी आप 'अयाज्ययाजन' करते ही चले आ रहे हैं।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं—"गर्हायां लड्विधानानर्थक्यं क्रियाऽसमाप्तिविवक्षितत्वात्। गर्हायां लड्विधिरनर्थकः। किं कारणम्। क्रियाया अत्र असमाप्तिर् गम्यते। एष च नाम न्याय्यो वर्तमानं कालो यत्र क्रिया अपरिसमाप्ता भवति। तत्र वर्तमाने लट् इत्येव सिद्धम्। यदि वर्तमाने लट् इत्येवमत्र लङ् भवति, शतृशानचावपि तर्हि प्राप्नुतः। इष्येते च शतृशानचौ। अपि मां याजयन्तं पश्य। अपि मां याजयमानं पश्येति।"[1]

इसका भाव यह है कि 'गर्हा' विषय में इस सूत्र से 'लट्विधान' अनर्थक है क्योंकि यहां क्रिया की असमाप्ति गम्यमान है। याजन क्रिया सर्वथा समाप्त नहीं हुई है। मौके-बेमौके वह वृषल का यज्ञ कराता ही रहता है। उसका स्वभाव ही हो गया है कि वह इस गर्हित कर्म को करता रहे। इस प्रकार वृषलयाजन की क्रिया का अत्यन्त उच्छेद या परिसमाप्ति नहीं हो रही है और जब तक क्रिया चालू या जारी रहे, तब तक बीच में रुकावट आने पर भी वह वर्तमान काल ही रहता है। ऐसी अवस्था में "वर्तमाने लट्"[2] से ही 'लट्' लकार सिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र अनर्थक है, अनावश्यक है। यहां यह कहना ठीक नहीं कि वर्तमान काल मानकर यदि "वर्तमाने लट्" से 'लट्' किया जायेगा तो वर्तमानकाल में विहित 'लट्' के स्थान में "लटः शतृशानचौ"[3] से 'शतृ-शानच्' प्रत्यय भी प्राप्त होंगे। क्योंकि 'लट्'

---

१. महा० भा० २, सू० ३.३.१४२, पृ० १६३।

२. पा० ३. २.१२३।

३. पा० ३.२.१२४।

की तरह 'शतृ-शानच्' यहां इष्ट हैं। 'अपि मां याजयन्तं याजयमानं वा पश्य' ये 'शतृ-शानच्' वाले प्रयोग न्याय्य हैं।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

इस प्रकार 'लट्' को अन्यथा सिद्ध करके इस सूत्र का प्रत्याख्यान दोनों आचार्यों ने मिलकर कर दिया है। प्रदीपकार भी लिखते हैं—"तौ च (शतृ शानचौ) सूत्रारम्भे सति अवर्तमानविहितत्वात् लटो न प्राप्नुत. इति दोषवानेव सूत्रारम्भः इत्यर्थ.'।[1] अर्थात् 'शतृ-शानच्' की सिद्धि के लिये लट् का वर्तमान काल में विहित होना आवश्यक है। वह इस सूत्र से विहित 'लट्' में संभव नहीं है क्योंकि यह तो काल सामान्य में विधान किया गया है। अतः इसका प्रत्याख्यान ही न्यायसंगत है। "ननौ पृष्टप्रतिवचने"[2] इस पूर्व सूत्र के प्रत्याख्यान के साथ इसके प्रत्याख्यान की तुलना करने पर भी उक्त निष्कर्ष ही निकलता है। इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरणों में चन्द्रगोमी तो उस प्रत्याख्यान से सहमत हैं किन्तु देवनन्दी तथा शाकटायनादि उसकी सत्ता को स्वीकार करते हैं[3] जो लाघव की दृष्टि से अनावश्यक ही लगती है।

धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः ॥३.४.१॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

सूत्र में 'धातु' शब्द 'धात्वर्थ' में लाक्षणिक है। 'धात्वर्थ' को उपचार से 'धातु' कह दिया गया है। 'धातुसम्बन्धे' का अर्थ 'धात्वर्थसम्बन्धे' समझना चाहिये।[4] 'धात्वर्थ' 'क्रिया' को कहते हैं क्योंकि 'क्रिया' ही धातु का अर्थ होती है।[5] सम्बन्ध धात्वर्थ में ही संभव हैं, शब्द रूप धातु में सम्बन्ध का

---

१. महा० प्र० सू० ३.३.१४२ भा० ३. पृ० ३५८।

२. पा० ३.२.१२०।

३. जै० सू० २.३.११८—'लङ् गर्हेऽपिजात्वोः।'
शा० सू० ४.४.११०—'गर्हे अपिजात्वोर्लट्।'
स० सू० २.४.२००—'गर्हायां लडपिजात्वोः।'
है० सू० ५.४.१२—'क्षेपेऽपिजात्वोर्वमाना'।

४. द्र० का० सू० ३.४.१ भा० ३, पृ० १४०—'धात्वर्थे धातुशब्दः।'

५. द्र० महा० भा० १, सू० १.३.१, पृ० २५८—क्रिया वचनो धातुः।'

संभव नहीं है। अतः 'धातुसम्बन्ध' का अर्थ यहां 'धात्वर्थ सम्बन्ध' के उभयनिष्ठ होने से 'धात्वोः (धात्वर्थयोः) सम्बन्धे धातुसम्बन्धे' इस प्रकार द्विवचनान्त का विग्रह होकर षष्ठी समास होता है।[1]

"वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा"[2] सूत्र से लेकर "लिङर्थे लेट्"[3] तक ये सब सूत्र लकारार्थ प्रक्रिया के हैं। इनमें लकारों का विधान अर्थवैशिष्ट्य को प्रकट करने के लिये काल विशेषों में किया गया है। यह सूत्र भी उसी प्रकरण के अन्तर्गत आता है। इसका अर्थ है कि 'प्रत्ययाः धातु सम्बन्धे (धात्वर्थसम्बन्धे) भवन्ति' अर्थात् जितने भी प्रत्यय हैं उनमें लकार भी आ गये, वे सब धात्वर्थों के परस्पर सम्बन्ध में होते हैं। दो धात्वर्थों में, जो मुख्य धात्वर्थ है, उसमें विहित प्रत्यय का जो काल है, वही काल अमुख्य धात्वर्थ में विहित प्रत्ययों का भी समझा जायेगा। जैसे—अग्निष्टोमयाजी अस्य पुत्रो जनिता' इसके घर में अग्निष्टोम (यज्ञ करने वाला पुत्र पैदा होगा)। यहां 'जनिता' यह 'जन्' धातु से अनद्यतन भविष्यत् अर्थ में 'लुट्' लकार का प्रयोग है इसका भविष्यत्काल अर्थ है। "अग्निष्टोमयाजी में 'यज्' धातु से "करणे यजः"[4] से भूतकाल में 'णिनि' प्रत्यय होता है। 'अग्निष्टोमेन इष्टवान् इति अग्निष्टोमयाजी' (जो अग्निष्टोम यज्ञ कर चुका है) ऐसा पुत्र पैदा होगा, भला यह कैसे हो सकता है वह पैदा होने से पहले ही कब यज्ञ कर चुका है वह तो आगे यज्ञ करेगा। तब उसके लिये 'पैदा होगा' यह कहना नहीं बनता। भूत और भविष्यत् का परस्पर विरोध है। इस सूत्र द्वारा भूतकाल और भविष्यत्काल का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके 'अग्निष्टोमयज्ञ करने वाला पुत्र पैदा होगा' यह अर्थ होता है जो कि संगत है। यहां भविष्यत् काल वाली 'जनिता' इस क्रिया के विधेय होने से प्रधानता है। अर्थात् 'पैदा होगा' यह अर्थ प्रधान है, मुख्य है, विशेष्य है। 'अग्निष्टोमयाजी' में जो भूतकालिक 'णिनि' प्रत्यय है, वह विधेय न होने से अप्रधान है, अमुख्य है अतएव विशेषण

---

१. "अभेदैकत्वसंख्याया वृत्तौ मानमिति" (वैयाकरणभूषणसार ५६ कारिका) इस नियम का यहाँ 'सम्बन्ध' ग्रहण के सामर्थ्य से बाध हो जाता है।

२. पा० ३.३.१३१।

३. पा० ३.४.७।

४. पा० ३.२.८५।

है। भविष्यत्काल वाली 'जनिता' क्रिया की प्रधानता से भूतकाल वाली यजनक्रिया इस सूत्र के विधान से परस्पर सम्बद्ध होकर भविष्यत्काल वाली बन जायेगी तो अग्निष्टोमयज्ञ करने वाला पुत्र पैदा होगा, यह अर्थ संगत हो जाता है। दोनों धात्वर्थों में विशेषण-विशेष्यभाव से परस्पर सम्बन्ध होकर मुख्य धात्वर्थ की प्रधानता से शब्दबोध ठीक हो जाता है। इसी प्रकार 'कृतः कटः श्वो भविता' (कट या चटाई कल बन जायेगी, बनी हुई मिल जायेगी) यहाँ भी 'भविता' इस भविष्यत्काल के सम्बन्ध से 'कृतः' यह भूतकालिक क्रिया भविष्यत् काल की बन जायेगी। विशेष्य क्रिया के प्रति विशेषण क्रिया के गौण होने से विपर्यय नहीं होगा। जो मुख्य, क्रिया है, उसी का काल गौण क्रिया को लेना होगा। गौण क्रिया का काल मुख्य क्रिया के काल को ग्रहण नहीं करेगा। यद्यपि दोनों क्रिया में परस्पर सम्बन्ध हैं।

सूत्र में 'प्रत्यय' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि प्रत्ययमात्र धात्वर्थ के सम्बन्ध में हों। जो प्रत्यय धातु से भिन्न प्रातिपदिक से विहित हैं वे भी धात्वर्थ सम्बन्ध में ही होवें। जैसे—'गोमान् आसीत्'। 'गोमान् भविता' (विद्यमान गौ वाला था होगा) यहां 'गावः सन्ति यस्य स गोमान्' गो शब्द से वर्तमान काल में 'मतुप्' प्रत्यय हुआ है। वह धातु से विहित नहीं है। फिर भी उसकी 'अस्ति' क्रिया का, जो वर्तमानकाल की है, 'आसीत्' और 'भविता' इन भूत-भविष्यत् कालवाली क्रियाओं से सम्बन्ध हो जाता है। भूत-भविष्यत् काल की क्रियाओं के विधेय होने से प्रधानता है। अतः 'गोमान्' की वर्तमानकालिक क्रिया भूत-भविष्यत्काल वाली बन जाती है। अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—'वसन् ददर्श।'[1] "साटोपमुर्वीमनिशं नदन्तो ये प्लावमिष्यन्ति समन्ततोऽमी"[2] 'भाविकृत्यमासीत्" इत्यादि में दो धात्वों का परस्पर गुणप्रधानभाव से सम्बन्ध है। 'वसन्' यह वर्तमानकाल की क्रिया 'ददर्श' इस भूतकाल की क्रिया से सम्बद्ध होकर भूतकाल की बन जाती है। 'रहता हुआ देखना था।' यहां 'देखना' प्रधान है। 'रहना' गौण होने से 'देखना' क्रिया के काल में समाविष्ट हो जाता है।

---

१. शिशुपाल वध, १.१—
"श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन् ददर्शावतरन्तमम्बरात् हिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः॥"

२. वही ३.७४।

'नन्दतः प्लावमिष्यन्ति' (नाद करते हुए भूमि को बहा देंगे, नष्ट कर देंगे) यहां वर्तमान कालिक नदनक्रिया भविष्यत्कालिक प्लावनक्रिया से सम्बद्ध होकर भविष्यत् काल की बन जाती है। इस प्रकार प्रत्ययमात्र का अपने-अपने धात्वर्थों से परस्पर सम्बन्ध होना इस सूत्र का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है।[1]

स्वतःगम्यमानता या लोकव्यवहार द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—'धातुसम्बन्धे प्रत्ययानां यथाकालविधानात् सिद्धम्। यथाकालविहिता एवैते प्रत्ययाः स्वेषु स्वेषु कालेषु प्रयुज्यन्ते। उपपदस्य तु कालान्यत्वम्। वाक्यमेवैतदेवंजातीयकं प्रयुज्यते। अग्निष्टोमयाजीत्येतत् तस्मिन् भविता। कस्मिन्? योऽस्य पुत्रो जनिता। कदा? यदानेनाग्निष्टोमेनेष्टं भवति।"[2]

यहां भाष्यकार का तात्पर्य है कि सभी प्रत्यय अपने-अपने काल में विहित हैं। जो दो धात्वर्थ भिन्न-भिन्न काल के उपस्थित होते हैं अर्थात् वाक्यार्थ-बोध का अवसर आता है, तब कालभिन्नता की प्रतीति होती है। वह तो इस सूत्र के बनाये बिना भी रहती ही है। 'अग्निष्टोमयाजी' में भूतकाल में ही 'णिनि' प्रत्यय होता है। वह इस प्रकृत सूत्र के वचन से वर्तमान या भविष्यत् में कैसे हो सकता है। परस्पर सम्बन्ध में भी दोनों धात्वर्थों या प्रत्ययों का काल कैसे बदल जायेगा। 'जनिता' इस क्रिया के लगने पर भूत-कालिक यजन का भावी व्यपदेश हो जाता है। 'वह पुत्र पैदा होगा जिसने अग्निष्टोम यज्ञ किया है'। जैसे 'अस्य सूत्रस्य शाटकं वय' है। (इस कपड़े की धोती बुनो) ऐसा सुनने पर बुनने वाला सोचता है कि "यदि शाटको, न वातव्यः। अथ वातव्यो, न शाटकः। शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम्।

---

१. तुलना करो—काव्यप्रकाश सातवां समुल्लास--
'गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारेहि तथा भूयसि वर्तते॥'
वा० प० साधनसमुद्देश, ८१—
'प्रधानेतरयोर्यत्र द्रव्यस्य क्रिययोः पृथक्।
प्रधानविषया शक्तिः शब्देन प्रतिपाद्यते॥'

२. महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० १६८।

स पश्यति—भाविनी खल्वस्य संज्ञाभिप्रेता। मन्ये, स वातव्यो, यस्मिन्नुते शाटक इत्येतद् भवति"[1] अर्थात् यदि पहले से धोती है तो क्या बुनना और बुनना है तो धोती नहीं है। हमें यह ज्ञात ही नहीं कि धोती क्या होती है। अन्त में बहुत विचार के बाद वह कहता है कि धोती बुनवाने वाले को भावी संज्ञा अभिप्रेत है। यानि इस कपड़े को ऐसे बुनो कि जिसके बुने जाने पर लोग इसे धोती कहने लगें। वही बात यहां पर भी है। 'अग्निष्टोमयाजी' में 'णिनि' प्रत्यय के भूतकाल में मानने पर भी इसका भावी व्यपदेश हो सकता है। इसके घर में वह पुत्र होगा जिसको लोग 'अग्निष्टोमयाजी' कहेंगे। जिसने 'अग्निष्टोम' यज्ञ कर लिया है, इस व्यपदेश को वह पुत्र प्राप्त करेगा।

इस प्रकार सभी प्रत्ययों को अपने-अपने काल में हुआ मान लेना चाहिये। किसी का काल नहीं बदलना चाहिये, वाक्यार्थबोध का, जो अभ्युपाय अभी कहा है, उसमें कहीं विसङ्गति नहीं होगी। 'किया हुआ कट कल होगा' अर्थात् कल बना हुआ कट मिल जायेगा, यह 'कृतः कटः श्वो भविता' का वाक्यार्थ है, जो अत्यन्त स्पष्ट है। यहां 'कृतः' के भूतकाल को 'भविता' के भविष्यत् काल में बदलने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'भाविकृत्यमासीत्' (यह काम भविष्य में किया जाने वाला था) यहां 'भावी' को आसीत्' इस भूतकाल में बदलने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि भाषा के प्रयोग की शैली विचित्र है। 'भाविकृत्यमस्ति', 'भाविकृत्यमासीत्', 'भाविकृत्यं भविष्यति' ये तीनों कालों के प्रयोग होते हैं। 'भविष्य में किया जाने वाला था', 'किया जाने वाला था', 'किया जाने वाला होगा'। प्रधान क्रिया के साथ जो उपपद अर्थात् विशेषण-भूत गौण क्रिया के काल की भिन्नता है, वह इस प्रकार वाक्यार्थबोध से दूर हो जाती है। उसके लिए इस सूत्र द्वारा काल परिवर्तन करना अनावश्यक है। इसलिए सूत्र व्यर्थ है। इस विषय में चन्द्रगोमी तथा शाकटायन भी भाष्यकार से सहमत हैं।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यवार्तिककार द्वारा इस सूत्र का प्रत्याख्यान भी न्याय्य ही है। भाषा की प्रयोगशैली को समझते हुए प्रत्ययों के काल बदलने की आवश्यकता नहीं है। कैयट भी लिखते हैं—

---

१. द्र० महा० भा० १, म० १.१.४५, पृ० ११२।

"अवश्यं च स्वकाले एव प्रत्ययविधिरेष्टव्यः। अन्यथा भाविकृत्यमासीत् इत्यत्र भाविशब्दस्य भूतकालत्वे भावीआसीत्शब्दयोः पर्यायत्वात् युगपत् प्रयोगो न स्यात्।"[१]

यहां 'भावी' आसीत्' यह उपलक्षण है। 'भावि अस्ति,' 'भावि भविष्यति' इनमें भी 'भू' और 'अस्' इन दोनों धातुओं का युगपत् प्रयोग न बन सकेगा। इसलिये 'भावि' यह भविष्यत् काल है। क्योंकि भविष्यत्काल में 'भविष्यति गम्यादयः'[२] से 'णिनि' प्रत्यय हुआ है। 'अस्ति' वर्तमानकाल है। 'होने वाला है' यह अर्थ है। 'होने वाला था' यहां भी 'आसीत्' यह भूतकाल है। 'भावी तो भविष्यत् ही है। 'भावि भविष्यति' (होने वाला होगा) यहां दोनों ही भविष्यत् काल हैं। 'वसन् ददर्श' में भूतकालिक वास क्रिया में वर्तमान काल का आरोप करके 'शतृ' प्रत्यय वर्तमान काल में ही होता है। 'उत्पततैव वचनलोपं चोदिताः स्मः' इस 'सरूपसूत्रस्थ' भाष्य प्रयोग में भी 'उत्पतता' में वर्तमानकाल में ही 'शतृ' प्रत्यय एष्टव्य है, भूतकाल में नहीं। 'चोदितः' तो कर्मवाच्य में भूतकाल ही है।

किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में भट्टोजिदीक्षित की दृष्टि में तो प्रकृत सूत्र रहना ही चाहिये। इसीलिए एतत्प्रणीत प्रौढमनोरमा के मर्मज्ञ, सारग्राही विद्वान् तत्त्वबोधिनीकार भी इस सूत्र का समर्थन करते हुए कहते हैं—

"वसन् ददर्श इत्यादौ भूते लक्षणया यथायथं लडादि स्वीकर्तव्यः। 'सोमयाजी अस्य पुत्रो जनिता' इत्यत्र तु भूते एव णिनि प्रत्यये जातेऽपि जनितेति लुडन्तसमभिव्याहारे सति सोमयाजीति व्यवहरिष्यमाणः इत्यध्याहारेण णिनेः भविष्यदर्थे लक्षणया वा प्रयोगो भवेदिति किमनेन सूत्रेणेति चेत्, अत्राहुः —अध्याहारलक्षणाप्रयुक्तक्लेशं विनैव प्रायशो निर्वाहार्थः सूत्रारम्भः। न हि भाविकृत्यमासीत् इत्यादौ क्वचिदध्याहारादिकमगत्या भवतीति सर्वत्र तत् स्वीकर्तुमुचितमिति।"[३]

भाव यह है कि 'सोमयाजी' इत्यादि में 'व्यवहरिष्यमाणः' इत्यादि अध्याहार और लक्षणा के क्लेश से बचने के लिये इस सूत्र का आरम्भ है।

---

१. महा० प्र० सू० ३.४.१, भा० ३, पृ० ३६८।
२. पा० ३.३.३।
१. त० बो० सूत्र ३.४.१।

'भाविकृत्यमासीत्' इत्यादि में यदि 'अगतिकगति' होने से अध्याहार करना पड़ता है तो यह आवश्यक नहीं कि सर्वत्र अध्याहार करके ही काम चलाया जाये। इसलिए 'सोमयाजी अस्य पुत्रो जनिता' में भविष्यदर्थ में 'णिनि' प्रत्यय को मानने के लिये यह सूत्र बनाना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में निष्कर्ष रूप से यही मानना उचित है कि अध्याहार तथा लक्षणा आदि के क्लेशों से बचने के लिए स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ प्रकृत सूत्र रहना ही चाहिये। इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरणों ने इस सूत्र का अनुमोदन किया है।[1]

यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन् ॥३.४.४॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र क्रियासमभिहार विषय में "क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च त ध्वमोः"[2] इस पूर्व सूत्र से विहित 'लोट्' प्रत्यय के विधान में 'यथा-विधि' अनुप्रयोग करता है। जिस धातु से 'लोट्' हुआ है उसी का 'लोट्' के बाद अनुप्रयोग हो, अन्य किसी धातु का न हो, यह कहता है। धातु सम्बन्ध में 'लोट्' का विधान होने से उसके बाद किसी न किसी धातु का अनुप्रयोग तो होना ही है। वह किसी अन्य धातु का न होकर उसी का हो जिससे 'लोट्' हुआ है। इसी का नाम यथाविधि अनुप्रयोग है। जैसे— 'याहि याहि इति याति।' 'याहि याहि इति यातः'। 'याहि याहि इति यान्ति'। यहां 'या' धातु से क्रियासमभिहार अर्थ में "क्रियासमभिहारे०" इस पूर्व सूत्र से 'लोट्' लकार होकर उसके स्थान में 'हि' आदेश हो जाता है। "क्रियासमभिहारे द्वे भवतः"[3] से द्वित्व होकर "याहि याहि' बन जाता है। 'याहि याहि' इस लोडन्त के बाद इस सूत्र के वचन से 'याति' यह यथाविधि 'या' धातु का ही अनुप्रयोग होता है। उसके पर्यायवाची 'व्रजति', 'गच्छति' इत्यादि का नहीं।

---

१. जै० सू० २.४.१—'घुयोगे त्याः।'
स० सू० २.४.२२४—'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः।'
है० सू० ५.३.४१—'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः।'

२. पा० ३.४.२।

३. पा० ८.१.१२ पर वार्तिक।

इसी प्रकार 'अधीष्व अधीष्व इति अधीते' यहां 'अधि' पूर्वक 'इङ्' धातु से क्रिया समभिहार अर्थ में 'लोट्' होकर 'स्व' आदेश हो जाता है। 'क्रिया समभिहारे द्वे भवतः' से द्वित्व होकर 'अधीष्व अधीष्व' यह लोडन्त बन जाता है। इस सूत्र से लोडन्त के बाद 'अधीते' यह 'अधि' पूर्वक 'इङ्' धातु का ही यथाविधि अनुप्रयोग होता है। उसके पर्यायवाची 'पठति' आदि का नहीं। 'लुनीहि लुनीहि इति लुनीते' यहाँ भी 'लू' धातु से क्रिया समभिहार में 'लोट्' होकर उसके स्थान में 'हि' आदेश हो जाता है। "क्रियादिभ्यः श्ना"[1] से 'श्ना' विकरण तथा 'ईहल्यघोः'[2] से ईत्व होकर 'लुनीहि' बनता है। उसे क्रियासमभिहार में द्वित्व होकर 'लुनीहि लुनीहि' हो जाता है। 'लुनीहि लुनीहि' इस लोडन्त के बाद लुनीते' यह 'लू' धातु का ही इस सूत्र से अनुप्रयोग होता है। उसके पर्यायवाची 'छिनत्ति', 'वृश्चति' इत्यादि का नहीं यह इस सूत्र का प्रयोजन है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के खण्डन-मण्डन में वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। इसलिए केवल भाष्यकार ही उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए पूछते हैं—"किमर्थमिदमुच्यते। अनुप्रयोगो यथा स्यात्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। हिस्वान्तमव्यक्तपदार्थकम्, तेनापरिसमाप्तोऽर्थ इति कृत्वा अनुप्रयोगो भविष्यति। इदं तर्हि प्रयोजनम्—यथाविधीति वक्ष्यामि। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। समुच्चये सामान्यवचनस्य इति वक्ष्यति। तत्रान्तरेण वचनं यथाविध्यनुप्रयोगो भविष्यति'[3]।

इसका भाव यह है कि यह सूत्र क्यों बनाया है, धातु सम्बन्ध में धातु का अनुप्रयोग करने के लिये। यह कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि 'लुनीहि', 'याहि', 'अधीष्व' इत्यादि 'हिस्व' प्रत्ययान्त लोडन्त शब्दों से पूरी तरह धात्वर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। उससे अर्थावबोध अधूरा रहता है। इसलिये अर्थ को पूर्ण स्पष्ट करने के लिये यह लोडन्त के बाद यथाविधि धातु का अनुप्रयोग विधान किया है जिससे उसी धातु का अनुप्रयोग हो जिससे 'लोट्' किया गया है, अन्य का अनुप्रयोग न हो, इसलिये यह सूत्र बनाया

---

१. पा० ३.१.८१।

२. पा० ६.४.११३।

३। महा० भा० २, सू० ३.४.४, पृ० १७०।

है। किन्तु यह कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि इस सूत्र से आने वाले 'समुच्चये सामान्यवचनस्य'[1] इस सूत्र से क्रियाओं के समुच्चय में सामान्यवाची धातुओं के अनुप्रयोग का विधान किया है। क्रिया समभिहार में इस सूत्र के बिना ही यथाविधि धातु का अनुप्रयोग सिद्ध हो जायेगा। इसलिये यह सूत्र व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यह तो ठीक है कि क्रियासमभिहार में विहित 'लोट्' तथा 'हि-स्व' आदेश से संख्या, काल तथा पुरुष की अभिव्यक्ति न होने से पूर्ण अर्थावबोध नहीं होता। इसलिये अर्थ की पूर्ण परिसमाप्ति के लिये लोडन्त के बाद धातु के अनुप्रयोग की आवश्यकता है किन्तु इससे यह कैसे विदित हुआ कि लोडन्त के अर्थ को पूर्ण करने के लिये उसी धातु का अनुप्रयोग होगा जिससे 'लोट्' हुआ है! यदि यह कहा जाये कि उत्तर सूत्र में सामान्यवाची धातु के अनुप्रयोग का विधान किया गया है। उससे यह अनुमान किया जाता है कि इस सूत्र में यथाविधि धातु का अनुप्रयोग होगा तो इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि आपने यह कैसे समझ लिया कि समुच्चय में ही उत्तर सूत्र सामान्यवाची धातु का अनुप्रयोग विधान करता है। 'समुच्चये एव सामान्य-वचनस्य'[2] ऐसा नियम कैसे समझ लिया। उत्तरसूत्र में यह नियम भी तो समझा जा सकता है कि 'समुच्चये सामान्यवचनस्यैव' अर्थात् समुच्चय में यदि लोडन्त के बाद किसी धातु का अनुप्रयोग हो तो वह सामान्यवाची धातु का ही हो। उससे समुच्चय में तो अनुप्रयोग व्यवस्थित हो गया किन्तु क्रिया-समभिहार में कोई नियम न होने से वहाँ लोडन्त के बाद किसी भी धातु का अनुप्रयोग प्राप्त हो सकता है। उसको रोकने के लिये यह सूत्र आवश्यक है जिससे सामान्य धातु का अनुप्रयोग न होकर केवल यथाविधि धातु का ही अनुप्रयोग हो। उससे 'याहि याहि इति याति' यहाँ 'या' धातु का ही अनु-प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'व्रजति', 'गच्छति', 'करोति' इत्यादि सामान्य एवं पर्यायवाची धातुओं का अनुप्रयोग नहीं होता। यह इस सूत्र की सत्ता में ही संभव है।

हां, एक बात अवश्य ध्यातव्य है—"एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो

---

१. पा० ३.४.५ ।

२. पा० ३.४.५ ।

द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भवति"[1] इस परिभाषा एवं न्याय से 'लोट्' की प्रकृतिभूत 'या' धातु से परे अर्थ की पूरी अभिव्यक्ति के लिये 'या' धातु का अनुप्रयोग ही सर्वथा न्याय्य है। धात्वन्तर के अनुप्रयोग से इस अर्थ की पूर्णतया अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। उक्त परिभाषा का अर्थ है कि एक आकृति से जो शब्द प्रयोग किया गया वह उससे भिन्न दूसरी तीसरी आकृति से प्रयुक्त नहीं होना चाहिये। यदि 'गवां स्वामी' कह कर 'गो' शब्द से षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया है तो 'अश्व' में भी षष्ठी का प्रयोग करके 'अश्वानां स्वामी' कहना चाहिये। 'अश्वेषु स्वामी' नहीं। यद्यपि "स्वामीश्वराधिपति०"[2] सूत्र से स्वामी के प्रयोग में षष्ठी, सप्तमी दोनों विभक्तियों का विधान है। फिर भी उक्त न्याय के आधार पर 'गवाम् अश्वेषु च स्वामी' नहीं कहा जा सकता। या तो दोनों जगह षष्ठी हो या दोनों जगह सप्तमी। इस परिभाषा के मानने पर क्रिया-समभिहार में लोडन्त के बाद यथाविधि धातु का ही अनुप्रयोग हो जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

किन्तु पदमंजरीकार हरदत्त तो "एकस्याः आकृतेश्चरितः प्रयोगः०" इस न्याय को लोक और वेद दोनों जगह व्यभिचरित बताकर इस सूत्र का समर्थन करते है। लोक में जैसे—'सस्नुः' (उन्होंने स्नान किया)'पयः' पपुः (उन्होंने जल पीया) 'अनेनिजुः' (कपड़े धोये) यहां 'सस्नुः', 'पपुः' इस 'लिट्' लकार के प्रक्रम में 'अनेनिजुः' यह 'लङ्' लकार का प्रयोग करने से प्रक्रम भङ्ग हो गया।[3] इससे उक्त न्याय का व्यभिचार स्पष्ट है। जिस एक आकृति से आरम्भ किया था उसी एक आकृति से समाप्त नहीं किया। वेद में भी इस न्याय का व्यभिचार दृष्टिगोचर होता है। अश्वमेधयज्ञ के प्रकरण के मन्त्रों में "एण्यह्नः"[4], 'पुरुषमृगश्चन्द्रमसः'[5], 'अन्य वापोऽर्धमासानाम्'[6], "वर्षाहूर्

---

१. परि० सं० ११८।

२. पा० २.३.३९।

३. 'सस्नुः', 'पयः पपुः', 'अनेनिजुः' ये वसन्ततिलकाछन्दयुक्त प्रयोग कहां के हैं, यह द्रष्टव्य है। पदमंजरी में ये प्रयुक्त हुए हैं।

४- मा० यजुः, २४.३६।

५. वही, २४.३५।

६. वही, २४.३७।

ऋतूनाम्"[1] इत्यादि षष्ठी विभक्त्यन्त शब्दों के प्रकरण में "क्षिप्रश्येनाय वर्तिका"[2], "ह्रियै शल्यकः"[3], "मृत्यवेऽसितः"[4], 'कामाय पिकः'[5] इत्यादि चतुर्थी विभक्त्यन्त शब्दों के प्रयोग से प्रक्रमभङ्ग हुआ है। या तो सब चतुर्थ्यन्त ही रखने थे या सब षष्ठ्यन्त ही।[6] क्योंकि वेद में षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी और चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी सूत्रवार्तिक द्वारा विहित है।[7] ऐसी स्थिति में उक्त

---

१. मा० यजुः २४.३८।

२. वही, २४, ३०।

३. वही, २४, ३५।

४. वही, २४.३७।

५. वही, २४.३९।

६. द्र० प० मं० सू० ३.४.४—'ननु चैकस्याकृतेश्चरितः प्रयोगो न द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च भवति, एतच्च 'कृञ्चानुप्रयुज्यते' इत्यत्र व्याख्यातम्, तत्र यथा 'गवां स्वामी अश्वेषु च' इति न भवति तथैहापि येनैव धातुना लोट्प्रयोगःप्रारब्धः तेनैवासौ समापयिष्यते। न, अस्यापि न्यायस्य लोके वेदे च व्यभिचारात्। वेदे तावत्इन्द्राय राज्ञे सूकर इति चतुर्थी प्रयोगप्रकरणे क्षिप्रश्येनस्य वर्तिका ते धातुरिति षष्ठी, मयुः प्राजापत्यः इति तद्धितश्च देवतासम्बन्धे दृश्यते, लोकेऽपि—सस्नुः पयः पपुरिति लिटा सह अनेनिजुरिति लङ् प्रयुक्तः। तस्मादारभ्यमेवैतत्।'
बृ० श० शे० मा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० २००१—'नागेश ने भी भाष्यकार कृत इस सूत्र के प्रत्याख्यान को प्रौढिवाद कहा है—'नन्वेतत् प्रत्याख्यानं प्रौढिवादः'।

७. पा० २.३.६२—'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' तथा इस पर वार्तिक 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीवचनम्।' वैसे आचार्यपाणिनि ने भी स्वयं अपनी सूत्ररचना में अनेकत्र भग्नप्रक्रम दोष किया है। तद्यथा—'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इस प्रकार उपक्रम करके 'अनुवादे चरणानाम्', 'अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्', 'शूद्राणामनिरवसितानाम्', 'विभाषा वृक्ष मृग:—पूर्वापराधरोत्तराणाम्', (पा० २.४.२,३,५,१०,१२) ऐसे षष्ठीविभक्त्यन्त शब्दों के क्रम में 'अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम्', 'जातिरप्राणिनाम्', 'विशिष्टलिङ्गे नदी देशोऽग्रामः', 'क्षुद्रजन्तवः' 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः',

परिभाषा के व्यभिचरित स्वरूप को देखने पर इसी निष्कर्ष पर पहुंचना समीचीन जान पड़ता है कि सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य नहीं है। संभवतः इसीलिए हेमचन्द्र ने प्रकृत सूत्र का समर्थन किया है[1] जबकि चन्द्रगोमी आदि इसके खण्डन में सहमत हैं। प्रस्तुत प्रसंग में पतंजलि की भांति चन्द्रगोमी आदि भी विचारणीय ही हैं॥

समुच्चये सामान्यवचनस्य ॥३.४.५॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अनेक क्रियाओं के 'समुच्चय' में "समुच्चयेऽन्यतरस्याम्"[2] सूत्र से विकल्प से विहित 'लोट्' प्रत्यय के विधान में सामान्यवाची धातु का अनुप्रयोग करता है। जैसे—'अन्नं भक्षय, सक्तून् पिब, धानाः खाद इति अभ्यवहर्रति'। 'छन्दोऽधीष्व, व्याकरणमधीष्व, निरुक्तमधीष्व इति अधीते'। 'रुदिहि, स्वपिहि, क्रीड, प्रहस इति विलसति'। 'पुरीमवस्कन्द, नन्दनं लुनीहि, रत्नानि मुषाण, अमराङ्गनाः हर इत्यनुचितं चेष्टते।'[3] पक्ष में 'अन्नं भक्षयति,

---

'गवाश्वप्रभृतीनि च', 'विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि', 'न दधिपय आदीनि' (पा० २.४.४, ६,७,८,६,११,१३,१४) इस प्रकार प्रथमाविभक्त्यन्त शब्दों के उपन्यास से होने वाला यह विभक्तिविपर्यास किं हेतुक है, यह कुछ भी समझ में नहीं आता। षष्ठी विभक्त्यन्त से प्रारम्भ करके प्रथमाविभक्त्यन्त से प्रकरण को समाप्त करने में कोई निमित्त दृष्टिगोचर नहीं होता। यह आचार्य का साफ भग्नप्रक्रम दोष है। अथवा इसे आचार्य का वैचित्र्य प्रदर्शन ही कहना पड़ेगा। 'विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः' (का० भा० १, सू० १.२.३५, पृ० ३२०)। इस विषय में विशेष अध्ययनार्थ देखें, मेरा लेख, 'पाणिनीयाष्टाध्याय्यामविभक्तिकाः सौत्रा वा निर्देशा असमर्थसमासयुक्तानि स्थलानि च'—विश्वसंस्कृतम्, होशियारपुर, वर्ष १८, अङ्क ४, दिसम्बर १९८१।

१. है० सू० ५.४.४२—'भृशाभीक्ष्ण्ये हिस्वौ यथाविधि तध्वमौ च तद्युष्मदि।'

२. पा० ३.४.३।

३. द्र० शिशुपालवध, १.५१—'पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।

सक्तून् पिबति, धानाः खादति, इति अभ्यवहरति । छन्दोऽधीते, व्याकरण-मधीते, निरुक्तमधीते इति अधीते ।' इन सब भक्षणादि क्रियाओं के समुच्चय में इस सूत्र से सामान्यवाची 'अभ्यवहरण', 'अध्ययन', 'विलास', 'चेष्टादि' का अनुप्रयोग हो जाता है । विशेष क्रियाओं के एक साथ कहने में उन सबके बोध के लिये सामान्य क्रिया का अनुप्रयोग ही समुचित है । यही इस सूत्र का प्रयोजन है ।

सामान्य विवक्षा द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र पर सर्वथा मौन हैं । अतः केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए पूछते हैं—"किमर्थमिदमुच्यते । अनुप्रयोगो यथा स्यात् । नैतदस्ति प्रयोजनम् । हिस्वान्तमनभिव्यक्तपदार्थकं तेनापरिसमाप्तोऽर्थ इति कृत्वा अनुप्रयोगी भविष्यति । इदं तर्हि प्रयोजनम्—सामान्य वचनस्येति वक्ष्यामि । एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । सामान्य वचनस्यानुप्रयोगोऽस्तु, विशेष-वचनस्य वा इति सामान्यवचनस्यैवानुप्रयोगो भविष्यति, लघुत्वात् ।" भाव यह है कि यह सूत्र क्यों बनाया ? अनुप्रयोग करने के लिये । यह कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि 'हि-स्व' प्रत्ययान्त लोडन्त पद से अर्थ की अभिव्यक्ति पूर्ण नहीं हो पाती है । उससे अधूरा अर्थ रहता है । अर्थ को पूर्ण परिनिष्ठित करने के लिये धातु सम्बन्ध में धातु का अनुप्रयोग स्वतः सिद्ध है । यदि यह कहा जाये कि सामान्यवाची धातु का ही अनुप्रयोग अभीष्ट है, विशेषवाची का नहीं तो यह भी कोई प्रयोजन नहीं । क्योंकि सामान्य और विशेषवाचक धातुओं की विवक्षा में सामान्यवाचक का ही अनुप्रयोग होगा, विशेषवाचक का नहीं, विशेष-२ अनेक क्रियाओं के समुच्चय में सबका संग्रह करने के लिये सामान्यवाची धातु का अनुप्रयोग ही न्याय्य है । क्योंकि 'सामान्य' और 'विशेष' में 'सामान्य' ही लघु है, आसान है । विशेष' में गौरव है । 'सामान्य' से सब 'विशेषों' का ग्रहण हो जाता है, विशेष से नहीं । अनेक विशेषों के होने से उपात्त सभी विशेष क्रियाओं का अनुप्रयोग प्राप्त होगा । उसकी निवृत्ति के लिये सामान्य क्रिया का अनुप्रयोग ही स्वतः सिद्ध हो जायेगा, इसलिये यह सूत्र व्यर्थ है । 'छन्दोऽधीष्व', 'व्याकरणमधीष्व', 'निरुक्तमधीष्व' यहां अध्ययन के सब में सामान्य होने पर भी छन्द आदि कारकों के भेद से

---

१. महा० भा०, सू० ३.४.५, पृ० १७० ।

क्रिया में भेद मान लिया गया है। अनुप्रयुज्यमान 'अधीते' यह क्रिया तो स्वरूप से सबमें सामान्य है, अतः उसका अनुप्रयोग होने में कोई बाधा नहीं।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यकार ने लाघवरूप हेतु से इस सूत्र का खण्डन कर दिया है जो समुचित ही है। इस पर कैयट लिखते हैं—'एतच्च लाघवं क्वचिदेव विषये शिष्टप्रयोगदर्शनात् आद्रियते, न सर्वत्र। अन्यथा तरुद्रुमादीनां सामान्यानामेव प्रयोगः स्यात् न वनस्पत्यादिशब्दानां विशेषरूपाणामिति।'[१] यद्यपि 'पर्याय-शब्दानां लाघवगौरव चर्चा नाद्रियते'[२] यह न्याय प्रसिद्ध है। फिर भी जहां लाघव से काम चल जाता हो, वहां गौरव का आश्रयण क्यों किया जाये। जहां तो 'विशेष' का अभिधान ही एष्टव्य है वहां तो गौरव होने पर भी 'विशेष' का प्रयोग किया जायेगा। काव्यशास्त्र में 'सामान्य' की जगह 'विशेष' और 'विशेष' की जगह 'सामान्य' का प्रयोग करना दोष माना गया है।[३] इसलिए शिष्टप्रयोग दर्शन से 'सामान्य-विशेष' की व्यवस्था कर लेनी चाहिये।[४] इस दृष्टि से यह सूत्र इस विषय में तात्पर्य ग्राहक माना जा सकता है। अतः सूत्र स्थापनीय ही है॥

---

१. महा० प्र० भा० ३, सू० ३.४.५, पृ० ३७४।

२. परि० सं० ११५।

३. द्र० काव्यप्रकाश, ७वां उल्लास, कारिका ५६—'अनवीकृतः सनियमा-नियम विशेषाविशेष परिवृत्ताः।'

४. महा० पस्पशा०, पृ० ६—स्वयं पाणिनीय व्याकरण भी तो 'सामान्य-विशेष' का ही प्रपंच है। तुलना करो—'किंचित्सामान्यविशेषणवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतोमहतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्।

तृतीय अध्याय भाग ख

विधिसूत्रों का प्रत्याख्यान

गोत्रावयवात् ॥४.१.७९॥

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

यह सूत्र 'गोत्रापत्य' में विहित 'अण्', 'इञ्' प्रत्ययों को स्त्रीलिङ्ग में 'ष्यङ्' आदेश करता है। इसका अर्थ है कि लौकिक 'गोत्र' के अवयववाची, देशविशेष में 'गोत' के नाम से प्रसिद्ध 'पुणिक', 'भुणिक', 'मुखर' आदि शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'अण्', 'इञ्' प्रत्ययों के स्थान में 'ष्यङ्' आदेश होता है। यह सूत्र अपत्याधिकार से बाहर का है। इसलिये "अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकं गोत्रम्"[1] इस भाष्यवचन से यहां लौकिक 'गोत्र' लिया गया है। "अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्"[2] यह शास्त्रीय पारिभाषिक 'गोत्र' यहां नहीं लिया गया है। सूत्र में 'अवयव' शब्द का 'अप्रधान' अर्थ है। 'अवयवश्च तद् गोत्रं च' इस प्रकार कर्मधारय समास में विशेषणभूत 'अवयव' शब्द का पूर्व निपात न करके 'निपातनात्' 'गोत्र' शब्द का पूर्वनिपात हुआ है। "अवयवगोत्रात्" के स्थान में "गोत्रावयवात्" यह सौत्र निर्देश है। प्रवराध्याय में सात ऋषियों के साथ आठवें अगस्त्य ऋषि को मिलाकर आठ महागोत्र सब वंशों के प्रवर्तक माने गये हैं। उनमें 'पुणिक', 'भुणिक' इत्यादि के अपठित होने से ये अप्रधान 'गोत्र' हैं।

यदि यहां पौत्र प्रभृति 'गोत्र' का ग्रहण माना जाये तो 'देवदत्या', 'याज्ञदत्या' यहां अनन्तरापत्य में 'ष्यङ्' न हो सकेगा जो कि भाष्यकार के वचन

---

१. महा० भा० २, सू० ४.१.८७, पृ० २३८।

२ पा० ४.१.१६२।

से इष्ट है। 'देवदत्तस्य अनन्तरापत्यं स्त्री दैवदत्त्या' यहां 'देवदत्त' शब्द से 'अनन्तरापत्य' अर्थ में "अत इञ्"[1] से 'इञ्' होकर उसके स्थान में इस सूत्र से 'ष्यङ्' हो जाता है। इस सूत्र के उदाहरण 'पौणिक्या', 'भौणिक्या', 'मौखर्या' इत्यादि हैं। 'पुणिकस्य', 'भुणिकस्य', 'मुखरस्य' गोत्रापत्यं स्त्री 'पौणिक्या', 'भौणिक्या', 'मौखर्या'। 'पुणिक' आदि शब्दों से 'गोत्रापत्य' में "अत इञ्" से 'इञ्' होकर आदिवृद्धि हो जाती है। इस सूत्र से 'इञ्' के स्थान में 'ष्यङ्' आदेश होकर 'यङश्चाप्'[2] से 'चाप्' प्रत्यय हो जाता है तो 'पौणिक्या' आदि बन जाते हैं। 'अनृषि' तथा 'गुरूपोत्तम' शब्दों में तो 'ष्यङ्' आदेश 'अणिञोरनार्षयोः'[3] इस पूर्वसूत्र से ही सिद्ध है। अतः यह सूत्र 'गुरूपोत्तम' से भिन्न 'गोत' के वाचक शब्दों से 'ष्यङ्' करने के लिये बनाया है। यद्यपि मुख्य गोत्र के अवयव एवं अवान्तरगोत्रवाची भार्गववंशीय 'च्यवन' आदि शब्द भी हैं तो भी उनके 'गुरूपोत्तम' न होने पर भी इस सूत्र से 'ष्यङ्' नहीं होता। केवल 'पुणिक', 'भुणिक' आदि 'गुरूपोत्तमभिन्न' शब्दों से ही 'ष्यङ्' होता है। जिस शब्द में 'उपोत्तम' अक्षर गुरूसंज्ञक है उसे 'गुरूपोत्तम' कहते हैं। कम से कम तीन अक्षर वाले शब्द में अन्तिम तीसरा अक्षर 'उत्तम' कहाता है। उसके 'उप' अर्थात् समीप जो दूसरा अक्षर है वह 'उपोत्तम' होता है। जैसे—'वराह', 'गोकक्ष' आदि में 'रा' और 'क' ये दोनों 'उपोत्तम' शब्द गुरू हैं। इसी प्रकार चार अक्षर वाले शब्द में 'तीसरा', पांच अक्षर वाले में 'चौथा' 'उपोत्तम' होता है। वह 'उपोत्तम' जहां गुरू हो, लघु न हो, वह 'गुरूपोत्तम' शब्द कहलाता है। 'कारीषगन्ध' में गकार 'गुरूपोत्तम' है। सर्वत्र यह समझ लेना चाहिये।

अर्थभेद के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान भाष्यकार ने यद्यपि 'अयं योगः शक्योऽवक्तुम्' ऐसा कहकर तो नहीं किया है अतः इस दृष्टि से यह अस्पष्टलिङ्ग प्रत्याख्यान ठहरता है। फिर भी भाष्यकार ने पूछा है कि यहां 'गोत्र' शब्द से शास्त्रीय जो पौत्रप्रभृति 'गोत्र' है, वह लिया जाता है या लौकिक 'गोत्र' या खानदान,

---

१. पा० ४.१.६५।
२. पा० ४.१.७४।
३. पा० ४.१.७८।

अपत्यमात्र ग्रहण किया जाता है। यदि शास्त्रीय 'गोत्र' यहां अभिप्रेत है तो यह सूत्र व्यर्थ है। 'गोत्रादिति चेद् वचनानर्थक्यम्'[1] इस वार्तिक द्वारा प्रत्याख्यान करते हुए आगे कहा जाता है कि शास्त्रीय 'गोत्र' में तो 'अणिञोरनार्षयोः' इस पूर्वसूत्र से ही 'गोत्रावयव' में भी 'ष्यङ्' सिद्ध हो जायेगा। 'गोत्र' के अवयव को भी उपचार से 'गोत्र' कहा जा सकता है। क्योंकि पौत्र प्रभृति अपत्यों के समुदाय की 'जब गोत्र' संज्ञा है तब उस समुदाय के अन्तर्गत अवयवों की भी 'गोत्र' संज्ञा स्वतः सिद्ध है। भाष्यकार आगे पूछते हैं कि यदि यह कहा जाये कि पूर्वसूत्र तो 'गुरूपोत्तम गोत्र' शब्दों से 'ष्यङ्' करता है और यह सूत्र 'गुरूपोत्तम' से भिन्न 'गोत्र' शब्दों से 'ष्यङ्' करने के लिये बनाया गया है, तो भी ठीक नहीं। क्योंकि—"अगुरूपोत्तमार्थमिति चेत् सर्वेषामवयवत्वात् सर्वप्रसङ्गः। अष्टाशीतिसहस्राण्यूर्ध्वरेतसामृषीणां बभूवुस्तत्रागस्त्याष्टमैर् ऋषिभिः प्रजनोऽभ्युपगतः। तत्र भवतां यदपत्यं तानि गोत्राणि। अतोऽन्ये गोत्रावयवाः। तत उत्पत्तिः प्राप्नोति। तच्चानिष्टम्। तस्मान्नार्थोऽनेन योगेन।[3]

इसका भाव यह है कि सप्तर्षि सहित आठवें अगस्त्य ऋषि 'गोत्रों' के प्रवर्तक हैं। प्रवराध्याय में वही आठ 'महागोत्र' माने गये हैं। उनसे भिन्न सब 'गोत्रावयव' हैं। ऋषि परम्परा में आने वाले भार्गव वंश के अन्तर्गत 'च्यवन' ऋषि भी 'गोत्रावयव' हैं। उनके ऋषि होने से तथा 'गुरूपोत्तम' न होने के कारण पूर्वसूत्र से चाहे 'ष्यङ्' न हो किन्तु 'अगुरूपोत्तमार्थ आरम्भ किये इस सूत्र से तो 'ष्यङ्' प्राप्त होगा ही। च्यवन तो ऋषि होने से शायद छूट जायें परन्तु अन्य अनेक अवान्तर 'गोत्रवाची' शब्द हैं जिनसे 'ष्यङ्' प्राप्त होगा। इसलिये 'अगुरूपोत्तमार्थ' इस सूत्र का आरम्भ मानना दोषयुक्त ही है। फिर 'पुणिक', 'भुणिक' आदि 'अगुरूपोत्तम' शब्दों में 'ष्यङ्' कैसे होगा तो इसका उत्तर देते हुए भाष्यवार्तिककार आगे कहते हैं—"सिद्धं तु रौढ्यादिषूपसंख्यानात्"[4] अर्थात् 'पुणिक', 'भुणिक' आदि शब्दों का 'रौढि' आदि गण में उपसंख्यान करने से 'ष्यङ्' सिद्ध हो जायेगा। यहां 'रौढि' शब्द

---

१. महा० भा० २, सू० ४.१.७९, पृ० २३३।

२. पा० ४.१.७८।

३. महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० २३३।

४. महा० भा० २, सू० ४.१.७९, पृ० २३३।

'क्रौडचादि' का उपलक्षक है।[1] "क्रौडचादिभ्यश्च"[2] से 'क्रौडि' आदि शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'ष्यङ्' विहित ही है। उस गण में 'पुणिक', 'भुणिक' आदि भी पढ़ दिये जायेंगे तो उनसे भी 'ष्यङ्' होकर 'पौणिक्या', 'भौणिक्या' आदि इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे। इस प्रकार शास्त्रीय 'गोत्र' का यहां ग्रहण मानने पर तो यह सूत्र सर्वथा व्यर्थ हो जाता है।

रहा लौकिक 'गोत्र', सामान्य अपत्यमात्र जिसमें देश विशेष में प्रसिद्ध किसी पुरुष के खानदान, 'गोत्र' या कुल का नाम चलता है, वह भी लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित है। सर्वत्र युवापत्य या अनन्तरापत्यवाची शब्दों से 'ष्यङ्' न होगा। भाष्यकार के वचन से केवल 'दैवदत्या', 'याज्ञदत्त्या' इन दो अनन्तरापत्य वाले शब्दों में 'ष्यङ्' हो जाता है। सर्वत्र 'ष्यङ्' नहीं होगा। इसी व्यवस्था को सूचित करने के लिये भाष्यकार भारद्वाजीय आचार्यों का इस सूत्र के विषय में मत प्रस्तुत करते हैं—"भारद्वाजीयाः पठन्ति—सिद्धं तु कुलाख्याभ्यो लोके गोत्राभिमताभ्य इति। कुलाख्याः लोके गोत्रावयवा इत्युच्यन्ते। अथवा गोत्रावयवः कः भवितुमर्हति। यो गोत्रादवयुतः। कश्च गोत्रादवयुतः। योऽनन्तरः—दैवदत्या, याज्ञदत्या इति।"[3]

भाव यह है कि खानदान या गोत्र का संचालक जो प्रसिद्ध पुरुष है, वह यहां 'गोत्रावयव' शब्द से लिया गया है। इस अर्थ में 'अवयव' शब्द पृथक् अर्थ का वाचक है। शास्त्रीय पौत्रप्रभृति गोत्र से अवयुत पृथक्भूत, जो अनन्तर अपत्य है, उससे भी कहीं पर 'ष्यङ्' करने के लिये यह सूत्र रह सकता है। यदि अनन्तरापत्य में 'ष्यङ्' का प्रयोग अभीष्ट है तो वह भी 'क्रौडचादि' गण में संनिविष्ट करके सिद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार भारद्वाजीय मत में भी यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।[4]

---

१. पूर्वतः प्राप्त गणपाठ में किये गये परिवर्तन के प्रसंग में प्राचीनों के 'रौढचादि' नाम के स्थान पर पाणिनि द्वारा रखे गये 'क्रौडचादि' नाम की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। प्राचीनगण 'रौढचादि' ही पाणिनीय तन्त्र में नाम परिवर्तन करके 'क्रौडचादि' इस नाम से स्वीकार किया गया है।

२. पा० ४.१.८०।

३. महा० भा० २, सू० ४.१.७९, पृ० २३३।

४. द्र० महा० प्र० उ०, सू० ४.१.७९, भा० ३, पृ० ५४०। 'एवं च येभ्योऽनन्तरापत्यप्रत्ययान्तेभ्यः ष्यङ् इष्यते तानपि क्रौड्यादिषु पठित्वा इदं सूत्रं त्याज्यमेवेति भाष्यमतमिति भाति।'

समीक्षा एवं निष्कर्ष

इस सूत्र का साक्षात् प्रत्याख्यान न तो भाष्यकार ने ही किया है और न प्रदीपकार कैयट ने। केवल उद्द्योतकार नागेश ने अपनी सम्मति प्रकट की है कि भाष्यकार का आशय इस सूत्र के प्रत्याख्यान में ही है। यहां यह देखना है कि अन्त में भारद्वाजीय मत को दिखाते हुए भाष्यकार की अपनी क्या सम्मति है। "कुलाख्याभ्यो गोत्राभिमताभ्यः"[1] इस भाष्यवचन की व्याख्या करते हुए प्रदीपकार लिखते हैं—

"अप्रधानवचनोऽवयव शब्द इह गृह्यते। तत्र-प्रवराध्यायपठितानां मुख्यं गोत्रत्वम्। ये त्वादिपुरुषाः श्रुतशीलसम्पन्नाः अपत्यसन्तानप्रसिद्धिहेतवस्तेषाम-प्रधानं गोत्रत्वम्। तेभ्योऽनेन सूत्रेण ष्यङ्विधानम्। पुणिकस्य अपत्यं गोत्रं स्त्री पौणिक्या"[2] इत्यादि।

यहां कैयट के शब्द स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि प्रधान गोत्र में इस सूत्र की आवश्यकता न होने पर भी अप्रधान गोत्र में 'ष्यङ्' करने के लिये यह सूत्र आवश्यक है। प्रधानगोत्रता का मापदण्ड उन्होंने प्रवराध्याय में पठित होना माना है।[3] 'पुणिक' आदि वैसे है नहीं, इसलिए इनका गोत्रत्व अप्रधान है। ये 'अवयव' गोत्र हैं। सूत्र की स्थापना में यह बात कही जा चुकी है कि पुणिक आदि अप्रधान 'गोत्र' हैं। यदि यहां शास्त्रपरिभाषित पौत्र प्रभृति को ही 'गोत्र' माना जाय तो 'दैवदत्या', 'याज्ञदत्त्या' इन अनन्तरापत्य वाले भाष्यकारोक्त प्रयोगों में 'ष्यङ्' कैसे हो सकेगा। काशिका आदि वृत्तिकार स्पष्ट ही इस सूत्र का 'अगुरूपोत्तमार्थ आरम्भ' मानते हैं।[4] यद्यपि भाष्यकार ने इस सूत्र का 'अगुरूपोत्तमार्थ आरम्भ' मानना दूषित कर दिया है। परन्तु वस्तुस्थिति तो यही है कि 'पुणिक', 'भुणिक' आदि 'अगुरूपोत्तम' शब्दों से 'ष्यङ्' करने के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया गया

---

१. महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० २३३।

२. महा० प्र० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ५४०।

३. तुलना करो—श० कौ० भा० ३, सू० ४.१.७६, पृ० ५६—'प्रवरान् व्याख्यास्यामस्तैर्गोत्राणि इति सत्याषाढसूत्रात्।'

४. द्र० का० भा० ३, सू० ४.१.७६, पृ० ३६०—'अगुरूपोत्तमार्थ आरम्भः।'

है। 'अगुरूपोत्तमार्थ' आरम्भ किया हुआ यह सूत्र अनन्तरापत्य प्रत्ययान्त से भी 'ष्यङ्' करने के लिये आवश्यक रह जाता है। इससे अपत्यमात्र में 'ष्यङ्' हो जाता है। अपत्यार्थ से भिन्न जात आदि अर्थ में 'ष्यङ्' नहीं होगा। उससे 'अहिच्छत्रे जाता स्त्री आहिच्छत्री' यहां "तत्र जातः"[१] से अणन्त 'आहिच्छत्र' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ष्यङ्' न होकर "टिड्ढाणञ्"[२] से 'ङीप्' ही हो जाता है।

यहां 'अवयव' शब्द के अप्रधान और पृथग्भाव ये दो अर्थ भाष्यकार ने स्वीकार किये हैं। कैयट लिखते हैं—"तदेवमर्थद्वयमस्य सूत्रस्य भाष्यकारेण व्याख्यातम्। अभिधानलक्षणाश्च कृतद्धितसमासा इति सर्वत्रानन्तरापत्ये ष्यङ् न भवति"[३]। इतना सब कुछ लिखते भी कैयट ने स्पष्ट शब्दों में यह नहीं लिखा कि भाष्यकार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है या उनका आशय इसके प्रत्याख्यान में है। बृहच्छब्देन्दुशेखरकार तथा शब्दकौस्तुभकार भी इस सूत्र के प्रत्याख्यान पक्ष में नहीं हैं। केवल नागेश ने ही अपना विचार स्पष्ट कर दिया कि भाष्य की दृष्टि में यह सूत्र प्रत्याख्येय है।[४] विद्वान् लोग इस पर और विचार करें॥

पाण्डुकम्बलादिनिः ॥४.२.११॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र 'प्राग्दीव्यतीय' प्रकरण में 'रक्ताद्यर्थक' तद्धितों के अन्तर्गत आता है। इसका अर्थ है कि 'पाण्डुकम्बल' शब्द से 'तेन परिवृतो रथः'[५] (उससे ढका हुआ या मढा हुआ रथ) इस अर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है। जैसे—'पाण्डुकम्बलेन परिवृतो रथः पाण्डुकम्बली' (राजकीय आस्तरणभूत

---

१. पा० ४.३.२५।

२. पा० ४.१.१५।

३. महा० प्र० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ५४०।

४. द्र० महा० प्र० उ० भा० २ प्रकृत सूत्र, पृ० ५४०—'एवं च येभ्योऽनन्तरापत्यप्रत्ययान्तेभ्य इष्यते तानपि क्रौड्यादिषु पठित्वा इदं सूत्रं त्याज्यमेवेतिभाष्यमतमिति भाति।

५. पा० ४.२.१०।"

सुन्दरवर्ण वाले कम्बल से ढका हुआ रथ[1]) यहां 'पाण्डुकम्बल' शब्द से 'इनि' प्रत्यय होकर 'भ संज्ञा' द्वारा 'यस्येति च'[2] से आकार लोप हो जाता है तो 'पाण्डुकम्बली' बन जाता है। 'पाण्डुकम्बली', 'पाण्डुकम्बलिनो', 'पाण्डु-कम्बलिनः' ऐसे रूप चलते हैं। यहां पुंलिङ्ग में प्रथमाविभक्ति के एक वचन 'सु' परे रहते 'सो च'[3] से उपधादीर्घ हो रहा है। 'प्राग्दीव्यतीय अण्'[4] प्रत्यय की निवृत्ति के लिये यह सूत्र बनाया गया है। अन्यथा 'परिवृतो रथः' इस सामान्य विहित 'अण्' प्रत्यय की प्राप्ति होती है।

अनभिधान अथवा अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र पर सर्वथा मौन हैं। उन्होंने इसका न मण्डन किया है और न खण्डन ही। प्रकृत सूत्र का प्रत्याख्यान तो भाष्यकार की कल्पना से प्रसूत है। वे कहते हैं—'अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथं पाण्डुकम्बली, पाण्डुकम्बलिनौ, पाण्डुकम्बलिनः इति। इनिनैतन्मत्वर्थीयेन सिद्धम्। पाण्डु-कम्बलोऽस्यास्तीति पाण्डुकम्बली।'[5]

यहां भाष्यकार कहते हैं कि 'पाण्डुकम्बली' रूप बनाने के लिये इस सूत्र से 'इनि' प्रत्यय विधान करने की आवश्यकता नहीं है। "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'[6] इस 'मतुप्' प्रत्यय के विधायक 'मत्वर्थीय' प्रकरण में आने वाले 'अत इनिठनौ'[7] सूत्र से ही 'इनि' प्रत्यय सिद्ध हो जायेगा। 'पाण्डुकम्बलोऽस्यास्तीति

---

१. द्र० श० कौ० भा० ४, सू० ४.२.१०, पृ० १०४—'पाण्डुकम्बलो गजास्तरणम्'। इन्द्र के हाथी तथा आसन पर भी बिछाने के लिए जातकों में इसका उल्लेख है। वहां यह भी कहा गया है कि यह चटकीले लाल रंग का कम्बल गन्धार देश में बनता था—'छन्दगोपक-वण्णाभा गन्धारा पाण्डुकम्बला' (वस्सन्तर जातक, ६.५००)। विशेष अध्ययनार्थ देखें पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २२३।

२. पा० ६.४.१४८।

३. पा० ६.४.१२।

४. पा० ४.१.८३,—'प्राग्दीव्यतोऽण्।'

५. महा० भा० २, सू० ४.२.११, पृ० २७४।

६. पा० ५.२.९४।

७. पा० ५.२.११५।

पाण्डुकम्बली'। जो रथ 'पाण्डुकम्बल' से परिवृत है उसका सम्बन्ध 'पाण्डुकम्बल' से है ही। 'मत्वर्थीय' प्रत्यय 'बहुत्वादि' अर्थों में होते हैं।[1] उनमें 'संसर्ग' अर्थ को लेकर 'पाण्डुकम्बल' से 'इनि' हो जायेगा तो 'पाण्डुकम्बली' यह इष्ट रूप बन जायेगा अतः इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है। इसका प्रयोजन मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय से गतार्थ हो जाता है। 'परिवृतो रथः'[2] से सामान्य प्राप्त 'अण्' प्रत्यय की निवृत्ति तो अनभिधान से हो जायेगी। 'पाण्डुकम्बल' शब्द से परिवृत रथ में 'अण्' का अभिधान नहीं होता, ऐसा मान लिया जायेगा।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहां भाष्यकार ने 'इनि' प्रत्ययविधायक इस सूत्र का प्रत्याख्यान करके यह सूचित किया है कि जहां तक संभव हो, शब्द साधन में लाघव से काम लिया जाये। जब मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय अलग से विहित है ही और उससे अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति भी हो जाती है तब विशेष 'इनि' प्रत्यय विधान करना व्यर्थ है। यद्यपि काशिका आदि वृत्तिकार इस सूत्र का प्रयोजन 'परिवृतो रथः'[3] से प्राप्त 'अण्' की निवृत्ति ही मानते हैं, जो ठीक भी है, संभवतः इसीलिए शाकटायन, भोज तथा हेमचन्द्र ने इस सूत्र का समर्थन किया है।[4] परन्तु भाष्यकार इस 'अण्' का निवारण अनभिधान रूपी ब्रह्मास्त्र से कर देते हैं। प्रदीपकार लिखते हैं—"अण् त्वनभिधानान्न भवतीति तद्बाधनार्थमपीदं न वतव्यम्।"[5] ठीक ही तो है, इस समय वार्तिककार तथा

---

१. द्र० महा० भा० २, सू० ५.२.९४, पृ० ३९३।
भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

२. पा० ४.२.१०।

३. पा० ४.२.१०।

४. शा० सू० २.४.२३४—'पाण्डुकम्बली'। शाकटायन व्याकरण में इसे निपातन माना गया है।
स० सू० ४.२.१५—'पाण्डुकम्बलादिनिः'।
है० सू० ६.२.१३२—'पाण्डुकम्बलादिन्'।

५. महा० प्र० सूत्र ४.२.११, भा० ३, पृ० ६३५।

भाष्यकार से भिन्न अन्य कौन शब्द विषय में अभियुक्ततर हो सकता है। तीनों मुनियों में उत्तर मुनि पतंजलि का वचन ही सर्वाधिक प्रमाण है।[1] पाणिनि ने तो संभवतः 'परिवृत रथ' अर्थ को मत्वर्थीय अर्थ से यत्किंचित् पृथक् मानते हुए यह सूत्र बनाया हो, किन्तु भाष्यकार ने दोनों अर्थों के 'अवान्तर विशेष' को न मानकर 'संसर्गरूप सामान्य' अर्थ की कल्पना से उक्त सूत्रविहित 'इनि' प्रत्यय का खण्डन कर दिया है जो कि न्याय्य ही है। न केवल इसी का अपितु आगे आने वाले "अनुब्राह्मणादिनिः"[2] "चूर्णादिनिः"[3] इत्यादि अन्य 'इनि' प्रत्ययविधायक सूत्रों का भी। इस विषय में चान्द्र व्याकरण तथा जैनेन्द्र व्याकरण भी सहमत हैं॥

कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलंकारेषु ॥४.२.९६॥

सूत्र का अभिप्राय

यह सूत्र 'शैषिक' प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'कुल', 'कुक्षि' और 'ग्रीवा' इन शब्दों से क्रमशः 'श्वा' (कुत्ता), 'असि' (तलवार) तथा 'अलंकार' (आभूषण) इन अर्थों में 'ढकञ्' प्रत्यय होता है। वह 'शेषाधिकार' में पठित होने के कारण 'शैषिक' है। 'शैषिक' प्रत्ययों के 'तत्र जातः', 'तत्र भवः', 'तस्येदम्'[4] इत्यादि अर्थ प्रसिद्ध ही हैं। 'कुले जातः', 'कुले भवो वा कौलेयकः' यहां 'ढकञ्' प्रत्यय 'कुत्ते' के अर्थ में हुआ है अतः 'कुल' शब्द से 'कुत्तों का कुल' समझा जायेगा। 'कुल' शब्द से 'ढकञ्' प्रत्यय होकर 'ढ' को "आयनेयीनीयियः 'फ ढ ख छ घां प्रत्ययादीनाम्'"[5] सूत्र से 'एय्' आदेश हो जाता है। 'ढकञ्' के 'ञित्' होने से 'तद्धितेष्वचामादेः'[6] से आदि वृद्धि होकर 'कुल' के आकार का "यस्येति च"[7] से लोप होता है तो 'कौलेयकः' यह रूप बन जाता

---

१. द्र०—महा० प्र० भा० १, सू० १.२.२९, पृ० २१३। 'यथोत्तरं हि मुनित्रस्य प्रामाण्यम्।'

२. पा० ४.२.६२।

३. पा० ४.४.२३।

४. पा० ४.३.२५, ५३, १२०।

५. पा० ७.१.२।

६. पा० ६.२.११७।

७. पा० ६.४.१४८।

है। इसी प्रकार 'कुक्षौ भवः कौक्षेयकः' (तलवार जो मनुष्य की कोख के पास लटकती रहती है), 'ग्रीवायां भवः ग्रैवेयकः' (गले की कण्ठी आदि आभूषण) इनकी सिद्धि भी 'कौलेयकः' के समान ही होती है। 'श्वा' आदि अर्थों से भिन्न अर्थ में 'ढकञ्' नहीं होगा तो 'प्राग्दीव्यतीय' सामान्य 'अण्' प्रत्यय होकर 'कौलः', 'कौक्षः', 'ग्रैवः' ये रूप बन जायेंगे। "कल्यादिभ्यो ढकञ्"[१] इस सूत्र के गणपाठ में "कुल्याया यलोपश्च" ऐसा पढ़ा है उससे 'कुल्यायां भवः कौलेयकः' बनता है परन्तु उसका यहां विषय नहीं है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन में सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र को अन्यथा सिद्ध समझते हुए इसका प्रत्याख्यान करते हैं—

"अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथं कौलेयकः। कुलस्यापत्यम्। कुक्षिग्रीवाभ्यां कन्ढञः। कुलस्यापत्यं कौलयेको भविष्यति। कुक्षिग्रीवादपि ढञन्तात् कन् भविष्यति।"[२]

यहां भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि इस सूत्रोक्त तीनों प्रयोग तो अन्यथा भी सिद्ध हो सकते हैं। 'कौलेयकः' तो 'कुलस्यापत्यम्' इस अर्थ से 'अपूर्वपदादन्यतरस्यां यड्ढकञौ'[३] इस सूत्र से 'कुल' शब्द से 'ढकञ्' प्रत्यय करने के बाद बन जायेगा। 'कुक्षि' और 'ग्रीवा' शब्दों से 'कौक्षेयकः', 'ग्रैवेयकः' यह भी 'ढञ्' के बाद स्वार्थिक 'कन्' प्रत्यय करके बन जायेंगे। 'कुक्षौ भवः' इस अर्थ में 'कुक्षि' शब्द से "दृति कुक्षि कलशि बस्त्यस्त्यहेर्ढञ्"[४] से 'ढञ्' प्रत्यय होता है। 'ढ' को 'एयादेश' होने पर 'कौक्षेयः' बन जायेगा। उससे 'संज्ञायां कन्'[५] से संज्ञा में स्वार्थिक 'कन्' करके 'कौक्षेयकः' बन जायेगा। 'कन्' के नित् होने से 'ञ्नित्यादिनित्यम्'[६] सूत्र से आद्युदात्त भी हो जायेगा। 'ढकञ्' करके भी आद्युदात्त होता था, वह 'ढञ्' के बाद 'कन्'

---

१. पा० ४.२.९५।

२. महा० भा० २, सू० ४.२.९६, पृ० २९१।

३. पा० ४.१.१४०।

४. पा० ४.३.५६।

५. पा० ५.३.७५।

६. पा० ६.१.१९७।

करके सिद्ध हो जायेगा। इसी प्रकार 'ग्रीवायां भवः' इस अर्थ में 'ग्रीवा' शब्द से "ग्रीवाभ्योऽण् च"[1] से पक्ष में 'ढञ्' प्रत्यय होकर उससे स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय हो जायेगा। तो 'ग्रैवेयकः' भी बन जायेगा। 'ढकञ्' से जो प्रयोजन इष्ट था, वह 'ढञ्' के बाद 'कन्' करके सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार तीनों प्रयोग अन्यथा सिद्ध हो जाने से यह सूत्र अनावश्यक हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

'कौलेयकः' इत्यादि तीनों प्रयोगों को अन्यथा सिद्ध मानकर भाष्यकार ने इस सूत्र का खण्डन कर दिया है जो समुचित ही है। 'अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः'[2] यह भाष्यकार का वचन सदा शब्दप्रयोग तथा उसके साधन में स्मरण रखना चाहिये। शब्द से जिस अर्थ का अभिधान अभीष्ट है, वह अर्थ मुख्य रूप से अभिहित होने पर उसके साधन की परवाह नहीं करनी चाहिये। शब्दशक्तिस्वभाव से 'कौलेयकः' का अर्थ 'कुत्ता' प्रसिद्ध है। वहां 'कुलेभवः' कहा जाये या 'कुलस्यापत्यम्' कहा जाये, कोई भेद नहीं पड़ता। "अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः"[3] यह भाष्यकार का वचन शब्द की अपेक्षा अर्थ की प्रधानता को प्रकट करता है। 'कुल' आदि शब्दों से 'ढकञ्' प्रत्यय करें या कोई और करें, यह मुख्य बात नहीं है। मुख्य तो अर्थाभिधान है। इसलिये 'ढकञ्' प्रत्यय का खण्डन करने पर भी 'श्वा', 'असि' और 'अलंकार' इन तीनों अर्थों का अभिधान ही 'कौलेयक' आदि शब्दों से होगा, यह भाष्यकार के प्रत्याख्यान द्वारा स्पष्ट हो जाता है। 'श्वा' आदि से भिन्न अर्थ में 'कौलेयक' आदि का प्रयोग नहीं होगा। क्योंकि उनसे भिन्न अर्थ में उक्त शब्दों का अभिधान नहीं है। स्थान-स्थान पर भाष्यकार 'अनभिधानात्' कह कर शब्दसाधन की प्रक्रिया को गौण सूचित करते हैं। तभी तो 'तत्र जातः'[4] के स्थान में "तत्र शेते, तत्र आस्ते" कहने पर अभीष्ट अर्थ का

१. पा० ४.३.५७।

२. महा० भा० २, सू० ३.३.१९, ।

३. महा० भा० १, सू० २.१.१, पृ० ३७०। तुलना करो—'अर्थनिमित्तक एवं शब्दः', वही सू० १.१.४६, पृ० ११४—'अर्थनित्यः परीक्षेत—(निरुक्त, २.१)।

४. पा० ४.३.२५।

अभिधान नहीं होता। अतः "तत्र जातः" के अभाव में भी अभिधान के स्वाभाविक होने से कोई दोष नहीं आयेगा, ऐसा भाष्यकार का सिद्धान्त है।

इसलिये 'अङ्गुल्या खनति' यहां "तेन दीव्यति खनति जयति-जितम्"[1] सूत्र से 'अङ्गुलित' शब्द से 'ठक्' नहीं होता। क्योंकि इससे अभिमत अर्थ का अभिधान नहीं है। 'वृक्षमूलादागतः' यहां 'वृक्षमूल' शब्द से "ततः आगत"[2] अर्थ में 'अण्' नहीं होता। इन सबमें अनभिधान ही कारण है। भाष्यकार पतंजलि तथा वार्तिककार कात्यायन दोनों ही लक्ष्यैकचक्षुष्क होने से शब्दों की साधन प्रक्रिया एवं लक्षण सूत्रों पर ज्यादा आस्थित नहीं हैं। और जो ये दोनों मुनि सिद्धान्त स्थापित करते हैं वह अन्य सबको माननीय होता है। 'रङ्कोरमनुष्येऽण् च'[3] सूत्र में 'अमनुष्य' ग्रहण तथा 'अण्' ग्रहण दोनों का निरास करके केवल 'रङ्कोश्च' इतना सूत्र ही भाष्यवार्तिककार दोनों ने स्वीकार किया है जबकि काशिकाकार आदि वृत्तिकार 'अमनुष्य' ग्रहण तथा 'अण्' ग्रहण को सूत्र में सप्रयोजन स्वीकार करते हैं।[4] इस विलक्षणता को देखकर ही प्रदीपकार कहते हैं।

"न हि भाष्यकारवार्तिककाराभ्यामभियुक्ततरः शब्दविषये कश्चिदस्तीति।"[5]

इसलिये स्वाभाविक अर्थाभिधान को मुख्य मानकर शब्द साधन की प्रक्रिया को अधिक महत्त्व न देते हुए उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य ही है। इससे 'कौलः', 'कौलेयकः', 'कौक्षः', 'कौक्षेयकः', 'ग्रैवः', 'ग्रैवेयकः' इनके परस्पर अर्थ में भेद भी स्पष्ट हो जाता है। भाष्यकार की यह सूत्र प्रत्याख्यान-शैली अन्यत्र भी द्रष्टव्य है। वे शेषाधिकार के प्रथम अर्थ "तत्र जातः" इस सूत्र पर विचार करते हुए कहते हैं—

१, पा० ४.४.२।

२. पा० ४.३.७४।

३. पा० ४.२.१००।

४. क्योंकि वृत्तिकार होने के नाते काशिकाकार के लिये तो यही न्याय्य है कि वह सूत्रकार के सूत्र का ही यथासंभव समर्थन करे—'सूत्रार्थ प्रधानो ग्रन्थो वृत्तिः' (प० मं० का प्रारम्भ)।

५, महा० प्र० भा० ३, सू० ४.२.१००, पृ० ६७२।

"न तर्हीदानीं जातादयोऽर्था निर्देष्टव्याः । निर्देष्टव्याश्च । किंप्रयोजनम् । अपवादविधानार्थम् । प्रावृषष्ठम्—प्रावृषिजातः प्रावृषिकः । क्व मा भूत-प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः यानि त्वेतानि निरपवादान्यर्थादेशनानि तानि शक्या-न्यकर्तुम् । कृतलब्धक्रीत कुशलाः स्रौघ्नो देवदत्त इति ।"[१]

कितनी सुन्दर प्रत्याख्यान शैली है जिसका अनुभव सहृदय वैयाकरण धुरीण विद्वान् ही कर सकते हैं। आचार्य चन्द्रगोमी तथा देवनन्दी भी इस सूत्र के प्रत्याख्यान में सहमत हैं ।[२] अतः प्रत्येक दृष्टि से सूत्र अनावश्यक ही है ।

सर्वत्राण् च तलोपश्च ॥४.३.२२॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'शैषिक' प्रकरण का है । इसका अर्थ है कि 'हेमन्त' शब्द से सर्वत्र अर्थात् लोक और वेद सब जगह 'शैषिक अण्' प्रत्यय होता है और 'अण्' प्रत्यय के संनियोग के साथ 'हेमन्त' के तकार का लोप भी हो जाता है । चकार से "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्"[३] से विहित 'अण्' प्रत्यय भी पक्ष में होता है । जैसे—'हेमन्ते भवः हैमनः, हैमन्तः ।' यहां 'हेमन्त' शब्द से इस सूत्र से विहित 'अण्' प्रत्यय के साथ 'हेमन्त' के तकार का लोप और आदि वृद्धि होकर 'हैमनः' यह रूप बनता है । जहां इससे 'अण्' नहीं हुआ वहां

---

१. महा० भा० २, सू० ४.३.२५, पृ० ३०७ ।

२. प्रकृत सूत्र चान्द्रव्याकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति में ३.२.५ सूत्र पर खण्डित किया गया है । जैनेन्द्र व्याकरण में यह सूत्र एक वार्तिक के रूप में देखने में आता है—'कुलकुक्षि ग्रीवाभ्यो यथासंख्यं श्वासमलंकारेष्विति वक्तव्यम्' (३.२.७५) ।
हां शाकटायन आदि व्याकरणों में इस सूत्र की सत्ता अवश्य विचारणीय ही है ।
शा० सू० ३.२.६—'कुलकुक्षिग्रीवाच्छ्वास्मलंकारे ।'
स० सू० ४.३.८—'कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलंकारेषु ।'
है० सू० ६.३.१२—'कुलकुक्षिग्रीवाच्छ्वास्यलंकारे ।'

३. पा० ४.३.१६ ।

"सन्धिवेलादि०" सूत्र से 'अण्' होकर आदिवृद्धि द्वारा 'हैमन्तः' यह रूप बन जाता है। "सन्धिवैलादि" सूत्र से होने वाले 'अण्' प्रत्यय में तकार का लोप नहीं होता क्योंकि वह इसी सूत्र से विहित 'अण्' के साथ संनियोग-शिष्ट है।

तकारलोप पक्ष में दो मत हैं। कोई पूरे 'त' शब्द का लोप मानते हैं। उनके मत में 'हेमन्' इस प्रकार 'अन्नन्तं' हो जाने से "अन्"[1] से प्रकृति-भाव होकर "नस्तद्धिते"[2] से टिलोप नहीं होता तो 'हैमनः' बन जाता है। जो 'हेमन्त' शब्द में पूरे तकार का लोप न मानकर केवल 'त्' वर्ण का लोप मानते हैं उनके मत में शेष अकार का 'यस्येति च'[3] से लोप हो जायेगा। "यस्यति च" और "नस्तद्धिते" दोनों के "असिद्धवदत्राभात्"[4] के अधिकार में 'आभीय' होने से "यस्येति च" से हुए अकारलोप की असिद्धता हो जायेगी तो 'हेमन्' नकारान्त न रहने से "नस्तद्धिते" से टिलोप नहीं होगा। इस प्रकार दोनों मतों में 'हैमनः' यह रूप बन जायेगा।[5]

सूत्र में 'सर्वत्र' ग्रहण का प्रयोजन यही है कि यहां "छन्दसि ठञ्"[6] से अनुवृत्त 'छन्दसि' की अनुवृत्ति न आये और यह सूत्र लोक-वेद सब जगह प्रवृत्त हो सके। काशिकाकार लिखते हैं यहां 'सर्वत्र' ग्रहण 'छन्दसि' की अनुवृत्ति न होने में तात्पर्यग्राहक[7] है। उनके विचार से 'सर्वत्र' शब्द का सम्बन्ध 'देहलीदीपक न्यायेन' "हेमन्ताच्च"[8] से होने वाला 'ठञ्' प्रत्यय वेद

---

१. पा० ६.४.१६७।
२. पा० ६.४.१४४।
३. पा० ६.४.१४८
४. पा० ६.४.२२।
५. द्र०—प० मं० सू० ४.३.२२—"यदा तशब्दस्य समुदायस्य लोपस्तदा 'अन्' इति प्रकृतिभावात् नस्तद्धिते इति टिलोपो न भवति। यदा तु तकारस्यानेन लोपः अकारस्य तु यस्येति च इति लोपः, तदा तस्य असिद्धवदत्राभात्' इत्यसिद्धत्वात् स्थानिवद्भावाच्च टिलोपाभावः।"
६. पा० ४.३.१९।
७. द्र० का० भा० ३, सू० ४.३.२२, पृ० ६३१—'सर्वत्रग्रहणं छन्दोऽधिकार-निवृत्त्यर्थम्।'
८. पा० ४.३.२१।

के समान लोक में भी स्वीकार्य है। 'हैमन्तिकम्' यह रूप वेद के समान लोक में भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार 'हेमन्त' शब्द के तीन रूप शैषिक अर्थ में बनते हैं—'हैमनः', 'हैमन्तः', हैमन्तिकः।' ये तीनों ही लोक वेद में समान हैं।

प्रकृत्यन्तर द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं—"हेमन्तस्याणि तलोपवचनानर्थक्यं हेम्नः प्रकृत्यन्तरत्वात्। हेमन्तस्याण्वचनं अणि च तलोपवचनमनर्थकम्। किं कारणम्—हेम्नः प्रकृत्यन्तरत्वात्। प्रकृत्यन्तरं हेमन् शब्दः आतश्च प्रकृत्यन्तरम् एवं ह्याह—'हेमन् हेमन्नागनीगन्ति कर्णौ तस्मादेतौ हेमन्नशुष्यतः इति। तत्र ऋतुभ्यः इत्येव सिद्धम्।'"[1]

इसका तात्पर्य यह है कि 'हेमन्त' के समान अर्थ वाला पृथक् 'हेमन्' शब्द है। उसी से 'हैमनः' यह रूप बन जायेगा।[2] 'हैमन्तः' और 'हैमन्तिकः' ये दोनों रूप 'हेमन्त' शब्द के बन जायेंगे। इस प्रकार अभीष्ट तीनों रूपो की सिद्धि हो जाने से यह सूत्र अनर्थक है। 'हेमन्' शब्द से 'सन्धिवेलादि०'[3] सूत्र से 'अण्' होकर प्रकृतिभाव द्वारा 'हैमनः' सिद्ध हो जाता है। 'सर्वेविधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते'[4] के अनुसार 'हेमन्त' शब्द से भी "सन्धिवेलादि०" सूत्र से 'अण्' हो जायेगा तो 'हैमन्तः' यह भी सिद्ध हो जाता है। 'हेमन्ताञ्च'[5] से 'ठञ्' होकर 'हैमन्तिकः' यह भी सिद्ध हो जायेगा।

---

१. महा भा० २, सू० ४.३.२२, पृ० ३०४—'हेमन् हेमन्नागनीगन्ति—' इत्यादि उद्धरण कहां के हैं यह द्रष्टव्य है। केवल इतना अंश तो देखने में आता है—'आगनीगन्ति कर्णम्' (भा० यजुः, २९.४०)।

२. द्र० शब्दकल्पद्रुम, पंचमकाण्ड, पृ० ५४८ 'हेमन्त—ऋतुविशेषः। स तु आग्रहायणपौषात्मकः।—हेमन् शब्दोप्यस्ति इति माधवी। इति भरतः॥ तत्पर्यायः। हेमनः। इतिशब्दरत्नावली।

३. पा० ४.३.१६।

४. महा० भा० १, सू० १.४.१०, पृ० ३१५। परि० सं० ३५।

५. पा० ४.३.२१।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यवार्तिक द्वारा किया गया इस सूत्र का प्रत्याख्यान युक्तियुक्त ही है। शब्दों का साधन करना है। जो अभिहित लौकिक प्रयोग हैं और साधु शब्द हैं, उनका व्युत्पादन किसी भी अभ्युपाय से करने में कोई अनौचित्य नहीं है। जब 'हेमन्' शब्द 'हेमन्त' का पर्यायवाची उपलब्ध होता है तो उसी से 'अण्' करके 'हैमनः' बन सकता है। जैसे 'पद्', 'दत्', 'नस्', 'मास्', 'हृद्'[1] आदि 'पादादि' के प्रकृत्यन्तर हैं। भाष्यकार की दृष्टि से ये सब आदेश नहीं हैं। वही अवस्था यहां पर भी है। यहां पर भी 'हैमन', 'हैमन्त' और 'हैमन्तिक' इन तीनों में परस्पर वर्णविकार या वर्णलोप न मानकर इन्हें स्वतन्त्र प्रकृति से सिद्ध मानना चाहिये। ऐसा मानने में ही लाघव तथा अर्थबोध भी सुकर होगा। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी यही न्याय्य मार्ग जंचता है कि 'हैमनः' की प्रकृति 'हेमन्' शब्द है तथा 'हैमन्त' एवं 'हैमन्तिक' की प्रत्ययभेद से 'हेमन्त' शब्द है। भाष्यवार्तिककार के द्वारा प्रस्तावित न्यासान्तरों या सूत्रप्रत्याख्यान प्रकारों से पूरा-पूरा लाभ उठाने वाले चान्द्र आदि व्याकरणों में प्रकृत सूत्र की सत्ता अवश्य विचार का विषय है। वहां उक्त सूत्र का यह स्वरूप है—

"हेमन्ताद्वा तलोपश्च" (चा० सू० ३.२.८०)
'हेमन्तात्तखम्' (जै० सू० ३.२.१३८)
'निशाप्रदोषहेमन्तात्। लुक्तोऽणि' (शा० सू० ३.१.७०-७१)
'हेमन्ताद्वा तलोपश्च' (स० सू० ४.३.११५)
'हेमन्ताद्वा तलुक्च (है० सू० ६.३.९१)॥

प्रायभवः ॥४.३.३९॥

सूत्र की सप्रयोजना स्थापना

यह सूत्र 'शैषिक' प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'वहां पर प्रायः होने वाला' इस अर्थ में प्रातिपदिक से 'प्राग्दीव्यतीय अण्' आदि प्रत्यय होते हैं। शैषिक प्रत्ययों के अर्थों में यह भी एक विशेष अर्थ है। जैसे 'तत्रजातः', 'तत्र भवः', 'तस्येदम्'[2] आदि अर्थ 'शेषाधिकार' में आते हैं वैसे 'प्राय भवः'

---

१. पा० ६.१.६३।
२. पा० ४.३.२५, ५३, १२०।

यह अर्थ भी साधिकार रूप से 'शैषिकों' में गिना जाता है। जैसे—'स्रुघ्ने प्रायेण भवति इति स्रौघ्नः' 'मथुरायां प्रायेण भवति माथुरः'। 'राष्ट्रे प्रायेण भवति राष्ट्रियः इत्यादि। यहां 'स्रुघ्न' और 'मथुरा' शब्दों से किसी विशेष प्रत्यय का विधान नहीं किया गया है। अतः सामान्य विहित 'प्राग्दीव्यतीय अण्' प्रत्यय हो जाता है। 'अण्' के 'णित्' होने से "तद्धितेष्वचामादेः"[1] से आदिवृद्धि और "यस्येति च"[2] से अवर्ण का लोप होकर 'स्रौघ्नः', 'माथुरः' ये रूप बन जाते हैं। 'राष्ट्रियः' में राष्ट्रावारपाराद् घखौ"[3] से विशेषविहित 'घ' प्रत्यय हो जाता है। 'घ' को 'आयनेयीनीयियः'[4] से 'इय्' आदेश होकर अवर्णलोप द्वारा 'राष्ट्रियः' यह रूप बन जाता है। इस 'प्रायभव' अर्थ का व्यापार बहुत थोड़ा है। केवल इससे आगे आने वाले "उपजानूपकर्णोपनीवेष्ठक"[5] इस सूत्र में ही यह व्याप्त होता है। आगे 'संभूते'[6] आदि अर्थ चल पड़ते हैं।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान तो स्वयं काशिका आदि वृत्तिकारों ने ही कर दिया है।[7] यद्यपि उनका मूल भी महाभाष्य ही है। काशिकाकार लिखते हैं—

"प्रायभवग्रहणमनर्थकम्, तत्र भवेन कृतार्थत्वात्। अनित्यभवः प्रायभव इति चेत्, नुक्तसंशेयन तुल्यम्'।[8]

१, पा० ७.२.११७।
२. पा० ६.४.१४८।
३. पा० ४.३.६३।
४. पा० ७.१.२।
५. पा० ४.३.४०।
६. पा० ४.३.४१।
७. क्योंकि काशिका एक वृत्तिग्रन्थ है। अतः उसका लक्ष्य सूत्रानुमोदन करना ही होता है। लेकिन जब काशिका ही इस सूत्र को अनर्थक कह रही है तो इसका सीधा सा मतलब है कि प्रकृत सूत्र सर्वथा प्रत्याख्येय ही है।
८. का० भा० ३, सू० ४.३.३९, पृ० ६४३-६४४।

हूबहू यही शब्द भाष्यवार्तिककार के हैं। जिनका भाव है कि 'तत्र भवः'[1] के अर्थ से ही 'प्रायभव' अर्थ संगृहीत हो जाता है। अतः यह पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं है। यदि यह कहा जाये कि 'प्रायभव' का अर्थ कभी-कभी रहने वाला है, जो स्थिर नहीं रहता। अनित्य रहता है और 'तत्रभवः' का अर्थ सर्वथा स्थिर रहने वाला या नित्य रहने वाला है, तो यह बात ठीक नहीं। क्योंकि जिस 'तत्रभव' को स्थिर रहने वाला मानकर जो 'स्रुघ्नेभवः स्रौघ्नः देवदत्तः' यह उदाहरण दिया जाता है, वह 'देवदत्त' भी तो 'स्रुघ्न' में सदा स्थिर नहीं रहता। वह कार्यवशात् 'स्रुघ्न' से बाहर भी चला जाता है। इसलिए 'तत्रभव' का उदाहरण भी 'प्रायभवः' के समान ही है। पुनः यदि यह कहा जाये 'स्रौघ्नः देवदत्तः' में तो 'नित्यभव' और 'प्रायभव' दोनों समान प्रतीत होते हैं किन्तु 'स्रुघ्ने भवाः प्रासादाः प्रकारा वा स्रौघ्नाः' यहां 'प्रासाद' और 'प्राकार' तो 'स्रुघ्न' में सदा स्थिर रहते हैं, यह 'नित्यभव' का उदाहरण बन सकता है। इसमें 'प्रायभव' का काम नहीं, तो इसका उत्तर है कि "तत्रभवः" के अधिकार में 'जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः'[2] से 'छ' प्रत्यय का विधान किया गया है। वहाँ 'जिह्वभूले भवं जिह्वामूलीयम्'। अङ्गुल्यां भवम् अङ्गुलीयम्' इन उदाहरणों में 'जिह्वामूल' में वर्णों के हमेशा स्थिर न रहने के कारण तथा 'अङ्गुलि' में अंगूठी के हमेशा विद्यमान न रहने के कारण 'तत्र भवः' का अर्थ कैसे घटेगा। वहां तो स्पष्ट ही 'प्रायभव' है। 'अङ्गुलि' में अंगूठी प्रायः रहा करती है। वह कभी उतार भी ली जाती है। 'जिह्वामूल' में वर्ण भी जब उच्चारण करने की इच्छा हो तब प्रायः रहा करते हैं हमेशा नहीं रहते। इससे मालूम होता है कि 'प्रायभव' और 'तत्रभव' दोनों समान ही हैं। अन्यथा 'प्रायभव' के अर्थ को 'तत्रभव' के अर्थ में क्यों रखा गया।

यहां यह शङ्का करना कि "उपजानूपकर्णोपनीवेष्ठक्"[3] से 'उपजानु' शब्द से विहित 'ठक्' प्रत्यय 'प्रायभव' अर्थ में ही हो, 'तत्रभव' अर्थ में न हो, इसलिए 'प्रायभवः' यह सूत्र बनाया है तो इस सन्दर्भ में शङ्काकर्ता से ही यह पूछा जाता है कि 'तत्रभवः' इसके अधिकार में पठित "शरीरावय-

---

१. पा० ४.३.५३।

२. पा० ४.३.६२।

३. पा० ४.३.४०।

वाच्च"[1] से विहित 'यत्' प्रत्यय 'उपजानु' शब्द से क्यों नहीं होता। क्योंकि 'उपजानु' अर्थात् जानु के समीप शरीर का कोई अवयव भी शरीरावयव होने से वहां 'यत्' प्राप्त होता है। 'तत्रभवः' और 'प्रायभव' में वे भेद मानते ही हैं तो वहां 'तत्र भवः' के अधिकार में कहा गया 'यत्' प्रत्यय अवश्य होना चाहिये। पुनः यह कहना कि 'अनभिधानात्' वहां 'यत्' प्रत्यय नहीं होगा। क्योंकि 'उपजानु' शब्द से 'तत्रभव' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय करने पर अभिमत अर्थ का अभिधान नहीं होता तो वही बात यहां पर भी है कि 'उपजानु' शब्द से 'तत्रभव' अर्थ में किये गये 'ठक्' प्रत्यय से अभिमत अर्थ का अभिधान नहीं होगा। इसलिये चाहे 'तत्रभव' कहा जाये या 'प्रायभव' दोनों में कोई फर्क नहीं पड़ता। शब्द के प्रयोग में उसके अभिधान या अनभिधान का प्रश्न है। इस प्रकार भाष्यकार ने अपनी युक्तिपूर्ण वाचोयुक्ति से इस सूत्र का खण्डन कर दिया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

'तत्रभवः' यह 'सामान्य' है। 'प्रायभवः' यह 'विशेष' है। 'सामान्य' में 'विशेष' का अन्तर्भाव हो ही जाता है। अतः 'तत्रभवः' से गतार्थ होने पर यह सूत्र व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। भाष्यकार अपनी अतिसूक्ष्मेक्षिका से शब्दप्रयोग का विचार करते हैं। अतः उनके द्वारा प्रत्याख्यात यह सूत्र अनावश्यक बन जाता है। इस सूत्रके प्रत्याख्यान से भाष्यकार ने एक दिशा दिखाई है कि वस्तु के निर्णय में उसके अवान्तर छोटे-छोटे भेद नहीं गिने जाते। नित्य रहना या कभी-कभी रहना, दोनों में रहना तो है ही। इसलिए नित्य-अनित्य का भेद न करके केवल रहने को ही मुख्य मानकर इस सूत्र का अन्तर्भाव 'तत्रभवः' में हो सकता है, इस विषय में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं।

किन्तु इसी के साथ 'तत्र जातः' की विद्यमानता में 'तत्र लब्धः', 'तत्र क्रीतः', 'तत्र कुशलः'[2] इत्यादि की भी समीक्षा होनी चाहिये। इस 'प्राग्दीव्यतीय' प्रकरण में विशेष रूप से 'शैषिकों' में आचार्य पाणिनि ने कुछ अर्थ ऐसे उपन्यस्त कर दिये हैं जो प्रायःपुनरुक्त से दीखते हैं। उनमें यत्किंचित् ही अन्तर है। जैसे—'तत्र जातः', 'तत्र कृतः' इनमें थोड़ा ही अन्तर है, बल्कि

---

१. पा० ४.३.५५।

२. पा० ४.३.२८—"कृतलब्धक्रीतकुशलाः।"

'जो वहां किया है, वह वहां पैदा हुआ है' यह दोनों एक ही अर्थ के सूचक है। 'तत्र लब्धः', 'तत्र क्रीतः' (वहां प्राप्त किया और वहां खरीदा) ये भी एक ही अर्थ के परिचायक हैं। 'जो खरीदा है, वह प्राप्त ही किया है।' किन्तु 'जो प्राप्त किया है, वह खरीदा है', ऐसा तो पूर्णतया संभव नहीं है। क्योंकि 'दान' आदि से भी वस्तु प्राप्त की जाती है और खरीदकर भी। अस्तु, इनके अतिरिक्त 'संभूते'[1] इस अर्थ का केवल एक ही सूत्र में उपयोग हुआ है और वह भी अनर्गल सा है। 'संभूते' के बाद 'कोशाड्ढञ्'[2] यह सूत्र है। 'कोशे संभूतं कौशेयम्' यह उदाहरण है। किन्तु यह असंगत है। स्वयं भाष्यवार्तिककार कहते हैं—

"विकारे कोशाड्ढञ् वक्तव्यः, न संभूते। न हि कौशेयं कोशे संभवति अपितु कोशस्य विकारो भवति।"[3]

इस पर कैयट लिखते हैं—"इदं सूत्रं 'तस्य विकारः' इत्यत्र प्रकरणे कर्तव्यम्। 'एण्या ढञ्' इत्यस्यानन्तरं कोशात् इति वक्तव्यम्।" "सभूते" के अर्थ में "कोशाड् ढञ्" रखने का तात्पर्य संभवतः आचार्य पाणिनि का यह है कि वे 'सत्कार्यवाद' की झलक अपने शास्त्र में दिखाते हैं। 'तन्तुषु पटः' की तरह 'कोशे संभूतः पटः' यह कारण में विद्यमान कार्य को सूचित करता है। भाष्यकार तो सांख्यसिद्धान्त के मानने वाले पद-पद पर प्रत्यक्ष दीखते हैं किन्तु "संभूते", "कोशाड्ढञ्" इन दोनों सूत्रों को देखते हुए आचार्य पाणिनि भी 'सत्कार्यवाद' के समर्थक प्रतीत होते हैं।[4]

अस्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में सभी अर्वाचीन वैयाकरण भी सहमत हैं कि प्रकृत सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इसका प्रत्याख्यान ही ठीक है।

---

१. पा० ४.३.४१।

२. पा० ४.३.४२।

३. महा० भा० २, सू० ४.३.४२, पृ० ३०६।

४. प्रौ० म० सू० ४.३.४२,—'कोशेयमिति। रूढोयम्। कोशेसम्भवस्तु सत्कार्यवादाश्रयणात्। मतान्तरे तु विकारप्रकरणे एण्या ढञ् इत्यस्यानन्तर 'कोशाच्च इति पाठ्यम्।' इसी स्थल पर तत्त्वबोधिनी भी द्रष्टव्य है—'कोशे संभवस्तु सत्कार्यवादाभिप्रायेण।'

अव्ययीभावाच्च ॥४.३.५९॥

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

यह सूत्र 'शैषिक' प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि अव्ययीभाव संज्ञक 'परिमुख' आदि शब्दों से 'तत्र भवः' के अर्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है। यहां अव्ययीभाव संज्ञक सब शब्दों से 'ञ्य' प्रत्यय नहीं होता किन्तु "परिमुखादिभ्य एवेष्यते"[1] इस 'इष्टि' से केवल 'परिमुख' आदि अव्ययीभावसंज्ञक शब्दों से ही होता है। "दिगादिभ्यो यत्"[2] इस सूत्र प्रोक्त दिगादिगण के बाद "परिमुखादिभ्यश्च" यह गणसूत्र पढ़ा गया है जिसमें 'परिमुख', 'परिहनु', 'पर्योष्ठ', 'पर्युलूखल' इत्यादि अव्ययीभावसंज्ञक शब्दों का पाठ है। उन्हीं निश्चित किये हुए शब्दों से यह सूत्र 'ञ्य' प्रत्यय करता है, सबसे नहीं। इसीलिये वार्तिककार ने "ञ्यप्रकरणे परिमुखादिभ्य उपसंख्यानम्"[3] इस वार्तिक द्वारा 'परिमुखादि' शब्दों से 'ञ्य' प्रत्यय का उपसंख्यान किया है। 'परिमुख' आदि से भिन्न अन्य 'उपकूल' आदि अव्ययीभावसंज्ञक शब्दों से 'ञ्य' प्रत्यय नहीं होता है। "अव्ययीभावाद् विधाने उपकूलादिभ्यः प्रतिषेधः"[4] इस वार्तिक द्वारा 'उपकूल' आदि शब्दों से 'ञ्य' प्रत्यय का निषेध किया गया है। 'परिमुख' आदि तथा 'उपकूल' आदि दोनों के अव्ययीभावसंज्ञक होने पर भी इस सूत्र द्वारा केवल 'परिमुख' आदि से ही 'ञ्य' प्रत्यय अभीष्ट है। जैसे—'परिमुखं भवं पारिमुख्यम्'। 'पारिहनव्यम्'। 'प्रातिशाख्यम्' इत्यादि।

यहां 'परिमुख' आदि अव्ययीभावसमास वाले शब्दों से 'तत्रभव' अर्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होकर आदिवृद्धि तथा 'यस्येति च'[5] से अवर्णलोप आदि हो जाते हैं तो 'पारिमुख्यम्' आदि शब्द बन जाते हैं। 'पारिहनव्यम्' में "ओर्गुणः"[6] से 'हनु' के उकार को गुण होकर अवादेश हो जाता है। 'उपकूल' आदि में

---

१. पा० ४.३.५९ पर वार्तिक, वै० सि० कौ० भा० २, पृ० ४१९ से उद्धृत।
२. पा० ४.३.५५।
३. महा० भा० २, सूत्र ४.३.५८ पर वार्तिक, पृ० ३१०।
४. वही।
५. पा० ६.४.१४८।
६. पा० ६.४.१४६।

तो 'ञ्य' का प्रतिषेध हो जाने से सामान्य 'प्राग्दीव्यतीय अण्' प्रत्यय ही होता है। उससे 'औपकूलः', 'औपमूलः', 'औपशालः' ये रूप बनते हैं। 'उपकूलं भवम्', 'उपमूलं भवम्', 'उपशालं भवम्' ये विग्रह हैं।

अतिव्याप्तिदोषग्रस्त होने से न्यासान्तर द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का साक्षात् प्रत्याख्यान न तो काशिका आदि वृत्तिकारों ने किया है और न ही भाष्यकार या वार्तिककार ने किया है। इस दृष्टि से यह अस्पष्टलिङ्ग प्रत्याख्यान है। केवल उद्द्योतकार नागेश ने निम्न शब्द कहे हैं—'परिमुखादिभ्य इत्येवोक्त्वा अव्ययीभावाच्च इति न वक्तव्यम् इति भावः'।[1] प्रदीपकार भी ऐसा लिखते हैं—"अव्ययीभावाच्च इत्येतदतिव्यापकत्वाद् अकृत्वा परिमुखादिभ्य एव ञ्यो विधेयः। गणे चाव्ययीभावकार्ययुक्तानि परिमुखादीनि पठितव्यानि, न तु प्रातिपदिकान्येव। तेन तेषां बहुव्रीहितत्पुरुषाणां ग्रहणं न भविष्यतीतिभावः।[2]

कैयट तथा नागेश दोनों का तात्पर्य इस सूत्र के स्थान में "परिमुखादिभ्यः" के बनाने में ही है। इस प्रकार न्यासपरिवर्तन से यह सूत्र प्रत्याख्येय हो जाता है। "परिमुखादिभ्यः" के कहने से "उपकूलादिभ्यः प्रतिषेधः" इस वार्तिक की आवश्यकता न रहेगी। "अव्ययीभावाच्च" के न्यास में तो 'परिमुख' आदि के साथ 'उपकूलादि' अव्ययीभावसंज्ञक शब्दों से भी 'ञ्य' प्रत्यय प्राप्त होगा। उनके निषेध के लिये वार्तिक बनाना पड़ेगा। अतः इस सूत्र को हटाकर "परिमुखादिभ्यः" ऐसा सूत्र बनाना ही अधिक उपयुक्त है। 'परिमुख' आदि भी व्याख्यान से[3] अव्ययीभाव ही लिये जायंगे। इसीलिये महाभाष्य के मर्मज्ञ विद्वान् तथा कृतभूरिपरिश्रम आचार्य चन्द्रगोमी ने भी अपने व्याकरणतन्त्र में प्रकृत सूत्र के स्थान पर भाष्यवार्तिककार द्वारा प्रस्तावित "ञ्यप्रकरणे परिमुखादिभ्यः उपसंख्यानम्" इस वार्तिक का संक्षिप्त रूप "परिमुखादिभ्यः" (३.३.२३) यह सूत्र बनाया है। इससे भी उक्त सूत्र अतिव्याप्ति दोष ग्रस्त सिद्ध होने के साथ-साथ प्रत्याख्येय बन

---

१. महा० प्र० उ० भा० ३, सू० ४.३.५९, पृ० ७०६।

२. महा० प्र० वही, पृ० ७०६।

३. द्र० 'परि०सं० १—'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्'।

जाता है। "अन्तःपूर्वपदाट् ठञ्", "ग्रामात्पर्यनुपूर्वात्"[1] इन दोनो उत्तर सूत्रों में अव्ययीभाव ग्रहण करके अभीष्ट सिद्ध हो जायेगा।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वस्तुतः यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य है ही नहीं। क्योंकि इसको हटा करके भी "परिमुखादिभ्यः" यह बनाना पड़ेगा। इस न्यासपरिवर्तन से सूत्र का प्रत्याख्यान थोड़े हो जायेगा। अव्ययीभाव से 'ञ्य' प्रत्ययविधान की आवश्यकता तो रहेगी ही, वह चाहे केवल 'परिमुख' आदि के लिये ही हो। उत्तर सूत्रों के लिए 'अव्ययीभाव' ग्रहण की अनुवृत्ति अत्यन्त अपेक्षित है।[2] उनके लिये अलग 'अव्ययीभाव' ग्रहण की अपेक्षा "अव्ययीभावाच्च" इस सूत्र से 'अव्ययीभाव' का काम चलाने में ही लाघव है। अतः यह सूत्र रहना ही चाहिये। इसीलिये जैनेन्द्र—व्याकरणकार ने पाणिनिसम्मत सूत्र ही रखा है।[3] इस प्रकृत न्यास में अतिव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये शाकटायन आदि अन्य आचार्यों ने 'अव्ययीभाव' के साथ 'परिमुखादि' ग्रहण भी किया है।[4] लेकिन इसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। क्योंकि जैसे 'शिल्पिनि ष्वुन्'[5] का 'नृति', 'खनि' और 'रञ्जि' यह परिमित विषय है[6] वैसे इस सूत्र का भी 'परिमुख' आदि परिमित विषय समझा जायेगा। उससे सूत्र की उपयोगिता नष्ट नहीं होती॥

---

१. पा० ४.३.६०-६१।

२. प्रौ० म० प्रकृत सूत्र—'अव्ययीभावग्रहणस्योत्तरत्रोपयोगाच्चेति भावः।

३. जै० सू० ३.३.३४—'हात्'। जैनेन्द्रव्याकरण में अव्ययीभाव की 'ह' संज्ञा रखी गई है।

४. शा० सू० ३.१.१२४—'परिमुखादेरव्ययीभावात्।'

स० सू० ४.३.१५७—'परेर्मुखौष्ठहनूलूखलेभ्योऽव्ययीभावे।'

है० सू० ६.३.१३६—'परिमुखादेरव्ययीभावात्'।

५, पा० ३.१.१४५।

६. द्र० पा० ३.१.१४५ पर वार्तिक—'नृतिखनि रञ्जिभ्य एव।'

ञितश्च तत्प्रत्ययात् ॥४.३.१५३॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र विकारावयवार्थक तद्धित प्रत्यय प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि जिस प्रातिपदिक से विकारावयव अर्थ में 'ञित्' प्रत्यय हुआ है, उस ञित्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से विकारावयव अर्थ में ही 'अञ्' प्रत्यय होता है। विकार और अवयव अर्थ में विहित प्रत्यय सात हैं। उनके विधायक सूत्र निम्न हैं—

"ओरञ्"। "अनुदात्तादेश्च।" "पलाशादिभ्यो वा।" "शम्पाष्ट्लञ्।" "प्राणिरजतादिभ्योऽञ्।" "उष्ट्राद्वुञ्।" "उमोर्णयोर्वा।" "एण्या ढञ्।" "कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक् च।"[1]

'अञ्', 'ट्लञ्', 'वुञ्', 'ढञ्', 'यञ्' इन प्रत्ययों का अकार 'इत्' संज्ञक होने से ये 'ञित् प्रत्यय' कहलाते हैं। इनमें "ओरञ्" यह उवर्णान्त प्रातिपदिक से विकारावयव अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय करता है। जैसे—'देवदारु' यह शब्द उवर्णान्त है। उसके विकारावयव अर्थ में देवदारोः विकारः अवयवो वा इति दैवदारवः।'

यहां 'अञ्' प्रत्यय होकर आदिवृद्धि ओर "ओर्गुणः"[2] से गुण तथा अवादेश हो जाता है तो 'दैवदारवः' बन जाता है। 'दैवदारव' इस विकारार्थक 'अञ्' प्रत्ययान्त शब्द से उसके भी विकार कहने में इस सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय हो जायेगा तो 'दैवदारवस्य विकार; दैवदारवः' यही रूप बनेगा। 'अञ्' प्रत्यय परे रहते "यस्येति च"[3] से अकार का लोप हो जायेगा तो एक सा ही रूप रहेगा। 'देवदारु' के विकार को 'दैवदारव' कहेंगे तो 'देवदारव' का विकार भी 'दैवदारव' ही कहलायेगा। केवल प्रत्यय का अन्तर हो जायेगा। इसी प्रकार "अनुदात्तादेश्च" से अनुदात्तादि प्रातिपदिक से विहित 'अञ्' प्रत्ययान्त से भी यह सूत्र विकारावयव अर्थ में 'अञ्' कर देगा तो 'दधित्थस्य विकारः अवयवो वा दाधित्थः' बनकर 'दाधित्थस्य विकारः अवयवो वा

---

१. पा० ४.३. १३७,१३८, १३९, १४०, १५२, १५५, १५६, १५७, १६६।

२. पा० ६.४.१४६।

३. पा० ६,४.१४८।

दाधित्थः' यही रूप बनेगा। 'दधित्थ' शब्द अन्तोदात्त है अतः शेषनिधात[1] से उसका आदि अक्षर अनुदात्त हो जायेगा तो 'दधित्थ' शब्द अनुदात्तादि बन जाता है।

इसी प्रकार "पलाशादिभ्यो वा"[2] से भी विहित 'अञ्' प्रत्ययान्त से यह 'अञ्' कर देगा तो 'पलाशस्य विकारः पालाशः।' 'पालाशस्य विकारोऽपि पालाशः' यह रूप बनेगा। "शम्याष्ट्लञ्"[3] से भी 'शमी' शब्द से विहित 'ट्लञ्' प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से यह विकार अवयव अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय कर देगा तो 'शम्याः विकारः शामीलः।' 'शामीलस्य विकारोऽपि शामीलः' यही रूप बनेगा। 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्'[4] से भी प्राणिवाची 'कपोत' शब्द से तथा 'रजत' शब्द से विकारावयव अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होकर 'कापोतः', 'राजतः' बन जायेगा। उनसे विकार अवयव अर्थ में 'अञ्' होकर 'कापोतस्य राजतस्य च विकारः कापोतः राजतः' यही रूप बनेगा। "उष्ट्राद्वुञ्"[5] से भी 'उष्ट्र' शब्द से विकारावयव अर्थ में 'वुञ्' होकर 'औष्ट्रकः' बन जायेगा। फिर उस विकार प्रत्ययान्त से इस सूत्र द्वारा 'अञ्' होकर 'औष्ट्रकः' यही रूप बनेगा। "उमोर्णयोर्वा"[6] से भी पक्ष में 'उमा' और 'ऊर्णा' शब्द से विकार अवयव अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय होकर 'औमकः', 'और्णकः' बनता है। उससे फिर विकार अवयव अर्थ में 'अञ्' हो जायेगा तो 'औमकः', 'और्णकः' यही रूप बनेंगे। 'एण्या ढञ्'[7] से भी 'एणी' शब्द से विकार अवयव अर्थ में 'ढञ्' होकर 'एणेयः' बनता है। उस 'ऐणेय' से भी विकार अवयव में 'अञ्' हो जायेगा तो 'ऐणेयः' यही रूप बनेगा। "कंसीयपरशव्ययोर् यञञौ लुक् च"[8] से भी 'कंसीय', 'परशव्य' शब्दों से विकार अवयव अर्थ में क्रम से 'छ' और 'यत्' प्रत्यय का लुक् होकर 'यञ्' और 'अञ्' हो जाते हैं तो

---

१. पा० ६.१.१५८।
२. पा० ४.३.१३९।
३. पा० ४.३.१४०।
४. पा० ४.३.१५२।
५. पा० ४.३.१५५।
६. पा० ४.३.१५६।
७. पा० ४.३.१५७।
८. पा० ४.३.१६६।

'कांस्यः', 'पारशवः' ये रूप बनते हैं। 'कांस्य' और 'पारशव' शब्दों से भी विकारावयव अर्थ में इस सूत्र से 'अञ्' हो जायेगा तो वही 'कांस्यः', 'पारशवः' ये रूप बन जायेंगे।

सूत्र में 'ञित्' ग्रहण इसलिये किया है कि ञित् प्रत्ययान्तों से 'अञ्' हो। 'बैल्वस्य विकारः बैल्वमयः' यहां 'विल्व' शब्द से विकार अवयव अर्थ में "बिल्वादिभ्योऽण्" से 'अण्' प्रत्यय होकर 'बैल्वः' बनता है। 'अण्' प्रत्यय के 'ञित्' न होने से उसके विकार में यह सूत्र 'अञ्' नहीं करेगा तो 'बैल्व' शब्द के वृद्धः संज्ञक होने के कारण "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः"[२] से 'मयट्' प्रत्यय होकर 'बैल्वमयः' बन जाता है। यही इस सूत्र का प्रयोजन है।

उपचार या लक्षणा से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान करने से पूर्व भाष्यवार्तिककार इसका प्रयोजन बताते हुए कहते हैं—

"विकारावयवयोर्विकारावयवयुक्तत्वान् मयट्प्रतिषेधार्थंञितश्च तत्प्रत्ययादञो विधानम्। एवमर्थमिदमुच्यते।"[३]

अर्थात् विकार का विकार से योग है और अवयव का अवयव से। 'कपोत' का विकार जो मांस है, वह 'कापोत' है। उस मांस का विकार जो रसादिविपाक है, वह भी 'कापोत' है। दोनों 'कापोत' विकार युक्त हैं। इसी प्रकार 'कपोत' का अवयव जो जांघ है, वह 'कापोत' है। उस जांघ का अवयव जो पूर्वापर भाग है वह भी 'कापोत' है। दोनों 'कापोत' अवयवयुक्त हैं। 'कापोत' शब्द के वृद्धसंज्ञक होने से विकार अर्थ में और अवयव अर्थ में "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः"[४] से 'मयट्' प्रत्यय प्राप्त होता है। उसको बांधकर 'अञ्' प्रत्यय करने के लिये यह सूत्र बनाया है जिससे दोनों 'कापोत' शब्दों की एक रूपता हो जाये और स्वर भी दोनों का आद्युदात्त बना रहे, इस प्रकार प्रयोजन बताकर भाष्यवार्तिककार इसका खण्डन करते हैं—

---

१. पा० ४.३.१३६।

२. पा० ४.३.१४४।

३. महा० भा० २ सू० ४.३.१५३, पृ० ३२४।

४. पा० ४.३.१४४।

"न वा दृष्टो ह्यवयवे समुदायशब्दो, विकारे च प्रकृतिशब्दस्तस्मान्मयड्-भावः ।"[१]

अर्थात् यह कोई प्रयोजन नहीं है। अवयव शब्द में समुदायशब्द का प्रयोग देखा गया है और प्रकृति में विकार शब्द का प्रयोग भी देखा गया है। अवयव में समुदाय का प्रयोग जैसे—एक समुदित पाञ्चाल देश को 'यह पूर्व पञ्चाल है', 'यह उत्तर पंचाल है', इस प्रकार अवयव रूप में प्रयुक्त किया जाता है। घी और तैल से मिश्रित पदार्थ खाने पर भी 'हमने घी खाया' या 'तेल खाया' ऐसा प्रयोग करते हैं। प्रकृति में विकार शब्द का प्रयोग जैसे—'मूंग की बनी दाल से चावल खाने पर लोग 'मूंग से चावल खा रहे हैं,' ऐसा प्रयोग करते हैं। उसी प्रकार यहां 'कपोत' के विकार मांस में और उसके अवयव जांघ में 'कपोत' शब्द का प्रयोग करके या अध्यारोप से 'कपोत' के विकार और अवयव को भी 'कपोत' मानकर "प्राणिरजतादिभ्योऽञ्"[२] सूत्र से ही 'अञ्' हो जायेगा तो यह सूत्र अनावश्यक है। यदि यह कहा जाये कि जब विकारान्त से ही विकार कहने की इच्छा होगी, तब 'कापोत' शब्द से 'मयट्' प्राप्त होगा, उसकी निवृत्ति के लिये यह सूत्र आवश्यक है तो उसका उत्तर है कि विकारान्त 'कापोत' शब्द से 'मयट्' करने पर अभिमत अर्थ का अभिधान नहीं होता। अतः 'शब्दशक्तिस्वभाव' से 'मयट्' स्वतः ही नहीं होगा। 'कापोतमयम्' कहने पर अभीष्टार्थ की प्रतीति नहीं होती।

यदि 'मयट्' करने पर यहां अभीष्टार्थ की प्रतीति हो जाती है तो केवल 'कापोतमयम्' ही क्यों, 'बैल्वमयम्' में भी 'मयट्' करके अभीष्टार्थ की प्रतीति हो जानी चाहिये। 'बैल्वस्य विकारः' यहां "बिल्वादिभ्योऽण्"[३] से 'अण्' प्रत्यय हुआ है। यह ('अण्') 'ञित्' प्रत्यय भी नहीं है जहां 'मयट्' का बाधक इस सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय होता है। इसलिए शब्द प्रयोग में अभिधान या अनभिधान ही मुख्य कारण है। यदि 'मयट्' करने से विकार अर्थ का अभिधान हो सकेगा तो 'मयट्' अवश्य होगा। उसे कोई रोक नहीं सकता। जब विकारान्त शब्द से विकार अर्थ में 'मयट्' से अर्थ का अभिधान ही नहीं

१. महा० भाग २, प्रकृतसूत्र, पृ० ३२४।
२. पा० ४.३.१५२।
३. पा० ४.३.१३४।

तो 'मयट्' स्वतः ही नहीं होगा। "अभिधाने ह्यन्यतोऽपि मयट्प्रसङ्गः।[1] शब्दों से अर्थ का अभिधान स्वाभाविक माना जाता है।[2] यदि 'मयट्' करने पर अर्थ का अभिधान वस्तुतः होता है तो वह अन्य विकारान्त शब्दों से भी प्राप्त होगा, न केवल 'ञित्' प्रत्ययान्त विकारों से ही।

यदि इस सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय का विधान न मानकर 'मयट्' का लुक् माना जाये अर्थात् 'ञितश्च तत् प्रत्ययान्ताल्लुक्' ऐसा सूत्र न्यास कर लिया जाय तो[3] उसमें अनेक अन्य दोष उपस्थित हो जाते हैं। यथास्थित न्यास में भी 'औष्ट्रिका उपानत्' (ऊँट के चमड़े की बनी जूती) इस इष्ट रूप के स्थान में 'औष्ट्रकी' यह अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। 'उष्ट्रस्य विकारः औष्ट्रकः' यहां "उष्ट्राद् वुञ्"[4] से 'वुञ्' होता है। 'औष्ट्राकस्य विकारः' इस विकारान्त के विकार में इस सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय होगा तो स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' को बांधकर 'अञन्त' होने से "टिड्ढाणञ्"[5] से ङीप् प्राप्त होगा जोकि अनिष्ट है।[6] इसलिए 'मयट्' के बाधनार्थ यह सूत्र अनावश्यक होता हुआ 'औष्ट्रिका' इत्यादि इष्ट रूपों की सिद्धि में व्याघातक भी है, यह मानना चाहिये।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

विकार के विकार को भी मूल प्रकृति का विकार मानकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान हो सकता है। इस विषय में भाष्यकारादि सभी सहमत हैं। 'कपोत' का विकार मांस और मांस का विकार रसादि विपाक सब 'मूल-कपोत' से ही सम्बद्ध हैं। अतः उस मूल 'कपोत' शब्द से ही "प्राणिरजता-

---

१. महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० ३२५।
२. महा० भा० २, सूत्र १.२.६४, पृ० २४३—'अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्।
३. तुलना करो, पा० ४.३.१६१ 'फले लुक्।
४. पा० ४.३.१५३।
५. पा० ४.१.१५।
६. द्र०—महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० ३२५—'एवं हि सौनागाः पठन्ति—वुञश्चाञ्कृतप्रसङ्गः। इष्टमेवैतत् संगृहीतं भवति—औष्ट्रिका इत्येव भवितव्यम'—

दिभ्योऽञ्"[1] से 'अञ्' प्रत्यय होकर विकार के विकार में भी 'कापोतम्' यह इष्ट रूप बन जायेगा। "एको गोत्रे"[2] सूत्र के भाष्य में स्वयं भाष्यकार इस सूत्र की प्रत्याख्येयता की ओर निर्देश करते हुए कहते हैं—

"यथा तदेव विकारावयवप्रत्ययान्तं द्वितीयं च तृतीयं च विकारं संक्रामति एवमिहापि तदेवापत्यप्रत्ययान्तं द्वितीयं च तृतीयं चापत्यं संक्रमिष्यति"।[3]

इसकी व्याख्या में प्रदीपकार कहते हैं—"ञितश्च तत् प्रत्ययात् इति सूत्रं प्रत्याख्यायते। यो हि कपोतस्य तदवयवस्य तद्विकारस्य वावयवो विकारो वा सोऽभेदोपचारात् कापोतस्याप्यवयवो विकारश्च भवतीति कापोत एव भविष्यति इति नार्थो मयड्बाधनार्थेन ञितश्च तत्प्रत्ययादित्यनेन सूत्रेण।"[4]

प्रस्तुत सन्दर्भ में पदमञ्जरीकार तो काशिकावृत्ति के अनुकूल इस सूत्र का समर्थन करते हुए भाष्यवार्तिककार द्वारा इसके प्रत्याख्यान को भी स्वीकार करते हैं। उनका कथन है—"ञितो यत्नेन मयटं सूत्रकारो निवर्तयन् अन्यतो वष्टि मयटम् इति वृत्तिकृतो मतम्। तेन बैल्वमयम् इति भवति। भाष्य-वार्तिककारौ पुनराहतुः—तच्चावश्यमनभिधानमाश्रयितव्यम्। अभिधाने ह्यन्यतोऽपि मयट्प्रसङ्गः बैलवस्य विकारः इति'।[5]

इनके कहने का तात्पर्य है कि अनभिधान से ही 'कापोतम्' इत्यादि में 'मयट्' की निवृत्ति हो जायेगी तो उसके लिए इस सूत्र द्वारा 'अञ्' विधान करना मुख्य तात्पर्य का विषय न होकर 'षित्' प्रत्ययान्त विकारों से भिन्न विकारवाची शब्दों से 'मयट्' अभीष्ट है,' इस अर्थ में यह सूत्र तात्पर्यग्राहक है, ऐसा वृत्तिकारों का मत है। उनके मत में 'बैल्वस्य विकारः बैल्वमयम्' यहां 'मयट्' हो जायेगा। भाष्यवार्तिककार तो सर्वत्र विकारान्तों से विकार में 'मयट्' को अनभिधान से रोकते हैं। उनके मत में 'बैल्वमयम्' भी नहीं बनेगा बैल्वः' ही रहेगा। जैसे—'कापोतः' यह सर्वसम्मति से रहता है।

---

१. पा० ४.६.१५२।

२. पा० ४.१.६३।

३. महा० भा० २, सू० ४.१.६६, पृ० २४७।

४. महा० सू० सू० ४.१.६३, पृ० ५७७।

५. पा० मं० सू० ४.३.१५३।

बृहच्छब्देन्दुशेखरकार भी भाष्यकारोक्त इस सूत्र के प्रत्याख्यान को न्याय्य मानते हैं। वे सूत्र की सत्ता में यह दोष देते हैं कि 'औष्ट्रिका', 'कांस्या' यहां 'टाप्' न होकर 'ङीप्' की प्राप्ति होगी। क्योंकि 'उष्ट्रस्य विकारः' इस अर्थ में 'उष्ट्र' शब्द से "उष्ट्राद् वुञ्"[1] से 'वुञ्' होकर 'औष्ट्रक' शब्द बनता है। फिर 'औष्ट्रकस्य विकारः स्त्री औष्ट्रिका' इस इष्ट रूप के स्थान में इस सूत्र से 'ञित् प्रत्ययान्त' 'औष्ट्रक' शब्द से 'अञ्' होकर स्त्रीलिङ्ग में "टिड्ढाणञ्"[2] से 'ङीप्' प्राप्त होगा 'टाप्' न हो सकेगा। क्योंकि 'अञन्त' से 'ङीप्' अनिवार्यतः प्राप्त है। इसी प्रकार 'कंसीयस्य विकारः कांस्यः' यहाँ 'कंसीय' शब्द से विकार अर्थ में "कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक् च"[3] से 'छ' प्रत्यय का लुक् और 'यञ्' होकर 'कांस्यः' बनता है। फिर 'कांस्यस्य विकारः' इस अर्थ में इस सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय हो जायेगा तो 'अञन्त' होने से स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' न होकर 'टिड्ढाणञ्'[4] से 'ङीप्' प्राप्त होगा। उससे 'कांस्या स्थाली' यह इष्ट रूप न बन सकेगा।

जहां इस सूत्र की सत्ता में ये दोष है वहां यह लाभ भी है कि 'शम्याः विकारः शामीलम्' यहां 'शमी' शब्द से "शम्याः ष्लञ्"[5] से विकार अर्थ में 'ष्लञ्' प्रत्यय हुआ है। उससे 'शामीलम्' बना। फिर 'शामीलस्य विकारः स्त्री शामीली स्रुक्' यहां इस सूत्र से 'अञ्' प्रत्यय होने के कारण अञन्त हो जायेगा तो अञन्त से विहित "टिड्ढाणञ्" से ङीप् होकर 'शामीली' बन जाता है। 'ङीप्' के 'पित्' होने से वह अनुदात्त है तो 'शामीली' यह आद्युदात्त पद हो जाता है जोकि इष्ट है। यदि यह सूत्र न बनाया जाये तो 'ष्लञ्' के 'षित्' होने से "षिद्गौरादिभ्यश्च"[6] से 'ङीष्' होगा। 'ङीष्' प्रत्यय "आद्युदात्तश्च"[7] से उदात्त है उससे 'शामीली' यह अन्तोदात्त प्राप्त होगा जो कि अनिष्ट है। भाष्यकारोक्त इस सूत्र के प्रत्याख्यान को देखते हुए

---

१. पा० ४.३.१५५।
२. पा० ४.१.१५।
३. पा० ४.३.१६६।
४. पा० ४.१.१५।
५. पा० ४.३.१४०।
६. पा० ४.१.४१।
७. पा० ३.१.३।

"शम्याः ष्लञ्" प्रत्यय न मानकर "शम्याष्ट्लञ्" इस प्रकार 'ट्लञ्' प्रत्यय मानना चाहिये जैसा कि बहुत से अष्टाध्यायी सूत्रपाठों में भी मिलता है। काशिका में 'ट्लज्' पाठ है। 'ट्लञ्' के 'टित्' होने से "टिड्ढाणञ्" से ङीप् होगा जो 'पित्' होने से अनुदात्त हैं। इस सूत्र से 'अञ्' होने पर भी 'ङीप्' ही होगा। वहाँ सर्वथा आद्युदात्त 'शामीली' शब्द बना रहेगा जो अभीष्ट है।[1] चान्द्र व्याकरण में भी 'शम्याष्ट्लञ्' (३.३.११६) यह अभिमत सूत्रपाठ ही मिलता है। कौमुदीकार के अभिमत 'ष्लञ्' पाठ में तो 'शामीली' के स्वर में इस सूत्र की सत्ता एवं असत्ता से फलभेद प्राप्त होता है। इस प्रकार संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि सूत्र का प्रत्याख्यान ही ठीक है। क्योंकि 'शामीलस्य विकारः शामीली' इस प्रयोग में जो उक्त दोष दिखाया गया है वह तो "शम्याः ष्लञ्" के स्थान पर "शम्याः ष्ट्लञ्" पाठ मानने पर दूर हो जाता है। अन्य प्रयोग अभिधान-अनभिधान रूप ब्रह्मास्त्र से सिद्ध हो जायेंगे। इसीलिए जैनेन्द्र व्याकरण में भी यह सूत्र नहीं मिलता। चन्द्राचार्य आदि ने यह सूत्र रखा है[2] लेकिन वह अनावश्यक गौरव ही लगता है ॥

---

१. द्र० बृ० श० शे० भा० १, सू० ४.१.१५, पृ० ७३६-७३७। "ननूष्ट्रस्यावयवो विकारो वा औष्ट्रकं चर्मादि। उष्ट्राद् वुञ्ति वुञ्। कंसीयस्य विकारः कांस्यम्। कंसीयपरशव्ययोरिति यञ्। तयोर्विकारे 'ञितश्च तत्प्रत्ययादिति अञि औष्ट्रिका उपानत्। कांस्या स्थालीत्यादौ ङीप् प्राप्नोति। न चेष्टापत्तिः। पूर्वे पञ्चालाः, पटो दग्धः इत्यादौ समुदायवाचकानामवयवे दर्शनेन···उष्ट्रकंसीयशब्दयोरेव औष्ट्रक कांस्यार्थे वृत्तिमाश्रित्य—मुख्यार्थकौष्ट्रकादेश्च मयडादीनामनभिधानमाश्रित्य, ञितश्च तत्प्रत्ययादित्येतत्प्रत्याख्यानपरभाष्यविरोधात्। न हि भाष्यमते ङीप् प्राप्नोतीतिचेत् न, अजादिषु पाठेस दोषाभावात्। न च शामीलशब्दादञि ङीपि आद्युदात्तं पदम्। अभेदविवक्षायान्तु शमीशब्दादेव तदर्थे ष्लञि, षित्वान् ङीष्यन्तोदात्तं स्यात् इति वाच्यम्। भाष्यप्रामाण्यात् ट्लञ् टिदेव प्रत्यय इति दोषाभावादित्याहुः'।

२. चा० सू० ३.३.१२७ न द्विः।
शा० सू० २.४.१६८—नातोऽफलद्वयात्।
स० सू० ४.४.४४. न द्विरद्वय गोमयफलेभ्यः।
हैं सू० ६.२.६१ न द्विरद्वयगोमयफलात्।

फले लुक् ॥ ४.३.१६१ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र विकारावयवार्थक तद्धित प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि विकार और अवयव अर्थ में उत्पन्न तद्धित प्रत्यय का 'फल' की विवक्षा में 'लुक्' हो जाता है। क्योंकि 'फल' भी वृक्ष का विकार या अवयव विशेष है। अतः उसमें "अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः"[२] से प्राप्त 'प्राग्दीव्यतीय अणादि' प्रत्यय का 'लुक्' इष्ट है। जैसे—'आमलक्याः फलम् आमलकम्'। 'बदर्याः फलं बदरम्'। 'कुवल्याः फलं कुवलम्' यहां 'आमलकी' तो वृद्धसंज्ञक है। उससे "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः"[१] से 'मयट्' प्रत्यय होता है। 'फल' की विवक्षा में इस सूत्र से उसका 'लुक्' हो जाता है तो "लुक् तद्धितलुकि"[३] से 'आमलकी' के स्त्री प्रत्यय का भी 'लुक्' होकर 'आमलकम्' बन जाता है। "क्विलुगुण्धात्वचङ्पर निर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम्"[४] से स्त्री प्रत्यय के 'लुक्' में स्थानिवद्भाव का निषेध होने से "यस्येति च"[५] से 'आमलक' के अकार का लोप नहीं होगा। 'कुवली', 'बदरी' शब्द गौरादिगण में पठित हैं। अतः उनसे 'ङीष्' प्रत्यय उदात्त है। शेषनिधात होकर 'कुवली', 'बदरी' दोनों अनुदात्तादि शब्द बन जाते हैं। उनसे विकारावयव अर्थ में "अनुदात्तादेश्च"[६] से 'अञ्' प्रत्यय होता है। उसका इस सूत्र से 'लुक्' होकर "लुक् तद्धितलुकि"[७] स्त्री प्रत्यय का भी 'लुक्' हो जाता है तो 'कुवलम्', 'बदरम्' बन जाते हैं।

प्रकृत्यन्तर से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं—

"फले लुग्वचनानर्थक्यं प्रकृत्यन्तरत्वात्"[८]

---

१. पा० ४.३.१३३।
२. पा० ४.३.१४२।
३. पा० १.२.४६।
४. पा० १.१.५८ पर वार्तिक महा० भा० १, पृ० १५३।
५. पा० ६.४.१४८।
६. पा० ४.३.१३८।
७. पा० १.२.४६।
८. महा० भा० २, सू० ४.३.१६१, पृ० ३२७।

अर्थात् "फलेलुक्" इस सूत्र के बनाने की कोई आवश्यकता नहीं हैं। 'आमलक' और 'आमलकी' ये दोनों अलग-अलग प्रकृति हैं। 'आमलकी' आंवले वृक्ष का नाम है। 'आमलक' आंवले के फल का नाम है। 'आमलकी' के विकार को 'आमलक' नहीं कहते अपितु 'आंवले फल' का वाचक 'आमलक' शब्द स्वतन्त्र है। उसका 'आमलकी' से सम्बन्ध नहीं है। दोनों जाति शब्द हैं। एक वृक्षजाति का वाचक है, दूसरा फलजाति का। इसलिए 'आमलक्याः फलम्' इस विग्रह में 'आमलकी' शब्द से तद्धित प्रत्यय ही उत्पन्न नहीं होता तो 'लुग्विधान' अनर्थक है। आगे कहा गया है— "एकान्तदर्शनात् प्रसङ्ग इति चेत् वृक्षे लुग्वचनम्"[1] अर्थात् यदि यह कहा जाये कि 'आमलक' फल 'आमलकी' वृक्ष से नित्य सम्बद्ध है, उसका एकान्त-भूत एवं अवयवरूप है, तो यह भी बात नहीं। तब तो फल के समान वृक्ष भी फल से नित्य सम्बद्ध है। इसलिए 'आमलकस्य फलस्य इयम् आमलकी वृक्षः' इस प्रकार अवयवावयवी सम्बन्ध में "तस्येदम्"[2] से प्राप्त 'शैषिक अण्' का भी 'लुग्' विधान करना चाहिये। किन्तु 'आमलकी' शब्द से कोई यह नहीं समझता कि यह 'आमलक' से सम्बन्ध रखती है इसलिये 'आमलकी' कहलाती है। वृक्षवाचक 'आमलकी' शब्द स्वतन्त्र रूप से पृथक् प्रयुक्त होता है। उसी प्रकार 'आमलक' भी समझना चाहिये। 'आंवले फल' का वाचक 'आमलक' शब्द स्वतन्त्र रूप से पृथक् प्रयुक्त होता है। 'आमलकी' के विकार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार 'आमलक' शब्द यौगिक न होकर फल के अर्थ में रूढ़ है। 'आमलकी' शब्द वृक्ष के अर्थ में रूढ है। 'कुवलम्', 'बदरम्' में भी यही बात है। 'कुवली', 'बदरी' के विकार अर्थ में 'कुवलम्', 'बदरम्' नहीं बनते अपितु बेरी वृक्ष या झाड़ी के वृक्ष का वाचक 'कुबली', 'बदरी' शब्द अलग हैं और बेर फल के वाचक अलग हैं। दोनों में प्रकृति प्रत्यय के सम्बन्ध का सर्वथा अभाव है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यवार्तिककार द्वारा इस सूत्र का खण्डन न्यायोचित ही है। वृक्ष और फल दोनों अपने-अपने अर्थ में स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होते हैं। उनमें परस्पर

---

१. महा० भा० २, सू० ४.३.१६१, पृ० ३२७।

२. पा० ४.३.१२०।

अवयवावयवीभाव या विकारावयव की कल्पना करके प्रत्यय विधान करना और फिर उस प्रत्यय का 'लुग्विधान' करना, ये दोनों ही गौरवग्रस्त हैं। 'आम्रं भक्षय' कहने से आम्रफल का बोध स्वयं होता है तथा 'आम्रस्तिष्ठति' से आम्रवृक्ष का। 'आम्रमयम्' कहने से वृक्ष और फल दोनों का ही विकार समझा जाता है। इसलिए प्रकृत्यन्तर ही मानना युक्तियुक्त है। इसीलिए आचार्य चन्द्र ने यह सूत्र नहीं बनाया। ये भी इसके प्रत्याख्यान में सहमत हैं। लेकिन देवनन्दी आदि व्याकरणकार इस सूत्र को रखने में ही रूचि रखते हैं[1] जोकि अनावश्यक गौरवापत्ति की दृष्टि से ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं है।

चूर्णादिनिः ॥ ४.४.२३ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र प्राग्वहतीय 'ठक्' प्रत्यय के अधिकार में आता है। इसका अर्थ है कि 'चूर्ण' शब्द से 'संसृष्ट' अर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है। 'चूर्णेन संसृष्टाः चूर्णिनः अपूपाः' (चूर्ण से मिले हुए पूड़े)। यहाँ 'चूर्ण' शब्द से 'इनि' प्रत्यय होकर "यस्येति च"[2] से, 'चूर्ण' के अकारलोप द्वारा 'चूर्णी' रूप बनता है। उसके प्रथमा बहुवचन में 'चूर्णिनः' यह बन जाता है। "प्राग् वहतेष्ठक्"[3] से प्राप्त 'ठक्' प्रत्यय का यह बाधक सूत्र है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"अयंयोगः शक्योऽवक्तुम्। कथम् चूर्णी, चूर्णिनौ, चूर्णिनः इति। इनि नैतन्मत्वर्थीयेन सिद्धम्"।[4]

---

१. जै० सू० ३.३.१२१—'उप्फले।'
शा० सू० २.४.७०—'फले।'
स० सू० ४.४.३३—'फले लुक्।
है० सू० ६.२.५८—'फले।'
२. पा० ६.४.१४८।
३. पा० ४.४.१।
४. महा० भा० २, सू० ४.४.२३, पृ० ३३०।

अर्थात् यह सूत्र बनाना व्यर्थ है। 'चूर्णी', 'चूर्णिनौ', 'चूर्णिनः' यहाँ 'चूर्ण' शब्द से मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय होकर ये रूप सिद्ध हो सकते हैं तो इस सूत्र से अलग 'इनि' प्रत्ययविधान की क्या आवश्यकता है। "तदस्यवास्त्यस्मिन्निति मतुप्"[1] इस 'मतुप्' प्रत्ययविधायक सूत्र के अधिकार में "अत इनिठनौ"[2] से मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय होता है। 'चूर्ण विद्यते अस्मिन् से चूर्णी' (जिसमें चूर्ण या आटा विद्यमान है वह चूर्णी कहाता है)। इस सूत्र से 'संसृष्ट' अर्थ में विहित 'इनि' में भी वही बात है।

"भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥"[3]

इस भाष्यकारिका से 'मत्वर्थीय प्रत्यय' 'भूमादि' अर्थों में विहित होते हैं। उनमें 'संसर्ग- अर्थ भी है। 'संसृष्ट' का अर्थ भी 'संसर्गयुक्त' है अतः मत्वर्थीय 'इनि' से पूर्णतया इष्टसिद्धि हो जाने पर यह सूत्र अनावश्यक है। भाष्यकार-वचन से 'चूर्णी' में मत्वर्थीय 'ठन्' की और प्राग्वहतीय 'ठक्' की अनभिधान से निवृत्ति मान ली जायेगी या शब्द शक्तिस्वभाव से स्वतः हो जायेगी।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

"पाण्डुकम्बलादिनिः", "अनुब्राह्मणादिनिः"[4] इत्यादि अन्य 'इनि' प्रत्ययों के समान इस 'इनि' प्रत्यय का भी भाष्यकार ने मत्वर्थीय 'इनि' से गतार्थ होने के कारण प्रत्याख्यान कर दिया है। प्राग्वहतीय 'ठक्' की निवृत्ति तो अनभिधान से हो जायेगी। प्रदीपकार का मत है—"ठक् तु संसृष्टे इत्यनेन अनभिधानान्न भविष्यति इति भावः"[5] अर्थात इस सूत्र के अभाव में "संसृष्टे"[6] से प्राप्त 'ठक्' प्रत्यय 'चूर्ण' शब्द से अनभिधान के कारण नहीं होगा। "अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः" यह भाष्यकार का वचन तद्धित प्रत्ययों

---

१. पा० ५.२.९४।

२. पा० ५.२.११५।

३. महा० भा० २, सू० ५.२.९४, पृ० ३९३।

४. पा० ४.२.११, ६२।

५. महा० प्र०, भा० ३, सू० ४.४.२६, पृ० ७४५।

६. महा०, भा० २, सू० ३,३,१९.

में विशेष रूप से स्मरणीय है। यदि 'चूर्ण' शब्द से 'संसृष्ट' अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय करने से अभिमत अर्थ का अभिधान नहीं होता तो 'ठक्' प्रत्यय करके क्या किया जायेगा। 'किस प्रत्यय से किस अर्थ का अभिधान या अनभिधान होता है', यह तो अभियुक्ततर भाष्यकार के वचनों से ही जाना जा सकता है। पदमंजरीकार हरदत्त तो काशिकावृत्ति के अनुकूल इस सूत्र का समर्थन करते हुए कहते हैं—"अनभिधानं तु दुर्ज्ञानम् संसर्ग विवक्षायां ठक् प्राप्नोति इति।"[1]

जैसे 'ठक्' प्रत्यय की अनभिधान से निवृत्ति मानी जायेगी वैसे मत्वर्थीय 'ठन्' प्रत्यय की भी निवृत्ति अनभिधान से ही समझ ली जायेगी। इसलिए भाष्यकारोक्त प्रत्याख्यान को प्रामाणिक मानते हुए इस सूत्र का प्रत्याख्यान समुचित ही है। वैसे बृहच्छब्देन्दुशेखरकार भी हरदत्त के समान 'ठक्' की निवृत्ति के लिए इस सूत्र का उपयोग मानते हैं।[2] अतः उनकी दृष्टि में उक्त सूत्र प्रत्याख्येय नहीं है। इसी प्रकार आचार्य चन्द्रगोमी आदि अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी उक्त सूत्र को अपने व्याकरण में रखा है।[3] ऐसी स्थिति में इनके द्वारा समान रचना तथा समान कार्य वाले "पाण्डुकम्बलादिनिः"[4] तथा "अनुब्राह्मणादिनिः"[5] सूत्रों को न रख करके भी केवल 'चूर्णादिनिः' इस सूत्र को रखना चिन्त्य प्रयोजन ही है क्योंकि अयाचित गौरव भी व्याकरण में दोषावह ही माना जाता है।।

---

१. प० मं०, सू० ४.४.२३।
२. द्र०, बृ० श० शे० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० १३७९—'मत्वर्थीयेन इनिना सिद्धे ठग् बाधनार्थमिदम्।'
३. चा० सू० ३.४.२३—चूर्णादिनिः।
जै० सू० ३.३.१४७—'चूर्णादिन् वक्तव्यः (वार्तिक)।'
शा० सू० ३.२.२३—'चूर्णलवणमुद्गादिनाण्।'
स० सू० ४,४.७५—'चूर्णादिनिः।'
है० सू० ६.४.७—'चूर्णमुद्गाभ्यामिनणौ।
यहां शाकटायन और हैम व्याकरण में पाणिनि के तीन सूत्रों 'चूर्णादिनिः', 'लवणाल्लुक्' तथा 'मुद्गादण्' को एक ही सूत्र बना दिया गया है।
४. पा० ४.२.११।
५. पा० ४.२.६२।

लवणाल्लुक् ॥४.४.२४॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र प्राग्वहतीय तद्धित प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'लवण' शब्द से 'संसृष्ट' अर्थ में विहित प्राग्वहतीय 'ठक्' प्रत्यय का 'लुक्' होता है। यहां 'लवण' शब्द द्रव्यवाची है। 'लवण' का अर्थ 'नमक' है। एक 'लवण' शब्द नमकीन रस का भी वाचक है जो कि कटु, अम्ल, लवण, तिक्त, कषाय तथा मधुर इन छै रसों में परिगणित है। यह सूत्र नमकवाची 'लवण' शब्द से विहित 'ठक्' प्रत्यय का 'लुक्' करता है। जैसे—'लवणेन द्रव्येण संसृष्टः सूपः लवणः सूपः'। 'लवणं शाकम्'। 'लवणेन संसृष्टा यवागूः लवणा यवागूः' (नमक से मिली हुई दाल आदि)। यहां 'लवण' शब्द से 'संसृष्ट' अर्थ में विहित प्राग्वहतीय 'ठक्' प्रत्यय[1] का 'लुक्' हो गया तो केवल 'लवण' शब्द रह गया। वह विशेषण होने से तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त हो जायेगा तो 'लवणः', 'लवणा', 'लवणम्' ये रूप बन जाते हैं।

अर्थभेद द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

'लवणाल्लुग्वचनानर्थक्यं रसवाचित्वात्। रस वाच्येष लवणशब्दः। नैष संसृष्टिनिमित्तः। आतश्च रसवाची। असंसृष्टे च दर्शनात्। असंसृष्टेऽपि हि लवणशब्दो दृश्यते—लवणं क्षीरम्। लवणं पानीयम् इति। संसृष्टे चादर्शनात्। संसृष्टेऽपि च यदा नोपलभ्यते तदाह—अलवणः सूपः। अलवणा यवागूः। अलवणं शाकम् इति'[2]।

इसका तात्पर्य यह है कि 'लवण' शब्द के दो अर्थ हैं। एक नमक, दूसरा नमकीन रस जो कि मधुरादि रसों में परिगणित होता है। जब रसवाची 'लवण' शब्द का ग्रहण किया जायेगा तो 'अम्लं दधि', 'मधुरः गुडः' इत्यादि की तरह गुण और गुणी में अभेदोपचार होकर 'लवणः सूपः', 'लवणा यवागूः' (नमकीन दाल, नमकीन खिचड़ी) यहाँ 'लवण' शब्द सूप आदि का वाचक हो जायेगा तो 'ठक्' प्रत्यय की प्राप्ति के अभाव में उसका 'लुक्' करने की आवश्यकता ही नहीं होगी। अतः यह सूत्र अनर्थक है। 'लवणः सूपः' में

---

१. पा० ४.४.१।

२. महा० भा० २, सू० ४.४.२४, पृ० ३३०-३३१।

'लवण' शब्द का अर्थ नमक द्रव्य नहीं, अपितु नमकीन रस है। उस रस से युक्त सूप को 'लवणः सूपः' शब्द से कहा जाता है। 'लवणद्रव्य से संसृष्ट' यह अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है, बल्कि 'नमकीन रस वाला 'सूप' ही विवक्षित है। 'लवण' शब्द का 'नमकीन रस' यह अर्थ इसलिये भी मानना चाहिये कि जहाँ 'लवण' द्रव्य नहीं मिलाया गया है वहाँ भी 'लवण' शब्द का प्रयोग दीखता है। जैसे—'लवणं क्षीरम्'। 'लवणं पानीयम्' (यह पानी या दूध नमकीन है)। इसके साथ जहाँ 'लवण' द्रव्य मिलाया गया है और वह उपलब्ध नहीं हो तो वहाँ कहते हैं—'अलवणः सूपः'। 'अलवणा यवागूः' (इस दाल या खिचड़ी में नमक नहीं है)। इसलिये जब असंसृष्ट में भी 'लवण' शब्द का 'नमकीन रस' यह अर्थ दीखता है और संसृष्ट में भी उपलब्ध न होने पर नहीं दीखता तो मानना पड़ेगा कि 'लवण' शब्द यहाँ 'नमकीन रस' का वाचक होने से 'शुक्लः पटः' की तरह उसका 'सूपः' आदि के साथ अभेदोपचार से प्रयोग सिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र अनर्थक है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

शुक्ल, मधुर आदि गुणवाचक शब्द गुण के साथ उपचार से गुणी के वाचक भी जब लोक तथा शास्त्र के व्यवहार में प्रसिद्ध हैं तो 'लवण' शब्द के गुणवाचक मान लेने पर वह भी गुणी का वाचक स्वतःसिद्ध हो जायेगा। अतः इस सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य ही है। पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा इस सूत्र के प्रत्याख्यान का मूलाधार भी यही है। इसी आधार पर "गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः"[1] यह 'मतुप्' का 'लुग्विधायक' वार्तिक भी प्रत्याख्येय हो जाता है। 'शुक्लः पटः', 'मधुरः गुडः', 'लवणः सूपः' ये प्रयोग गुण-गुणी में अभेद मानकर बन जायेंगे। 'लावणिकः' इस 'ठक् प्रत्ययान्त' प्रयोग का तो भाष्यकारकृत सूत्र के प्रत्याख्यान से अनभिधान ही मानना पड़ेगा। वैसे बृहच्छब्देन्दुशेखरकार तो 'लावणिकः' की निवृत्ति के लिये इस सूत्र का उपयोग मानते हैं[2]। अतः इनकी दृष्टि में प्रकृत सूत्र प्रत्याख्येय नहीं है। इसी प्रकार भाष्यानुसारी चान्द्र आदि व्याकरणों में भी यह सूत्र इसी रूप में सत्ता

---

१. महा० भा० २, सू० ५.२.९४ पर वार्तिक, पृ० ३९४।

२. द्र०, बृ० श० शे० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० १३७९—"लवणरसवत्त्वेनैव 'लवणः समुद्रः' इतिवत् सिद्धे लावणिकनिवृत्त्यर्थवचनम्"।

धारण किये हुए है[1]। भाष्यकार द्वारा प्रस्तावित संशोधनों को मानने पर भी प्रकृत सूत्र का इनके वहाँ होना विशेष विचार का विषय है। विशेषतः उस स्थिति में जबकि वहाँ इसकी स्थापना में कोई विशेष युक्ति भी नहीं दी गई है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में आचार्य शाकटायन तथा हेमचन्द्र ने 'लवण' शब्द से 'ठक्' प्रत्यय का 'लुक्' न मानकर उससे 'अ' प्रत्यय का विधान माना है। बात तो वही है कि 'लवण' शब्द बनाना है। वह चाहे 'ठक्' प्रत्यय का 'लुक्' करके बनाया जाये अथवा 'अ' प्रत्यय का संनियोग करके सिद्ध किया जाये। हर हालत में सूत्र बनाना निष्प्रयोजक ही है। क्योंकि गुण और गुणी के अभेदोपचार से इष्ट सिद्ध हो जायेगा। 'लवण' शब्द का अर्थ यहाँ 'नमकीन रस रूप' गुण है। अतः प्रत्याख्यान ही ठीक है॥

कम्बलाच्च संज्ञायाम् ॥ ५.१.३ ॥

सूत्र की सप्रयोजना स्थापना

यह सूत्र प्राक्क्रीतीय तद्धित प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'कम्बल' शब्द से 'प्राक्क्रीतीय' "तस्मै हितम्"[2] इत्यादि अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है, संज्ञा विषय में। "प्राक् क्रीताच्छः"[3] से "तेन क्रीतम्"[4] इस सूत्र में कहे हुए, 'क्रीत' अर्थ से पूर्व तक केवल तीन ही अर्थ आते हैं तद्यथा --"तस्मै हितम्", "तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ", "तदस्य तदस्मिन् स्यादिति"[5]। इन तीनों अर्थों में यथासंभव 'कम्बल' शब्द से 'यत्' प्रत्यय हो जायेगा। जैसे—'कम्बलाय हितं कम्बल्यम् ऊर्णापलशतम्'। कम्बल के लिये हित एवं उपयोगी सौ पल ऊन 'कम्बल्य' कहाती है। ऊनी शाल का नाम है जिसमें इतने परिमाण की ऊन लगती है। कम्बल्य' में 'कम्बल' शब्द से 'यत्' प्रत्यय होकर 'यस्येति च'[6] से

---

१. चा० सू० ३.४.२४ लवणाल्लुक्
शा० सू० ३.२.२३—चूर्ण लवण मुद्गादिनण्।
स० सू० ४.४.७६—लवणाल्लुक्।
है० सू० ६.४.६ लवणादः।

२. पा० ५.१.५।

३. पा० ५.१.१।

४. पा० ५.१.३६।

५. पा० ५.१.५, १२, १६

६. पा० ६.४.१४८।

अकारलोप हो जायेगा तो 'कम्बल्य' बन जायेगा। 'यत्' प्रत्यय के 'तित्' होने से 'तित् स्वरितम्'[1] से स्वरित होकर 'कम्बल्य' शब्द अन्तस्वरित बन जाता है।

निपातन द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्—कम्बल्यमशीतिशतमिति। निपातनादेतत् सिद्धम्। किं निपातनम्। अपरिमाणाबिस्ताचित कम्बल्येभ्यो न तद्धित लुकि इति। इदं तर्हि प्रयोजनम्—संज्ञायामिति वक्ष्यामि इति। इह मा भूत्—कम्बलीयाः ऊर्णाः। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। परिमाणपर्युदासेन पर्युदासे प्राप्ते तत्र कम्बल्यग्रहणं क्रियते परिमाणार्थम्। परिमाणं च संज्ञैव"[2]।

भाव यह है कि 'कम्बल्य' शब्द की सिद्धि के लिये इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है। 'कम्बल्य' शब्द तो निपातन से ही सिद्ध है। "अपरिमाण बिस्ताचितकम्बल्येभ्यः"[3] इस सूत्र में "कम्बल्य" शब्द का जो ग्रहण किया है, वह उस निपातन से ही सिद्धि हुआ समझा जायेगा। यदि यह कहा जाये कि संज्ञाविषय में ही इस सूत्र से 'यत्' प्रत्यय अभीष्ट है। जो ऊनी शालविशेष है, उसे ही 'कम्बल्य' कहते हैं। 'सामान्य कम्बल के लिए हित ऊन में तो 'कम्बलीयाः ऊर्णाः' ही बनेगा। वहाँ 'प्राक्क्रीतीय 'छ' प्रत्यय ही होगा। 'यत्' प्रत्यय नहीं होगा, तो इसका उत्तर है कि ,'अपरिमाणबिस्ताचित०" सूत्र में जो 'कम्बल्य' शब्द निपातित है, वह भी संज्ञा में ही निपातित है और अन्तस्वरित पढ़ा गया है। क्योंकि उस सूत्र में 'अपरिमाण' से पृथक् 'बिस्त', 'आचित' तथा 'कम्बल्य' इन तीन शब्दों का ग्रहण किया गया है। उससे मालूम होता है कि 'बिस्त' आदि तीनों शब्द परिमाण वाचक हैं। वहाँ परिमाणवाचक शब्द से भिन्न शब्दों का ग्रहण अभीष्ट है, इसीलिए वहां 'अपरिमाण' ग्रहण किया है जिससे 'पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा' यहाँ 'पञ्चाश्व' शब्द के अपरिमाणवाचक होने से 'ङीप्' का निषेध हो जाता है। यदि

---

१. पा० ६.१.१८१।

२. महा० भा० २, सू० ५.१.३, पृ० ३३८।

३. पा० ४.१.२२।

'कम्बल्य' शब्द परिमाणवाचक से भिन्न होता तो 'अपरिमाण' ग्रहण से ही 'ङीप्‌निषेध' सिद्ध होकर 'द्विकम्बल्या' (द्वाभ्यां कम्बल्याभ्यां क्रीता) यह रूप बन जाता। किन्तु आचार्य समझते हैं कि 'कम्बल्य' परिमाणवाची शब्द है। उसका 'अपरिमाण' ग्रहण से ग्रहण नहीं हो सकेगा अतः पृथक् ग्रहण करते हैं। परिमाण एक संज्ञा विशेष ही है। इस प्रकार उक्त निपातन से ही अभीष्ट रूपसिद्धि हो जाने पर यह सूत्र व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

'कम्बल्य' शब्द को संज्ञा विशेष में रूढ़ मानकर भाष्यकार ने निपातन के आधार पर इस सूत्र का खण्डन कर दिया है। 'कम्बल्य' कितने ऊन का परिमाण है, यह नहीं कहा जा सकता। भाष्यकार तो 'अशीतिशतं कम्बल्यम्'[1] ऐसा कहते हैं। काशिका आदि वृत्तिकार 'ऊर्णापलशतं कम्बल्यम्'[2] कहते हैं। कुछ भी हो, यह शब्द है परिमाण विशेष का वाचक ही, जो संज्ञारूप में 'बिस्त', 'आचित' शब्दों की तरह रूढ है। निपातन से सिद्ध होने पर प्रत्याख्यान भी ठीक हो सकता है जैसा कि कैयट आदि ने स्वीकार किया है। किन्तु पदमंजरीकार कहते हैं—"निपातनेन हि परिमाणे कम्बल्य शब्दः साधुरित्येतावदवगम्यते, न तु यदन्तोऽयम् इति। ततश्चान्तस्वरितत्वं न स्यात्। अथ निपातने एव अन्तस्वरितत्वं पठ्यते, तत्र व्याख्यानं शरणम्। व्याख्यानाच्च लघु सूत्रमिति।"[3] इसी प्रसङ्ग में न्यासकार भी लिखते हैं—"गवादिष्वेव कम्बलाच्च संज्ञायाम् इति कस्मान्न पठति। तत्र पाठे न कश्चिद् गुरुलाघवकृतो विशेषः इति यत् किंचिदेतत्।"[4]

इस प्रकार न्यास और पदमंजरीकार के मत में इस सूत्र के बनाने में ही लाघव है। इसलिये यह सूत्र रहना ही चाहिये। भट्टोजिदीक्षित आदि ने भी इस सूत्र का स्पष्ट रूप से खण्डन नहीं किया है। संभवतः इसीलिये शाकटायन और हैम व्याकरण में इस सूत्र को रखा गया है।[5] क्योंकि प्रकृत सूत्र के बिना

---

१. महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० ३३८।

२. का० भा० ४, सू०, पृ० १०।

३. प० मं०, सू ५.१.३।

४. न्यास, प्रकृत सूत्र।

५. शा० सू० ३.२.२१२—'कम्बलान्नाम्नि'।
है० सू० ७.१.३४—'कम्बलान्नाम्नि'।

सन्देह का पैदा होना और उसकी निवृत्ति के लिए व्याख्यान का आश्रयण करना ये दोनों ही आवश्यक हो जाते हैं। इससे गौरव स्पष्ट ही है। जबकि व्याकरण का लक्ष्य है—लघ्वर्थंचाध्येयं व्याकरणम्। असन्देहार्थंचाध्येयं व्याकरणम्।"[१] अतः कुल मिलाकर सूत्र का रहना ज्यायान् है। "सुवर्णबिस्तौ हेम्नोऽक्षे। आचितो दशभाराः स्युः"[२] इनकी तरह "कम्बल्यमूर्णापलशतम्" यह भी कोश का वचन प्रतीत होता है॥

न नञ्पूर्वात् तत्पुरुषादचतुरसंगत लवणवटयुधकतरसलसेभ्यः॥५.१.१२१॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र भावकर्मार्थिक तद्धित प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'नञ्-पूर्वक' तत्पुरुष समास से परे 'त्व', तल्' से भिन्न अन्य आगे आने वाले 'यक्', 'अण्', 'वुञ्'[३] आदि भावकर्मार्थक तद्धित प्रत्यय नहीं होते, 'चतुर', 'संगत', 'लवण', 'वट', 'युध', 'कत', 'रस', 'लस' शब्दों को छोड़कर। जैसे—'अपतित्वम्।' 'अपतिता।' 'अपटुत्वम्।' 'अपटुता।' 'अमरणीयत्वम्।' 'अरमणीयता' इत्यादि। 'न पतिः अपतिः' यहां 'नञ्तत्पुरुषसमास' है। 'तस्य भावः' अर्थ में "पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्"[४] से 'यक्' प्राप्त होता है। उसका यह सूत्र निषेध कर देगा तो सामान्यविहित 'त्व', तल्'[५] प्रत्यय होकर 'अपतित्वम्', 'अपतिता' रूप बन जाते हैं। 'न पटुः अपटुः' यहां 'नञ्' तत्पुरुष समास है। 'तस्य भावः' अर्थ में "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्"[६] से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त होता है। उसका यह सूत्र निषेध कर देगा तो सामान्य विहित 'त्व', 'तल्' होकर

१. महा० भा० १, पस्पशा, पृ० १।

२. अमरकोष, २.९,८६। मोनियर विलियम कोश में भी 'कम्बल्य' को 'ऊर्णापलशत' के परिमाण वाला माना गया है। डा० अग्रवाल भी 'कम्बल्य' को 'ऊर्णापलशत' के परिमाण वाला ही इष्ट मानते हैं (देखें —पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ० १३५)।

३. पा० ५.१.१२८, १३०, १३१, १३२।

४. पा० ५.१.१२८।

५. पा० ५.१.११९।

६. पा० ५.१.१३१।

'अपटुत्वम्', 'अपटुता' रूप बन जाते हैं। 'न रमणीयम् अरमणीयम्' यहां 'नञ्' तत्पुरुष समास है। 'तस्यभावः' अर्थ में "योपधाद् गुरूपोत्तमाद् 'वुञ्' प्राप्त होता है। उसका यह सूत्र निषेध कर देगा तो सामान्य विहित 'त्व', 'तल्' होकर 'अरमणीयत्वम्', 'अरमणीयता' ये रूप बन जाते हैं। 'चतुर' आदि शब्दों के 'नञ्' समास में उत्तरभावकर्मार्थक प्रत्ययों का यह सूत्र निषेध नहीं करेगा तो वहां 'न चतुरः अचतुरः तस्य भावः आचतुर्यम्' यहां "गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च"[2] से 'ष्यञ्' प्रत्यय होकर आदि वृद्धि द्वारा 'आचतुर्यम्' यह रूप बन जाता है। इसी प्रकार 'असंगतस्य भावः आसंगत्यम्।' 'अलवणस्य भावः आलवण्यम्'। 'अवटस्य भावः आवट्यम्'। 'अयुधस्य भावः आयुध्यम्।' 'अकतस्य भावः आकत्यम्। 'अरसस्य भावः आरसस्यम्'। 'अलसस्यभावः आलस्यम्' ये रूप भी बन जाते हैं।

सूत्र में 'नञ्पूर्व' ग्रहण इसलिये किया है कि 'बृहस्पते भविः बार्हस्पत्यम्।' 'सेनापतेर्भावः सैनापत्यम्' यहां 'बृहस्पति', 'सेनापति' इन तत्पुरुष समासों से परे "पत्यन्त पुरोहितादिभ्यो यक्"[3] से प्राप्त भावकर्मार्थक 'यक्' प्रत्यय का निषेध न हो सके। 'तत्पुरुष' ग्रहण इसलिये किया गया है कि 'नाऽस्य पटवः सन्ति सोऽयमपटुः। तस्य भावः आपटवम्' यहां बहुव्रीहि समास में "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्"[4] से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय का निषेध न हो।

ज्ञापक द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यकार या वार्तिककार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान 'अयं योगः शक्योऽवक्तुम्' कह कर तो नहीं किया है तथापि सूत्र के व्याख्यान से यह सिद्ध कर दिया है कि यह प्रत्याख्यान के योग्य ही है। इस दृष्टि से यह अस्पष्टलिङ्ग प्रत्याख्यान है। प्रथमं तावत् सूत्र का प्रयोजन जानने के लिये भाष्यकार पूछते हैं—

'कस्यायं प्रतिषेधः। त्वतलोरित्याह। नैतिदस्ति प्रयोजनम्। इष्येते नञ्पूर्वात् तत्पुरुषात् त्वतलौ। अब्राह्मणत्वम्। अब्राह्मणता इति।"[5]

---

१. पा० ५.१.१३२।
२. पा० ५.१.१२४।
३. पा० ५.१.१२८।
४. पा० ५.१.१३१।
५. महा० भा० २, सू० ५ १ १२१, पृ० ३६६।

भाव यह है कि यह सूत्र कौन से भाव कर्मार्थक प्रत्यय का निषेध करता है। यदि यह कहा जाये कि 'त्व', 'तल्' प्रत्ययों का निषेध इससे होता है, तो वह व्यर्थ है। क्योंकि 'नञ्पूर्वक' तत्पुरुष से 'त्व', 'तल्' प्रत्यय इष्ट हैं। 'अब्राह्मणस्य भावः अब्राह्मणत्वम्', 'अब्राह्मणता' ये 'त्व-तल्' प्रत्ययान्त 'नञ्' तत्पुरुषसमास है। भाष्यकार पुनः आगे कहते हैं—

"न नञ्पूर्वादित्युत्तरस्य प्रतिषेधः।"[१]

अर्थात् "न नञ्पूर्वात्०" यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार "पत्यन्तपुरोहितादिभ्योक्"[२] इत्यादि सूत्रों में जाता है। अतः यह 'त्व', 'तल्' से भिन्न अन्य आगे आने वाले 'यक्' आदि प्रत्ययों का निषेध करता है। तब पुनः भाष्यकार इसके उत्तर में कहते हैं—

"नैतदस्ति प्रयोजनम्। यद्येतावत् प्रयोजनंस्यात् तत्रैवायं ब्रूयात्—पत्यन्ताद् यग् भवति, नञ्पूर्वात् तत्पुरुषान्नेति।"[३]

अर्थात् यदि 'यक्' आदि आगे आने वाले प्रत्ययों का यह सूत्र निषेध करता है तो इसे वहीं पढ़ना चाहिये था। इतना व्यवहित पढ़ना व्यर्थ है। पुनः आगे कहते हैं—

"एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः उत्तरो भाव प्रत्ययो नञ्पूर्वाद् बहुब्रीहेर्भवतीति। नेष्यते। त्वलावेवेष्येते। अविद्यमानाः पृथवोऽस्य सोऽपृथुः। अपृथो र्भावः अपृथुत्वम्, अपृथुता इति।"[४]

अर्थात् 'नञ्पूर्वक' तत्पुरुष से भावकर्मार्थक उत्तर प्रत्ययों का निषेध करते हुए आचार्य यह ज्ञापित करते हैं कि 'नञ्पूर्वक' बहुब्रीहि से उत्तर भाव प्रत्यय होते हैं। केवल तत्पुरुष से ही निषेध है, तो इसका उत्तर देते हैं कि यह कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि 'नञ्पूर्वक' बहुब्रीहि से भी उत्तर भाव प्रत्यय इष्ट नहीं है। वहां भी 'त्व', 'तल्' ही इष्ट हैं। बहुब्रीहि समास वाले 'अपृथु' शब्द से भी 'अपृथुत्वम्', 'अपृथुता' ये 'त्व', 'तल्' प्रत्यय ही होते हैं, "पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा"[५] से विहित 'इमनिच्' आदि नहीं। फिर कहते हैं—

---

१. वही।

२. पा० ५.१.१२८।

३. महा० भा० २, सू० ५.१.१२१, पृ० ३७०।

४. वही।

५. पा० ५.१.१२२।

"एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः उत्तरो भाव प्रत्ययोऽन्यपूर्वात् तत्पुरुषाद् भवतीति"।[1]

अर्थात् 'नञ्पूर्वक' तत्पुरुष से उत्तर भावप्रत्ययों का निषेध करते हुए आचार्य इस बात को ज्ञापित करते हैं कि 'नञ्' से भिन्न अन्य शब्दपूर्वक तत्पुरुष से उत्तर भाव प्रत्यय हो जाते हैं उनका निषेध नहीं होता तो इसके उत्तर में कहते हैं—"नैवेष्यते । त्वतलावेवेष्यते । परमः पृथुः परमपृथुः । परमपृथोर्भावः परमपृथुत्वम्, परमपृथुता"[2] अर्थात् 'नञ्' से भिन्न तत्पुरुष से भी उत्तरभाव प्रत्यय इष्ट नहीं है । वहां भी 'त्व', 'तल्' ही इष्ट हैं । 'परमः पृथुः परमपृथुः' यहां 'नञ्' से भिन्न समानाधिकरण तत्पुरुष है । उससे भी भाव अर्थ में 'त्व', 'तल्' ही प्रत्यय होकर 'परमपृथुत्वम्', परमपृथुता' ये रूप बनते हैं । पुनः आगे कहते हैं —

"एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्य उत्तरो भाव प्रत्ययः सापेक्षाद् भवतीति । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । नञ्समासादन्यो भाववचनः स्वरोत्तरपदवृद्धयर्थम् इत्युक्तं तदुपपन्नं भवति" ।[3]

अर्थात् 'नञ्पूर्वक' तत्पुरुष से उत्तर भाव प्रत्यय का निषेध करते हुए आचार्य यह बात ज्ञापित करते हैं कि उत्तर भाव प्रत्यय सापेक्ष से होते हैं । क्योंकि 'नञ्पूर्वक' तत्पुरुष से जब निषेध किया है तो उससे भिन्न किसी अन्य की अपेक्षा करके उत्तर भाव प्रत्यय होंगे, यह सूचित होता है । उसका प्रयोजन यह है कि "तस्य भावस्त्वतलौ"[4] सूत्र में कहा हुआ "नञ्समासादन्यो भाववचनः स्वरोत्तरपदवृद्धयर्थम्" यह वचन संगत हो जाता है । इस वचन का अर्थ है कि 'नञ्तत्पुरुषसमास' और 'त्व', 'तल्' से भिन्न अन्य 'इमनिच्' आदि भाव प्रत्ययों की प्रतिस्पर्धा में 'इमनिच्' आदि भाव प्रत्यय ही पहले हो जाते हैं । उसके बाद 'नञ्' समास होता है । जैसे—'न पृथोर्भावः' यहां 'पृथु' शब्द से भाव प्रत्यय और 'नञ्' समास दोनों की एक साथ विवक्षा में 'नञर्थ' की अपेक्षा रखने वाले 'पृथु' शब्द से असामर्थ्य होने पर भी पहले भाव प्रत्यय 'इमनिच्' होकर फिर नञ् समास होगा तो 'अप्रथिमा' यह इष्ट

१. महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० ३७० ।
२. महा० भा० २, सू० ५.१.१२१, पृ० ३७० ।
३. वही
४. पा० ५.१.११९ ।

रूप बन जाता है। इसी तरह 'न शुक्लस्य भावः' यहां 'शुक्ल' शब्द से भाव प्रत्यय और 'नञ्समास' दोनों की युगपत् विवक्षा में सापेक्ष होने से असमर्थ होने पर भी 'शुक्ल शब्द' से पहले 'ष्यञ्' प्रत्यय[1] होता है। उसके बाद 'नञ्' समास होकर 'अशौक्ल्यम्' बन जाता है। इस प्रक्रिया में आदि वृद्धि 'नञ्' को न होकर 'शुक्ल' को होती है। 'अप्रथिमा' में 'इमनिच्' का स्वर न होकर 'नञ्' का स्वर, जो अव्ययपूर्वपद प्रकृति स्वर, "तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीया०"[2] से विहित है, वह हो जाता है। अन्त में सूत्र के इस प्रयोजन को भी अन्यथा सिद्ध करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

"एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—सर्वे एते तद्धिताः सापेक्षाद् भवन्तीति। यदयं नञो गुणप्रतिषेधे संपाद्यर्हहितालमर्थास् तद्धिताः इत्याह।"[3]

अर्थात् प्रकृत सूत्र का यह भी कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि केवल उत्तर भाव प्रत्यय ही क्या, सभी तद्धित प्रत्यय सापेक्ष से भी होते हैं। इस विषय में "नञो गुणप्रतिषेधे"[4] यह स्वर विषयक सूत्र ही ज्ञापक है। इस सूत्र का अर्थ यह है कि "संपादिनि", "तदर्हति", "तस्मै हितम्", "तस्मै प्रभवति" "सन्तापादिभ्यः"[5] इन अर्थों में विहित तद्धित प्रत्ययान्त शब्द इनके निषेधक 'नञ्' शब्द के साथ सापेक्ष होकर भी समास को प्राप्त हुए अन्तोदात्त होते हैं। जैसे—"तस्मै हितम्" यह 'हित' अर्थ में 'प्राक्क्रीतीय छ' प्रत्यय करता है। उससे वत्सेभ्यो हितः वत्सीयः' यह स्वतन्त्र रूप बनता है। उसका नञ् समास होकर 'न वत्सीयः अवत्सीयः' यह भी स्वतन्त्र रूप बनता है। किन्तु जब 'हित' अर्थ की और 'नञ् समास' की एक साथ कहने की इच्छा होगी तो 'न वत्सेभ्यो हितः' इस विग्रह में 'नञर्थ' के प्रति सापेक्ष 'वत्स' शब्द से असामर्थ्य होने के कारण न तो 'हितार्थक छ' प्रत्यय होता है और न ही 'नञ् समास।' यदि नञ् समास' के उत्तर पदार्थ प्रधान होने से प्रधान के सापेक्ष होने पर भी किसी प्रकार समास मान लिया जाये तो भी तद्धित प्रत्यय 'छ' तो किसी प्रकार

---

१. पा० ५.१.१२४।

२. पा० ६.२.२२।

३. महा० भा० २, सू० ५.१.१२१, पृ० ३७०।

४. पा० ६.२.१५५।

५. पा० ५.१.९९, ६३, ५; १०१।

भी प्राप्त नहीं होता। 'अवत्सीयः' इस रूप के न बनने से उसे अन्तोदात्त कैसे होगा। किन्तु इस सूत्र के वचन सामर्थ्य से सापेक्ष 'वत्स' शब्द से भी 'छ' प्रत्यय होकर अन्तोदात्त हो जाता है। यह सूत्र इस विषय का स्पष्ट ज्ञापक है कि सामान्य रूप से सभी तद्धित प्रत्यय 'नञर्थ' की अपेक्षा करके भी हो जाते हैं। तब तो इस सूत्र की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। लक्ष्यानुरोधात् कहीं पहले भाव की विवक्षा करके भाव प्रत्यय कर लिये जायेंगे, फिर 'नञ् समास' हो जायेगा। इसी तरह कहीं पहले निषेध की विवक्षा करके 'नञ् समास' कर लिया जायेगा तथा उसके बाद भाव प्रत्यय हो जायेंगे। इस प्रकार 'न पत्युरभावः' यहां पहले 'नञ्' समास करके फिर भाव प्रत्यय किये जायेंगे तो 'त्व', 'तल्' होकर 'अपतित्वम्', 'अपतिता' ये इष्ट रूप बन जायेंगे। 'न पटोर्भावः' यहां "नञोगुणप्रतिषेधे०"[1] इस ज्ञापक से 'नञर्थ' की अपेक्षा रखने वाले 'पटु' शब्द से पहले "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्"[2] से 'अण्' प्रत्यय होकर फिर 'नञ्' समास हो जायेगा तो 'अपाटवम्' यह इष्ट रूप बन जायेगा। यह इस सूत्र के बिना ही इष्ट सिद्धि हो गई। अन्यथा 'न पटुः अपटुः' इस 'नञ्' तत्पुरुष से प्राप्त भावार्थक 'अण्' प्रत्यय होकर आपटवम्' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता। उसको रोकने के लिये यह सूत्र बनाना होता। अब इसकी आवश्यकता कुछ नहीं है।

'न मनुष्यस्य भावः', 'न रमणीयस्य भावः' इन विग्रहों में भी 'नञ्' समास से पहले 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद्०'[3] से 'वुञ्' हो जायेगा तो 'अमानुष्यकम्', 'अरामणीयकम्' ये इष्ट रूप बन जाते हैं। 'त्व', 'तल्' तो औत्सर्गिक हैं। उनका यह सूत्र निषेध करता ही नहीं, इसलिये पहले 'नञ् समास' होने पर 'अमनुष्यत्वम्', 'अमनुष्यता', 'अरमणीयत्वम्', 'अरमणीयता' ये भी बन जाते हैं। इस सूत्र के रहने में दोष भी है। 'अशुचिः' यहां 'न शुचिः अशुचिः' यह 'नञ् तत्पुरुष समास' है। 'तस्यभावः', इस अर्थ में "इगन्ताच्च लघु०" से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय का यह निषेध कर देगा तो आशौचम्', 'अशौचम्' ये इष्ट रूप नहीं बन सकेंगे। अब तो पहले 'अण्' होकर फिर 'नञ् समास' होता है। "नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम्"[4]

१. पा० ६.२.१५५।
२. पा० ५.१.१३१।
३. पा० ५.१.१३२।
४. पा० ७.३.३०।

से पूर्वपद को विकल्प से वृद्धि और उत्तरपद को नित्य वृद्धि होती है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

जो इस सूत्र का प्रयोजन था, वह तो भाष्यकार ने "नञो गुणप्रतिषेधे०" इस सूत्र के ज्ञापक से ही निरस्त कर दिया है। अतः इसे या तो उसी अर्थ में तात्पर्यग्राहक मानना चाहिये अथवा प्रत्याख्यात ही समझना चाहिये। इस सूत्र का प्रत्याख्यान हो जाने पर भी कोई दोष नहीं आता। "नञो गुणप्रतिषेधे०" के ज्ञापक से लक्ष्यवशात् कहीं तो भाव प्रत्यय और 'नञर्थ' की सह विवक्षा में पहले भाव प्रत्यय और फिर 'नञ्' समास हो जायेगा। 'त्व', 'तल्' तो नियमपूर्वक 'नञ् समास' करने के बाद ही होंगे। क्योंकि उनके विषय में विशेष वार्तिकवचन है—

"त्वतलभ्यां नञ् समासः त्वतलोः स्वरसिद्धयर्थम्।"[1]

अर्थात् 'त्व', 'तल्' प्रत्ययों के करने से पहले 'नञ् समास' होता है यह कहना चाहिये। जिससे 'अब्राह्मणत्वम्', अब्राह्मणता' इत्यादि में 'त्व' और 'तल्' प्रत्ययों का स्वर सिद्ध हो जाये। 'त्व' प्रत्यय का स्वर तो आद्युदात्त है। इसलिये 'अब्राह्मणत्वम्' यह शब्द अन्तोदात्त हो जाता है। 'तल्' के लित् होने से "लिति"[2] से प्रत्यय से पूर्व उदात्त होकर 'अब्राह्मणता' यह शब्द उदात्त णकार वाला मध्योदात्त बन जाता है। लक्ष्यानुरोध से 'व्यवस्था' तथा 'विवक्षा' होने में "यथातथयथापुरयोः पर्यायेण"[3] सूत्र का भाष्यकारकृत प्रत्याख्यान ही प्रमाण है। 'अयाथातथ्यम्' को बनाने के लिए पहले भाव प्रत्यय 'ष्यञ्' की बिवक्षा करके 'ष्यञ्' हो जायेगा। उसके बाद निषेध की विवक्षा में 'नञ् समास' होकर 'अयाथातथ्यम्' बन जायेगा। 'आयथातथ्यम्' बनाने के लिए 'यथातथ' शब्द से निषेध की विवक्षा में पहले 'नञ् समास' हो जायेगा। फिर भाव प्रत्यय की विवक्षा में ष्यञ्' प्रत्यय करके आदि वृद्धि द्वारा 'आयथातथ्यम् बन जायेगा। इस प्रकार दोनों रूप "यथातथयथापुरयोः०" सूत्र के बिना ही सिद्ध हो जाते हैं। उसी आधार पर यहां भी सब अभीष्ट लक्ष्यों की सिद्धि हो जाने से यह सूत्र अनावश्यक हो जाता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में कैयट लिखते हैं—

---

१. महा० भा० २, सू० ५.१.११६, पृ० २६८।

२, पा० ६,१.१९३।

३. पा० ७.३.३१।

"तदेवं सूत्रेऽस्मिन् प्रत्याख्याते लक्ष्यदर्शनवशात् क्वचिद्भावनिषेधयोर्युगपद् विवक्षायां ज्ञापकात् नञर्थापेक्षत्वेपि पूर्वं यथा प्राप्तं भावप्रत्ययः। पश्चान् नञ् समासः। त्वतलौ तु कृते नञ् समासे। क्वचित् पूर्वं भावविवक्षा। क्वचित् पूर्वं निषेधविवक्षा।"[1] प्रस्तुत प्रसङ्ग में अर्वाचीन वैयाकरण तो इस सूत्र के रखने के पक्ष में ही हैं[2]। संभवतः इन्होंने इसे "सभी तद्धित प्रत्यय सापेक से भी होते हैं" इस नियम में तात्पर्य ग्राहक मान कर सूत्रकार का समर्थन किया है। किन्तु यह अनावश्यक गौरव ही कहा जायेगा। क्योंकि इसके न रहने पर भी जब कोई अनिष्टापत्ति नहीं होती, तब ऐसी स्थिति में सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्याय्य है ॥

रसादिभ्यश्च ॥ ५.२.९५ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र मत्वर्थीय प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'रस' आदि शब्दों से 'मतुप्' प्रत्यय होता है, 'तदस्यास्त्यस्मिन्' इस अर्थ में। 'रसः अस्य अस्ति, अस्मिन् वा अस्ति इति रसवान्' 'रूपवान्'। 'स्पर्शवान्' इत्यादि उदाहरण हैं। "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्"[3] इस पूर्वसूत्र से ही 'मतुप्' सिद्ध हो जाने पर जो फिर 'मतुप्विधान' किया है, वह इस बात को सूचित करता है कि 'रस' आदि शब्दों से केवल 'मतुप्' ही हो, अन्य 'इनि', 'ठन्'[4] आदि मत्वर्थीय प्रत्यय न हों। वैसे कहीं-कहीं पर लौकिक प्रयोग के आधार पर 'मतुप्' से भिन्न 'इनि', 'ठन्' हो जाते हैं। जैसे—'रूपिणी कन्या', 'रूपिको बालः'। यहाँ

---

१. महा० प्र० भा० ४, सू० ५.१.१२१, पृ० १००।

२, चा० सू० ४.१.१३७-१३८ - 'नञोऽनन्यार्थे'। 'चतुरसंगतलवणवडबुधकतरसलसाद्वा'।

जै० सू० ३.४.११५ - 'नञ् से चतुर संगतलवण वडबुधकतरसलसेभ्यः'।

शा० सू० ३.३.७ —'नञ्तत्पुरुषादबुधादेः'।

स० सू० ५.१.१३४-१३५—'नञादेस्तत्पुरुषात्। चतुरसंगत लवणवडबुधकतरसलसेभ्यो वा'।

है० सू० ७.३.७१ —'नञ्तत्पुषादबुधादेः'।

३. पा० ५.२.९४।

४. पा० ५.२.११५।

'रूप' शब्द से 'प्रशस्त रूप' अर्थ में 'इनि' प्रत्यय और 'ठन्' प्रत्यय होते हैं। इस विषय में लोक प्रयुक्त शब्दों का अनुरोध ही कारण है।

'तदस्यास्त्यस्मिन् इति' यहाँ 'इति' शब्द लगाने से यह अर्थ समझा जाता है कि लोक में प्रयोग की जैसी विवक्षा है उसके अनुसार प्रत्यय होवें[1]। जहां 'मतुप् प्रत्ययान्त' से ही लोक में प्रयोग करने की विवक्षा है वहाँ 'रसवान्', 'रूपवान्' ये 'मतुप् प्रत्ययान्त' ही प्रयुक्त होंगे। वहां अन्य प्रत्ययों की यह सूत्र निवृत्ति करेगा, सब जगह नहीं, इसलिए लौकिकी विवक्षा को मानकर 'रसिकः', 'रूपिकः' इत्यादि प्रयोग भी बन जायेंगे। अथवा रसादि गण में 'गुणात्' पढ़ने से 'रूप', 'रस', 'स्पर्श', 'गन्ध' आदि जो इन्द्रियग्राह्य गुण हैं, उन्हीं से 'मतुप्' होगा, गुण से भिन्न अन्य अर्थ में 'मतुप्' नहीं होगा। उससे 'रूपिणी', 'रूपिकः' 'रसिकः' ये प्रयोग भी उत्पन्न हो जायेंगें। 'रूपिणी', 'रूपिकः' में प्रसिद्ध चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य गुण की विवक्षा नहीं है अपितु सौन्दर्य की विवक्षा है अतः 'मतुप्' न होकर 'इनि', 'ठन्' हो गये। गुण की विवक्षा में 'रूपवती', 'रूपवान्' होते ही हैं। 'रसिकः' में भी रसनेन्द्रियग्राह्य गुण विवक्षित नहीं है अपितु अन्तःकरणस्थित स्थायी भाव विवक्षित है। अत गुण वाचकता न होने से 'मतुप्' नहीं हुआ।

अव्याप्ति दोषग्रस्त होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार कात्यायन इस सूत्र के खण्डन में मौन है। केवल भाष्यकार ने ही 'रसादि' शब्दों से केवल 'मतुप्' प्रत्यय का ही दर्शन न होने से इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। वे कहते हैं—

"रसादिभ्यः पुनर्वचनमन्यनिवृत्यर्थम्। रसादिभ्यः पुनर् वचनं क्रियते अन्येषां मत्वर्थीयानां प्रतिषेधार्थम्। मतुबेव यथा स्यात्। येऽन्ये मत्वर्थीयाः प्राप्नुवन्ति ते मा भूवन्निति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। दृश्यन्ते ह्यन्ये रसादिभ्यो मत्वर्थीयाः रसिको नटः। उर्वशी वै रूपिणी अप्सरसाम्। स्पर्शिको वायुरिति"[2]।

यहाँ स्पष्ट है कि 'रसादि' शब्दों से 'मतुप्' के साथ अन्य मत्वर्थीय 'इनि', 'ठन्' आदि प्रत्ययों का भी प्रयोग देखा जाता है। अतः अन्यनिवृत्ति रूप

---

१. वै० सि० कौ० भा० २, सू० ५.१.१६, पृ० ८८—इति शब्दो लौकिकीं विवक्षामनुसारयति।

२. महा० भा० २, सू० ५.२.९५, पृ० ३९४।

प्रयोजन इस सूत्र का न रहने से यह प्रत्याख्यान के योग्य हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

लौकिक प्रयोग के आधार पर शब्दानुशासन का विधान है। जब लोक-वेद दोनों में 'रसादि' शब्दों से 'मतुप्' के साथ अन्य 'इनि', 'ठन्' आदि का भी प्रयोग देखने में आता है तो इस सूत्र को विशेष रूप से केवल 'मतुप्' विधान के लिये बनाना व्यर्थ हो जाता है। लोक में भी 'रसवान्', 'रसिकः' यही प्रयोग होता है, 'रसी' का प्रयोग नहीं होता। 'पुंलिङ्ग में 'रूपी' का भी प्रयोग नहीं होता। केवल ठन्' और 'मतुप्' का प्रयोग ही होता है। अन्य 'धन', 'गुण' आदि शब्दों से 'धनवान्', 'धनी', 'धनिकः' 'गुणवान्', 'गुणी', 'गुणिकः' इत्यादि 'मतुप्', 'इनि', 'ठन्' इन सब प्रत्ययों का प्रयोग लोक में देखा जाता है। किन्तु 'रसादि' शब्दों से 'रसवान्', 'रसिकः', 'रूपवान्', 'रूपिकः', 'रूपिणी', 'गन्धवान्', 'स्पर्शवान्', 'स्पर्शिकः' इत्यादि कुछ विशिष्ट प्रत्ययों का ही प्रयोग लोक-वेद में दृष्टिगोचर होता है। इसलिये शब्दप्रयोग को लोक-वेद के अधीन छोड़कर इस सूत्र का खण्डन हो सकता है। आचार्य पाणिनि ने संभवतः प्रसिद्ध अनुरोध से 'मतुप्' का विधान किया है। क्योंकि 'रसादि' शब्दों से 'मतुप्' ही प्रसिद्ध है। प्रायः करके 'रसादि' शब्द मतुप् प्रत्ययान्त ही प्रयुक्त होते हैं। किन्तु भाष्यकार ने लोक में 'रसादियों' से अन्य प्रत्ययों का भी कादाचित्क प्रयोग देखकर सूत्र का प्रत्याख्यान किया है। प्रस्तुत सन्दर्भ में कैयट लिखते हैं—

"प्रयोगमूलत्वाल्लक्षणस्य नियमार्थत्वायोगात् सूत्रं प्रत्याख्यातम्"[१]।

अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी इसे प्रत्याख्येय मानकर अपने-अपने व्याकरणों में इसे नहीं रखा है। इस प्रकार यह सूत्र अव्याप्ति दोष ग्रस्त होने से प्रत्याख्येय ही ठहरता है।

न सामिवचने ।। ५.४.५ ।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'कन्' प्रत्यय का निषेध करता है। इसका अर्थ है कि 'सामि-वाचक' शब्द उपपद होने पर 'क्तान्त' से 'कन्' प्रत्यय नहीं होता। 'सामि' का अर्थ 'आधा' है। आधे अर्थ के वाचक शब्द 'सामि' 'नेम', 'अर्ध' आदि हैं।

---

१. महा० प्र० भा० ४, सू० ५.२.९५, पृ० १६२।

जैसे—'सामिकृतम्', 'अर्धकृतम्'। 'नेमकृतम्'। 'सामिभुक्तम्'। 'अर्धभुक्तम्'। 'नेमभुक्तम्' (आधा किया। आधा खाया) यहाँ 'कृतम्', 'भुक्तम्' ये 'कृत' प्रत्ययान्त शब्द हैं। उनसे 'अनत्यन्त गति' अर्थ में अर्थात् पूरी तरह क्रिया न करने के अर्थ में "अनत्यन्तगतौ क्तात्"[1] सूत्र से 'कन्' प्रत्यय प्राप्त होता है। उसका 'सामिवाचक' शब्द उपपद होने पर इस सूत्र से निषेध हो जाता है तो 'सामिकृतम्' इत्यादि रूप बन जाते हैं।

प्रकृति से ही अभिहित होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"सामिवचने प्रतिषेधानर्थक्यं प्रकृत्यभिहितत्वात्। सामिवचनेप्रतिषेधोऽनर्थकः। किं कारणम्। प्रकृत्याभिहितत्वात्। प्रकृत्याभिहितः सोऽर्थ इति कृत्वा कन् न भविष्यति"[2]।

इसका भाव यह है कि "सामिवचने" इस सूत्र से 'कन्' प्रत्यय के निषेध की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'सामिकृतम्' यहाँ 'सामि' इस प्रकृति एवं उपपद से ही अनत्यन्तगति अर्थात् 'अधूरे' अर्थ की प्रतीति हो जाने से 'कन्' होगा ही नहीं तो निषेध करना व्यर्थ है। इस प्रकार भाष्यवार्तिककार ने इतना ही कहकर सूत्र का खण्डन कर दिया है। किन्तु काशिकादिवृत्तिकारों ने तो अनत्यन्तगति से भिन्न स्वार्थ में प्राप्त 'कन्' का निषेधक इसे मानकर चरितार्थ कर दिया है। स्वार्थ में 'कन्' कौन करेगा तो इसके लिये यही सूत्र ज्ञापक होगा कि स्वार्थ में भी 'कन्' होता है[3]। उससे 'कृतमेव कृतकम्'। 'यवनहत एव यबनहतकः'। 'बहुतरमेव बहुतरकम्'। 'अभिन्नतरमेव अभिन्नतरकम्' इत्यादि प्रयोग उपपन्न हो जाते हैं। 'सामिवाचक' शब्द उपपद होने पर स्वार्थिक 'कन्' भी नहीं होगा तो 'सामिकृतम्', 'अर्धकृतन्' यही रूप बनेंगे, 'सामिकृतकम्', 'अर्धकृतकम्' नहीं बनेंगे।

---

१. पा० ५.४.४।

२. महा० भा० २, सू० ५.४.५, पृ० ४३१।

३. द्र०, का० भा० ४, सू० ५.४.५, पृ० ३२६-३२७—'एवं तर्हि नैवायमनत्यन्तगतौ विहितस्य कनः प्रतिषेधः। किं तर्हि, स्वार्थिकस्य। केन पुनः स्वार्थिकः कन् विहितः। एतदेव ज्ञापकमनुमास्यते—भवति स्वार्थे कन्निति'।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यह सूत्र स्वार्थिक 'कन्‌विधान' का ज्ञापक है। इस विषय में भाष्यकार ने कुछ नहीं कहा तथापि वृत्तिकार लोग भाष्यकार से विरुद्ध सूत्रार्थ की कल्पना नहीं कर सकते। इस लिये इस सूत्र द्वारा स्वार्थ में 'कन्' विधान की ज्ञापकता भाष्यकार को भी अभीष्ट ही है, यही मानना पड़ेगा। 'स्वार्थ' का अर्थ 'प्रकृति के अर्थ का अभिधान करना' है। स्वार्थिक प्रत्ययों में प्रत्यय का अपना अर्थ प्रधान न होकर प्रकृति के अर्थ की ही प्रधानता होती है। और जिन प्रत्ययों का अपना कुछ अर्थ नहीं कहा गया है वे "अनिर्दिष्टार्थाश्च प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति"[1] इस भाष्यकार के वचनानुसार स्वार्थ में अर्थात् प्रकृति के अर्थ में होते हैं। जैसे—'देवः एव देवता'। 'प्रज्ञ एव प्राज्ञः'। 'रक्ष एव राक्षसः'। 'बन्धुः एव बान्धवः'। 'समीपमेव सामीप्यम्'। 'कुटी एव कुटीरम्' इत्यादि। 'तरप्', 'तमप्' आदि भी स्वार्थिक प्रत्यय हैं। किन्तु उनमें प्रकृत्यर्थ, जो अतिशय आदि है, उसकी द्योतकता रहती है। इसलिये वे स्वार्थिक तो हैं किन्तु अत्यन्त स्वार्थिक नहीं है। यह सूत्र अत्यन्त स्वार्थिक प्रत्ययों का ज्ञापक है। जैसे कि अत्यन्त स्वार्थिक 'कन्' के भाष्यकारोक्त प्रयोग हैं—

एते खल्वपि नैर्देशिकानां वार्त्ततरका भवन्ति। एतैर् हि बहुतरकं व्याप्यते"[2]।

इस प्रकार 'सामिवाचक' शब्द उपपद होने पर स्वार्थिक 'कन्' प्रत्यय को रोकने के लिए प्रकृत सूत्र की आवश्यकता बनी रहती है। इसका खण्डन न्याय्य नहीं है। इसी लिए प्रायः सभी अर्वाचीन वैयाकरणों ने इस सूत्र को अपने-अपने तन्त्रों में रखा है[3]॥

---

१. महा० भा० २, सू० ३.२.४, पृ० ९८।

२. महा० भा० १, सू० १.१.६६, पृ० १७२।

३. जै० सू० ४.२.१३ 'न सामेः'।
शा० सू० ३.४.११० —'न सामिवचने'।
स० सू० ५.४.३३ — न सामि नेमार्धयोगे'।
है० सू० ७.३.५७ —'न सामिवचने'।
चान्द्र व्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति में (४.४.१६) उक्त सूत्र का खण्डन किया गया है।

यथातथयथापुरयोः पर्यायेण ।। ७.३.३१ ।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अङ्गाधिकार प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'नञ्' से परे 'यथातथ', 'यथापुर' शब्दों में पूर्वपद और उत्तरपद को पर्याय से वृद्धि होती है, 'ञित्', 'णित्', 'कित्' प्रत्यय परे होने पर। जैसे—'आयथातथ्यम्'। 'आयथापुर्यम्'। 'अयाथापुर्यम्'। 'अयाथापुर्यम्' 'यथातथ' और 'यथापुर' ये दोनों शब्द 'यथा' के अर्थ में[1] अव्ययीभाव समासान्त हैं। 'तथा अनतिक्रान्तं यथातथम्'। 'पुरा अनतिक्रान्तं यथापुरम्'। कुछ लोग 'यथातथ' शब्द न मानकर 'यथा-तथा' मानते हैं। उनके मत में 'यथातथा' शब्द में "सुप् सुपा"[2] समास होगा, अव्ययीभाव नहीं[3]। अव्ययीभाव समास मानने पर ह्रस्व हो जायेगा तो 'यथा-तथ' बनेगा। सूत्र में भी वे 'यथातथा' पढ़ते हैं। 'न यथातथा भावः' इस प्रकार भाष्य में विग्रह किया गया है। उससे तो 'सुप्सुपा' समास मानना ही संगत प्रतीत होता है।

'न यथातथा अयथातथा, तस्य भावः आयथातथ्यम्, अयाथातथ्यम्,'—यहां 'यथातथा' या 'यथातथ' शब्द से 'नञ्' समास में भाव अर्थ में "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च"[4] से 'ष्यञ्' प्रत्यय होता है। 'ष्यञ्' के ञित् होने से "तद्धितेष्वचामादेः"[5] से आदि 'अच्' को प्राप्त वृद्धि इस सूत्र से पूर्वपद और उत्तरपद को पर्याय से हो जाती है एक बार पूर्वपद को और दूसरी बार उत्तरपद को। जब पूर्वपद को वृद्धि होगी तो 'आयथातथ्यम्' यह रूप बनेगा। उत्तरपद को वृद्धि होने पर 'अयाथातथ्यम्' यह रूप बनेगा।

---

१. द्र० वै० सि० कौ० भा० २, पृ० १४—'योग्यतावीप्सा पदार्थानतिवृत्ति सादृश्यानि यथार्थाः'।

२. पा० २.१.४।

३. द्र० प्रकृत सूत्रीय महा० प्र०—'यथातथ इत्ययं निपातः अविपरीतार्थवृत्तिः इति केचिदाहुः। अन्ये तु यथातथाशब्दयोः सुप्सुपेति समास एतदर्थं इत्याहुः'। इसी स्थल पर महा० प्र० उ० द्र०—'एतौ पदार्थानतिवृत्तौ अव्ययीभावौ—अत एव सूत्र ह्रस्वनिर्देश इति केचित्। एतच्च यथातथा भावः भाष्येण विरुध्यते। तस्मात् सूत्रेऽपि दीर्घपाठ एवोचित इति परे'।

४. पा० ५.१.१२४।

५. पा० ७.२.११७।

इसीप्रकार 'न यथापुर भाव.' इस अर्थ में 'नञ्' समास होने पर जब पूर्वपद को वृद्धि होगी तब 'आयथापुर्यम्' बनेगा। उत्तरपद वृद्धि होने पर 'अयाथापुर्यम्' यह रूप बनेगा। ये दोनों 'नञ्समासयुक्त' 'ष्यञ् प्रत्ययान्त' शब्द हैं।

विवक्षा भेद से अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन-मण्डन में सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं।

'अयं योगः शक्योऽवक्तुम्' कथम्, आयथातथ्यम्, आयथातथ्यम्। आयथापुर्यम्, अयाथापुर्यम्। यदा तावत् पूर्वपदस्य वृद्धिस्तदैवं विग्रहः करिष्यते न यथातथा अयथातथा। अयथातथा भावः आयथातथ्यम् यदोत्तरपदस्य वृद्धिस्तदैवं विग्रहः करिष्यते यथातथाभावो याथातथ्यम्। न याथातथ्यम् अयाथातथ्यम् इति'[1]।

तात्पर्य यह है कि जब पहले 'नञ्' समास करके भाव प्रत्यय 'ष्यञ्' किया जायेगा तब 'अयथातथ' शब्द में आदि 'अच्', 'नञ्' का अकार होने से उसी को "तद्धितेष्वचामादेः"[2] से वृद्धि हो जायेगी तो 'आयथातथ्यम्' बन जायेगा। और जब पहले भाव प्रत्यय 'ष्यञ्' करके 'नञ्' समास किया जायेगा तो 'यथातथाभावः याथातथ्यम्' बनाकर फिर 'नञ्' समास होगा। उसमें 'याथातथ्य' में आदि 'अच्' यथा का अकार होने से उसको "तद्धितेष्वचामादेः" से वृद्धि हो जायेगी तो 'अयाथातथ्यम्' यह रूप बन जायेगा। 'अयथापुर्यम्', 'आयथापुर्यम्' में भी यही बात है। 'नञ्' समास करके 'ष्यञ्' किया जायेगा तो 'आयथापुर्यम्' बनेगा। 'ष्यञ्' करके फिर 'नञ्' समास किया जायेगा तो 'अयाथापुर्यम्', बनेगा। इस प्रकार तद्धितेष्वचामादेः" से ही आदि 'अच्' को वृद्धि होकर इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे तो यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाव प्रत्यय और 'नञ्' समास दोनों की अलग-अलग विवक्षा में तो दोनों रूप ठीक सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है। किन्तु जब भाव प्रत्यय और 'नञ्' समास दोनों की सहविवक्षा होकर 'न यथातथाभावः' इस प्रकार विग्रह होगा तब 'नञो गुण प्रतिषेधे"[3] इस ज्ञापक से नञ् समास के साथ सापेक्ष होने पर भी भाव प्रत्यय 'ष्यञ्' हो जायेगा तो 'यथातथ' शब्द की आदि वृद्धि होकर 'अयाथातथ्यम्' ही बन सकेगा। 'आयथातथ्यम्' तो सह विवक्षा में न

---

१. महा० भा० ३, सूत्र ७.३.३१, पृ० ३२२।

२. पा० ७.२.११७।

३. पा० ६.२.१५५।

बन सकेगा। उसके लिये सह विवक्षा न मानकर पहले 'नञ्' समास की विवक्षा से 'अयथातथा' शब्द बनाया जायेगा तथा उसके बाद भाव प्रत्यय किया जायेगा तो 'आयथातथ्यम्' भी इस सूत्र के बिना ही सिद्ध हो जायेगा। विवक्षाधीन होने से "न नञ्पूर्वात् तत्पुरुषात्०"[१] यह सूत्र भी व्यर्थ हो जाता है। इसलिये 'नञ्' समास के बाद 'ष्यञ्' होने में कोई बाधा नहीं है। 'ष्यञ्' के 'ञित्' होने से 'आयथातथ्यम्' यह आद्युदात्त है। 'अयाथातथ्यम्' यह भी 'नञ्' समास के अव्यय पूर्वपद प्रकृति स्वर से आद्युदात्त है। इस प्रकार लक्ष्यानुरोध से 'व्यवस्था' और 'विवक्षा' होने से प्रकृत सूत्र स्वतः प्रत्याख्येय हो जाता है। अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी इसका प्रत्याख्यान ही प्रायः न्याय्य माना है।[२] केवल जैनेन्द्र व्याकरणकार तथा सरस्वती कण्ठाभरणकार ने ही इसे अपने-अपने व्याकरणों में रखा है[३] जोकि अयाचित गौरवापत्ति ही है॥

निष्ठायां सेटि ॥६.४.५२॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अङ्गाधिकारीय आर्धधातुक प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'सेट्' निष्ठा परे रहते 'णि' का लोप होता है। जैसे—'कारितम्'। 'हारितम्'। 'कथितम्' इत्यादि। 'कृ' धातु से "हेतुमति च"[४] से प्रेरणा' अर्थ में 'णिच्' प्रत्यय करके "अचोञ्णिति वृद्धिः" द्वारा 'कारि' बन जाता है। 'कारि' इस णिजन्त धातु से निष्ठा प्रत्यय 'क्त' होता है। "आर्धधातुकस्येड् वलादेः"[५] से 'इडागम' होकर 'कारि+इत' यह 'सेट्' निष्ठा होने पर इस सूत्र से 'णि' का लोप हो जाता है तो 'कारितम्' बन जाता है 'कथितम्' में 'कथ' धातु

---

१. पा० ५.१.१२१।

२. तुलना करो शा० सू० २.३.१०४ पृ० १६४ की अमोघवृत्ति-आयथातथ्यमिति समासात्प्रत्ययः। अयाथातथ्यमिति प्रत्ययान्तेन समासः। एवमायथापूर्व्यम्। अयाथापूर्व्यम्। यथा आचतुर्यम्, अचातुर्यम्। यथातथायथापुरयोः पर्यायेणेति नारभ्यते।

३. जै० सू० ५.२.३५—'यथातथयथापुरयोः क्रमेण।'
स० सू० ७.१.५०—'यथातथायथापुरयोः पर्यायेण।'

४. पा० ३.१.१६।

५. पा० ७.२.३५।

के अदन्त होने से 'णिच्' परे रहते उसके अकार का लोप "अतो लोपः"[1] से होता है। अकारलोप को "अचः परस्मिन्"[2] से स्थानिवत् मानकर 'उपधा-वृद्धि'[3] नहीं होती। 'सेट्' निष्ठा में इस सूत्र से 'णि' का लोप हो जाता है तो 'कथितम्' बन जाता है।

सूत्र में 'सेड्' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि निष्ठा को 'सेट्' बनाकर फिर 'णिलोप' हो। पहले 'इट्' करके पश्चात् इस सूत्र से 'णि' का लोप करने के लिये 'सेट्' ग्रहण किया है। उससे काल का अवधारण हो जाता है कि किस काल में 'णि' का लोप हो। अन्यथा 'इट्' और 'णि लोप' की संप्रधारणा में 'णि लोप' के नित्य होने से 'इट्' करने से पहले 'णिलोप' हो जाता तो धातु के 'एकाच्' होने पर "एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्"[4] से 'इट्' सर्वथा प्रतिषिद्ध हो जाता। 'कारितम्', 'हारितम्' इत्यादि में इकार का श्रवण न होने से अनिष्ट रूप की आपत्ति होती। 'णिलोप' इसलिये नित्य है कि वह 'इट्' करने पर भी प्राप्त है। किन्तु 'इट्' णिलोप' करने पर प्राप्त नहीं है। "एकाच उपदेशे०" से प्रतिषिद्ध हो जाता है। इसलिये सूत्र में काल के अवधारण के लिये 'सेट्' ग्रहण किया गया है जिससे 'इट्' करने पर ही 'णिलोप' हो, उससे पूर्व न हो। 'संज्ञापितः पशुः' यहां भी णिजन्त 'ज्ञप्' धातु से परे 'सेट्' निष्ठा ही मिलेगी। यद्यपि 'ज्ञप्' धातु "सनीवन्तर्धभ्रस्ज०"[5] से विकल्पित 'इट्' वाला होने से "यस्य विभाषा"[6] से निष्ठा में सर्वथा अनिट् होकर 'सेट्' का व्यावर्त्य सम्भव है तो भी "यस्य विभाषा" सूत्र में 'एकाच्' की अनुवृत्ति होने से 'ज्ञप्' से परे निष्ठा प्रत्यय में 'इट्' का निषेध नहीं हो सकता, तो वह भी 'सेट्' ही रहेगी। ऐसी अवस्था में 'सेड्' ग्रहण का कोई व्यावर्त्य न होने से यह कालावधारणार्थ ही रहता है। 'इट्' करने पर 'णिलोप' हो, पहले न हो, इस बात में तात्पर्य ग्राहक है। 'संज्ञपितः' में भी पहले 'इट्' होकर फिर इस सूत्र से 'णिलोप' हो जाता है तो 'संज्ञापितः' बन जाता है।

---

१. पा० ६.४.४८।

२. पा० १.१.५७।

३. पा० ७.२.११६।

४. पा० ७.२.१०।

५. वही

६. पा० ७..२४६।

योग विभाग द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन में मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"नार्थः संङ्ग्रहणेन। नापि सूत्रेण। कथम्। सप्तमे योग विभागः करिष्यते। इदमस्ति निष्ठायां नेट् भवतीति। ततः णे। ण्यन्तस्य निष्ठायां नेट् भवति। कारितम्, हारितम्। ततः वृत्तम्। वृत्तमिति च निपात्यते। किं निपात्यते। णेर्निष्ठायां लोपो निपात्यते। किं प्रयोजनम्। नियमार्थम्, अत्रैव निष्ठायां णेर्लोपो भवति नान्यत्र। क्व मा भूत्। कारितम्, हारितम्। इहापि तर्हि प्राप्नोति वर्तितमन्नम्। वर्तिता भिक्षा। ततः अध्ययने। अध्ययने चेद् वृतिर्वर्तते इति"[2]—

तात्पर्य यह है कि 'कारितम्', 'हारितम्', 'कथितम्' इत्यादि को इस सूत्र के बिना ही सिद्ध कर लिया जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है। सो कैसे ? "श्वीदितो निष्ठायाम्"[3] से निष्ठा में 'इट्-निषेध' चल रहा है। उस 'इण्निषेध' को "णेर् अध्ययने वृत्तम्"[4] इस सूत्र में ले जाकर वहां 'णेः' 'वृत्तम्', 'अध्ययने' यह तीन सूत्रों वाला योग विभाग किया जायेगा। इनमें 'णेः' का अर्थ होगा कि तमाम 'ण्यन्त' धातुओं से परे निष्ठा में 'इट्' का निषेध हो जाता है। उससे 'कारितम्', 'हारितम्' इत्यादि णिजन्त धातुओं में निष्ठा-प्रत्यय को 'इट्' का निषेध होकर 'णि' का श्रवण रहेगा तो 'कारितम्' आदि इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे। अनिट् निष्ठा हो जाने पर "णेरनिटि"[5] से प्राप्त 'णिलोप' को 'वृत्तम्' इस योग विभाग से रोक दिया जायेगा कि यदि निष्ठा में 'णिलोप' हो तो वह 'वृत्' धातु में ही हो, अन्यत्र 'कारितम्', 'हारितम्' आदि में न हो। 'वृत्' धातु में भी 'अध्ययन' अर्थ में ही 'णिलोप हो— 'वृत्तमध्ययनम्।' 'वृत्तं पारायणम्' इत्यादि। 'अध्ययन' से भिन्न अर्थ में 'वृत्' धातु से भी 'णिलोप' न हो। उससे 'वर्तितमन्नम्। 'वर्तिता भिक्षा' यहां 'णिलोप' न होगा। इस प्रकार 'वृत्तम्' इस योग विभाग से 'कारितम्' इत्यादि में 'णिलोप' रुक जायेगा तो 'कारितम्' इत्यादि में 'णि' का श्रवण रहने से

---

१. पा० ७.२.१५।

२. महा० भा० ३, सू० ६.४.५२, पृ० २०३।

३. पा० ७.२.१४।

४. पा० ७.२-२६।

५. पा० ६.४.५१।

इष्ट रूप सिद्धि हो जायेगी। सूत्रारम्भ में 'णि' का लोप होकर 'इट्' का श्रवण होता है। सूत्र के बिना 'इट्' का निषेध होकर 'णि' का श्रवण रहेगा। फल में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। ऐसी अवस्था में यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य बन जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यकार द्वारा प्रकारान्तर से योग विभाग करके इष्ट रूपों की सिद्धि मान लेने पर इस सूत्र का खण्डन कर दिया गया है जो परिणाम की दृष्टि से तो ठीक ही है। क्योंकि 'कारितम्' इत्यादि रूप बनाने हैं। वे चाहे 'णिलोप' करके बनाए जायें अथवा 'इट्' का निषेध करके बनाये जायें, दोनों में अन्तर कुछ नहीं पड़ता। फिर भी आचार्य पाणिनि ने "णेरध्ययने वृत्तम्"[1] के योग विभाग रूप क्लेश से बचने के लिये यह सूत्र बनाया है। इससे अनायास ही 'णिलोप' होकर 'कारितम्' आदि इष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि "णेरनिटि"[2] से विधीयमान 'णिलोप' इस सूत्र के साथ-साथ "जनिता मन्त्रे, शमिता यज्ञे"[3] इन सूत्रों में भी अनुवृत्त हो रहा है। इसलिये 'णिलोप' करके 'कारितम्' इत्यादि बनाने में लाघव है। 'इट्निषेध' प्रकरण में 'णेः' का योग विभाग करके 'इट्-निषेध' द्वारा 'कारितम्' आदि बनाने में गौरव है। स्पष्ट प्रतिपत्ति में बाधाभूत इस अनावश्यक गौरव से बचने के लिए ही संभवत अन्य सभी वैयाकरणों ने सूत्रकार पाणिनि के सूत्र का समर्थन करते हुए इसे स्व-स्वतन्त्रों में रखा है।[4] फिर भी कल्पना यह बहुत अच्छी है कि साधु शब्दों के अन्वाख्यान में जो सुन्दर अभ्युपायान्तर संभव हो उसका आश्रयण करके इष्ट रूप सिद्ध कर लिया जाये। पतञ्जलि

---

१. पा० ७.२.२६।

२. पा० ६.४.५१।

३. पा० ६.४.५३, ५४।

४. चा० सू० ५.३.६८—'ततवतीटि।'
जै० सू० ४.४,५४—'ते सेटि।
शा० सू० ५.२.१०१—'णेरिक्तानिङामाल्वन्तेत् न्वाय्ये।'
सू० सू० ६.३.६७—'निष्ठायां सेटि।'
है० सू० ४.३.८४—'सेट्क्तयोः।'

मुनि इस बात में सिद्धहस्त हैं कि लक्ष्यसिद्धि को मुख्य मानकर किस प्रकार लक्षणों का परिवर्तन किया जा सकता है। "णेरध्ययने" के योग विभाग से भी 'कारितम्' इत्यादि बन सकते हैं, इस बात का ज्ञान भाष्यकार के बिना कौन दे सकता है। अतः गौरव अथवा दुरूह होने पर भी भाष्यकार द्वारा किया गया इस सूत्र का प्रत्याख्यान माननीय ही है ।।

आडजादीनाम् ।।६.४.७२ ।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अङ्गाधिकार का है। इसका अर्थ है कि 'अच्' है आदि में जिनके ऐसी 'अजादि' धातुओं को 'लुङ्', 'लङ्', 'लृङ्' परे रहते 'आट्' का आगम होता है और वह उदात्त भी होता है। यहां "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः"[1] इस पूर्वसूत्र से 'उदात्त' ग्रहण की अनुवृत्ति आती है। जैसे 'हलादि' धातुओं को विहित 'अडागम' उदात्त होता है वैसे 'अजादि' धातुओं को विहित 'आट्' का आगम भी उदात्त होता है। जैसे—'ऐक्षिष्ट'। 'ऐक्षत'। 'ऐक्षिष्यत'। 'ऐधिष्ट'। 'ऐधत'। 'ऐधिष्यत'। 'ऐज्यत'। 'औप्यत'। 'औह्यत' इत्यादि। 'ऐक्षिष्ट' में 'ईक्ष्' धातु 'अजादि' है। उससे कर्तृवाच्य में 'लुङ्' लकार परे रहते इस सूत्र से 'आट्' का आगम होकर 'आटश्च"[2] से वृद्धि एकादेश होता है तो 'ऐक्षिष्ट' बन जाता है। 'ऐक्षत' में 'लङ्' लकार परे रहते 'आट्' होकर वृद्धि हो जाती है। 'ऐक्षिष्यत' में 'लृङ्' लकार परे रहते 'आट्' होकर वृद्धि हो जाती है।

इसी प्रकार 'ऐधिष्ट' इत्यादि में 'एध्' धातु हैं, जो 'अजादि' है। उसको 'लुङ्' आदि परे रहते 'आट्' होकर वृद्धि हो रही है। 'ऐज्यत, 'औप्यत', 'औह्यत' यहां 'यज्', 'वप्', 'वह्' इन धातुओं से कर्मवाच्य में 'लङ्' लकार हुआ है। 'लङ्' की 'लावस्था' में ही अन्तरङ्ग होने से 'आदेश' जो 'त' प्रत्यय है, वह 'लुङ् ' लङ् लृङ्क्ष्वडुदात्तः" से होने वाले 'अट्' आगम को बाध लेता है। 'त' प्रत्यय करने पर नित्य होने से यक्' विकरण भी 'अडागम' को बाध लेता है। क्योंकि 'यक्' तो 'अडागम' करने या न करने पर भी प्राप्त होने से नित्य है, 'अट्' का आगम नित्य नहीं है। क्योंकि "शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो

---

१. पा० ६.४.७१।

२. पा० ६.१.९०।

भवति"[1] इस परिभाषा के वचन से वह अनित्य है। 'यक्' विकरण करने पर विकरणान्त अङ्ग बनता है और न करने पर केवल धातु मात्र अङ्ग है। इस प्रकार 'अडागम' की प्राप्ति शब्दान्तर में होने से वह अनित्य बन जाता है। यद्यपि 'यक्' विकरण भी शब्दान्तर से परे प्राप्त होने के कारण अनित्य होना चाहिये किन्तु "शब्दान्तरात् प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति"[2] इस परिभाषा को स्वीकार नहीं किया गया है। केवल शब्दान्तर को प्राप्त होने वाला आगम या आदेश ही अनित्य माना गया है। इसलिये 'यक्' विकरण तो शब्दान्तर से परे प्राप्त होने के कारण नित्य ही रहेगा। 'अट्' का आगम शब्दान्तर को प्राप्त होने के कारण सर्वथा अनित्य है। इसलिये 'अट्' से पूर्व 'यक्' विकरण करने पर नित्य होने के 'यज्', 'वप्', 'वह्' को "वचि स्वपि यजादीनां किति"[3] के प्राप्त 'सम्प्रसारण' भी 'अट्' को बांध लेगा। 'सम्प्रसारण' करने पर 'यज्', 'वप्', 'वह्' के अजादि हो जाने से "आडजादीनाम्" इस प्रकृत सूत्र से 'अडागम' की बाधा होकर 'आट्' का आगम हो जायेगा। तो "आटश्च"[4] से वृद्धि होने पर 'ऐज्यत' आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं।

लाघवार्थ अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के प्रत्याख्यान में श्लोकवार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों सहमत हैं। इसलिए 'न माङ्योगे'[5] सूत्र के भाष्य में भाष्यकार इस सूत्र के प्रयोजनों को अन्यथा सिद्ध करते हुए श्लोककारिका द्वारा इसका प्रत्याख्यान करते हैं--

"अजादीनामटासिद्धम्। अजादीनामटैव सिद्धम्। नार्थ आटा।"[6]

अर्थात् 'अजादि' धातुओं को भी "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः"[7] से विहित 'अट्' का आगम करके सब इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे। इसलिये "आडजादीनाम्" इस सूत्र द्वारा 'आट्' आगम का विधान करना व्यर्थ है अर्थात् यह

---

१. परि० सं० ४३।
२. परि० सं० ४४।
३. पा० ६.१.१५।
४. पा० ६.१.९०।
५. पा० ६.४.७४।
६. महा० भा० ३, सू० ६.४.७४, पृ० २०८।
७. पा० ६.४.७१।

सूत्र प्रत्याख्येय है। यदि यह कहा जाये कि "वृद्ध्यर्थमिति चेदटः"[1] अर्थात् 'ऐक्षिष्ट' इत्यादि 'अजादि' धातुओं में वृद्धि करने के लिये 'आट्' आगम होना चाहिये तो इसका उत्तर है कि "आटश्च" के स्थान में "अटश्च" सूत्र बनाकर 'अट् से 'अच्' परे होने पर वृद्धि एकादेश होता है'' ऐसा अर्थ किया जायेगा तो 'ऐक्षिष्ट' इत्यादि 'अजादि' धातुओं में 'अट्' से परे वृद्धि हो जायेगी।

"अस्वपो हसतीत्यत्र"[2]—यदि पुनः यह कहा जाये कि "अटश्च" सूत्र बनाकर "अट् से परे 'अच्' होने पर वृद्धि होती है", ऐसा माना जायेगा तो 'अस्वपो हसति' यहां दोष आयेगा। क्योंकि 'स्वप्' धातु के 'लङ्' लकार में मध्यम पुरुष के एक वचन 'सिप्' को "अङ् गार्ग्यगालवयोः"[3] से 'अट्' का आगम होता है। 'सिप्' के इकार का "इतश्च"[4] से लोप होकर 'अस्वपस्' ऐसा बनता है। "स सजुषो रुः"[5] से पदान्त में 'स' को 'रु' हो जाता है। आगे 'हसति' शब्द का हकार परे होने पर "हशि च"[6] से 'रु' को 'उत्व' होकर 'अस्वप उ हसति' इस अवस्था में "आद्गुणः"[7] से प्राप्त गुण को "अटश्च" यह नवनिर्मित सूत्र अपवाद होने से बांध लेगा तो ओकार गुण न होकर औकार वृद्धि प्राप्त होगी। 'अस्वपो हसति' न बनकर 'अस्वपौ हसति' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है तो इसका उत्तर यह है कि "धातौ वृद्धिमटः स्मरेत्"[8] अर्थात् 'अट्' से धातु का 'अच्' परे होने पर "अटश्च" से वृद्धि होगी, सर्वत्र नहीं। "उपसर्गाद् ऋति धातौ"[9] सूत्र में पठित 'धातु' शब्द को "अटश्च" और "उपसर्गाद्०" इन दोनों का 'एकशेष' मान लिया जायेगा तो अभीष्टार्थ सिद्ध हो जायेगा। 'अस्वपो' में जो 'अट्' से परे 'अच्' है वह उकार आदेश का है, धातु का नहीं है। इसलिए यहां वृद्धि न होकर

---

१. महा० भा० ३, सू० ६.४.७४, पृ० २०८।
२. वही, सू० ६.४.७४ पर श्लोकवार्तिक, पृ० २०८।
३. पा० ७.३.९९।
४. पा० ३.४.१००।
५. पा० ८.२.६६।
६. पा० ६.१.११४।
७. पा० ६..१८७।
८. महा० भा० ३, सू० ६.४.७४ पर श्लोक वार्तिक, पृ० २०८।
९. पा० ६.१.९१।

"आद्गुणः"[1] से गुण ही हो जायेगा।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में पुनः यह शङ्का करना सङ्गत नहीं है कि 'आट्' का काम 'अट्' से ही चलाने पर 'आटीत्', 'आशीत्' यहां 'अट्', 'अश्' धातुओं से पूर्व 'अट्' का आगम होगा। 'अ+अट्', 'अ+अश्' इस अवस्था में पर होने से "अतो गुणे"[2] यह पररूप एकादेश "अटश्च" से प्राप्त वृद्धि को बांध लेगा तो वहां वृद्धि न होकर पररूप प्राप्त होगा। क्योंकि "पररूपं गुणे नाटः। ओमाङोरुसि तत् समम्"[3] अर्थात् 'अट्' से गुण परे होने पर पररूप नहीं होता," ऐसा वचन कह दिया जायेगा। वस्तुतः पृथक् ऐसा कहने की भी आवश्यकता न होगी। क्योंकि 'उस्योमाङ्क्ष्वाटः प्रतिषेधो वक्तव्यः'[4] यह पररूप का बाधक वचन पहले ही कह रखा है। उसका अर्थ है कि "उस्यपदान्तात्", "ओमाङोश्च"[5] इन दोनों सूत्रों से विहित परमरूप का "आटश्च"[6] से विहित वृद्धि विधान में प्रतिषेध कहना चाहिये। जैसे—'औङ्कारीयत्।' 'औढीयत्।' 'औस्रीयत्।' यहां 'ओङ्कारमिच्छति ओङ्कारीयति।' 'आ+ऊढा ओढा। तामिच्छति ओढीयति।' 'उस्रा गौः तामिच्छति उस्रीयति.' इन 'क्यजन्त' नाम धातु के शब्दों के 'लङ्लकार' में 'आट्' आगम होने पर 'आ+ओङ्कारीयत्', 'आ+ओढीयत्', 'आ+उस्रीयत्' इस अवस्था में "ओमाङोश्च" तथा "उस्यपदान्तात्" इन सूत्रों से पररूप प्राप्त होता है। उस पररूप का उक्त वार्तिक द्वारा निषेध होकर "आटश्च" से वृद्धि हो जाती है तो 'औङ्कारीयत्,' 'औढीयत्', 'औस्रीयत्' ये अभीष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं। यह पररूप का बाधक वचन पहले ही बना हुआ है। इसलिये उसको उपलक्षण मानकर 'अट्' से गुण परे होने पर पररूप नहीं होता, यह अलग से कहने की आवश्यकता न होगी। वृद्धि के प्रति पररूप निषेधक वचन पहले ही "उस्योमाङ्क्ष्वाटः प्रतिषेधः" इस वचन द्वारा विद्यमान है। यदि "पररूपविधौ नाटः" इस सामान्य वचन द्वारा "अटश्च' के वृद्धि विधान में' पररूप का निषेध माना जाता है तो "उस्योमाङ्क्ष्वाटः" इस प्रतिषेध वचन की आवश्यकता

---

१. पा० ६.१.८७।

२. पा० ६.१.९७।

३. महा० भा० ३, सू० ६.४.७४ पर श्लोक वार्तिक, पृ० २०९।

४. पा० ६.१.९५ पर वार्तिक।

५. पा० ६.१.९६, ९५।

६. पा० ६.१.९०।

नहीं, इस प्रकार दोनों तुल्य हो जाते हैं।

यदि पुनः यह कहा जाये—'छन्दोऽर्थम्'[1] अर्थात् 'आरैक्',[2] 'आयुनक्',[3] 'आवः'[4] इत्यादि वैदिक प्रयोगों में 'आट्' श्रवण के लिये 'अडागम' की आवश्यकता है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'बहुलं दीर्घः'[5] अर्थात् वेद में बहुलतया दीर्घ दीखता है। जैसे पुरुषः' के स्थान में 'पूरुष.'[6] तथा नरकः' के स्थान में 'नारक,'[7] इत्यादि। इसी प्रकार 'आरैक्', 'आयुनक्', 'आवः' इन वैदिक प्रयोगों में भी 'अडागम' के अकार को ही सांहितिक दीर्घ होकर आकार हो जायेगा। उसके लिये अलग आडागम विधान करना व्यर्थ है।

यहां यह कहना ठीक नहीं है कि 'आट्' आगम के बिना 'आयन्' 'आसन्' कैसे बनेंगे। 'आयन्' यह 'इण्' धातु के 'लङ्' लकार में प्रथम पुरुष का बहुवचन है। 'झि' को 'अन्तादेश' होने पर ''इणो यण्''[8] से 'इण्' को यणादेश हो जाता है। यणादेश होकर 'इण्' के 'अजादि' न रहने से 'आडागम' के बिना 'आयन्' में आकार कैसे सुनाई देगा। इसी प्रकार 'आसन्' यहां 'अस्' धातु के 'लङ्' लकार में 'झि' को 'अन्तादेश' हुआ है। ''श्नसोरल्लोपः''[9] से 'अस्' के अकार का लोप हो जाने पर 'अस्' के 'अजादि' न रहने से 'आडागम' के बिना 'आसन्' में आकार का श्रवण कैसे होगा।

इसका उत्तर है—''इणस्त्योरन्तरङ्गतः''[10] अर्थात् 'आयन्', 'आसन्' में ''इणो यण्'' और 'श्नसोरल्लोप.'' को बांध कर अन्तरङ्ग होने से ''अटश्च'' से वृद्धि हो जायेगी। तो 'अयन्', 'आसन्' ये अभीष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे 'आसन्' यहां 'अ+इ+अन्' इस अवस्था में 'अन्' की अपेक्षा रखने से ''इणो यण्' बहिरङ्ग है तथा ''अटश्च'' से होने वाली वृद्धि तो अल्पापेक्ष या पूर्वतर होने से

१ महा० भा० ३, सू० ६.४.७४ पर श्लोक वार्तिक, पृ० २०६।
२. ऋक्० १.११.३.२।
३. ऋक्० १.१६३.२।
४. ऋक्० १.११३.४।
५. महा० भा० ३, सू० ६.४.७४ पर श्लोक वार्तिक, पृ० २०६।
६. ऋक्० १०.९०.३।
७. मा० यजु० ३०.५।
८. पा० ६.४.८१।
९. पा० ६.४.१११।
१०, महा० भा० ३, सू० ६.४.७४ पर श्लोक वार्तिक, पृ० २०६।

अन्तरङ्ग है।[1] इसलिये "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे"[2] इस परिभाषा के वचन से बहिरङ्ग 'यण्' को असिद्ध समझकर पहले 'अ+इ' को "अटश्च" से 'ऐ' वृद्धि हो जायेगी। फिर 'अन्' परे रहते "एचोऽयवायावः"[3] से 'आय्' आदेश होकर 'आयन' बन जायेगा। 'आसन्' में भी "श्नसोर् अल्लोपः"[4] यह 'अन्' की अपेक्षा रखने से बहिरङ्ग है। 'अटश्च' से होने वाली वृद्धि पूर्वतर होने से अन्तरङ्ग है। बहिरङ्ग के असिद्ध हो जाने पर पहले 'अटश्च' से वृद्धि हो जायेगी तो दोनों अकारों को आकार होकर 'आसन्' बन जायेगा। यहां भी 'आट्' आगम की जरूरत नहीं है। 'आयन्' में वृद्धि करने पर 'इ' न रहने से "इणो यण्"[5] न होगा। क्योंकि उस सूत्र में "एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य"[6] इस उत्तरसूत्रस्थ 'एः' पद की योग विभाग द्वारा आकृष्टि करके इवर्णान्त 'इण्' धातु को ही 'यण्' माना जायेगा। 'ऐवर्णान्त' होने पर 'यण्' नहीं होगा। "अन्तादिवच्च"[7] इस अन्तादिवद्भाव से भी 'ए' को 'इ' नहीं माना जा सकता। क्योंकि वर्णन के रूप का अतिदेश अन्तादिवद्भाव से नहीं होता। केवल 'ऐ' को 'इ' मानकर काम किया जा सकता है रहेगा वह 'ऐ' ही। वार्तिक भी है—

"न वाताद्रूप्यातिदेशात्।"[8]

---

१. द्र० परि० सं० ५०—'अल्पापेक्षमन्तरंगम्। बह्वपेक्षं बहिरंगम्—
तुलना करो—"बहिरंगविधिभ्यः स्यादन्तरङ्गविधिर्बली।
प्रत्ययाश्रितकार्यं तु बहिरङ्गमुदाहृतम्॥
प्रकृत्याश्रितकार्यं स्यादन्तरंगमिति ध्रुवम्।
प्रकृतेः पूर्वं पूर्वं स्यादन्तरङ्गतरं तथा॥
मुग्ध बोध व्याकरण, अच् सन्धि, सूत्र २१ की दुर्गादासीय टीका (पाणिनि व्याकरण का अनुशीलन के पृष्ठ ३९ से उद्धृत)

२. परि० सं० ५०।

३. पा० ६.१.७८।

४. पा० ६.४.१११।

५. पा० ६.४.८१।

६. पा० ६.४.८२।

७. पा० ६.१.८५।

८. पा० ६.१.८५ पर वार्तिक।

इसी प्रकार 'आसन्' में 'आ' वृद्धि होने पर "श्नसोरल्लोपः" में 'अत्' के तपर होने के कारण 'आ' का लोप नहीं होगा। 'आयन्', 'आसन्' में वृद्धि और 'यण्' अल्लोप के भिन्न-भिन्न आश्रय होने के कारण "वार्णादाङ्गं बलीयो भवति"[1] इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि वह परिभाषा वार्णशास्त्र और आङ्गशास्त्र दोनों के समान आश्रय होने पर ही लगती है। इसलिये उसके आधार पर पहले आङ्गशास्त्र 'यण्' और 'अल्लोप' नहीं होंगे। इस प्रकार भाष्यकार ने 'अडागम' से ही सब अभीष्ट प्रयोगों की सिद्धि करके 'आडागमविधायक' इस सूत्र का स्पष्ट प्रत्याख्यान कर दिया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यश्लोकवार्तिककारकृत इस सूत्र के प्रत्याख्यान में सभी सहमत हैं। क्या पदमंजरीकार, क्या सिद्धान्तकौमुदी के तत्त्वबोधिनी व्याख्याकार, क्या कैयट या नागेश, किसी ने भी 'आट्' के समर्थन में कुछ नहीं कहा। हां, कैयट ने 'आयन्', 'आसन्' के लिए 'आडागम' की आवश्यकता का भाष्यकार द्वारा खण्डन करने पर कहा—"एतच्च वार्णादाङ्गं बलीयः इत्यनाश्रित्योक्तम्। तदाश्रयणे हि वृद्धिं बाधित्वा यण्-लोपौ स्याताम्। अटा सिद्धे आड्वचनमेव ज्ञापकमन्ये वर्णयन्ति—भवत्येषा परिभाषा वार्णादाङ्गं बलीय इति। तस्यां हि सत्यां यण्लोपयोः वृद्धिं बाधित्वा प्रवृत्तयोः आयन्, आसन् इति न स्यादित्याड् विधीयते इति।"[2]

इसका आशय यह है कि किन्हीं के मत में "वार्णादाङ्गं बलीयः"[3] इस परिभाषा के ज्ञापन करने के लिये 'आट्' आगम का विधान किया है। उक्त परिभाषा का अर्थ है कि वर्ण सम्बन्धी विधि और अङ्गाधिकारस्थ अङ्गसम्बन्धी विधि इन दोनों की प्राप्ति में अङ्गसम्बन्धी विधि बलवान् होती है। 'आयन्', 'आसन्', में "इणो यण्"[4] और "श्नसोरल्लोपः"[5] ये दोनों विधियां अङ्गाधिकारस्थ अङ्गसम्बन्धी हैं। "अटश्च" यह वृद्धि विधायक विधिसूत्र अङ्गाधिकार बहिर्भूत है और 'अट्', 'अच्' रूप वर्ण से सम्बन्ध रखता है। इसलिये वर्ण

१. परि० सं० ५५।
२. महा० प्र० भा० ४, सू० ६.४.७४, पृ० ७४८।
३. परि० सं० ५५।
४. पा० ६.४.८१।
५. पा० ६.४.१११।

सम्बन्धी है। दोनों में अङ्गसम्बन्धी विधि बलवान् होने से 'अटश्च' को बांधकर "इणो यण्" और "श्नसोरल्लोपः" ये पहले हो जायेंगे तो 'आयन्' 'आसन्' में आकार कहां से जायेगा। 'आट्' आगम का विधान करने पर तो 'यण्' और 'अल्लोप' होने पर भी उनके "असिद्धवदत्राभात्"[1] से असिद्ध होने के कारण 'अजादि' मानकर "आडजादीनाम्" से 'आट्' हो जायेगा तो आकार का श्रवण होने से इष्ट रूप बन जाते हैं।

वस्तुतः इस सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य ही है। "आटश्च" की जगह "अटश्च" करने में एक मात्रा का लाघव होता है।[2] 'अट्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करके बने हुए 'अटन' शब्द में "अटश्च" से प्राप्त वृद्धि भी रोकी जा सकती है। क्योंकि "अटश्च" सूत्र में "आद्गुणः"[3] से 'आत्' शब्द की अनुवृत्ति मानकर अकार रूप 'अट्' से अर्थात् जिसके 'टकार' की इत्संज्ञा होकर केवल 'अकार' रह गया है उससे 'अच्' परे होने पर वृद्धि होगी। 'अटन' में 'अकार रूप' 'अट्' के न होने से वृद्धि नहीं होगी। "वर्णादाङ्गं बलीयः"[4] यह परिभाषा अनित्य है और भिन्नाश्रय में प्रवृत्त भी नहीं होती, इसलिये उसके आश्रयण से 'आडागम' का समर्थन नहीं किया जा सकता। यहां व्याकरण शास्त्र में जहां भी 'अट्' शब्द की गन्ध है वह सब भाष्यकार ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखकर "अटश्च" से प्राप्त वृद्धि का समाधान कर दिया है। इसलिये 'आडागम' का कार्य 'अडागम' से ही चलाकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान अनुचित नहीं है। अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी भाष्यकार के इस प्रत्याख्यान का सर्वथा अनुमोदन करते हुए प्रायः "आटश्च" की जगह "अटश्च" सूत्र को ही रखा है।[5] ऐसी स्थिति में सूत्र का खण्डन ही ठीक है।

---

१. पा० ६.४.२२।

२. तुलना करो परि० सं० १३३—"अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः'।

३. पा० ६.१.८७।

४. परि० सं० ५५।

५. चा० सू० ५.३,८२-८३—'लुङ्लङ् लृङ्क्ष्वमाङ्योगे। आदैजेवाघटः।'

जै० सू० ४.४.७०, ४.३.७८—'लुङ् लङ् लृङ्यट्। अटश्च।'

शा० सू० ४.२.१३१-१३२—'लुङ् लङ् लृङ्यमाडाट्। औरचाद्यचः।'

स० सू० ६.३.८१, ६.१.६७—'लुङ् लङ् लृङ्क्ष्वमाङ्योगे। वृद्धिरेवाद्यटः।

है० सू० ४.४.२९-३१—'अड्धातोरादिह्यस्तन्यां चामाङा। एत्यस्तेर्वृद्धिः। स्वरादेस्तासु।'

पूङश्च ।।७.२.५१।।

सत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र अङ्गाधिकार में 'इड्विधायक' सूत्रों में पठित है। इसका अर्थ है कि 'पूङ्' धातु से परे 'क्त्वा' और 'निष्ठा' ('क्त', 'क्तवतु'[1]) प्रत्ययों को विकल्प से 'उट्' का आगम होता है। 'पूङ्' धातु 'एकाच्' उगन्त है। उससे परे 'क्त्वानिष्ठा' प्रत्ययों को "श्र्युकःकिति"[2] से सर्वथा 'इट्' का निषेध प्राप्त होता है। यह उसका अपवाद सूत्र है। इससे जिस पक्ष में 'इट्' हो जायेगा वहां "पूङः क्त्वा च"[3] से 'सेट्-क्त्वा-निष्ठा' को नित्य कित्व का निषेध हो जाने से 'पूङ्' को 'सार्वधातुक गुण' और अवादेश होकर 'पवित्वा', 'पवितः' 'पवितवान्' ये इष्ट रूप बन जाते हैं। जिस पक्ष में 'इट्' नहीं होगा वहां "क्त्वा च" से 'कित्व' का निषेध न होने से 'क्त्वौ', 'निष्ठा' दोनों 'कित' ही, रहेंगे। इसलिये "क्ङिति च"[4] से 'सार्वधातुक गुण' का निषेध होकर, पूत्वा', 'पूतः', 'पूतवान्' ये दो इष्ट रूप भी बन जाते हैं। इस प्रकार दो-दो अभीष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं।

लाघवार्थ सूत्र का प्रत्याख्यान

"पूङः क्त्वा च" सूत्र के भाष्य में भाष्यवार्तिककार उक्त सूत्र के अर्थ पर आक्षेप करते हुए कहते हैं—"पूङः क्त्वानिष्ठयोरिटि वा प्रसङ्गः सेट्-प्रकरणात्"[5] अर्थात् "पूङः क्त्वाच" सूत्र में ऊपर से यदि 'सेट्' और 'अन्यतर-स्याम्' इन दोनों की एक साथ अनुवृत्ति मानते हैं तो 'पूङ्' से परे 'सेट् क्त्वा निष्ठा को विकल्प से 'कित्व' प्राप्त होता है। उस अवस्था में 'सेट्' पक्ष में ही अनिष्ट 'पवित्वा' 'पुवित्वा' 'पवित.' 'पुवितः' 'पवितवान्' 'पुवितवान्' ये दो-दो रूप बनने लगेंगे। क्योंकि 'सेट् क्त्वा निष्ठा' को विकल्प से 'कित्' मानने पर 'कित्व' पक्ष में सार्वधातुक गुण न होकर "अचि श्नुधातुभ्रुवाम्"[6] से 'उवङ्' हो जायेगा तो उक्त 'उवङ' वाले अनिष्ट रूप प्राप्त होंगे।

---

१. पा० १.१.२६—'क्तक्तवतू निष्ठा।'

२. पा० ७.२.११।

३. पा० १.२.२२।

४. पा० १.१.५।

५. महा० भा० १, सू० १.२.२२, पृ० २११।

६. पा० ६.४.७७।

इस आक्षेप का उत्तर देते हुए आगे कहते हैं—"न वा सेट्त्वस्याकिदाश्रयत्वादनिटि वा कित्वम् ।"[1]

अर्थात् 'सेट्त्व' तो 'अकित्त्व' के आश्रित है। जब 'क्त्वा-निष्ठा' को 'कित्त्व' का 'निषेध हो जायेगा तभी वे 'सेट्' बनेंगे, उससे पहले नहीं। क्योंकि 'कित्त्व' की अवस्था में "श्र्युकः किति"[2] से 'इट्' का निषेध प्राप्त है। ऐसी अवस्था में 'पूङ्' से परे अनिट् 'क्त्वा निष्ठा' को ही विकल्प से 'कित्त्व' होगा। जिस पक्ष में 'कित्त्व' हो जायेगा वहां 'इट्' और गुण दोनों का निषेध होकर 'पूत्वा', 'पूतः', 'पूतवान्' ये इष्ट रूप बन जायेंगे। जिस पक्ष में 'कित्त्व' नहीं होगा वहां 'इट्' और गुण दोनों होकर 'पवित्वा', 'पवितः', 'पवितवान्' ये दो इष्ट रूप भी बन जायेंगे।

यदि यह कहा जाये कि "श्र्युकः किति" का अपवाद "पूङश्च" यह सूत्र 'पूङ्' से परे 'क्त्वा निष्ठा' को पक्ष में 'इट्' कर देगा तो 'सेट् क्त्वा निष्ठा' के मिलने से वहीं पर विकल्प से 'कित्व' प्राप्त होगा, तो यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि "इड्वधौ ह्यग्रहणम्"[3] अर्थात् 'इट्' के विधान में 'पूङ्' का ग्रहण नहीं किया जायेगा। भाव यह है कि "पूङश्च" यह प्रकृत सूत्र नहीं बनाया जायेगा। उसके बिना भी उक्त दो-दो अभीष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं। आचार्य पाणिनि ने लाघव का आदर न करते हुए "स्पष्ट्प्रतिपत्त्यर्थपूङश्च" यह सूत्र बना दिया है। वार्तिककार की दृष्टि में यह सूत्र अनावश्यक है।[4] "पूङः क्त्वा च" यह सूत्र अनिट् 'क्त्वा निष्ठा' को विकल्प से 'कित्वविधान' कर देगा। उससे अभीष्ट दो-दो रूप स्वतः सिद्ध हो जायेंगे। इस प्रकार "पूङश्च" सूत्र का प्रत्याख्यान हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वार्तिककार द्वारा "पूङश्च" सूत्र का प्रत्याख्यान एक पक्षीय ही है। वैसे उन्होंने "पूङश्च" सूत्र की सत्ता में यह महान् अनिष्ट भी दर्शाया है कि

---

१. महा० भा० १, सू० १.२.२२, पृ० २०६।

२. पा० ७.२.११।

३. महा० भा० १, सू० १.२.२२, पृ० २०६।

४. द्र० महा० प्र० १.२.२२, भा० २, पृ० ३२—'इड्विधौ पूङश्चेति सूत्रं वार्तिककारः प्रत्याचष्टे—लाघवमनादृत्य सूत्रकारेण पूङश्चेति इड्विधौ पठितम्।'

"पूङः क्त्वा च" से विधीयमान 'क्त्वा निष्ठा' को 'कित्वविकल्प', 'सेट् क्त्वा निष्ठा' को प्राप्त होता है, अनिट् को नहीं। इष्ट यह है कि अनिट 'क्त्वा निष्ठा' को ही 'पूङ्' से परे 'कित्त्वविकल्प' हो, 'सेट्' को न हो। यह बात सूत्र के अभाव में ही सिद्ध हो सकती है। किन्तु यदि 'पूङः क्त्वा च' सूत्र में ऊपर से केवल 'सेट्' की अनुवृत्ति मानी जाये, 'अन्यतरस्याम्' की न मानी जाये, जैसा कि काशिकाकार कहते हैं—

"अन्यतरस्याम् इति न स्वर्यते, उत्तरसूत्रे पुनर्वावचनात्।"[१]

अर्थात् "पूङः क्त्वा च" सूत्र में "उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम्"[२] सूत्र से 'अन्तरस्याम्' की अनुवृत्ति नहीं आती। क्योंकि 'नोपधात् थफान्ताद्वा'[३] इस उत्तरसूत्र में विकल्पार्थक 'वा' शब्द का ग्रहण किया है। "विभाषामध्ये च ये विधयस्ते नित्या भवन्ति"[४] इस भाष्यवचन से भी यह बात सिद्ध होती है कि दो विभाषा या विकल्पों के मध्य में जो, विधि होती है, वह नित्य समझी जाती है। तब तो 'सेट् क्त्वा निष्ठा' को नित्य ही 'कित्व निषेध' होने से उक्त दोष नहीं आयेगा। 'पूङ' से परे 'क्त्वा निष्ठा' को 'सेट्' बनाने के लिये "पूङश्च" यह सूत्र बनाना आवश्यक हो जाता है। इसी बात को भारद्वाजीय आचार्य यों पढ़ते हैं—

"नित्यमकित्त्वमिडाद्योः क्त्वानिष्ठयोः क्त्वाग्रहणमुत्तरार्थम् इति।"[५]

इसका भाव यही है कि "पूङः क्त्वा च" सूत्र में ऊपर से 'अन्यरस्याम्' की अनुवृत्ति नहीं आती। केवल 'सेट्' की अनुवृत्ति आती है। उससे सूत्र का यह अर्थ हुआ कि 'पूङ्' से परे 'सेट् क्त्वानिष्ठा' प्रत्यय 'कित्' नहीं होते। उसमें 'क्त्वा' का 'कित्त्वनिषेध' तो "न क्त्वा सेट्"[६] इससे ही सिद्ध है। इसलिए सूत्र में 'क्त्वा' ग्रहण "नोपधात्थफान्ताद्वा" इत्यादि उत्तरसूत्रों के लिये है जिससे उनमें केवल 'क्त्वा' की ही अनुवृत्ति हो, 'निष्ठा' की न हो।

---

१. महा० भा० १, सू० १.२.२२, पृ० २०६।
२. पा० १.२.२१।
३. पा० १.२.२३।
४. महा० भा० १, सू० १.२.२२, पृ० २०६।
५. वही।
६. पा० १.२.१८।

"पूङश्च" सूत्र की सत्ता में "पूङः क्त्वा च" में 'सेट्' की अनुवृत्ति लानी पड़ती है। यदि "पूङश्च" सूत्र न हो तो 'पूङ्' से परे 'सेट् क्त्वा निष्ठा' मिलने संभव ही नहीं। "श्र्युकः किति" से नित्य 'इट्' का निषेध प्राप्त है। उस अवस्था में "पूङक्त्वा च" में केवल 'अन्तरस्याम्' की अनुवृत्ति करके 'पूङ्' से परे अनिट् 'क्त्वा निष्ठा' को ही विकल्प से 'कित्व' का निषेध हो जायेगा तो पूर्वोक्त अभीष्ट रूपों की सिद्धि हो जाने से "पूङश्च" सूत्र व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

यदि यह कहा जाये कि "विभाषामध्ये ये विधयस्ते नित्याभवन्ति" इस भाष्यवचन से "पूङः क्त्वा च" सूत्र में अन्तरस्याम्' की अनुवृत्ति न करके इसे नित्यविधि ही माना जायेगा। 'सेट्' की अनुवृत्ति को रोकने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। इसलिए 'सेट्' की अनुवृत्ति द्वारा सूत्र का अर्थ होगा कि 'पूङ्' से परे 'सेट् क्त्वानिष्ठा' 'कित्' नहीं होते जैसा कि सभी काशिका कौमुदीकार आदि व्याख्यान करते हैं। तब तो 'पूङ्' से परे 'क्त्वा निष्ठा' को 'सेट्' वनाने के लिए "पूङश्च" यह सूत्र बनाना आवश्यक हो जाता है।

इसके अतिरिक्त उत्तर सूत्रों में भी 'सेड्' ग्रहण की अनुवृत्ति अभीष्ट है अतः यहां 'सेड्' ग्रहण की अनुवृत्ति न मानने पर भी 'मण्डूक प्लुति' द्वारा 'सेड्' ग्रहण वहां उपस्थित होता है। उसमें क्लेश स्पष्ट ही है। स्पष्ट प्रतिपत्ति के दृष्टिकोण से भी 'सेड्' ग्रहण की अनुवृत्ति होनी ही चाहिये।[1] उस स्थिति में 'पूङ' से परे 'क्त्वा निष्ठा' को 'सेट्' बनाने के लिए "पूङश्च" सूत्र आवश्यक होने से प्रत्याख्येय नहीं है।

इसलिये अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी वार्तिककार की उपर्युक्त एकपक्षीय युक्ति को न स्वीकार करके प्रस्तुत सूत्र को अपने-अपने तन्त्रों में समुचित स्थान दिया है और आचार्य पाणिनि के "पूङश्च", "पूङः क्त्वा च" इन दोनों सूत्रों के समान इन्होंने भी उक्त दोनों सूत्रों को रखा है।[2] ऐसी स्थिति में सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य नहीं है॥

---

१. द्र० शा० कौ० भा० २, पृ० १२—'कात्यायनस्तु—पूङश्चेति सूत्रं प्रत्याचख्यौ उत्तरसूत्रे वा ग्रहणं च। किन्त्वस्मिन् पक्षे उत्तरत्र सेड्ग्रहणं मण्डूकप्लुत्यानुवर्तनीयमिति क्लेशः'।

२. (क) चा० सू० ५.५.१११—'पूक्लिशिस्त्वश्च।
वही ६.२.१६—'ततवतोरपूशीस्विदिमिदिक्ष्विदि धृषः।

विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् ॥ ७.३.११४॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अङ्गाधिकारप्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'तीय प्रत्ययान्त' स्त्रीलिङ्ग 'द्वितीया', 'तृतीया' शब्दों से परे ङित् विभक्तियों को विकल्प से 'स्याट्' का आगम होता है। और 'द्वितीया', 'तृतीया' को ह्रस्व भी हो जाता है। जैसे—'द्वितीयस्यै', 'द्वितीयायै।' 'तृतीयस्यै' 'तृतीयायै।' 'द्वितीयस्याः', 'द्वितीयायाः।' 'तृतीयस्याः', 'तृतीयायाः।' 'द्वितींयस्याम्', 'द्वितीयायाम्।' 'तृतीयस्याम्', 'तृतीयायाम्।' यहां "द्वेस्तीयः।" "त्रेः सम्प्रसारणं च"[1] इन सूत्रों से 'द्वि', 'त्रि' शब्दों से 'तीयी' प्रत्यय करके 'द्वितीय', 'तृतीय' शब्द 'तीयप्रत्ययान्त' बनते हैं उनसे स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' होकर सवर्णदीर्घ एकादेश से 'द्वितीया',' तृतीया' से स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं। उनसे 'ङे', 'ङसि', 'ङस्' 'ङि' इन 'ङित्' विभक्तियों के परे रहते 'स्याट्' आगम विकल्प से हो गया। 'स्याट्' के अभाव में "याडापः"[2] से 'याट्' हो जाता है। वृद्धि, दीर्घ आदि होकर 'द्वितीयस्यै', 'द्वितीयायै' ये दो-दो रूप बनते हैं। 'स्याट्' पक्ष में 'द्वितीया', 'तृतीया' को ह्रस्व भी होता है। दोनों शब्दों के सर्वनाम संज्ञक न होने से "सर्बनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च" इस पूर्वसूत्र से 'स्याट्' का आगम प्राप्त नहीं था। उसके विधान के लिये यह सूत्र बनाया गया है। यही इस सूत्र का प्रयोजन है। पाणिनि के इसी आशय को लेकर आचार्य चन्द्रगोमिन् और

(ख) जै० सू० ५.१.९८—'पूङः।'
वही १.१.९२—'तः सेट् पूङ्शीङ् स्विद्भिदक्ष्विद्धृषो न'।

(ग) शा० सू० ४.२.१६०—'पूङक्लिशो वा'।
वही ४.१.१५४—'शीङ् डीङ् पूङ् स्विदिमिदिक्ष्विद्धृषो न'।

(घ) स० सू० ६.४.११७—'पूक्लिशिभ्यां क्तश्च'।
वही ७.२.१४—'निष्ठायामशीङ्पूस्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः।'

(ङ) हैं० सू० ४.४.४५—'पूङक्लिशिभ्यो ने वा'।
वही ४.३.२७—'न डीङ् शीङ् पूङ् धृषिक्ष्विदिस्विदिमिदः'।

१. पा० ५.२.५४, ५५।
२. पा० ७.३.११३।
३. पा० ७.३.११४।

भोजराज ने भी "द्वितीया तृतीयाद् वा" अथवा "द्वितीया तृतीयाभ्यां वा" ऐसा सूत्र बनाया है।[1] ये भी इन दोनों शब्दों को 'ङित्' विभक्तियों के परे रहते 'स्याट्' का आगम तथा ह्रस्व करते हैं।

उपसंख्यान वार्तिक का आश्रयण करके सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यकार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए "वा प्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम्" इस उपसंख्यान वार्तिक का आश्रयण करते हैं। उनका कथन है—

"वा प्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसंख्यानं कर्तव्यम्। द्वितीयस्यै, द्वितीयायै द्वितीयस्यै, तृतीयायै। विभाषा द्वितीया तृतीयाभ्याम् इत्येतन्न वक्तव्यं भवति। किं पुनरत्र ज्यायः। उपसंख्यानमेवात्र ज्यायः। इदमपि सिद्धं भवति—द्वितीयाय, द्वितीयस्मै। तृतीयाय, तृतीयस्मै"[2]।

यहां भाष्यकार का आशय यह है कि यह उपसंख्यान वार्तिक ही व्यापक होने से रख लेना चाहिये। "विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम्" इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह केवल स्त्रीलिङ्ग 'द्वितीया', 'तृतीया' शब्दों में ही प्रवृत्त होता है। पुंलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग 'द्वितीय', 'तृतीय', शब्दों में इसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिये इस सूत्र की अपेक्षा यह उपसंख्यान वार्तिक ही ज्यायान् है। इस वार्तिक का अर्थ है कि सर्वनाम संज्ञा के विकल्प प्रकरण में 'तीय प्रत्ययान्त' शब्दों का भी 'ङित्' विभक्तियों के परे रहते कथन कर देना चाहिये अर्थात् 'तीय' प्रत्ययान्त 'द्वितीय', 'तृतीय' शब्दों की भी 'ङितविभक्तियों' में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है, ऐसा कहना चाहिये। उससे न केवल 'स्याडागम' ही अपितु 'स्मै' आदि भी सर्वनाम संज्ञापक्ष में हो जायेंगे—द्वितीयस्यै, 'द्वितीयाय'। 'तृतीयस्यै', 'तृतीयाय' यहां पुंलिङ्ग नपुंसकलिङ्ग 'द्वितीय' 'तृतीय' शब्दों से 'ङे' विभक्ति परे रहते सर्वनाम संज्ञा के पक्ष में "सर्वनाम्नः स्मै"[3] से आदेश सिद्ध हो जाता है। "द्वितीया', 'तृतीया' शब्दों में 'टाप्' के सवर्णदीर्घ एकादेश को "अन्तादिवच्च"[4] से पूर्व के प्रति अन्तवद्भाव मानकर 'तीय' प्रत्ययान्तता बन जाती है। अतः 'द्वितीयस्यै', 'द्वितीयायै',

---

१. चा० सू० ६.२.५८। स० सू० ७.२.५५।

२. महा० भा० १, सू० १.१.३६ पृ० ९३।

३. पा० ७.१.१४।

४. पा० ६.१.८५।

इत्यादि में वार्तिक द्वारा सर्वनाम संज्ञा का विकल्प होकर पक्ष में "सर्वनाम्नः स्याड् ढ्रस्वश्च"[1] से ही 'स्याट्' आगम और ह्रस्व सिद्ध हो जायेंगे तो यह सूत्र व्यर्थ है ।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहां भाष्यकार ने अपनी युक्तिप्रयुक्तियों से अधिक लक्ष्य संग्रह का ध्यान रखकर इस सूत्र का खण्डन कर दिया है जो समुचित ही है । किन्तु इस प्रसङ्ग में पदमंजरीकार हरदत्त तो भाष्यकार से सर्वथा विरुद्ध ही कथन करते हैं । उनके शब्द हैं—

"नैतद् युक्तमुच्यते । यदि सूत्रेणासिद्धं तदुपसंख्यानेन साधनीयम् । न पुनरुपसंख्यानाश्रयणेन सूत्रस्य प्रत्याख्यानं युज्यते । यदि पुनरत्र ह्रस्वयोर्ग्रहणं कृत्वा स्याड्ग्रहणं च निवर्त्य सर्वनाम्न इत्येवानुवर्त्यातिदेश आश्रीयते । सर्वनाम्नो यदुक्तं तद् विभाषा भवति द्वितीयतृतीययोरिति तदोपसंख्यानं शक्यमकर्तुमिति ।"[2]

न्यासकार भी पदमञ्जरीकार से सहमत होते हुए कहते हैं—

"अन्ये त्वनेनैव स्मायादयः सिध्यन्तीत्युपसंख्यानमेव प्रत्याचक्षते । कथम् । सर्वनाम्नः इत्येतदिहानुवर्तते । स्याडिति निवृत्तम् । तेनैवमभिसम्बन्धः क्रियते—सर्वनाम्नो ङिति यदुक्तं तद् विभाषा द्वितीयतृतीयाभ्यां भवतीति । तेन स्मायादयोऽप्यनेनैव भविष्यन्ति इति नार्थः उपसंख्यानेन ।"[3]

एक दृष्टि से न्यासकार तथा पदमंजरीकार की बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । क्योंकि सूत्रकार ने वार्तिककार के वार्तिक को देखकर सूत्र नहीं बनाया था । सूत्रकार के समय वार्तिक की सत्ता नहीं थी । अतः इसके आधार पर सूत्र का खण्डन कुछ युक्तिसंगत नहीं जंचता । इसके अतिरिक्त वार्तिक का प्रयोजन भी उक्त उपाय से गतार्थ हो सकता है । अतः भाष्यकारकृत प्रत्याख्यान कुछ दुर्बल सा प्रतीत होता है तथापि न्यासकार तथा पदमंजरीकार का समर्थन नहीं किया जा सकता । क्योंकि उक्त अनुवृत्तिरूप उपाय से मन्द बुद्धियों को स्पष्ट प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी । उसमें क्लिष्ट कल्पना से गौरवातिशय ही होगा । अतः स्फुट बोध की दृष्टि से सूत्र स्थापनीय ही ठहरता

---

१. पा० ७.३.११४ ।

२. प० मं० सूत्र ७.३.११५ ।

३. प्रकृतसूत्रीय न्यास ।

है । नागेश तो भाष्यकार का ही समर्थन करते हुए कहते हैं—

"तीयस्येत्यस्य पुंनपुंसकार्थमावश्यकत्वादिति भावः । ननु भागार्थकान्-प्रत्ययान्ते लाक्षणिकतया तीयस्येति वार्तिकस्याप्रवृत्तौ भवतौ विवक्षितायां स्त्रीलिङ्गे विकल्पार्थं सूत्रमावश्यकम् । अत्र सूत्रे तु न प्रतिपदोक्तपरिभाषा प्रवर्तते । प्रतिपदोक्तस्याभावात् इति चेन्न, भागार्थे विधीयमानस्य स्त्रीत्वाभावात् । अत्र च प्रत्याख्यानपरं भाष्यं मानम् । अतएव संज्ञोपसर्जनार्थमपि न । सर्वनाम्नः स्याडिति साहचर्याच्च ।"[1]

यहां नागेश का यही आशय है कि 'द्वितीया भक्तिः—द्वितीया' इस अर्थ में 'पूरणाद्भागे तीयादन्'[2] से स्वार्थ में 'भाग' या 'भक्ति' अर्थ का अभिधान करने के लिये जो 'अन्' प्रत्ययान्त 'द्वितीया' शब्द है, उसके लाक्षणिक होने से 'तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम्'[3] में ग्रहण नहीं होगा तो स्त्रीलिङ्ग में 'स्याट्' का विकल्प करने के लिये यह सूत्र होना चाहिये, यह भी बात ठीक नहीं क्योंकि इस सूत्र के प्रत्याख्यानपरक भाष्य से यह समझा जायेगा कि 'अन्' प्रत्ययान्त 'द्वितीया' शब्द की स्त्रीलिङ्ग में अप्रवृत्ति होती है । इसीलिये संज्ञा और उपसर्जन अर्थ में भी स्त्रीलिङ्ग 'द्वितीया' शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती, यह इस सूत्र के प्रत्याख्यान से समझा जाता है । "सर्वनाम्नः स्याड् द्रस्वश्च"[4] इस पूर्ववर्ती सूत्र से सर्वनाम शब्द का साहचर्य भी संज्ञोपसर्जन की व्यावृत्ति के लिये प्रबल उपोद्बलक है । शब्दरत्नकार भी भाष्यकार का ही समर्थन करते हुए कहते हैं—

"तृतीय शब्दसाहचर्येण सहायवाचिद्वितीया शब्दस्य न ग्रहणम् । भागार्थे विधीयमानस्थानो भक्तेर्विशेष्यत्वेन न स्त्रीत्वमनभिधानात् । एतेन तत्र लाक्षणिकत्वात् वार्तिकाप्रवृत्ताविदमावश्यकम् इति परास्तम् ।"[5]

इन सब समर्थनों से तथा 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'[6] इस प्रसिद्ध

---

१. बृ० श० शे०, भा० १, सू० १.१.२८, पृ० ५२८-२९ ।

२. पा० ५.३.४८ ।

३. महा० भा० १, सू० १.१.३६ पर वार्तिक, पृ० ९३ ।

४. पा० ७.३.११४ ।

५. प्रौढमनोरमास्थ लघुशब्दरत्न, सं० सीताराम शास्त्री—भा०, १ सू० १.१.२८, पृ० ४२० ।

६. वै० सि० कौ० भा० १, सू० १.१२९, पृ० २२३ ।

न्याय से भाष्यकार विहित इस सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्यायोचित है। यही कारण है कि अर्वाचीन वैयाकरण चन्द्रगौमिन्, देवनन्दी, शाकटायन तथा हेमचन्द्र आदि ने प्रकृत सूत्र को न रखकर भाष्यवार्तिककार द्वारा प्रस्तावित संशोधन ही "तीयस्यङिति"[१], "तीयं ङिति", "तीयंङित्कार्ये वा" इत्यादि के रूप में अपने-अपने तन्त्रों में पढ़ा है।[१] प्रस्तुत सन्दर्भ में आचार्य चन्द्रगोमी तथा भोज अन्य वैयाकरणों की अपेक्षा अपेक्षित लाघव न प्राप्त कर सके। उक्त प्रयोगों के लिए इन्होंने दो सूत्र अलग-अलग बनाये हैं।[२] जबकि एक सूत्र से भी इष्ट साधन किया जा सकता था जैसा कि अभी ऊपर दिखाया गया है॥

न क्वादेः ॥७.३.५९॥

अजिव्रज्योश्च ॥७.३.६०॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

ये अङ्गाधिकार के सूत्र हैं। इनका क्रम से अर्थ है—'कवर्ग' है आदि में जिसके ऐसे धातु के चकार, जकार को 'कुत्व' नहीं होता। 'अज्' और 'व्रज्' धातुओं के जकार को भी 'कुत्व' नहीं होता। जैसे—'कूज्यम्।' 'खर्ज्यम्।' 'गर्ज्यम्।' 'समाजः।' 'परिव्राजः।' 'कूज्यम्' में 'कूज्' धातु से 'ऋहलोर्ण्यत्'[३] से 'ण्यत्' प्रत्यय होता है। "चजोः कु घिण्यतोः"[४] से प्राप्त 'कुत्व' का यह सूत्र निषेध कर देता है। क्योंकि 'कूज्' धातु 'कवर्गादि' है। इसी तरह 'खर्ज्यम्' में 'खर्ज्' धातु से ण्यत् है। 'गर्ज्यम्' में 'गर्ज्' धातु से 'ण्यत्' है। सभी कवर्गादि' हैं। इसलिये जकार को 'कुत्व' का निषेध हो जाता है। 'समाजः' में 'सम्' पूर्वक 'अज्' धातु है। 'परिव्राजः' में 'परि' पूर्वक 'व्रज्'

---

१. जै० सू० १.१.४४।
   शा० सू० १.२.१७३।
   है० सू० १.४.१४।
२. चा० सू० ६.२.५८, २.१.१६—"द्वितीयातृतीयाद्वा"। "स्मै च तीयात्।"
   सा० सू० ७.२.५५, ३.१.७४—'द्वितीयातृतीयाभ्यां वा।' 'स्मे चतीयात्।'
३. पा० ३.१.१२४।
४. पा० ७.३.५२।

धातु है। दोनों से 'घञ्' प्रत्यय हुआ है। "चजोः कु०" से प्राप्त 'कुत्व' का "अजिव्रज्योश्च" से निषेध होकर 'उपधावृद्धि' द्वारा 'समाजः', 'परिव्राजः' बन जाते हैं। 'कूजः', 'खर्जः', 'गर्जः' यहां 'कूज्' आदि से 'घञ्' प्रत्यय परे होने पर "चजोः कु' से प्राप्त 'कुत्व' का निषेध हो जाता है।

न्यासान्तर से सूत्र का प्रत्याख्यान

यहां वार्तिककार इन सूत्रों का प्रत्याख्यान करते हैं जिसे भाष्यकार भी स्वीकार करते हैं। वार्तिक है—

"क्वाद्यजिव्रजियाचिरुचीनामप्रतिषेधो निष्ठायामनिटः कुत्ववचनात्"।[1]

इसका अर्थ है कि "चजोः कु घिण्यतोः" इस 'कुत्वविधान' करने वाले सूत्र में "निष्ठायामनिटः" ऐसा कह देना चाहिये जिससे "न क्वादेः", "अजिव्रज्योश्च" इन सूत्रों की आवश्यकता न रहेगी। जो धातु निष्ठा में 'अनिट्' हैं, उन्हीं को 'कुत्व' होता है, अन्य को नहीं, ऐसा कहने पर 'कवर्गादि' 'कूज्' 'खर्ज्' 'गर्ज्' आदि धातुओं के निष्ठा में 'अनिट्' न होने से 'कुत्व' प्राप्त ही नहीं होगा तो निषेध करना व्यर्थ है। 'कूज्' आदि सब धातु निष्ठा में 'सेट्' हैं। 'कूजितम्'। 'गर्जितम्' रूप बनते हैं। यद्यपि 'अज्' धातु को "अजेर्व्यघञपोः"[2] से 'वी' आदेश विकल्प से होकर 'वीतम्' यह निष्ठा में 'अनिट्' रूप बनता है तो भी वह 'अज्' नहीं है और न ही उसमें चकार, जकार हैं जिससे 'कुत्व' प्राप्त हो, इसलिये उक्त दोनों सूत्र "निष्ठायामनिटः' इस न्यास से 'कुत्वप्राप्ति' से व्यावृत्त हो जाते हैं। इन सूत्रों के स्थान में "निष्ठायामनिटः" यह वचन ही सर्वसाधारण धातुओं के लिये उपयोगी हो जायेगा। जिन धातुओं की निष्ठा में 'इट्' नहीं होता उन्हीं को 'कुत्व' होगा। 'सेट्' निष्ठा वाली धातुओं को नहीं होगा।

यद्यपि "निष्ठायामनिटः" इस वार्तिककार के न्यास में भी यह दोष आता है कि 'गुचु', 'ग्लुचु', 'कुजु', 'खुजु' इन धातुओं के 'उदित्' होने से सब निष्ठा में 'अनिट्' हैं। क्योंकि 'यस्य विभाषा'[3] से वे सब धातुएं निष्ठा में 'अनिट्' बन जाती हैं, जिनको कहीं भी विकल्प से 'इड्विधान' किया गया है। 'ग्रुचु',

---

१. महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ३३१।

२. पा० २.४.५६।

३. पा० ७.२.१५।

'ग्लुचु' आदि को "उदितो वा"[1] से 'क्त्वा' प्रत्यय में 'इट्' का विकल्प होता है, इसलिये इनसे परे निष्ठा में सर्वथा 'इट्' का निषेध हो जाता है। ये भी निष्ठा में 'अनिट्' बन जाती हैं तो वार्तिककार के मत में इनको 'कुत्व' प्राप्त होता है, परन्तु सूत्रकार आचार्य पाणिनि के मत में इन सब धातुओं के 'कवर्गादि' होने से "न क्वादेः" से 'कुत्वनिषेध' प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में फलभेद होने पर क्या किया जाये। इसके अतिरिक्त 'अज्', 'सर्ज', 'तर्ज' धातुओं के निष्ठा में 'सेट्' होने से 'कुत्व' प्राप्त नहीं होगा जबकि इन्हें कुत्व 'इष्ट है। 'निष्ठायामनिटः" कहने पर 'शोकः', 'समुद्गः' यहाँ भी 'कुत्व" प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि 'शुच्' और 'उब्ज्' ये दोनों धातु निष्ठा में 'सेट्' है। यद्यपि 'ईशुचिर् पूतिभावे' यह 'शुच्' धातु 'ईदित्' होने से "श्वीदितो निष्ठायाम्"[2] के वचन से निष्ठा में 'अनिट्' है, तो भी 'शुच् शोके' तो 'सेट्' ही है। शोक में 'शुच् शोके' धातु ही है, 'ईशुचिर्' नहीं, यह तो 'शोक' शब्द के अर्थ से ही प्रकट हो रहा है।

यदि यह कहा जाये कि 'शोकः' 'समुद्गः' के लिये तो विशेष रूप से "शुच्युब्जोर्घञि कुत्वम्"[3] यह वचन कहकर केवल 'घञ्' में ही कुत्वविधान सिद्ध हो जायेगा तो भी 'अर्कः' में 'कुत्व' न हो सकेगा। 'अर्च्' धातु निष्ठा से 'सेट्' है। यदि पुनः यह शंका की जाये कि 'अर्कः' में भी 'अर्च्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय न करके औणादिक 'क' प्रत्यय "कृदधारार्चिकलिभ्यः कः"[4] से करके 'अर्कः' बना लिया जायेगा और 'समुद्गः' को भी 'उब्ज्' से न बनाकर 'सम्+उद्' पूर्वक गम्' धातु से 'ड' प्रत्यय करके बना लिया जायेगा, तो भी वार्तिककार तथा सूत्रकार के वचनों से प्रयोगों में जो फलभेद हो रहा है उसका क्या समाधान किया जायेगा, तो इसका स्पष्ट उत्तर है कि सूत्रकार की अपेक्षा वार्तिककार के अधिक प्रामाणिक होने से उन्हीं की बात मानी जायेगी।[5] "न क्वादेः" "अजिव्रज्योश्च" ये न बनाकर "निष्ठायामनिटः" यह न्यास ही बनाया जायेगा। उससे फलभेद न होगा।

---

१. पा० ७.२.५६।

२. पा० ७.२.१४।

३. महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र पर वार्तिक, पृ० ३३३।

४. उणादि, ३२७।

५. द्र० महा० प्र०, सू० १.१.२९। "यथोत्तरं हि मुनित्रयस्य प्रामाण्यम्"।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

उक्त दोनों सूत्रों को अव्याप्ति दोष ग्रस्त समझते हुए आचार्य कात्यायन ने अपना व्यापक अभीष्ट लक्ष्यसाधक "निष्ठायामनिटः" यह न्यास करके सूत्रों का प्रत्याख्यान कर दिया है। यद्यपि दोष इस न्यास में भी हैं तो भी उनका समाधान होने से तथा भाष्यकार द्वारा इस न्यासान्तर का निराकरण न किया जाने से यह बात समझी जा सकती है कि जो वार्तिककार को अभिमत है अर्थात् जहां वे 'कुत्व' चाहते हैं वही सिद्धान्तरूप से माननीय है। इसीलिये प्रदीपकार लिखते हैं—

"ननु ग्रुचु, ग्लुचु, कुजुखुजूनां निष्ठायामनिट्त्वात् घिण्यतो कुत्वं वार्तिककारमते प्राप्नोति, सूत्रकारमते तु न क्वादेरिति प्रतिषेधप्रसङ्गः। तथार्जिसर्जितर्जीनां निष्ठायां सेट्त्वात् कुत्वाप्रसङ्गः। उच्यते, वार्तिककारस्य सूत्रकारात् प्रमाणतरत्वात् तन्मतेन कुत्वस्य भावाभावावगन्तव्यौ।"[1]

उद्द्योतकार नागेश भी कैयट का समर्थन करते हुए कहते हैं—

"भाष्यकृता निष्ठायामनिटः इति वार्तिककृन्न्यासस्याप्रत्याख्यानात्। भाष्यकारस्य चाज्ञानकल्पनापेक्षया एकस्य सूत्रकृतस्तत्कल्पना युक्तेति भावः। उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्वं हि वार्तिकत्वम्।"[2]

पदमंजरीकार हरदत्त भी इससे सर्वथा सहमत हैं। वे कहते हैं—

"यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् इति वार्तिकानुसारेण कुत्वस्य भावाभावौ व्यवस्थाप्यौ इति।

सबसे पहले प्रमाणभूत तो सूत्रकार आचार्य पाणिनि हैं। उनसे ऊपर वार्तिककार कात्यायन हैं। उनसे भी ऊपर प्रमाणभूत भाष्यकार पतंजलि हैं। पाणिनि ने सूत्र बनाया—"भोज्यं भक्ष्ये।"[3] उसके खण्डन में वार्तिककार ने कहा—'भोज्यमभ्यवहार्ये।" उसके भी खण्डन करने के लिये पतंजलि ने कहा—"भोज्यं भक्ष्ये इत्येव सिद्धम्"। यहां भाष्यकार ने वार्तिककार की बात न मानकर सूत्रकार की मान ली। पाणिनि ने सूत्र बनाया—"न क्वादेः।" उसके खण्डन के चिये कात्यायन ने कहा—"निष्ठायामनिटः कुत्वम्'। उसके बाद भाष्यकार ने दोनों का पर्यालोचन करके वार्तिककार के न्यास का

---

१. प्रकृतसूत्रस्थ महा० प्र०, भा० ५, पृ० २२०।

२. प्र० महा० प्र० उ० भा० ५, प्रकृत सूत्रस्थ, पृ० २२०।

३. पा० ७.३.६९।

समर्थन कर दिया। पाणिनि का निराकरण किया। पाणिनि ने सूत्र बनाया—"भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः।"[१] उस पर कात्यायन ने "भुजः पाणौ" कहकर केवल 'भुज' को रख लिया और "न्युब्जेः कर्तृत्वादप्रतिषेधः" कहकर 'न्युब्ज' का खण्डन कर दिया। आगे भाष्यकार ने वार्तिककार की बात का ही अनुसरण किया। यद्यपि वे घञन्त 'भुज' शब्द को 'क प्रत्ययान्त' मानकर स्वरव्यत्यय से सिद्ध करते हुए खण्डन कर सकते थे और इस प्रकार समस्त सूत्र ही प्रत्याख्यात हो सकता था, परन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। इससे प्रतीत होता है कि तीनों मुनियों में उत्तरोत्तर प्रमाण हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी प्रायः भाष्यवार्तिककार द्वारा प्रस्तावित संशोधनों को स्वीकार करते हुए उसे ही अपने-अपने तन्त्रों में स्थान दिया है।[२] इससे भी सूत्रों का प्रत्याख्यान पक्ष ही प्रबल होता है। क्योंकि जहां पाणिनि को दो सूत्र पढ़ने पड़ते थे वहां वार्तिककार ने बिना किसी विशेष यत्न के न्यासान्तर द्वारा एक सूत्र से ही काम चला दिया। अतः इनका खण्डन न्याय्य ही है। हां, आचार्य चन्द्रगोमी तथा भोज सूत्रकार के सूत्र का ही समर्थन करते हैं[३] जोकि विशेष महत्त्व नहीं रखता॥

पदान्तस्य ॥८.४.३७॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह सूत्र 'णत्व' का निषेध करता है। "अट्कुप्वाङ् नुम् व्यवायेऽपि"[४] से 'न' को 'णत्व' प्राप्त होता है। उसका पदान्त में निषेध हो जाता है। इस सूत्र का यही अर्थ है कि पद के अन्त में आने वाले नकार को णकार नहीं होता। जैसे—'वृक्षान्।' 'प्लक्षान्।' 'रामान्' इत्यादि। यहां पद के अन्त में आने वाले नकार को णकार नहीं हुआ।

---

१. पा० ७.३.६०।

२. जै० सू० ५.२.५६—'चजोः कु घिण्ण्योस्तेऽनिटः।'
शा० सू० ४.१.१७१—'क्तेऽनिट् चजः कुर्धिति।
है० सू० ४.१.१११—'क्तेऽनिटश्चजोः कगौ घिति'।

३. चा० सू० ६.१.६०-६१—'न क्वादेः। अजिव्रजोः।
स० सू० ७.२.११७—'न क्वाद्यजिव्रज्यादेः।

४. पा० ८.४.२।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

"अपदान्तस्य मूर्धन्यः"[1] सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने इस सूत्र को अनावश्यक बताकर इसका प्रत्याख्यान कर दिया है। वहां भाष्यकार लिखते हैं—

"अवश्यं मूर्धन्यग्रहणं कर्तव्यम्। इहार्थमुत्तरार्थं च। इहार्थं तावत् इणः-षीध्वं लुङ्लिटां धोऽङ्गात्" इत्यत्र मूर्धन्यग्रहणं ढ ग्रहणं वा कर्तव्यं भवति। उत्तरार्थं च—रषाभ्यां नो णः समानपदे इत्यत्र णकारग्रहणं न कर्तव्यं भवति। तत्रायमप्यर्थः पदान्तस्य नेति प्रतिषेधो न वक्तव्यो भवति। अपदान्ताभिसम्बद्धं मूर्धन्यग्रहणमनुवर्तते।"

इसका तात्पर्य यह है कि "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" इस अधिकार सूत्र में 'अपदान्त' के साथ 'मूर्धन्य' ग्रहण भी अवश्य करना चाहिये जिससे 'अपदान्त' अर्थात् पदान्त भिन्न को ही 'मूर्धन्य' आदेश हो, पदान्त को न हो। इससे षत्व प्रकरण में और णत्वप्रकरण में पदान्तभिन्न को ही कार्य होगा। "इणः षीध्वं लुङ्लिटां धोऽङ्गात्"[2] सूत्र में धकार को मूर्धन्य' ढकार करने के लिये 'ढकार' ग्रहण या 'मूर्धन्यग्रहण' अलग नहीं करना पड़ेगा। "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" की ही अनुवृत्ति होकर मूर्धन्य' णकार हो जायेगा। इसी प्रकार "रषाभ्यां नोणः समानपदे"[3] सूत्र में 'णकार' ग्रहण भी नहीं करना पड़ेगा। ऊपर से 'मूर्धन्यः' की अनुवृत्ति होकर 'न' को 'मूर्धन्य' णकार हो जायेगा। "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" इस सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति होने पर यह लाभ भी होगा कि "पदान्तस्य" यह 'णत्व निषेध' करने वाला प्रकृत सूत्र भी न बनाना पड़ेगा, यह लाघव हो जायेगा।[4] क्योंकि अपदान्त अर्थात् पदान्तभिन्न को ही मूर्धन्य' एवं 'णत्व' होगा। पदान्त को 'णत्व' नहीं होगा।

इस प्रकार भाष्यकार द्वारा इस सूत्र का प्रत्याख्यान हो जाता है। पदान्त भिन्न में 'णत्व' को भी रोकने के लिये "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" इस

---

१. पा० ८.३.५५।

२. पा० ८.३.७८।

३. पा० ८.४.१।

४. महा० प्र०, प्रकृत सूत्रस्थ—'रषाभ्यामित्यत्रापदान्तग्रहणानुवर्तनात्-पदान्तस्येति सूत्रं न कर्तव्यं भवतीति लाघवं सम्पद्यते।'

सूत्र में 'मूर्धन्य' ग्रहण किया है। अन्यथा "अपदान्तस्य षः" ऐसा ही कह दिया जाता। अथवा "इणः षः"[1] इस सूत्र से षकार की अनुवृत्ति आ जाने पर 'षकार' ग्रहण करना भी व्यर्थ होता। 'अपदान्तस्य' इतना ही सूत्र बना दिया जाता। 'मूर्धन्य' ग्रहण का प्रयोजन ही यह है कि 'मूर्धन्य' षकार के साथ 'मूर्धन्य णकार' भी अपदान्त में विहित हो। पदान्त में विहित न हो।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

काशिका आदि वृत्तिकारों ने "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" इस सूत्र का अधिकार अष्टमाध्याय के तृतीयपाद की समाप्ति तक माना है।[2] अर्थात् केवल षत्वविधान प्रकरण तक ही "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" का अधिकार है। चतुर्थपाद के आरम्भ में "रषाभ्यां नोणः समानपदे"[3] इत्यादि सूत्रों से विहित 'णत्व प्रकरण' में उक्त सूत्र का अधिकार नहीं है, ऐसा वृत्तिकारों का मत है। किन्तु भाष्यकार ने 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' का अधिकार 'णत्व प्रकरण' तक मानकर "पदान्तस्य" सूत्र का खण्डन कर दिया है। ऐसी स्थिति में यदि वृत्तिकारों की बात मानी जाये तब तो 'णत्वप्रकरण' में 'अपदान्त' का अधिकार न होने से पदान्त में नकार को 'णत्व' प्राप्त होता है। उसको रोकने के लिए "पदान्तस्य" सूत्र आवश्यक है। अर्वाचीन वैयाकरणों ने तो अपने-अपने तन्त्रों में प्रकृत सूत्रस्थानापन्न "अन्ते", "पदान्तस्य" इत्यादि सूत्र बनाकर काशिकाकार का ही समर्थन किया है।[4] इसका कारण संभवतः उनके तन्त्रों

---

१. पा० ८.३.३९।

२. द्र० का० भा० ६, सू० ८.३.५५, पृ० ५४१—'अपदान्तस्य इति मूर्धन्य इति चेतदधिकृतं वेदितव्यमापादपरिसमाप्तेः।'

३. पा० ८.४.१।

४. (क) चा० सू० ६.४.१३१ 'अन्ते।'
   (ख) जै० सू० ५.४.११५—'अन्तस्य।'
   (ग) शा० सू० १.२.५४—'अन्तः क्षुभ्नादीनाम्।'
   (घ) स० सू० ७.४.१४४—'पदान्तस्य।'
   (ङ) है० सू० २.३.६३—'रषृवर्णाद् नो ण एकपदेऽनन्त्यस्याल च ट तवर्ग शसान्तरे।'

५. द्र० महा० प्र० भा० ५, सू० ७.४.२४, पृ० २५६—'वृत्तिकारास्त्वधिकाराणां प्रवृत्तिनिवृत्ती व्याचक्षते।'

में "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" इस अधिकार सूत्र का न होना है। इस प्रकार प्रकृत सूत्र की प्रयोजनवता और निरर्थकता "अपदान्तस्य मूर्धन्यः" इस सूत्र के अधिकार की 'णत्वप्रकरण' तक प्रवृत्ति पर ही निर्भर है। वैसे अधिकारों की प्रवृत्ति-निवृत्ति को बतलाना वृत्तिकारों का काम है[1] तथापि भाष्यकार व्याकरणशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य हैं और उनके द्वारा प्रस्तावित अधिकार की सीमा को बढ़ाने से कोई अनिष्ट भी नहीं होता अतः 'अपदान्तस्यमूर्धन्यः' सूत्र का अधिकार 'णत्वप्रकरण' तक ही मानना चाहिये। जहां तक स्पष्ट प्रतिपत्ति का सम्बन्ध है, उसमें भी कोई क्लिष्ट कल्पना गौरव नहीं करना पड़ता। अतः भाष्यकार द्वारा प्रकृत सूत्र का प्रत्याख्यान न्याय्य ही है जिससे इष्टापत्ति के साथ-साथ आवश्यक लाघव भी हो सके ॥

चतुर्थ अध्याय

नियम सूत्रों का प्रत्याख्यान

ते प्राग्धातो: ।।१.४.८०।।

छन्दसि परेऽपि ।।१.४.८१।।

व्यवहिताश्च ।।१.४.८२।।

सूत्रों की सप्रयोजन स्थापना

ये तीनों सूत्र 'प्रै', 'परा' आदि शब्दों के प्रयोग तथा उनकी 'गति', 'उपसर्ग संज्ञा'का नियम विधान करते हैं। इनमें प्रथम सूत्र का अर्थ है कि क्रिया योग में जिनकी 'गति', 'उपसर्ग संज्ञा' की गई है ऐसे वे 'प्र', 'परा' आदि शब्द धातु से पूर्व प्रयुक्त होते हैं, धातु के इधर-उधर नहीं। जैसे—'प्रपचति।' 'अनुभवति।' यहां 'प्र' और 'अनु' शब्दों का धातु से पूर्व प्रयोग हुआ है। दूसरे सूत्र का अर्थ है कि छन्द में अर्थात् वेद में 'प्र', 'परा' आदि शब्दों का धातु से परे भी प्रयोग हो जाता है। जैसे—'निहन्ति।' इसके साथ 'हन्ति नि'—यहां 'नि' शब्द का 'हन्' धातु से परे भी प्रयोग हो गया है। तीसरे सूत्र का अर्थ है कि वेद में 'प्र', 'परा' आदि शब्दों का धातु के व्यवधान में भी प्रयोग हो जाता है। जैसे—"आ मन्द्रैरिन्द्र याहि"[1] यहां "आयाहि' इस प्रकार अव्यवहित प्रयोग करने के स्थान में 'आ' और 'याहि' का व्यवहित प्रयोग भी वेद में होता है।

उदाहरण सहित इन सूत्रों का अर्थ व्यवस्थित होने पर भी यहां दो प्रकार का नियम संभावित होता है। एक प्रयोग का नियम तथा दूसरा संज्ञा का नियम। 'प्रयोगनियम' का स्वरूप यह है कि 'प्र', 'परा' आदि शब्दों का धातु से पूर्व ही प्रयोग होता है। अन्यत्र इधर-उधर प्रयोग नहीं हो सकता। धातु से परे या उसके व्यवधान में भी नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में छन्द में धातु से परे तथा व्यवहित प्रयोग का विधान करने के लिये "छन्दसि

---

१. मा० यजु:, २०.५३।

परेऽपि", "व्यवहिताश्च" ये दोनों सूत्र बनाने होंगे। साथ ही "अनुकरणं चानितिपरम्"[1] इस सूत्र में 'अनितिपरम्' इस शब्द का ग्रहण करना होगा। जिससे 'खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत्' (उसने खरड़-खरड़ करके थूक दिया) यहां 'इति' शब्द परे रहते 'खाट्' इस अनुकरण शब्द की 'गतिसंज्ञा' न हो। क्योंकि 'प्रयोगनियम' में धातु से पूर्व ही 'खाट्' शब्द का प्रयोग होगा तो 'इति खाट्कृत्य' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। 'संज्ञानियम' का स्वरूप यह है कि 'प्र', 'परा' आदि शब्दों का धातु से पहले पीछे व्यवहित जहां चाहो प्रयोग हो सकता है किन्तु 'गति' और 'उपसर्ग संज्ञा' तभी होगी जब वे धातु से पूर्व प्रयुक्त होंगे। ऐसी अवस्था में 'प्र', 'परा' आदि शब्दों का प्रयोग यथेच्छ होने के कारण वे वेद में धातु से परे तथा व्यवधान में भी प्रयुक्त हो जायेंगे तो उक्त दोनों सूत्र बनाने नहीं पड़ेंगे, यह लाघव भी होगा। साथ ही "अनुकरणं चानितिपरम्" यहां 'अनितिपरम्' शब्द का ग्रहण भी नहीं करना पड़ेगा। 'खाडिति कृत्वा' इस अनुकरण शब्द में 'इति' शब्द का व्यवधान होने से 'गतिसंज्ञा' प्राप्त ही नहीं होगी तो 'अनितिपरम्' यह निषेध करना व्यर्थ है। 'खाट्' की 'गतिसंज्ञा' ही तब होगी जब वह धातु से पूर्व प्रयुक्त होगा।

अनिष्टादर्शन होने से सूत्रों का प्रत्याख्यान

अर्थोदाहरण सहित उक्त तीनों सूत्रों के व्यवस्थित होने पर भी वार्तिककार से सहमत न होकर भाष्यकार इनका प्रत्याख्यान करते कहते हैं—"उभयोरनर्थकं वचनमनिष्टादर्शनात्"।[2]

इसका भाव है कि दोनों ही नियमों में ये सूत्र निरर्थक हैं। इनके बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्या 'प्रयोगनियम' और क्या 'संज्ञानियम' दोनों अवस्थाओं में ही ये व्यर्थ हैं क्योंकि कहीं अनिष्ट प्रयोग नहीं दीखता। कोई मनुष्य 'प्रपचति' के स्थान में 'पचति प्र' का प्रयोग नहीं करता। यदि कहीं अनिष्ट दिखाई देता तो उसके लिये यत्न करने की आवश्यकता थी। वैसी बात यहां नहीं है। लोक में तो 'प्र', 'परा' आदि का धातु से परे या व्यवधान में कहीं प्रयोग नहीं दीखता। जो 'गौ', 'गावी', 'गौणी' आदि लोक में संकीर्ण प्रयोग हैं, उनमें असाधु शब्दों को छोड़ने तथा साधु शब्दों के परिज्ञान के लिये शास्त्र द्वारा यत्न किया जाता है।[3] किन्तु जो असंदिग्ध असंकीर्ण 'प्रपचति', 'अनुभवति' आदि शुद्ध प्रयुक्त शब्द हैं उनके लिये शास्त्रविधान की

१. पा० १.४.६१।
२. महा० भा० १, सू० १.४.७९, पृ० ३४५।
३. द्र०—महा० भा० ३, सू० ६.३.१०८, पृ० १७४—'शिष्टपरिज्ञानार्थाष्टाध्यायी'।

क्या आवश्यकता है। रह गया वेद, सो वेद में भी दृष्टानुविधि होती है।[1] वहां जैसा देखते हैं, वैसा कर लेते हैं। वेद में धातु से परे तथा व्यवधान में 'प्र', 'परा' आदि का प्रयोग दिखाई देता है अतः वहां वैसी ही व्यवस्था होगी।

यदि यह कहा जाये कि "उदि कूले रुजिवहोः"[2] यहां 'उदि' और 'कूले' ये दोनों सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट होने के कारण "तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्"[3] से 'उपपदसंज्ञक' हैं। उनका 'कूलमुद्रुजः', 'कूलमुद्वहः' यहां 'उपपदसमास' होने पर "उपसर्जनं पूर्वम्"[4] से पूर्व निपात होने में अव्यवस्था होगी। कभी 'उत्कूलं रुजः', 'उत्कूलं वहः' ऐसा अनिष्ट रूप भी प्राप्त होगा। उसकी निवृत्ति के लिये यह सूत्र आवश्यक है जिससे 'गतिसंज्ञक उद्' शब्द का धातु से पूर्व ही प्रयोग का नियम बन सके और नियम से 'कूलमुद्रुजः', 'कूलमुद्वहः' यही इष्ट रूप सिद्ध हों तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि "उदिकूले०" सूत्र में 'उदि' यह 'उपपद' नहीं है किन्तु 'रुज्', 'वह्' धातुओं का विशेषण है। 'उद्' पूर्वक 'रुज्', 'वह्' धातुओं से 'खश्' प्रत्यय होता है 'कूल' शब्द उपपद होने पर यह इस सूत्र का अर्थ है। सूत्र की सत्ता में बल्कि यह दोष भी आता है कि 'सुकटंकराणि वीरणानि' (आसानी से चटाई बनाने लायक वीरण) यहां 'सु' शब्द का धातु से पूर्व प्रयोग प्राप्त होता है। 'सुखेन कटाः क्रियन्ते इति सुकटंकराणि' यहां "कर्तृकर्मणोश्च भूकृञोः"[5] सूत्र से कर्म में 'खल्' प्रत्यय 'ईषद्', 'दुस्', 'सु' इन उपपदों के होने पर होता है। 'कृ' धातु से पूर्व 'सु' का प्रयोग होने पर 'कटंसुकराणि' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। इसलिये प्रयोगनियम या संज्ञानियम दोनों ही के लिये इस सूत्र की सर्वथा आवश्यकता नहीं है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यकार ने 'अनिष्टादर्शनात्' या 'अनियमादर्शनात्' कहकर इन तीनों सूत्रों का खण्डन कर दिया है जो न्यायसंगत ही है। वार्तिककार ने तो "उपसर्जनसंनिपाते तु पूर्वपरव्यवस्थार्थम्"[6] यह वचन कहकर सूत्र की प्रयोजनवत्ता कही है किन्तु भाष्यकार ने वार्तिककार की उक्त बात को भी अपनी वाचोयुक्ति की प्रयुक्ति से निराकरण कर दिया है। यहां यह तो कहा जा सकता है कि 'प्र', 'परा' आदि 'गति', 'उपसर्ग' संज्ञक शब्दों का धातु के साथ प्रयोग करने में किसी प्रदेश या स्थान का संकेत तो सामान्यरूप से करना

---

१. द्र०—महा० भा० १, सू० १.१.६, पृ० ५५—'दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति।
२. पा० ३.२.३१।
३. पा० ३.१.९२।
४. पा० २.२.३०।
५. पा० ३.३.१२७।
६. महा भा० १, सू० १.४.८०, पृ० ३४६।

उचित है। संभवतः यही समझकर आचार्य याणिनि ने स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थ अथवा मन्दबुद्ध्यनुग्रहार्थ 'प्र', 'परा' आदि के प्रयोग का समुचित स्थान "ते प्राग्धातोः" इस सूत्र द्वारा धातु से पूर्व निर्दिष्ट किया है। इसलिये सूत्र के रखने में भी कोई हानि नहीं है। 'सुकटंकराणि वीरणानि' में तो "कर्तृ-कर्मणोः"[1] इस वचनसामर्थ्य से धातु से पूर्व 'सु' का प्रयोग नहीं होता। सिद्धान्तकौमुदीकार लिखते हैं—"कर्तृकर्मणी च धातोरव्यवधानेन प्रयोज्ये, ईषादादयस्तु ततः प्राक्"[2]। कर्मकारकरूप 'कट्' शब्द का प्रयोग 'कृ' धातु से पूर्व अनिवार्य है। उससे पूर्व 'सु' का प्रयोग होता है।

इस प्रकार सूत्रों का निराकरण या प्रत्याख्यान संभव होने पर भी इनमें से "ते प्राग्धातोः" यह सामान्य सूत्र तो रहना चाहिए जिससे 'प्र', 'परा' आदि 'गति', 'उपसर्ग' संज्ञक शब्दों का धातु के साथ प्रयोग करने में किसी स्थान आदि का ज्ञान सामान्यरूपेण हो सके। रहे 'छन्दसि परेऽपि' तथा "व्यवहिताश्च" ये सूत्र, ये दोनों केवल वेदैकगम्य सूत्र हैं। और वैदिक प्रयोगों के तो "बहुलं छन्दसि", "व्यत्ययो बहुलम्", "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते" इत्यादि अनेक अभ्युपायान्तर हैं। अतः उनके लिए तो इन सूत्रों की कोई 'सामान्य' या 'विशेष' आवश्यकता महसूस नहीं होती। इसलिए इनका तो प्रत्याख्यान ठीक कहा जा सकता है। यद्यपि ये सूत्र वैदिक होने के कारण वैदिक सूत्रों के अन्तर्गत विवेचित होने चाहिए थे किन्तु "ते प्राग्धातोः" इस लौकिक सूत्र के तुल्ययोगक्षेम होने के कारण तथा भाष्य में भी एकत्र ही विचारित होने के कारण इन्हें यहां समीक्षित किया गया है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी प्रायः "ते प्राग्धातोः" इस सूत्र का समर्थन ही किया है[3]। शेष दोनों सूत्रों को वैदिक होने के नाते संभवतः वहीं छोड़ दिया गया है। क्योंकि ये केवल लौकिक भाषा के व्याकरण माने जाते हैं[4]। इस प्रकार संक्षेपतः यही कहा जा सकता है कि इनमें प्रथम सूत्र ही स्थापनीय है। शेष दोनों प्रत्याख्येय है॥

---

१. पा० ३.३.१२७।

२. वै० सि० कौ० भा० ४, सू० ३.३.१२७, पृ० ३४६।

३. जै० सू० १.२.१४६—'प्राग्धातोस्ते
शा० सू० १.१.२५ 'तस्यागतार्थाधिपर्यर्चास्वत्यति क्रमात्युपसर्गः प्राक् च'।
है० सू० ३.१.१ 'धातोः पूजार्थ स्वतिगतार्थाधिपर्यतिक्रमार्थातिवर्जः प्रादिरुपसर्गः प्राक् च।

४. द्र० स० व्या० शा० ३, भा० १—यद्यपि पाणिनि से अर्वाचीन व्याकरण-ग्रन्थों को केवल लौकिक मानने में विद्वानों में मतभेद है। शोधकर्ता की सम्मति में तो इन व्याकरणों में (कम से कम चान्द्र व्याकरण में अवश्य) कोई न कोई छोटा मोटा वैदिक प्रकरण रहा प्रतीत होता है।

पञ्चम अध्याय

अतिदेश सूत्रों का प्रत्याख्यान

आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ १.१.२३॥

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

यह सूत्र 'अतिदेश' सूत्र है। 'अतिदेश' का अर्थ है—एक के तुल्य दूसरे को मानकर काम करना[1]। संस्कृत व्याकरण शास्त्र में ६ या ७ प्रकार के 'अतिदेश' सूत्र उपलब्ध होते हैं। तद्यथा—'निमित्तातिदेश', 'व्यपदेशातिदेश', 'तादात्म्यातिदेश', 'शास्त्रातिदेश', 'कार्यातिदेश', 'रूपातिदेश' तथा 'अर्थातिदेश'।

१. 'निमित्तातिदेश' जैसे "पूर्ववत्सनः" है[2]। यहां पहले जिस निमित्त को मानकर धातु से आत्मनेपद विधान किया गया है, सन्नन्त में भी उस धातु से उसी निमित्त को लेकर आत्मनेपद होता है।

२. 'व्यपदेशातिदेश' जैसे यही "आद्यन्तवदेकस्मिन्" सूत्र है। यह एक में असहाय में 'आदि' और 'अन्त' के सम्बन्धी कार्यों का 'अतिदेश' करता है। यानि एक में भी 'आदि' और 'अन्त' का व्यवहार या कथन (व्यपदेश) मान लिया जाता है। क्योंकि जो अकेला, असहाय, वर्ण है उसमें 'आदि' और 'अन्त' का व्यवहार नहीं घट सकता।

'आदि' उसे कहते हैं जिसके पूर्व में कुछ न हो, परे अवश्य हो तथा 'अन्त' उसे कहते जिससे परे कुछ न हो, पूर्व में अवश्य हो[3]। 'आद्यन्त' के ये दोनों लक्षण एक असहाय वर्ण में घटने कठिन हैं। क्योंकि वह तो एक ही

---

१. तुलना करो, महा० भा० १, सू० १.१.२३, पृ० ८१—'तद्वदतिदेशोऽयम्'।

२. पा० १.३.६२।

३. द्र० महा० भा० १, सू० १.१.२१, पृ० ७६—'सत्यन्यस्मिन् यस्मात् पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते। सत्यन्यस्मिन् यस्मात् परं नास्ति पूर्वमस्ति सोऽन्त इत्युच्यते'।

है। उसके पूर्व और परे कुछ भी नहीं है। यह सूत्र उस एक में भी 'आदि-अन्त' का व्यपदेश कर देगा तो एक असहाय वर्ण में भी 'आदि-अन्त' के कार्य हो जायेंगे। जैसे—"आद्युदात्तश्च"[1] यह सूत्र प्रत्यय के 'आदि' अक्षर को उदात्त करता है। तब 'कर्तव्यम्' यहां 'तव्यत्' प्रत्यय में तो 'आदि' अक्षर 'तकार' के होने से उसे आद्युदात्त सिद्ध हो जाता है किन्तु 'औपगवः' (उपगौरपत्यम्) यहां अपत्यार्थक 'अण्' प्रत्यय में एक ही अक्षर 'अकार' के होने से वह 'आदि' नहीं बनता तो उसे आद्युदात्त प्राप्त नहीं होता। इस सूत्र से एक वर्ण में भी 'आदि' का व्यपदेश या व्यवहार करने से वहां भी आद्युदात्त सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस सूत्र के अनेक प्रयोजन हैं जो भाष्य-वार्तिकों में स्पष्टतया वर्णित हैं।

३. 'तादात्म्यातिदेश' जैसे—"सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे"[2] है। यहां 'आमन्त्रित' परे रहते सुबन्त को 'पराङ्गवद्भाव' द्वारा 'आमन्त्रित' का ही आत्मा बना दिया जाता है। यथा—'द्रवत्पाणी शुभस्पती'[3]—इस मन्त्र में 'शुभस्' को 'पती' इस 'आमन्त्रित' का अङ्ग मानकर "आमन्त्रितस्य च"[4] से होने वाला आद्युदात्त 'शुभस्' के 'उकार' को होता है।

४. 'शास्त्रातिदेश' जैसे—'कालेभ्यो भववत्'[5] सूत्र है। यहां कालवाची शब्दों के 'सास्य देवता'[6] अर्थ में होने के लिये 'तत्र भवः"[7] इस सूत्र या शास्त्र का ही 'अतिदेश' किया जाता है कि उस "तत्रभवः" शास्त्र में कालवाचियों से, जो प्रातिस्विक प्रत्यय विधान किये हैं, वे ही प्रत्यय यहां "शास्य देवता" अर्थ में भी हों। उससे 'मासो देवता अस्य' यहां 'मास' शब्द से 'कालाट्ठञ्'[8] होकर 'मासिकम्' बनता है। इसी प्रकार 'प्रावड्देवता अस्य प्रावृषेण्यः' यहां 'प्रावृष्' शब्द से भी 'प्रावृष एण्यः"[9] सूत्र से विहित 'एण्य' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है।

---

१. पा० ३.१.३।
२. पा० २.१.२।
३. ऋक्० १.३.१।
४. पा० ६.१.१९८।
५. पा० ४.२.३४।
६. पा० ४.२.२४।
७. पा० ४.३.५३।
८. पा० ४.३.११।
९. पा० ४.३.१७।

५. 'कार्यातिदेश' जैसे—"स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ",[1] "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः"[2] तथा "गोतोणित्"[3] इत्यादि सूत्र हैं। यहां क्रमशः 'स्थानिवद्भाव' के 'अतिदेश' से स्थानी सम्बन्धी कार्य किये जाते है। 'कर्मवद्भाव' के 'अतिदेश' से 'चिण्', 'चिण्वदिट्' इत्यादि कर्मकारक के कार्य किये जाते हैं। 'गो' शब्द से परे 'सर्वनामस्थान' को 'णिद्वद्भाव' मानकर 'णित्' का कार्य "अचोञ्णिति वृद्धिः"[4] किया जाता है।

६. 'रूपातिदेश' जैसे—"तृज्वत्क्रोष्टु"[5] यह सूत्र है। यहां 'क्रोष्टु' शब्द को 'तृज्वद्भाव' मानकर 'तृजन्त क्रोष्टु' इस रूप का ही अतिदेश किया जाता है। इसी प्रकार "द्विर्वचनेऽचि"[6] यह सूत्र भी विशेष रूप से 'रूपातिदेश' माना जाता है।

७. 'अर्थातिदेश' जैसे—'स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्०"[7] तथा "स्त्री पुंवच्च"[8] इत्यादि सूत्र हैं। यहां स्त्रीत्व अर्थ के स्थान में पुंस्त्व अर्थ का 'अतिदेश' किया जाता है।

सूत्र में 'एकस्मिन्' यह सप्तमी विभक्ति का निर्देश है। इसलिये 'आद्यन्तवत्' यहां भी सप्तमी विभक्ति के अर्थ में ही 'वति' प्रत्यय माना जायेगा। सप्त्यर्थ में 'वति' प्रत्यय करने वाला "तत्र तस्येव"[9] यह सूत्र विद्यमान है। जो विभक्ति उपमेय में होती है वही विभक्ति उपमान में भी कल्पित कर ली जाती है। इसलिये उक्त सूत्र का अर्थ संस्कृत भाषा में इस प्रकार हुआ—

'आदौ इव अन्ते इव एकस्मिन्नपि कार्यं भवति'

अर्थात् 'आदि' और 'अन्त' के विषय में, जो कार्य कहे गये हैं, वे अकेले, असहाय एक वर्ण में भी हो जाते हैं। कोशकारों ने 'एक' शब्द के आठ अर्थ लिखे हैं।[10] उनके अनुसार 'एक' शब्द 'अन्य', 'प्रधान', 'प्रथम', 'केवल',

---

१. पा० १.१.५६।
२. पा० ३.१.८७।
३. पा० ७.१.९०।
४. पा० ७ २.११५।
५. पा० ७.१.९५।
६. पा० १.१.५९।
७. पा० ६.३.३४।
८. पा० १.२.६६।
९. पा० ५.१.११६।
१०. द्र०, प्रौढमनोरमा, अजन्त पुंलिङ्ग प्रकरण, पृ० ३३६।
'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते'॥

'साधारण', 'समान', 'अल्प' तथा 'संख्या' अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रकृत सूत्र में 'एक' शब्द का 'केवल' या 'असहाय' अर्थ लिया गया है जिससे जो एक है असहाय है, अकेला है, उसमें भी 'आदि-अन्त' के कार्य हो सकें। 'एकस्मिन्' कहने का यही प्रयोजन है कि अकेले असहाय वर्ण में ही 'आद्यन्तवद्भाव' हो सके। यदि सूत्र में 'एक' ग्रहण न किया जाये तो 'संभासंनयने भवः साभासंनयनः' यहा 'सभासंनयन' शब्द के भकारोत्तरवर्ती आकार को भी 'आदिवत्' मानकर "वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्"[1] इस सूत्र से उक्त शब्द की वृद्ध संज्ञा प्राप्त हो जायेगी। तब वृद्ध संज्ञा होकर "वृद्धाच्छः"[2] से शैषिक 'छ' प्रत्यय प्राप्त होगा जो कि अनिष्ट है। 'सभासंनयन' शब्द में मकारोत्तरवर्ती वृद्धिसंज्ञक आकार अकेला या असहाय नहीं है। उसके आगे पीछे अन्य अच् भी विद्यमान हैं। अतः यहां आकार को 'आदि' न मानने से वृद्ध संज्ञा न हुई तो 'छ' प्रत्यय नहीं होता। असहाय में ही 'आद्यन्तवद्भाव' हो ससहाय में नहीं, इसी प्रयोजन के लिये सूत्र में 'एक' ग्रहण किया है।

"वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्" इस सूत्र में 'आदि' ग्रहण का प्रयोजन भी यही है कि जहां वृद्धि संज्ञक वर्ण मुख्य रूप से 'आदि' में ही हो, वहीं उस शब्द की वृद्ध संज्ञा होती है। जहां 'आद्यन्तवद्भाव' के व्यपदेश से 'आदि वर्ण वृद्धि संज्ञक हो, वहां शब्द की वृद्ध संज्ञा नहीं होती। दोनों का व्यावर्त्य यह 'सभासंनयन' शब्द ही है। इस प्रकार सूत्र की सप्रयोजन स्थापना स्थिर हो जाती है।

न्यासान्तर तथा लोकव्यवहार द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

"सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेकस्मिन्नाद्यन्तबद्वचनम्"[3] इस वार्तिक द्वारा सूत्र की प्रयोजनवत्ता स्थिर सिद्ध करने के बाद भी वार्तिककार इस सूत्र का खण्डन करते हैं। उनके कहने का आशय यह है कि यह ठीक है कि यह सूत्र आवश्यक है किन्तु इससे तो अल्प ही प्रयोजन सिद्ध होते हैं। क्योंकि यह सूत्र तो केवल 'आदि' और 'अन्त' सम्बन्धी कार्यों के विषय में ही अतिदेश

इनके उदाहरणों के लिये देखें "एकोगोत्रे"(पा० ४.१.९३)पर महा० प्र०। तुलना करो—महा० भा० १, सू० १.१.२४, पृ० ८३—एकशब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्यैव संख्यापदम्। तद्यथा—एकः द्वौ बहवः इति। अस्त्यसहायवाची। तद्यथा—एकाग्नयः। एकहलानि। एकाकिभि क्षुद्रकेर्जितमिति। असहायैरित्यर्थः। अस्त्यन्यार्थेवर्तते। तद्यथा-प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेकेति। अन्येत्यर्थः।

१. पा० १.१.७३।

२. पा० ४.२.११४।

३. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ७६।

कर सकता है। अभीष्ट है कि इससे अत्यधिक विषय व्याप्त हो। उसमें यह असमर्थ है। इसलिये इसके स्थान में यदि "व्यपदेशिवदेकस्मिन्"[1] ऐसा सूत्र बना दिया जाये तो अधिक अच्छा रहेगा। "व्यपदेशिवत्' कहने से न केवल 'आदि' और 'अन्त' का ही विषय गृहीत होगा प्रत्युत अन्य अनेक विषयों में 'अतिदेश' की व्याप्ति हो जायेगी। मुख्य के समान अमुख्य को मानकर काम करना ही 'व्यपदेशिवद्भाव' है। निमित्त होने से जिसका मुख्य व्यपदेश है, वह व्यपदेशी है। 'पठ्' धातु एक अच् वाला शब्द रूप है, 'एकाच्' इसका मुख्य व्यपदेश है। 'इ (ण्)' यह अच् रूप ही है, 'एकाच्' नहीं है तो भी व्यपदेशी 'पठ्' की तरह इसके विषय में भी कार्य होगा। यही 'व्यपदेशिवद्भाव' है। इस 'व्यपदेशिवद्भाव' का प्रयोजन बताते हुए वार्तिककार कहतेहैं।

"एकाचो द्वे प्रथमार्थम्"। "षत्वे चादेशसंप्रत्ययार्थम्"[2]

भाव यह है कि "एकाचो द्वे प्रथमस्य"[3] इस सूत्र का अधिकार करके जो "लिटिधातोरनभ्यासस्य"[4] इत्यादि सूत्रों से द्वित्व विधान किया गया है, वह केवल 'पपाच', 'पपाठ' इत्यादि में 'पच', 'पठ्' आदि धातुओं को ही हो सकता है। 'इयाय', 'आर' यहां 'इण् गतौ' तथा 'ऋ' धातुओं को नहीं हो सकता। क्योंकि 'एकाच्' शब्द में बहुव्रीहि समास स्वीकार किया गया है[5]। 'एकोऽज्विद्यते यस्मिन् स एकाच्' अर्थात् एक अच् वाला धातु। 'पच्', 'पठ्' में तो 'पकार', 'चकार' तथा 'ठकार' के साथ एक 'अकार' अच् विद्यमान है। इसलिये वे तो 'एकाच्' बन जायेंगी। 'एकाच्' होने से उन्हें द्वित्व हो जायेगा किन्तु 'इयाय', 'आर', में तो केवल 'इ' और 'ऋ' यह एक अच् ही है। ये धातु तो एक अच् रूप हैं एक अच् वाले नहीं। एक अच् वाला बनाने के लिये इनमें कुछ अन्य वर्ण भी चाहिये। वे हैं नहीं। इसलिये 'एकाच्' न होने से द्वित्व प्राप्त नहीं होगा। जब "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" यह परिभाषा बना दी जायेगी तो एक अज्रूप 'इ' और 'ऋ' भी 'व्यपदेशिवद्भाव' से एक अच् वाले मान लिये जायेंगे। तब द्वित्व सिद्ध हो जायेगा।

---

१. 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' (परि० सं० ३०) यह एक परिभाषा भी है। संभवतः इसी परिभाषा के आधार पर वार्तिककार ने उक्त सूत्र का खण्डन किया है।

२. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ७७।

३. पा० ६.१.१।

४. पा० ६.१.८।

५. द्र० महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ७७—'वक्ष्यत्येकाचो द्वे प्रथमस्येति बहुव्रीहिनिर्देश इति।

इसी प्रकार 'आदेशप्रत्यययोः"[1] सूत्र से प्रत्यय के अवयव सकार को षत्व विधान किया गया है, सकार रूप प्रत्यय को नहीं। उससे 'करिष्यति' इत्यादि में तो 'स्य' प्रत्यय का अवयव सकार होने से षत्वसिद्ध हो जायेगा किन्तु 'यक्षत्', 'वक्षत्', इत्यादि प्रयोगों में लेट् लकार में हुए 'सिप्' के इकार तथा पकार की इत्संज्ञा लोप होने पर केवल सकार रूप प्रत्यय शेष होने से षत्व प्राप्त नहीं होता। "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" कहने से केवल सकार रूप प्रत्यय को भी "व्यपदेशिवद्भाव' से प्रत्यय का अवयव मानकर षत्व सिद्ध हो जाता है।

'आदि' और 'अन्त' के कार्यों में भी 'व्यपदेशिवद्भाव' से इष्ट सिद्ध हो जायेगा। जिस प्रकार 'घटाभ्याम्' यहां साक्षात् अदन्त होने से "सुपिच"[2] से दीर्घ होता है उसी प्रकार 'आभ्याम्' यहां अकार रूप प्रातिपदिक को भी 'व्यपदेशिवद्भाव' से अदन्त मानकर दीर्घ सिद्ध हो जायेगा।

इस प्रकार भाष्यकार और वार्तिककार दोनों ने मिलकर "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" इस परिभाषा को स्वीकार करते हुए "आद्यन्तवदेकस्मिन्" सूत्र की अल्पविषयता को जानकर उसका खण्डन कर दिया है। यह बात दूसरी है कि आगे चलकर वार्तिककार ने लोकव्यवहार को प्रधान मानकरके "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" इस न्यासान्तर का भी प्रत्याख्यान कर दिया है।[3] किन्तु वार्तिककार ने स्वतन्त्र रूप से भी उक्त सूत्र का खण्डन कर दिया है। इसके लिये इन्होंने भाष्यकार से भिन्न 'आदि' और 'अन्त' का स्वसंमत लक्षण किया है। वार्तिककार के मत में 'आदि' का लक्षण यह नहीं है कि जिसके पूर्व से कुछ न हो, पर परे अवश्य हो तथा इसी प्रकार 'अन्त' का भी यह लक्षण नहीं है कि जिसके परे कुछ न हो, पर पूर्व में अवश्य हो। इनके मत में 'आदि' वह है—जिसके पूर्व में कुछ न हो, परे हो या न हो तथा 'अन्त' भी वह है—जिसके परे कुछ न हो, पूर्व में हो या न हो। 'आदि' और 'अन्त' के ये दोनों लक्षण अकेले, असहाय वर्ण में भी घट जाते हैं।[4] क्योंकि अकेला वर्ण 'आदि' भी कहा जा सकता है तथा 'अन्त' भी। जैसे कि कहावत प्रसिद्ध है—'देवदत्तस्य एक एव पुत्रः, स एव ज्येष्ठः स एव मध्यमः, स एव कनीयानिति'। 'आदि' और अन्त' के उक्त लक्षणों के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान स्वतः सिद्ध हो जाता है।

---

१. पा० ८.३.५९।
२. पा० ३.१.३४।
३. द्र० महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ७७—'अवचनाल्लोकविज्ञानात् सिद्धमेतत्'।
४. द्र० महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ७७—'अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वादाद्यन्तयोः सिद्धमेकस्मिन्'।

किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में भाष्यकार का वार्तिककार से मतभेद है। उनके कथन का आशय है कि 'आदि' और अन्त' का पहले जो लक्षण किया गया है, वही ठीक है। वार्तिककार द्वारा बाद में किया गया 'आद्यन्त' का लक्षण 'अपूर्ण' एवं संदिग्ध होने से न्याय नहीं है। इस दृष्टि से अकेले में 'आदि' और 'अन्त' का लक्षण न घटने से इनके मत में सूत्र की आवश्यकता बनी रहती है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

प्रस्तुत प्रसंग में विचारणीय है कि वार्तिककार ने तो अपनी बुद्धि से 'आदि' तथा 'अन्त' का स्वसंमत लक्षण करके सूत्र का खण्डन कर दिया है किन्तु भाष्यकार ने सब कुछ समझते हुए भी 'आदि' और 'अन्त' का अपना किया हुआ लक्षण ही परिनिष्ठित मानकर सूत्र को आवश्यक ठहराया। वार्तिककार ने युक्तिप्रयुक्तियों से 'अपूर्व' और अनुत्तर' ये 'आदि' और 'अन्त' के लक्षण करते हुए यह नहीं सोचा कि ये लक्षण मिथः संकीर्ण हो जाते हैं। 'आदि' का लक्षण जो 'अपूर्व' अर्थात् जिससे पहले कुछ न हो—यह है, वह तो 'अन्त' में भी चला जाता है। तथा इसी प्रकार 'अन्त' का लक्षण जो 'अनुत्तर' अर्थात् जिससे परे कुछ न हो—यह है, वह 'आदि' में चला जाता है। वास्तविक 'आदि' तथा 'अन्त' तो दोनों तरफ एक दूसरे की सत्ता या असत्ता में ही बन सकते हैं। अकेले को 'आदि' तथा 'अन्त' कैसे कहा जा सकता है।

इसलिये व्यावहारिक दृष्टि से तो 'आदि' और 'अन्त' का जो लक्षण भाष्यकार ने किया है और जिसे प्रथम वार्तिक में वार्तिककार ने भी स्वयं स्वीकार किया है, वही ठीक है। इस लक्षण को मानते हुए "आद्यन्तवदे-कस्मिन्" सूत्र की आवश्यकता बनी ही रहती है। संभवतः इसीलिए चान्द्र आदि अर्वाचीन व्याकरणों के परिभाषा पाठों में उक्त सूत्र को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।[1]

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥१.१.१४६॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह अतिदेश सूत्र है। जो पहले होकर पीछे न रहे वह 'स्थानी' होता है

---

१. (क) चा० परि० सू० १७—'व्यपदेशिवदेकस्मिन्'।
   (ख) वही १८—'आद्यन्तवदेकस्मिन्'।
   (ग) है० परि० सू० ५—'आद्यन्तवदेकस्मिन्'।

और जो पहले न होकर पीछे हो जाये वह 'आदेश' होता है। 'स्थानी' और 'आदेश' के अलग-अलग होने से 'स्थानी' के कार्य 'आदेश' में प्राप्त नहीं होते। अभीष्ट है कि आदेश में भी 'स्थानीसम्बन्धी' कार्य हो जावें, इसलिये यह सूत्र बनाया है। इसका अर्थ है कि आदेश स्थानिवत् होता है। 'स्थानिना तुल्यं वर्तते इति स्थानिवत्'।[१] "आदेश में स्थानी के तुल्य कार्य हो जाते हैं, स्थानी सम्बन्धी अल्विधि को छोड़कर'। "अऽउण्" के अकार से लेकर "हल्" के लकार तक सब वर्ण 'अल्' कहलाते हैं। यह अवश्य ध्यातव्य है कि अलग-अलग प्रत्येक वर्ण 'अल्' है किन्तु वर्ण समुदाय 'अल्' नहीं है। एक से अतिरिक्त वर्ण मिलने पर जो विधि होगी वह 'अल्विधि' नहीं बल्कि 'अनल्विधि' है। केवल एक वर्ण सम्बन्धी विधि ही 'अल्विधि' मानी जाती है। और 'अल्' या वर्ण भी स्थानीय सम्बन्धी हो स्थानी से सम्बन्ध रखता हो तभी 'अनल्विधौ' यह निषेध लगता है। आदेश सम्बन्धी 'अल्विधि' में तो 'अनल्विधौ' यह निषेध नहीं लगता। जैसे—'रामाय'। यहाँ 'राम' शब्द से चतुर्थी विभक्ति का एकवचन 'ङे' प्रत्यय होता है। उसे "ङेर्यः,"[२] से यकारादेश हो जाता है। यकारादेश को इस सूत्र से स्थानिवद्भाव मानकर 'ङे' का सुप्त्वधर्म यकार में अतिदिष्ट हो जायेगा तो यकार के 'यञादि सुप्' हो जाने से "सुपि च"[३] से दीर्घ होकर 'रामाय' बन जाता है। यकार में 'यञादित्व रूप अल्' अपना आदेश का है, स्थानी 'ङे' से नहीं लाया गया। अतः आदेश सम्बन्धी 'अल्विधि' होने पर भी स्थानी सम्बन्धी कोई 'अल्विधि' नहीं है। 'अनल्विधि' होने से स्थानिवद्भाव हो जाता है।

इस सूत्र का व्याकरण शास्त्र में बहुत भारी व्यापार है। इसके अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—'भव्यम्'। 'बभूव'। यहाँ "अस्तेर्भूः"[४] से 'अस्' धातु को 'भू' आदेश हुआ है। इस सूत्र से स्थानिवद्भाव द्वारा 'भू' आदेश को धातु मानकर धातु से विहित "अचो यत्"[५] इत्यादि प्रत्यय हो जाते हैं। 'केन', 'काभ्याम्', 'कैः'। यहाँ अंग संज्ञक 'किम्' शब्द को "किमः कः"[६] से

---

१. का० प्रकृत सूत्र, भा० १, पृ० १८३।
२. पा० ७.१.१३।
३. पा० ७.३.१०२।
४. पा० २.४.५२।
५. पा० ३.१.९७।
६. पा० ७.१.१०३।

'क' आदेश हुआ है। इस सूत्र से स्थानिवद्भाव द्वारा 'क' आदेश को अंग मानकर अंगाधिकार विहित "टाङसिङसामिनात्स्याः" इत्यादि कार्य सिद्ध हो जाते हैं। काशिकाकार ने इस सूत्र के बहुत से प्रयोजन एक ही पंक्ति में लिख दिये हैं—

"धात्वंगकृत्तद्धिताव्ययसुप्तिङ्पदादेशाः प्रयोजनम्"[२]

ये सब सोदाहरण वहीं द्रष्टव्य हैं। 'अनल्विधौ' को समझाने के लिए प्राचीन वृत्तिकार तथा भाष्यकार आदि ने 'अल्विधि' शब्द में चार प्रकार का समास निकाला है।[३] 'अलि विधिः—अल्विधिः'। 'अला विधिः—'अल्ः विधिः'। 'अलः परस्य विधिः—अल्विधिः'। 'अलः सम्बन्धी विधिः—अल्विधि' इत्यादि। अल् परे रहते जो विधि उसमें स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। जैसे 'क इष्टः' यहाँ 'किम्' शब्द प्रथमा एकवचन में 'कः' यह रूप बनता है। 'इष्टः' में 'यज्' धातु से निष्ठा प्रत्यय 'क्त' हुआ है। 'क्त' के 'कित्' होने से "वचिस्वपि०"[४] से 'यज्' के 'य' को 'इ' सम्प्रसारण हो जाता है। "व्रश्च भ्रश्च सृज मृज०"[५] सूत्र से 'षत्व' तथा 'ष्टुत्व' होकर 'इष्टः' बनता है। यहाँ 'यज्' के 'इ' को स्थानिवद्भाव से 'य' मानकर 'हश्' परे हो जाने से "हशि च"[६] से 'कः' के 'रु' को 'उत्व' होकर 'को इष्टः' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। उसको रोकने के लिए 'अल्' परे रहते विधि करने में अनल्-विधौ' से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है तो इष्ट रूप बन जाता है। यहाँ 'य' और 'इ' ये दोनों अलग-अलग 'अल्' हैं, यह स्पष्ट ही है।

'अल्' से जो विधि उसमें भी स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। यथा —'व्यूढारस्केन'। यहाँ 'व्यूढमुरो यस्य' इस बहुव्रीहि समास में 'कप्' प्रत्यय परे रहते "कस्कादिषु च"[७] से 'उरः शब्द के विसर्ग को सकार होता है।

---

१. पा० ७.१.१२।
२. का० प्रकृत सूत्र, भा० १, पृ० १८६।
३. दा० महा० प्रकृत सूत्र, १, प्रकृत सूत्र, पृ० १३३—'अथ विधिग्रहणं किमर्थम्। सर्वविभक्त्यन्त समासो यथा विज्ञायेत। अलः परस्य विधिरल्विधिः। अलो विधिरल्विधिः। अलि विधिरल्विधिः। अला विधिरल्विधिरिति'।
४. पा० ६.१.१५।
५. पा० ८.२.३६।
६. पा० ६.१.११४।
७. पा० ८.३.४८।

उस सकार को स्थानिवद्भाव से विसर्ग मानकर विसर्गों का 'अटो' में पाठ होने से "अट् कुप्वाङ०"[1] सूत्र से 'न' को 'ण' प्राप्त होता है[2]। उसको रोकने के लिए 'अल्' के द्वारा विधि करने में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा तो 'न' को णत्व नहीं होता, यह इष्ट सिद्ध हो जाता है।

'अल्' से परे विधि करने में भी स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। जैसे – 'द्यौः', 'पन्थाः', 'सः', । यहाँ 'दिव्', 'पथिन्', 'तद्' इन हलन्त शब्दों को प्रथमा के एकवचन 'सु' परे रहते क्रमशः "दिवः औत्"[3] से 'व' को औकार "पथिमथ्यृभुक्षामात्"[4] से 'न' को आकार तथा "त्यदादीनामः"[5] से 'तद्' के दकार को अकार होता है। इन औकारादि को स्थानिवद्भाव से हलन्त मानकर हलन्त से परे "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्"[6] सूत्र से 'सु' का लोप प्राप्त होता है। उसको रोकने के लिए 'अल्' से परे विधि करने में भी 'अनल्विधौ' से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा तो उक्त प्रयोगों में 'सु' का लोप नहीं होता।

'अल्सम्बन्धी' विधि करने में भी स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। जैसे—'द्युकामः'। 'दिवि कामोऽस्य' इस बहुव्रीहिसमास में "दिव उत्"[7] से 'व' को उकार होता है। "इकोयणचि"[8] से 'यण' होकर 'द्युकामः' बन जाता है। "दिव उत्" से हुए उकार को स्थानिवद्भाव से वकार मानकर "लोपो व्योर्वलि"[9] से उसका लोप प्राप्त होता है। 'अल्सम्बन्धी' विधि करने में 'अनल्विधौ' से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायेगा तो वकार का लोप नहीं होता। इस प्रकार इस प्रसिद्ध सूत्र की उपयोगिता सिद्ध हो जाती है।

---

१. पा० ८.४.२।
२. अयोगवाह होने से 'अटो' में पठित विसर्ग 'अल्' हैं, यह तो स्पष्ट ही है।
३. पा० ७.१.८४।
४. पा० ७.१.८५।
५. पा० ७.२.१०२।
६. पा० ६.१.६८।
७. पा० ६.१.१३१।
८. पा० ६.१.७७।
९. पा० ६.१.६६।

लोक व्यवहार तथा ज्ञापक द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन में मौन धारण किए हुए हैं। केवल भाष्यकार पतंजलि ही इस सूत्र की आत्यन्तिक उपयोगिता अनुभव करते हुए भी लोक व्यवहार का आश्रयण करके इसका प्रत्याख्यान कर देते हैं। वे कहते हैं—

"लोकतः एतत् सिद्धम्। तद्यथा-लोके यो यस्य प्रसंगे स्थाने वा भवति, लभतेऽसौ तत्कार्याणि। तद्यथा-उपाध्यायस्य शिष्यो याज्यकुलानि गत्वा अग्रासनादीनि लभते"[1]।

इनका भाव यह है कि 'स्थान्यादेशाभाव' लोक व्यवहार से सिद्ध है। जो जिसके स्थान में होता है, वह उसके कार्यों को प्राप्त करता है। जैसे—उपाध्याय का शिष्य उसके अभाव में अपने यजमानों के घर जाकर उच्चासनादि सत्कार को उपलब्ध करता है। "तत्स्थानापन्ने तद्धर्मलाभः"[2] इस न्याय के अनुसार गुरु के स्थानापन्न शिष्य में भी गुरु के धर्मों का अतिदेश हो जाता है। इसलिए आदेश में भी स्थानी के धर्मों का अतिदेश हो जायेगा, तो इस सूत्र की क्या आवश्यकता है।

यदि यह कहा जाये कि आदेश में स्थानी के धर्मों का अतिदेश होने में एक बहुत बड़ी बाधा है। वह है "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा"[3] इस सूत्र से शब्द के स्वरूप का ग्रहण। उससे "आङो यमहनः"[4] सूत्र से विहित 'आङ्' पूर्वक 'हन्' धातु से आत्मनेपद 'हन्' के स्थान में होने वाले 'वधादेश' को प्राप्त नहीं होता। केवल सूत्रोपात्त 'हन्' शब्द से ही होगा तो इस दोष की निवृत्ति के लिये भाष्यकार ज्ञापक सूत्रों द्वारा स्थानिवद्भाव की सिद्धि करते हैं। वे कहते हैं—'एवं तर्हि आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति स्थानिवदादेशो भवतीति। यदयं युष्मदस्मदोरनादेशे इत्यादेशे प्रतिषेधं शास्ति कथं कृत्वा ज्ञापकम्। युष्मदस्मदोः विभक्तौ कार्यमुच्यमानं कः प्रसंगो यदादेशे स्यात्। पश्यतित्वाचार्यो यत् स्थानिवदादेशो भवतीति ततः आदेशे प्रतिषेधं शास्ति"[5]।

---

१. महा० भा० १, सूत्र १.१.५६, पृ० १३३।

२. महा० प्र० भा० १, प्रकृतसूत्र—तुलना करो—'लोके हि वचनमन्तरेणापि तत्स्थानापत्या तद्धर्मलाभो दृष्टः'।

३. पा० १.१.६८।

४. पा० १.३.२८।

५. महा० भा० १, सू० १.१.५६, पृ० १३४।

अर्थ सर्वथा स्पष्ट है। "युष्मदस्मदोरनादेशे"[1] इस सूत्र में आदेश परे रहते आत्व का निषेध ही इस बात का ज्ञापक है कि आदेश में भी स्थानी सम्बन्धी कार्य होते हैं। 'अल्विधि' में स्थानिवद्भाव का निषेध करने के लिए भी इस सूत्र की आवश्यकता नहीं। क्योंकि वहाँ भी "अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति"[2] इस सूत्र में 'ति किति' रहते हुए जो 'ल्यप्' ग्रहण किया है, वह इस बात का ज्ञापक है कि 'अल्विधि' में स्थानिवद्‌भाव नहीं होता। अन्यथा 'क्त्वा' के स्थान में होने वाले 'ल्यबादेश' में स्थानिवद्‌भाव से 'प्रत्ययत्व' 'अव्ययत्व' की तरह 'तादि कित्व' भी आ ही जाता, तो 'तिवित' से ही सिद्ध हो जाने पर 'ल्यप्' ग्रहण व्यर्थ है। परन्तु आचार्य देखते हैं कि 'क्त्वा' का तकारादित्व 'अल्विधि' होने से 'ल्यप्' में नहीं आ सकता। इसलिए 'ल्यप्' ग्रहण करते हैं।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

ज्ञापकसूत्र तथा लोकव्यवहार द्वारा इस सूत्रकी अन्यथा सिद्धि होने पर भी यह सूत्र अत्यन्त आवश्यक होने से प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है। जहाँ 'अनल्विधि' के लिए प्रकृत सूत्र की आवश्यकता है वहाँ 'अल्विधि' के लिए "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ"[3], 'द्विर्वचनेऽचि'"[4] इन दोनों सूत्रों का बनाना भी आवश्यक है। यदि स्थानिवद्‌भाव विधायक ये सूत्र ही नहीं रहेंगे तो उनका निषेध करने वाले "न पदान्त द्विर्वचन०"[5] इस सूत्र की क्या गति होगी। व्याकरणशास्त्र में स्थानिवद्‌भाव का बहुत बड़ा क्षेत्र है। प्रौढ़िवाद से स्थानिबद्‌भाव का खण्डन करना और बात है तथा वस्तु स्थिति को समझते हुए उसकी उपयोगिता को आंकना और बात है। भाष्यकार प्रायः लाघव से काम लेते हैं किन्तु उस शब्दकृत लाघव में अर्थकृतलाघव को तिरोहित नहीं करना चाहिए। खण्डन करते समय स्पष्ट प्रतिपत्ति के दृष्टिकोण पर भी ध्यान देना चाहिये। यही कारण है कि भाष्यकार आपाततः किसी सूत्र का खण्डन करके भी अन्त में उसकी सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। इसीलिए ज्ञापकों द्वारा इस सूत्र का खण्डन करके फिर स्वयं "आरभ्यमाणेऽ-

१. पा० ७.२.८६।
२. पा० २.४.३६।
३. पा० १.१.५७।
४. पा० १.१.५९।
५. पा० १.१.५८।

प्येतस्मिन् योगे अल्विधौ प्रतिषेधेऽविशेषणेऽप्राप्तिस्यादर्शनात्''[१]—इत्यादि वचन द्वारा उक्त सूत्र के पदों पर विशिष्ट विचार करते हैं। इससे यह समझा जाता है कि भाष्यकार ने प्रकृष्टबुद्धि वालों या व्युत्पन्नमतियों के लिये सूत्र का खण्डन करके भी स्फुटप्रतिपत्ति की दृष्टि से सामान्यबुद्धि वाले या मन्द-बुद्धि लोगों के लिए इस सूत्र की सत्ता को स्वीकार ही कर लिया है। इसीलिए शब्दकौस्तुभकार कहते हैं—

''किमनेन सूत्रेणेति। उच्यते। उत्तरार्थं तावत् स्थानिवदादेशः इति कर्तव्यमेव। तस्यैव योगविभागमात्रेणोपपत्तौ सत्यामर्थापत्तिकं वचनं न कल्प्यम्। एवं स्थितेऽनल्विधावित्ययमप्यंशः स्पष्टप्रतिपत्यर्थं क्रियते। उत्तरसूत्रे द्वितीय-विधिग्रहणस्यनुवृत्यर्थं च। एतदेव सकलमभिप्रेत्य भगवतोक्तम् आरभ्यमाणेऽ-प्येतस्मिन् योगे इति''।[२]

प्रस्तुत प्रसंग में अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी इस सूत्र की आवश्यकता एवं उपयोगिता को अनुभव किया और इसीलिए प्रायः सभी ने किंचित् शब्द परिवर्तन के साथ इसको स्वीकार किया है।[३] इस प्रकार निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि प्रकृत सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है।।

तृज्वत्क्रोष्टुः ।।७.१.९५।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अंगाधिकार प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'क्रोष्टु' शब्द को तृज्वद्भाव होता है, सम्बुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते। यह 'रूपातिदेश' है। 'क्रोष्टु' को 'क्रोष्टृ' इस तृजन्त रूप का अतिदेश करता है। 'निमित्त', 'व्यपदेश', तादात्म्य', 'शास्त्र', 'कार्य', 'अर्थ' तथा 'रूप' भेद से अतिदेश ६ या ७ प्रकार के होते हैं। उनमें यह सूत्र 'रूपातिदेश' है। जैसे—'क्रोष्टा', 'क्रोष्टारौ', क्रोष्टारः', 'क्रोष्टारम्', 'क्रोष्टारौ'। 'सु' आदि पाँच प्रत्ययों की ''सुडनपुंसकस्य''[४] से 'सर्वनामस्थानसंज्ञा' होती है। 'क्रोष्टा' में 'क्रोष्टु' शब्द से 'सु' परे होने पर इस सूत्र से 'तृज्वत्' होकर 'क्रोष्टृ' शब्द बन जाता है।

---

१. महा० भा० १, सू० १.१.५६, पृ० १३४।

२. श० कौ० मा० १, पृ० २०९।

३. जै० सू० १.१.५६—'स्थानीवादेशोऽनल्विधौ'।
शा० सू० १.१.५०—'स्थानीवानलाश्रये'।
है० सू० ७.४.१०९—'स्थानीवावर्णविधौ'।

४. पा० १.१.४३।

ऋदुशनस् पुरुदंसोऽनेहसां च"[१] से 'ऋ' को 'अनङ्' आदेश होकर "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ"[२] से नान्त की उपधा को दीर्घ हो जाता है तो 'सुलोप', 'नलोप' होने पर 'क्रोष्टा' बन जाता है। 'क्रोष्टारौ' इत्यादि में 'क्रोष्टु' को 'तृज्वत्' होकर 'क्रोष्टृ' बन जाता है "ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः"[३] से 'ऋ' को 'अर्' गुण होकर "अप्तृन्तृच०"[४] से उपधा दीर्घ हो जाता है तो 'क्रोष्टारौ' इत्यादि बन जाते हैं। 'सर्वनामस्थानसंज्ञक' 'सु' आदि पाँच प्रत्ययों के परे होने पर ही 'तृज्वद्भाव' होता है। आगे 'शस्' में नहीं। वहाँ 'क्रोष्टु' शब्द ही रहता है। उसका 'क्रोष्टून्' यह रूप बनता है। 'टा' आदि तृतीया विभक्तियों में "विभाषा तृतीयादिष्वचि"[५] से विकल्प से 'तृज्वद्भाव' होकर 'क्रोष्ट्रा', 'क्रोष्टुना' इत्यादि दो रूप बनते हैं।

प्रकृत्यन्तर द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"तृज्वद्वचनमनर्थकं तृज्विषये तृचो मृगवाचित्वात्। तृज्विषये एतत् तृजन्तं मृगवाचि। तुनो निवृत्त्यर्थमिति चेत् सिद्धं यथान्यत्रापि। वावचनानर्थक्यं च स्वभावसिद्धत्वात्। तुनो निवृत्त्यर्थमिति चेदन्तरेण वचनं सिद्धम्। यथान्यत्रापि अविशेषविहिताः शब्दाः नियतविषया दृश्यन्ते, तद्यथा—घरतिरस्मा अविशेषेणोपदिष्टः स घृतम् घृणा घर्म इत्येवं विषयः। रश्मिरस्मा अविशेषेणोपदिष्ट स राशिः रश्मिः रशना इत्येव विषयः। वावचनं चानर्थकम्। किं कारणम्। स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावत एव तृतीयादिषु अजादिषु विभक्तिषु तृजन्तं च तुनन्तं च मृगवाचीति"।[६]

भाष्यकार के इन वचनों का तात्पर्य स्पष्ट है कि "तुन् प्रत्ययान्त क्रोष्टु' शब्द का जो मृगजातिपरक गीदड़ अर्थ है, वही 'तृच्प्रत्ययान्त 'क्रोष्टु' शब्द का भी है। जब दोनों का एक अर्थ है तब "तृच् प्रत्ययान्त 'क्रोष्टृ' शब्द के 'क्रोष्टा', 'क्रोष्टारौ', 'क्रोष्टारः' इत्यादि रूप इस सूत्र द्वारा 'तृज्वद्भाव' विधान किये बिना भी सिद्ध हो जायेंगे। 'क्रोष्टु' शब्द 'तुन् प्रत्ययान्त' है। उसके रूप, 'भानु' के समान होंगे और 'क्रोष्टु' जो 'तच् प्रत्ययान्त' स्वतन्त्र शब्द

---

१. पा० ७.१.९४।
२. पा० ६.४.८।
३. पा० ७.३.११०।
४. पा० ६.४.११।
५. पा० ७.१.९७।
६. महा० भा० ३, सू० ७.१.९६, पृ० २७५।

है, उसके रूप "कर्तृ" शब्द के 'कर्ता', 'कर्तारौ', 'कर्तारः' के समान बन जायेंगे। दोनों पृथक्-पृथक् शब्द हैं। उनमें 'स्थान्यादेश भाव' या 'तृज्वद्भाव' मानने की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिये यह "तृज्वद्भाव" का विधान करना व्यर्थ है।

यदि यह कहा जाये कि 'सर्वनामस्थान' में 'तृच् प्रत्ययान्त 'क्रोष्टृ' शब्द का प्रयोग हो. 'क्रोष्टु' का न हो, तो वह भी बात नहीं। क्योंकि शब्दों के अपने-अपने प्रयोग के विषय निश्चित होते हैं। सर्वनामस्थान' में 'क्रोष्टृ' शब्द का प्रयोग ही निश्चित है अतः वही प्रयुक्त होगा, "क्रोष्टु" शब्द प्रयुक्त नहीं होगा। अन्यत्र भी शब्द प्रयोग निश्चित विषय वाला है। जैसे— 'घृक्षरणदीप्त्योः' यह धातु सामान्य रूप से पढ़ा गया है। यह जुहोत्यादिगण में पठित है और 'गृधृ सेचने' यह भ्वादिगण में पठित है। भ्वादिगण पठित का 'करति' यह रूप बनता है और जुहोत्यादि का 'जिघर्ति'। किन्तु ये दोनों धातु केवल 'घृतम्', 'घृणा' 'घर्म' इन शब्दों में ही उपयुक्त होते हैं। अन्यत्र इनका उपयोग या प्रयोग उपलब्ध नहीं होता। 'रश्' और 'लुश्' ये धातु भाष्यकार वचन से प्रमाणित हैं किन्तु इनमें भी "रश्" के प्रयोग का विषय 'रशना',[1] 'रश्मिः', 'राशि.' ये कतिपय निश्चित शब्द ही हैं। 'लुश्' का भी "लोष्ट" यह शब्द निश्चित प्रयोग का विषय है। उसी प्रकार 'क्रोष्टृ' का अपना प्रयोगविषय निश्चित है और 'क्रोष्टु' का अपना। तृतीयादि विभक्तियों में विकल्प करने के लिये "विभाषा तृतीयादिष्वचि"[2] यह सूत्र बनाना भी व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि स्वभाव से तृतीयादि में 'क्रोष्टु' और 'क्रोष्टृ' इन दोनों शब्दों का प्रयोग निश्चित है। इसलिये प्रत्येक शब्द का अपना प्रयोग विषय निश्चित होने से 'क्रोष्टु' भी अपने विषय में प्रयुक्त होगा और 'क्रोष्टृ' भी। उसके लिये 'तृज्वद्भाव विधान' करना व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहां पर भाष्यकार ने 'कोष्टु' और 'क्रोष्टृ' इन दो शब्दों को पृथक्-पृथक् मानकर और उनके प्रयोग का विषय भी निश्चित कहकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह ठीक ही

---

१. यहाँ यह अवश्य ध्यातव्य है कि उणादिकोष में "अशे रश् च" (२३३) सूत्र के अनुसार 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु को 'रश्' आदेश मानकर "रशना" शब्द बनाया गया है। वहाँ "रश्" धातु नहीं स्वीकार किया गया है।

२. पा० ७.१.९७।

है कि दोनों पृथक् स्वतन्त्र शब्द मान लिये जायें। स्थान्यादेशभाव तो काल्पनिक है। 'पाद', 'दन्त', 'नासिका' आदि के स्थान में 'पद्', 'दत्' 'नस्' आदि आदेश की कल्पना भी व्यर्थ ही है।[1] 'पाद' स्वतन्त्र शब्द है, 'पद्' भी स्वतन्त्र है। दोनों के अपने-अपने प्रयोग के विषय हैं। 'पादः', 'पादौ', 'पादाः' 'पादम्', 'पादौ', 'पादान्' ये 'पाद' शब्द के अपने स्वतन्त्र रूप हैं और 'पत्', 'पद्' 'पदौ', 'पदः', 'पदम्', 'पदौ', 'पदः', 'पदा' 'पद्भ्याम्', पद्भिः' ये 'पद्' शब्द के अपने स्वतन्त्र रूप हैं। यह कल्पना कुछ अच्छी नहीं मालूम होती कि 'शस्' प्रभृतियों में तो 'पद्' शब्द का आदेश मानकर प्रयोग हो तथा अन्यत्र 'पाद' शब्द ही स्वीकार किया जाये। जब दोनों के प्रयोग विषय निश्चित हैं तब दोनों को स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् शब्द ही क्यों न मान लिया जाये। 'पाद' शब्द के स्थान में 'पद्' आदेश होता है, ऐसा क्यों माना जाये। इसी प्रकार 'जरा' को 'जरस्',[2] 'अस्' को 'भू'[3] 'ब्रू' को 'वच्'[4] 'चक्षिङ' को 'ख्याञ्'[5] 'वेञ्' को 'वयि',[6] 'अज्' को 'वी',[7] 'अद्' को 'घस्'[8] इत्यादि आदेश न मानकर 'जरा', 'जरस्' इत्यादि पृथक् स्वतन्त्र शब्द हैं। और उनके अपने-अपने प्रयोग विषय भी निश्चित हैं, ऐसा मानने में ही लाघव है। अर्थ प्रतिपत्ति भी स्पष्ट होती है। अथवा यहां यह कल्पना करना भी असंगत प्रतीत नहीं होता कि आचार्य पाणिनि ने जहाँ-जहाँ लोप, आगम तथा वर्णविकारादि द्वारा रूपान्तर का प्रतिपादन किया है, वे रूप प्राचीनकाल में संस्कृत भाषा में स्वतन्त्ररूप से लब्धप्रचार थे। उनका लोक में अप्रयोग हो जाने पर पाणिनि आदि ने उनसे निष्पन्न व्यावहारिक भाषा में अवशिष्ट शब्दों का अन्वाख्यान करने के लिए लोप, आगम, वर्णविकारादि की कल्पना की है। ऐसी स्थिति में पाणिनि ने जहाँ-जहाँ 'पा', 'घ्रा' आदि के स्थान में 'पिब', 'जिघ्र' आदि का आदेश किया है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र उन्हें स्वतन्त्र धातु समझना चाहिये। समानार्थक दो धातुओं में से एक का

---

१. पा० ६.१.६३—'पद्दन्नोमासहृन्निशसन् यूषन्दोषम्····।'
२. द्र० पा० ७.२.१०१—'जरायो जरसन्यतरस्याम्'।
३. द्र० पा० २.४.५२—'अस्तेर्भूः'।
४. द्र० पा० २.४.५३—'ब्रूवो वचिः'।
५. द्र० पा० २.४.५४—'चक्षिङः ख्याञ्'।
६. पा० २.४.४१—'वेञो वयिः'।
७. द्र० पा० २.४.५६—अजेर्व्यघञपोः'।
८. द्र० पा० २.४.३७—'लुङ्सनोर्घस्लृ'।

सार्वधातुक में प्रयोग नष्ट हो गया, दूसरी का आर्धधातुक में। वैयाकरणों ने अन्वाख्यान के लिए "नष्टाश्वदग्धरथवत् न्याय" से दोनों को एक साथ जोड़ दिया। इसी प्रकार वर्णलोप, वर्णागम, वर्णविकार तथा स्थान्यादेश भाव आदि के द्वारा वैयाकरण जिन रूपों को निष्पन्न करते हैं, वे रूपान्तर भी मूल रूप में स्वतन्त्र धातुएं हैं।[१] ठीक यही बात यहाँ पर भी है। 'क्रोष्टु' अलग स्वतन्त्र प्रकृति थी तथा 'क्रोष्टृ' अलग। कालान्तर में दोनों प्रकृतियों के कुछ विभक्तियों के रूप लुप्त हो गये। समानार्थक होने के कारण तब वैयाकरणों ने इनमें परस्पर वर्णविकार आदि की कल्पना करके इन्हें परस्पर सम्बद्ध कर दिया। लेकिन स्पष्ट प्रतिपत्ति की दृष्टि से यह क्लिष्ट कल्पना ही होगी। अस्तु—प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रदीपकार लिखते हैं—

"प्रयुक्तानामिदमन्वाख्यानम्', न त्वस्मादपूर्वशब्द प्रतिपत्तिरिति नियतविषयत्वमुच्यते। अनेनैव न्यायेन अस्तेर्भूः इत्यादीन्यपि प्रत्याख्येयानि। अबुधबोधनार्थं तु किंचिद् वचनेन प्रतिपाद्यते। न्यायव्युत्पादनार्थं चाचार्यः किंचित् प्रत्याचष्टे। न ह्यत्रैकः पन्थाः समाश्रीयते इति।[२]

आचार्य पाणिनि ने अबुध बोधनार्थ (स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ) सूत्र रचना की है किन्तु भाष्यकार वास्तविक सिद्धान्त की बात करते हैं। वे जानते हैं कि प्रकृति प्रत्यय, स्थानी-आदेश की कल्पना वास्तविक नहीं है[३]। साधारण मनुष्य वास्तविक बात को नहीं जान सकते। उनको वास्तविकता का ज्ञान कराने के लिए पतंजलि मुनि सूत्रों का प्रत्याख्यान करते हैं। इसलिए इस सूत्र का

---

१. विशेष अध्ययनार्थ द्रष्टव्य—सं० व्या० शा० इ० भा० १, प्रथम अध्याय।

२. महा० प्र० भा० ५, सू० ७.१.९५, पृ० ९०-९१।

३. प्रस्तुत प्रसंग में भर्तृहरि की निम्न कारिकायें विशेष महत्व की हैं—

वा० प० २.३८—'उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यंसमीहते'॥

वा० प० १.९२—'निर्भागेष्वभ्युपायो वा भागभेदप्रकल्पना'॥

वा० प० १.१० इत्यादि—'यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयः।
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते॥

महा० प्र० भा० ४, सू० ५.३.६८, पृष्ठ २२७—तुलना करो—'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतिप्रत्ययानामिहशास्त्रेऽर्थवत्तापरिकल्पनात्'।

प्रत्याख्यान शब्द प्रयोग की वस्तु स्थिति का सूचक होने से न्याय्य ही है। पदमंजरीकार हरदत्त भी लिखते हैं—

"यस्तु मन्यते अभिधानस्वभावादेव तुंस्तृचोर्व्यवस्थितविषय प्रयोग इति तं प्रति सूत्रयमपि शक्यमकर्तुम्"।

उनके मत में "तृज्वत् क्रोष्टुः", 'विभाषा तृतीयादिष्वचि', 'स्त्रियां च'[1] ये तीनों सूत्र प्रत्याख्येय हैं। प्रस्तुत प्रसंग में अर्वाचीन वैयाकरण तो इन सूत्रों का समर्थन ही करते हुए प्रतीत होते हैं। क्योंकि यहां इन्होंने भाष्यवार्तिककार के व्याख्यान (प्रत्याख्यान) को संयुक्तिक न मानकर अन्य वृत्तिकारों का आश्रयण करते हुए इन सूत्रों को रखा ही है।[2] केवल जैनेन्द्र व्याकरणकार ही इस सूत्र के प्रत्याख्यान से सहमत हैं। इस प्रकार इन वैयाकरणों का मत भी युक्ति-प्रयुक्त न होने से यहाँ ग्राह्य नहीं है। अतः सूत्र का प्रत्याख्यान ही ठीक है।

---

१. पा० ७.२.९५.९६.९७।

२. चा० सू० ५.४.४८-४९—'क्रुशस्तुनस्तृच्। 'स्त्रियाम्'।
शा० सू० १.२. १३१-१३२, १.३.१—'क्रोष्टोक्रोष्टे'। 'वाऽच्यापि'
स० 'क्रोष्टु र्' सू० ६.४.४७-४८-४९—'क्रुशस्तुनस्तृच'। 'स्त्रियाम्'।
'टादा वजादौ वा'।
है० सू० १.४.९१-९३ —'क्रुशस्तुनस्तृच् पुंसि'। 'टादौस्वरे वा'।
स्त्रियाम्'।

षष्ठ अध्याय

अधिकार सूत्रों का प्रत्याख्यान

अनभिहिते ॥२.३.१॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह अधिकार सूत्र है । इसके आगे "कर्मणि द्वितीया"[1] इत्यादि सूत्रों में इसका अधिकार जाता है । इसका अर्थ है कि 'अनभिहित' कर्मादि कारकों में ही द्वितीयादि विभक्ति हों, 'अभिहित' कर्मादि में न हों । 'अनभिहित' का अर्थ 'अनुक्त', 'अकथित', 'अवाच्य' एवं 'अनिर्दिष्ट' है । जहाँ किसी अन्य से कर्मादि कारक का 'अभिधान' नहीं हुआ हो, वहाँ द्वितीयादि विभक्ति होती है । 'अभिहित' या अन्य द्वारा 'कथित' कर्मादि में नहीं होती । जैसे— कटं करोति' 'ग्रामं गच्छति' । 'पचत्योदनं देवदत्तः' । यहाँ 'करोति', 'गच्छति', 'पचति' इन क्रियाओं में 'तिप्' प्रत्यय परस्मैपद तथा "तान्येकवचनद्विवचन-बहुवचनान्येकशः"[2] से एकवचन संज्ञक है । वह "शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्", "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने", बहुषु बहुवचनम्"[3] इन सूत्रों की एकवाक्यता से 'एकत्व-विशिष्ट कर्ता कारक' में हुआ है । 'तिप्' का वाच्य 'कर्ता' है । उससे कर्ता 'अभिहित' है । कर्मकारक में 'तिप्' प्रत्यय नहीं हुआ है, उसका वाच्य कर्म नहीं है । कर्म 'अनभिहित' है । कर्म के 'अनभिहित' होने से 'कट', 'ग्राम' या 'ओदन'—रूप कर्म में "कर्मणि द्वितीया" से द्वितीया विभक्ति हो जाती है । किन्तु कर्ता के 'अभिहित' होने से कर्ताभूत 'देवदत्त' शब्द से 'कर्तृकरणयोस्तृतीया'[4] से तृतीया विभक्ति न होकर 'प्रातिपदिकार्थ' में "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा"[5] से प्रथमा होती है । क्योंकि

---

१. पा० २.३.२ ।

२. पा० १.४.१०२ ।

३. पा० १.३.७८; १.४.२२, २१ ।

४. पा० २.३.१८ ।

५. पा० २.३.४६ ।

प्रत्येक कारक का 'अभिहित' हुआ अर्थ प्रातिपदिक के अन्तर्भूत होकर 'प्रातिपदिकार्थ' बन जाता है। 'अभिहित' हुए प्रत्येक कारक से केवल प्रथमा ही होती है, अन्य द्वितीयादि विभक्तियां नहीं हो सकतीं।

कारकों का 'अभिधान' प्रायः 'तिङ्', 'कृत्', 'तद्धित' तथा 'समास' से होता है। भाष्यवार्तिक भी है "तिङ्कृत्तद्धितसमासैः परिसंख्यानम्"[१] अर्थात् 'तिङ्', 'कृत्', 'तद्धित' तथा 'समासों' से कारक का 'अभिधान' न होने पर ही द्वितीयादि विभक्तियां होती हैं, यह परिगणन कर दिया है। इनमें 'तिङ्' जैसे—'क्रियते कटः'। यहां 'क्रियते' आत्मनेपद 'त' प्रत्यय 'तिङ' है। "भावकर्मणोः"[२] से वह कर्म में हुआ है। उसका कर्म वाच्य है। कर्म के 'अभिहित' होने से 'कटरूप' कर्म में "कर्मणि द्वितीया"[३] से द्वितीया नहीं होती अपितु 'प्रातिपदिकार्थ' में प्रथमा हो जाती है। 'कृत्' जैसे—'कृतः कटः', यहां 'कृतः' में 'क्त' प्रत्यय 'कृतसंज्ञक' है वह "तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः"[४] के नियम से कर्म में हुआ है। उसका कर्म वाच्य है। कर्म के अभिहित होने से वहाँ भी 'कटरूप' कर्म में द्वितीया न होकर प्रथमा होती है। 'तद्धित' जैसे—'शत्यः', 'शतिकः'। 'शतेन क्रीतः' इस अर्थ में 'शत' शब्द से "शताच्च ठन्यतावशते"[५] से 'ठन्', 'यत्' प्रत्यय होते हैं, जो तद्धित हैं। 'शत्यः', 'शतिकः' में "तेन क्रीतम्"[६] इस करण कारक के 'अभिहित' होने से "कर्तृकरणयोस्तृतीया"[७] से, तृतीया न होकर प्रथमा ही होती है। 'समास' जैसे—'प्राप्तोदको ग्रामः'। 'प्राप्तमुदकं यं स प्राप्तोदकः' यहां बहुब्रीहि समास में 'यम्' इस द्वितीयान्त अन्य पदार्थ के 'अभिहित' होने से द्वितीया न होकर प्रथमा ही होती है। 'तिङादि' के परिगणन से अन्यत्र तो 'अभिहित' होने पर भी द्वितीयादि हो जाती है जैसे—कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयं शोभनम्, यहाँ 'कटम्' इस द्वितीयान्त सुबन्त से कर्म के 'अभिहित' होने पर भी उसके विशेषण भूत 'भीष्म' आदि शब्दों से द्वितीया हो जाती है। इस प्रकार इस सूत्र का प्रयोजन स्थिर होता है।

---

१. महा० भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ४४१।
२. पा० १.३.१३।
३. पा० २.३.२।
४. पा० ३.४.७०।
५. पा० ५.१.२१।
६. पा० ५.१.३६।
७. पा० २.३.१८।

पक्षान्तर को मानकर सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान एक पक्षीय है। क्योंकि "कर्मणि द्वितीया"[१] इत्यादि सूत्रों के दो प्रकार के अर्थ संभव होते हैं। 'संख्या' और 'कारक' के विशेषण विशेष्यभाव में जब 'संख्या' को विशेष्य माना जाता है तो सूत्र का अर्थ होता है—कर्म की 'एकत्व संख्या' में द्वितीया का एक वचन, द्वित्व में द्विवचन तथा बहुत्व में बहुवचन हो। इस प्रकार द्वितीया विभक्ति का अर्थ 'संख्या' होता है। इस पक्ष में 'संख्या' को विभक्त्यर्थ' माना जाता है। और जब 'कारक' को विशेष्य मानकर ऐसा अर्थ किया जाता है कि 'एकत्वविशिष्ट कर्मकारक' में द्वितीया का एकवचन, 'द्वित्वविशिष्ट कर्म' में द्विवचन तथा 'बहुत्वविशिष्ट कर्म' में बहुवचन हो, तब विभक्ति का अर्थ 'कारक' बन जाता है। 'कारक' को 'विभक्त्यर्थ' माना जाये अथवा 'संख्या' को, दोनों पक्षों में जो दोष आते हैं उनका पूर्णतया समाधान हो जाता है और ये दोनों ही पक्ष शास्त्र में स्वीकृत हैं। भाष्य में कहा गया है—

"सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम्"।[२]

उक्त दोनों पक्षों के व्यवस्थित होने पर भी 'संख्या' को विभक्त्यर्थ मानने पर इस सूत्र की आवश्यकता रहती है।[३] इसका प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। किन्तु जब 'कारकों' को 'विभक्त्यर्थ' माना जाता है, तब यह सूत्र अनावश्यक हो जाता है। इसका प्रत्याख्यान संभव है। क्योंकि 'कारकों' को द्वितीयादि विभक्तियों का अर्थ मानने पर यह व्यर्थ है। 'तिङ्', 'कृत्' 'तद्धित', 'समासों' से कर्मादि कारकों का 'अभिधान' हो ही जाता है। फिर द्वितीयादि विभक्तियां लग कर क्या करेंगी। जो चीज कही जा चुकी है उसी को फिर कहना—पिष्टपेषण करना सर्वथा अनुचित है। 'क्रियते कटः', 'कृतः कटः' इत्यादि में 'तिङ्' आदि से कर्म का 'अभिधान' हो जाने पर फिर उसी कर्म का 'अभिधान' करने के लिए द्वितीया का प्रयोग नहीं होगा।

"उक्तार्थानामप्रयोगः" यह न्याय प्रसिद्ध है। वस्तुतः यदि देखा जाय तो प्रकृत सूत्र उक्त न्याय का ही परिष्कृत रूप है। वहां तो 'प्रातिपदिकार्थ में

१. पा० २.३.२।

२. महा० भा० १, सू० १.४.२१, पृ० ३२२।

३. द्र० महा० प्र० प्रकृत सूत्र—"तदैव संख्या विभक्त्यर्थ इति दर्शनाश्रयेण सूत्र स्थापितम्"।

अन्तर्भूत कर्म को प्रकट करने के लिए प्रथमा ही आयेगी, अन्य द्वितीयादि विभक्ति नहीं आ सकती। हाँ, 'संख्या' को 'विभक्त्यर्थ' मानने में यह सूत्र आवश्यक है, जिससे 'कृतः कटः' इत्यादि में 'क्त' आदि से अभिहित कर्म की 'एकत्वादि संख्या' को 'अभिहित' करने के लिए प्राप्त द्वितीया को रोका जा सके। क्योंकि इस सूत्र के होने पर 'अनभिहित' कर्मादि की 'संख्या' को व्यक्त करने के लिए ही द्वितीयादि होंगी। 'अभिहित कर्म' आदि की 'संख्या' को व्यक्त करने के लिए द्वितीयादि प्रतिसिद्ध हो जायेंगी। वहाँ केवल प्रथमा ही होगी। 'कर्तव्यः कटः' यहाँ कृत्प्रयोग में "प्रातिपदिकार्थलिङ्परिमाण"[1] सूत्र से प्राप्त प्रथमाविभक्ति को परे होने से बांधकर "कर्तृकर्मणोः कृति",[2] यह षष्ठी प्राप्त है। उसको रोकने के लिए भी यह सूत्र आवश्यक है। भाष्यकार लिखते हैं—

"कृत्प्रयोगे तु परत्वात् षष्ठी प्राप्नोति। तत्प्रतिषेधार्थमनभिहिताधिकारः कर्तव्यः। स कथं कर्तव्यः। यद्येकत्वादयो विभक्त्यर्थाः। अथ हि कर्मादयो विभक्त्यर्थाः नार्थोऽनभिहिताधिकारेण"।[3]

इस प्रकार इस सूत्र का प्रत्याख्यान एकपक्षीय अथवा पक्षान्तर से संभव है, यह सिद्ध हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है। भाष्यकार ने तो व्युत्पन्नमति लोगों के लिए केवल एक दृष्टि या दिशा दिखाई है। वस्तुतः तो वे भी सूत्र का प्रत्याख्यान नहीं चाहते। क्योंकि 'संख्या' और 'कारक' दोनों को 'विभक्त्यर्थ' मानने में व्याकरण शास्त्र में दोनों ही पक्ष हैं। इन्हें क्रमशः गुण प्रधान भाव से 'विभक्त्यर्थ' माना जाता है। अतः एक पक्ष को लेकर सूत्र का खण्डन युक्तिसंगत नहीं जंचता। इसके अतिरिक्त इसके अभाव में षष्ठी विभक्ति प्रथमा की बाधक प्राप्त होगी। स्पष्ट प्रतिपत्ति में भी रुकावट होगी। अतः इन सब कारणों से सूत्र रहना ही चाहिए। इसीलिए सूत्र की आवश्यकता को अनुभव करने के कारण ही जैनेन्द्र व्याकरणकार ने भी प्रकृत सूत्र का प्रतिरूप "अनुक्ते"[4] सूत्र बनाया।

---

१. पा० २.३.४६।
२. पा० २.३.६५।
३. महा० भा० १, सूत्र २.३.१, पृ० ४४३।
४. जै० सू० १.४.१—चान्द्रादि अन्य व्याकरणों में यह सूत्र नहीं मिलता। वैसे शाकटायन व्याकरण की अमोघवृत्ति (१.३.१०५) में इस पर विचार अवश्य किया गया है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह अवश्य ध्यातव्य है कि प्रकृत सूत्रस्थ "अनभिहितवचन मनर्थकं प्रथमाविधानस्यानवकाशत्वात्"[1] इत्यादि भाष्य वार्तिक जो कि सूत्र के प्रयोजनों पर पुनः विचार करने वाले हैं, उनका यहाँ स्थापन चिन्तन का विषय है। क्योंकि सूत्र के प्रयोजनों पर तो भाष्यवार्तिककार आरम्भ में ही विचार कर चुके हैं। फिर दोबारा उन पर विचार करना संभवतः वैयाकरणों के विकसित विचारों का परिणाम है। लेकिन डा० जोशी के अनुसार यहाँ प्रश्न पैदा होता है कि यदि यह स्थल बाद में जोड़ा गया है तो इसका जोड़ने वाला कौन हो सकता है—स्वयं भाष्यकार या कोई अन्य। दूसरा प्रश्न भी इसी के साथ ही उठता है कि फिर किस के वार्तिक यहाँ उद्धृत किये गए।[2] यह बात विद्वानों के विचार का विषय है अस्तु, जो भी हो, वर्तमान स्थिति में भी सूत्र प्रत्याख्येय नहीं ठहरता ॥

धातोः ॥३.१.९१॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से 'धातु' का अधिकार तृतीयाध्याय की समाप्ति तक जाता है। 'तव्यत्' आदि सब प्रत्यय 'धातु' से होते हैं, 'प्रातिपदिक' से नहीं। "प्राग्लादेशात् धात्वधिकारः"[3] यह पक्ष भी भाष्यकार ने उपस्थित किया है और उसमें आने वाले दोषों का समाधान भी कर दिया

---

१. महा० भा० १, सूत्र २.३.१, पृ० ४४३।

२. भाष्य (जोशी) अनभिहिताह्निक, इण्ट्रोडक्शन, पृ० xxxviii, 'the discussion rather surprisingly returns to the very first topic, that of the purpose of the rule. It consists of four, Vts and eight Bhāṣyas and it looks like, a reconsideration of the same problem in the light of more developed grammatical, technical thought. If this section has been added later on, the question is who did it; Patañjali himself in a latter stage of the composition of the Mbh. or some body else, the second question is whose Vts are quoted here ?
महाभाष्य में प्रक्षेप हैं या नहीं, इस बारे में विषय प्रवेश में विशेष रूप से देखें, पृ० ३९-४४।

३. महा० भा० २, प्रकृत सूत्र पर भाष्यवार्तिक, पृ० ७२।

है। किन्तु सिद्धान्तरूप से तृतीयाध्याय के चतुर्थपाद के 'लस्य'[१] इस सूत्र से लेकर "छन्दस्युभयथा"[२] इस अन्तिम सूत्र तक 'लादेश' कहलाते हैं। वे कोई 'तिप्', 'तस्', 'झि' इत्यादि ५२-५३ के लगभग हैं। उनसे पूर्व 'धात्वधिकार' मानने पर "तिङ्शित् सार्वधातुकम्"[३], "आर्धधातुकं शेषः"[४] ये 'सार्वधातुक', 'आर्धधातुक' संज्ञा विधान करने वाले सूत्र 'लादेशप्रकरण' के होने से इनमें 'धातु' का अधिकार न जा सकेगा। उससे प्रत्यय मात्र की 'सार्वधातुक' या 'आर्धधातुक संज्ञा' प्राप्त हो जायेगी तो "अम् औट् शस्०"[५] से विहित 'शस्' प्रत्यय की भी 'सार्वधातुक संज्ञा' होने से "सार्वधातुकमपित्"[६] से वह 'ङित्' हो जायेगा। उसके 'ङित्' होने पर 'हरीन्' इत्यादि में "घेर्ङिति"[७] से गुण प्राप्त होगा। 'जुगुप्सते', 'मीमांसते' में जो "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्"[८], "मानवधदान शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य"[९] इन सूत्रों से 'सन्' प्रत्यय का विधान है, वह "धातु" के अधिकार से बाहर है अतः उसकी 'आर्धधातुक संज्ञा' नहीं होती है। इसलिए 'जुगुप्सते' में "आर्धधातुकस्येड्वलादेः"[१०] से विहित 'इडागम' तथा "पुगन्तलघूपधस्य च"[११] से विहित 'लघूपधगुण' भी नहीं होता।

'जिस प्रकार अंगाधिकार में दो पक्ष हैं—"प्रागभ्यासविकारेभ्योऽङ्गाधिकार" अर्थात् "अत्र लोपोऽभ्यासस्य"[१२] इस अभ्यासविकारविधायक सूत्र से पूर्व तक "अङ्गस्य"[१३] सूत्र का अधिकार है। अभ्यासविकारों में अङ्ग का अधिकार नहीं है, यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष है—सप्तमाध्याय की समाप्ति तक अंग

१. पा० ३.४.७७।
२. पा० ३.४.११७।
३. पा० ३.४.११३।
४. पा० ३.४.११४।
५. पा० ४.१.२।
६. पा० १.२.४।
७. पा० ७.३.१११।
८. पा० ३.१.५।
९. पा० ३.१.६।
१०. पा० ७.२.३५।
११. पा० ७.३.८६।
१२. पा० ७.४.५८।
१३. पा० ६.४.१।

का अधिकार है। इस पक्ष में "उरत्"[1] इत्यादि अभ्यासविकार विधायक सूत्र भी अंग के अधिकार में आ जाते हैं। दोनों पक्षों में 'सप्तमाध्याय की समाप्ति तक अंगाधिकार है, इस पक्ष को सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार 'धातु' के अधिकार में भी 'प्राग्लादेशात् धात्वधिकारः' इस पक्ष को छोड़कर 'तृतीयाध्याय की समाप्ति तक धातु का अधिकार है', इस पक्ष को माना गया है। इस धात्वधिकार के 'अंगसंज्ञा', 'कृत् संज्ञा', 'उपपद-संज्ञा' आदि अनेक प्रयोजन हैं। 'लूभ्याम्', पूभ्याम्' यहां क्विबन्त 'लू', 'पू' धातुओं से विहित 'भ्याम्' प्रत्यय की 'आर्धधातुकसंज्ञा' का न होना भी प्रयोजन है क्योंकि यह "भ्याम्" प्रत्यय "धात्वधिकार" में नहीं है। "धातोः" इस प्रकृत अधिकार सूत्र द्वारा विहित नहीं है। इसीलिए "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा"[2] "धातोरेकाचो हलादेः" "क्रिया समभिहारे यङ्"[3] इन पूर्वगत दो 'धातु' ग्रहणों के होने पर भी यह तीसरा 'धातु' ग्रहण किया है, जो अधिकार सूत्र है। इस तीसरे 'धातु' के अधिकार में विहित प्रत्ययों की 'कृत्' 'उपपद', 'सार्वधातुक', 'आर्धधातुक' आदि संज्ञायें होती हैं। इस अधिकार से बहिर्भूतों की 'कृत्' आदि संज्ञायें नहीं होती। अतएव 'स्य', 'तासि' आदि विकरणों की 'कृत्' संज्ञा नहीं होती हैं।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं—"धातु ग्रहणमनर्थकं यङ्विधौ धात्वधिकारात्"[4] अर्थात् "धातोः" इस अधिकारसूत्र की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्" इस 'यङ्विधायक' सूत्र से ही 'धातु' का अधिकार चला आ रहा है। यदि उसका अधिकार नहीं माना जायेगा तो 'करिष्यति', 'हरिष्यति' में "स्यतासी लृलुटोः"[5] से विहित 'स्य' प्रत्यय किससे विहित हुआ स्वीकार किया जायेगा। उस सूत्र में तो किसी प्रकृति का निर्देश है नहीं। बिना प्रकृति के 'स्य' मानने पर 'कृ', 'हृ' की 'अंगसंज्ञा' न हो सकेगी। "यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्"[6]

१. पा० ७.४.६६।
२. पा० ३.१.७।
३. पा० ३.१.२२।
४. महा० भा० २, सू० ३.१.९१, पृ० ७४।
५. पा० ३.१.३३।
६. पा० १.४.१३।

से 'अंगसंज्ञा' होती है। जिससे प्रत्यय किया जाये वह प्रत्यय परे होने पर 'अंगसंज्ञक' होता है। 'करिष्यति', 'हरिष्यति' में 'स्य' प्रत्यय के विधान में किसी प्रकृति का निर्देश नहीं है। "धातोरेकाचो हलादेः" से 'धातु' का अधिकार मानने पर 'स्य' की प्रकृति 'धातु' बन जायेगी। उससे 'कृ' 'हृ' की 'अंग संज्ञा' होकर 'इगन्त अंग' को गुण हो जाता है।

यदि यह कहा जाये कि "धातोरेकाचो हलादेः", सूत्र के 'धातु' ग्रहण को अधिकार मानने पर "सत्यापपाशरूप वीणा०"[1] यहाँ 'वर्ण', 'चूर्ण' आदि से जिस प्रकार 'णिच्' होता है वैसे 'धातु' का अधिकार होने से किसी भी अन्य धातु से "णिच्" प्रत्यय प्राप्त होता है तो इसका उत्तर यह है कि 'धातु मात्र' से 'णिच्' न हो सकेगा। आगे 'हेतुमति च'[2] यह सूत्र इस बात का ज्ञापक हो जायेगा कि 'धातुमात्र' से 'णिच्' नहीं होता है। क्योंकि "सत्यापपाश०" सूत्र से 'करण' अर्थात् 'करने' अर्थ में 'णिच्' प्रत्यय का विधान किया है। उसी 'करण विशेष में, 'प्रयोजन व्यापार' में, "हेतुमति च" से 'णिच्' होता है। यदि 'धातु मात्र' से 'करण' अर्थ में 'णिच्' होता तो "प्रयोजन व्यापार' में भी हो जाता। फिर "हेतुमति च" सूत्र से 'णिच्' विधान की क्या आवश्यकता थी।[3] पुनः यदि यह कहा जाये कि "कण्ड्वादिभ्यो यक्"[4] से विहित "यक्" प्रत्यय जैसे 'कण्डू' आदि से होता है वैसे 'धातु' का अधिकार मानने पर अन्य धातुओं से भी 'यक्' प्राप्त होगा तो इसका भी उत्तर यह है कि 'कण्डू' आदि को 'धातु' का व्यपदेश करके अर्थात् उन्हें ही 'धातु' मानकर उन्हीं से 'यक्' प्रत्यय होगा, अन्य धातुओं से नहीं होगा।[5] इस प्रकार "धातोरेकाचो हलादेः" सूत्र में पठित 'धातु' शब्द को ही धातु का अधिकार मानने में कोई दोष नहीं आता। इसलिये इस तीसरे या दूसरे 'धात्वधिकार' की क्या आवश्यकता है। 'कृत संज्ञा', 'उपपदसंज्ञा' तो उक्त अधिकार में आ ही जाती हैं। क्योंकि ये तो इसी तीसरे अध्याय में "धातोरेकाचः" के

---

१. पा० ३.१.२५।

२. पा० ३.१.१६।

३. द्र० महा० भा० २, सू० ३.१.९१ पर वार्तिक, पृ० ७५—"हेतुमद्वचनं ज्ञापकमन्यत्राभावस्य'।

४. पा० ३.१.२७।

५. द्र० महा० भा० २, सू० ३.१.९१ पर वार्तिक. पृ० ७५—'कण्ड्वादिषु च व्यपदेशिवद्वचनात्'।

बाद पढ़ी हैं। रही 'अंगसंज्ञा', वह भी 'प्रत्यय' से आक्षिप्त होकर स्वतः सिद्ध हो जायेगी। 'प्रत्यय' परे होने पर ही 'अंग' संज्ञा होती है। "तव्यत्" आदि प्रत्ययों का विधान स्वयमेव 'अंग' संज्ञा का आक्षेप कर लेगा। इस आधार पर भाष्यकार की दृष्टि से इस सूत्र का खण्डन हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यवार्तिककार ने इस सूत्र का अन्यथासिद्ध होने से खण्डन कर दिया है। किन्तु विचारणीय है कि बिना इस सूत्र के बनाये 'कृत् संज्ञा' तथा 'उपपदसंज्ञा' कैसे सिद्ध हो सकती हैं। उन संज्ञाओं में इस तीसरे धात्वधिकार की अपेक्षा है। यदि "धातोरेकाचोहलादेः०" वाले "धातु" ग्रहण से इस सूत्र का काम चलाया जायेगा तो "स्यतासी लृलुटोः"[1] इत्यादि सूत्र विहित 'स्य' 'तासि' आदि विकरणों की भी 'कृत्संज्ञा' होने लगेगी। 'कृत्संज्ञा' होकर "कृत्तद्धितसमासाश्च"[2] सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा द्वारा औत्सर्गिक एक वचन 'सु' प्रसक्त होगा जो कि महान् दोष[3] है।

इस 'धात्वधिकार' के बिना सर्वत्र सप्तमी निर्दिष्टमात्र की 'उपपद' संज्ञा होने लगेगी। उससे "च्लिलुङि"[4] में "लुङि" के सप्तमी से निर्दिष्ट होने से 'उपपद संज्ञा' होकर 'लुङन्त उपपद' होने पर 'च्लि' होता है, ऐसा अनिष्ट अर्थ होने लगेगा।[5] 'लूभ्याम्', लूभिः में 'भ्याम्', 'भिस्' की 'आर्धधातुक संज्ञा' को रोकने के लिए भी इस तीसरे 'धात्वधिकार' की आवश्यकता है। अन्यथा क्विबन्त 'लू' शब्द के 'धातु' होने के कारण उससे विहित 'भ्याम्', 'भिस्' की 'आर्धधातुकसंज्ञा' प्राप्त हो जाती। "वासरूपोऽस्त्रियाम्"[6] सूत्र से विहित वासरूप विधि भी इसी धात्वधिकार में अभीष्ट है। अन्यथा 'क्स' और 'सिच्' के असरूप होने से 'क्स' के साथ 'सिच्' का भी समावेश प्राप्त

---

१. पा० ३.१.३३।

२. पा० १.२.४६।

३. द्र० शा० कौ, सू० ३.१.९१, पृ० ३९९—"ततश्च करिष्यति इत्यत्र स्यप्रत्ययस्य कृत्संज्ञायां कृदन्तस्य प्रातिपदिकत्वे सोरुत्पत्तिः स्यात्, एकवचनस्यौत्सर्गिकत्वात्"।

४. पा० ३.१.४३।

५. द्र० श० कौ०, प्रकृत सूत्र, पृ० ३९९—'तथा च्लि लुङि इत्यस्य लुङन्ते उपपदे च्लिरित्यर्थः स्यात्"।

६. पा० ३.१.९४।

होगा। 'सिच्' आदि विकरणों के इस धात्वधिकार से बहिर्भूत होने के कारण वासरूपविधि नहीं होती, यह इष्ट सिद्ध हो जाता है।[1]

यहां यह कहना कि 'लूभ्याम्' 'लूभिः' में आर्धधातुक संज्ञा' निवृत्ति तो "शमिधातोः संज्ञायाम्"[2] इस सूत्र में किये गये 'धातु' ग्रहण से ही हो जायेगी। उस 'धातु' ग्रहण की 'आर्धधातुक संज्ञा' में अनुवृत्ति करके धातु शब्दोच्चरित से विहित प्रत्ययों की 'आर्धधातुकसंज्ञा' होगी। 'लूभ्याम्' में 'प्रातिपदिक' शब्द से उच्चरित होकर उससे परे 'भ्याम्' का विधान है। अतः 'भ्याम्' की 'आर्धधातुक संज्ञा' नहीं होगी"[3] तब तो बात दूसरी है। तथापि स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ 'कृत्' आदि संज्ञाओं की सिद्धि के लिये यह सूत्र आवश्यक ही है।[4] "धातोरेकाचो हलादेः०" सूत्र का 'धातु' ग्रहण अधिकारार्थ है, इसका परिज्ञान भी तो दुष्कर है। भाष्यवार्तिककार ने व्युत्पन्नबुद्धियों के लिए उसका अधिकार स्वीकार करके इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है जो कि अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिगम्य होने से विचारणीय ही है। प्रस्तुत सन्दर्भ में अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी भाष्यकार का अनुकरण करके धात्वधिकार विषयक कोई सूत्र अपने तन्त्रों में नहीं रखा है।[5] अतः भाष्यकार के साथ-साथ स्फुट-बोध की दृष्टि से ये भी चिन्त्य ही हैं। सूत्र अवश्य रहना चाहिये।

---

१. द्र० श० कौ० प्रकृत सूत्र, पृ० ३९९—"वासरूपविधेश्च पूर्वत्र प्रवृत्तौ क्सादिभिः सिचः समावेशः स्यादिति। तस्मात् धातोरिति कर्तव्यमिति स्थितम्'।

२. पा० ३.२.१४।

३. द्र० श० कौ० प्रकृत सूत्र, पृ० ३९९—"एतच्च शक्यं प्रत्याख्यातुम्। तथाहि, शमि धातोः इति यद्धातुग्रहणं तदेव द्वितीयं सार्वधातुकार्धधातुक-संज्ञायोरेनुर्वतिष्यते। कृदुपपदसंज्ञे वासरूपविधिश्च अधिकारेणैव व्याख्यास्यन्ते"।

४. द्र० बृ० श० शे० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० २००५ "स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थं-मेतत्"।

५. जै० सू०, शा० सू० की क्रमशः महावृत्ति (२.२.७९-८०) तथा अमोघ वृत्ति (४.२.१७) में अवश्य 'धात्वधिकार' की चर्चा मिलती है।

अनुपसर्जनात्[1] ।।४.१.१४।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से आगे आने वाले "टिड्ढाणञ्०"[2] इत्यादि स्त्रीप्रत्यय विधायक सूत्रों में इसका अधिकार जाता है। सूत्रार्थ इस प्रकार है कि 'टित्' आद्यन्त से विहित 'ङीप्' आदि स्त्री प्रत्यय 'अनुपसर्जन' प्रातिपदिक से हों, उपसर्जन से न हों। 'उपसर्जन' का अर्थ 'गौण' या 'अप्रधान' है। उससे भिन्न 'अनुपसर्जन' का अर्थ 'प्रधान' है। जहां प्रातिपदिक का अपना अर्थ 'प्रधान' है, 'अनुपसर्जन' है, उसी से 'ङीप्' आदि स्त्री प्रत्यय होवें; 'उपसर्जन' या अन्य के प्रति गुणीभूत अर्थ वाले प्रातिपदिक से 'ङीप्' आदि प्रत्यय नहीं होवें। जैसे—'कुरुचरी'। 'मद्रचरी'। 'कुरुषु चरतीति 'कुरुचरी' यहाँ अधिकरण कारक 'कुरु' शब्द उपपद होने पर 'चर' धातु से "चरेष्टः"[3] से 'ट' प्रत्यय होता है। उसके 'टित्' होने से 'चर' यह 'टिढन्त', शब्द बनता है। "प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति"[4] इस परिभाषा के वचन से जिस 'चर्' धातु से 'ट' प्रत्यय का विधान किया है, वह तदादि तदन्त समुदाय 'चर' शब्द ही 'टिदन्त' माना जाता है, 'कुरुचर नहीं। क्योंकि 'कुरु' शब्द से 'ट' प्रत्यय का विधान नहीं किया है। इस सूत्र के विधान

---

१. भाष्यकार ने प्रकृत सूत्र पर कहा है कि यह सूत्र प्राक्पाणिनीय आचार्यों के अनुसार है (पूर्वसूत्रनिर्देशो वा)। क्योंकि पारिभाषिक एवं अपारिभाषिक अर्थ में एक ही शब्द का व्यवहार पाणिनीय तन्त्र में प्रायः प्राक्पाणिनीय कृतियों के समावेश का फल है। यह ज्ञातव्य है कि 'उपसर्जन' पद को पाणिनि ने पारिभाषिक रूप में भी व्यवहृत किया है। (द्र० सू० १.२.४३)। इस सूत्र में पारिभाषिक अर्थ का प्रयोग उत्पन्न नहीं हो सकता, यही कारण है कि यद्यपि "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमयस्यैव ग्रहणम्" (महा० भा० १, सू० १.२.२३, पृ० ८०) परिभाषा से पारिभाषिक शब्द का ही ग्रहण होना चाहिए तथापि "उभयगतिरिहभवति" (परि० सं० ६) के अनुसार यहाँ युक्तता के कारण पूर्वाचार्य प्रसिद्ध प्रचलित अर्थ (अप्रधान) का ही ग्रहण पाणिनि को इष्ट है।

२. पा० ४.१.१५।

३. पा० ३.२.१६।

४. परि० सं० २३।

सामर्थ्य से तदन्तविधि होकर "टिदन्त है अन्त में जिसके ऐसे टिदन्तान्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से 'ङीप्' होगा" तो 'कुरुचर' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'कुरुचरी' बन जाता है। टिदन्त 'चर' शब्द 'कुरु' के अन्त में है ही। इसलिए 'कुरुचर' शब्द टिदन्तान्त प्रातिपदिक है और वह 'अनुपसर्जन' है। उसका अर्थ, जो कुरुदेशों में चरने वाली है, वह किसी के प्रति गुणीभूत नहीं है। अतः 'कुरुचर' के 'अनुपसर्जन' प्रातिपदिक होने से टिड्ढाणञ्० " सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय होकर 'कुरुचरी' यह इष्ट रूप बनता है। 'उपसर्जन' एवं 'गौण' अर्थ वाले प्रातिपदिक से 'ङीप्' नहीं होता। जैसे—'बहुकुरुचरा मथुरा'। 'बहवः कुरुचरा यस्यां नगर्यां सा बहुकुरुचरा मथुरा नगरी' यहाँ अन्य पदार्थ बहुव्रीहि समास में कुरुचर का अर्थ 'प्रधान' नहीं है। क्योंकि वह समस्यमान अन्तर्वर्ती पद होने के कारण नगरी अर्थ के प्रति 'उपसर्जन' है, 'गुणीभूत' है। अतः "टिड्ढाणञ्"[१] सूत्र से 'ङीप्' न होकर "अजाद्यतष्टाप्"[२] इस सूत्र से सामान्य विहित 'टाप्' प्रत्यय होता है तो 'बहुकुरुचरा' यह रूप बनता है।

इस सूत्र के बनाने का यही प्रयोजन है कि 'अनुपसर्जन' एवं 'प्रधान' अर्थ वाले प्रातिपदिक से ही तदन्तविधि होकर 'ङीप्' आदि प्रत्यय हों 'उपसर्जन' से नहीं। यद्यपि "येनविधिस्तदन्तस्य"[३] सूत्र के भाष्य में 'समास-प्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' इस वार्तिक वचन द्वारा प्रातिपदिक से प्रत्यय विधान करने में तदन्तविधि का निषेध किया गया है। इसलिए 'कुरुचरी' यहाँ तदन्तविधि नहीं होनी चाहिए तो भी इस सूत्र के वचन-सामर्थ्य से यहाँ स्त्री प्रत्यय के विधान करने में तदन्तविधि मान ली गई है। "प्रत्ययविधौ प्रतिषेधः"[४] इस वचन को ही 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिः प्रति-षिध्यते"[५] इस परिभाषा द्वारा प्रकट किया जाता है। जिसका अर्थ है—'प्रत्यय को ग्रहण करने वाले प्रातिपदिक से तदन्तविधि नहीं होती'। जैसे—"नडादिभ्यः फक्"[६] सूत्र से 'नडादि' प्रातिपदिकों से 'फक्' प्रत्यय का विधान किया गया है तो वह केवल 'नडादि' शब्दों से ही होगा। 'नडाद्यन्त' शब्दों

---

१. पा० ४.१.१५।
२. पा० ४.१.४।
३. पा० १.१.७२।
४. पा० १.१.७२ पर वार्तिक।
५. परि० सं० ३१।
६. पा० ४.१.९९।

से नहीं होगा। उससे 'नडस्य गोत्रापत्यं नाडायनः' यहाँ केवल 'नड' शब्द से 'फक्' प्रत्यय होकर 'नाडायनः' यह इष्ट रूप बन जाता है। 'नडशब्दान्त सूत्रनड' शब्द से 'फक्' नहीं होगा तो 'सूत्रनडस्य अपत्यं सौत्रनाडिः' यहां "अत इञ्"[१] से सामान्य विहित 'इञ्' प्रत्यय ही होता है। तदन्तविधि का निषेध करने वाली उक्त परिभाषा के अपवाद स्वरूप आगे उसी सूत्र में "उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्" यह वचन पढ़ा गया है। इसका अर्थ है कि 'उगित्' ग्रहण और 'वर्णग्रहण' को छोड़कर "ग्रहणवता प्रातिपदिकेन०" यह परिभाषा लगती है। अर्थात् जिन कार्यों में 'उगित्' का ग्रहण है और 'वर्ण' का ग्रहण है वहाँ तदन्तविधि का निषेध न होकर तदन्तविधि हो ही जाती है। जैसे—"उगितश्च"[३] से 'उगित्' प्रातिपदिक से विहित 'ङीप्' प्रत्यय 'उगिदन्त' प्रातिपदिक से भी हो जाता है। 'भवत्' इस 'उगित्' प्रातिपदिक से जैसे ङीप् होकर 'भवती' यह रूप बनता है वैसे ही 'उगिदन्त अतिभवत्' से भी 'ङीप्' होकर 'अति भवती' यह रूप बन जाता है। इसी प्रकार 'महती', 'अतिमहती' इत्यादि में तदन्तविधि होकर 'ङीप्' हो जाता है। "वनोर च"[४] में 'वन्नन्त' के साथ 'वन्नन्तान्त' प्रातिपदिक से भी 'ङीप्' और रेफादेश हो जाता है तो 'धीवरी', 'अतिधीवरी' ये रूप बन जाते हैं। 'वर्ण ग्रहण' में जैसे "अत इञ्"[५] सूत्र में अकार वर्ण का ग्रहण है, वहां भी तदन्तविधि का निषेध न होकर तदन्तविधि हो ही जाती है। उससे केवल अकारवर्ण से जैसे 'अस्य अपत्यम् इः' यहाँ 'इञ्' प्रत्यय होता है वैसे 'दक्षस्यापत्यं दाक्षिः' यहाँ अकारवर्णान्त 'दक्ष' शब्द से भी हो जाता है।

इसके अतिरिक्त 'अजाद्यतष्टाप्"[६] सूत्र के अजादिगण में पठित 'शूद्रा चामहत्वपूर्वा जातिः" इस अन्तर्गण सूत्र में 'अमहत्वपूर्व' ग्रहण से भी यह सिद्ध होता है कि यहाँ स्त्रीप्रत्ययविधान में प्रातिपदिक से तदन्तविधि हो जाती है। अन्यथा केवल 'शूद्रं' शब्द से विहित 'टाप्' प्रत्यय की 'महाशूद्र' इस शूद्रशब्दान्त में प्राप्ति ही नहीं तो 'अमहत्पूर्व' ग्रहण करके उसका निषेध करना व्यर्थ हो जाता है। 'अमहत्पूर्ण' ग्रहण से ज्ञापित तदन्त विधि का

---

१. पा० ४.१.९५।
२. पा० १.१.७२ पर वार्तिक।
३. पा० ४.१.६।
४. पा० ४.१.७।
५. पा० ४.१.९५।
६. पा० ४.१.४।

ही यह सूत्र उपोद्बलक है। "अनुपसर्जनात्" इस सूत्र से भी यहाँ स्त्रीप्रत्य विधान में तदन्तविधि का ज्ञापन होता है। यह सूत्र यहाँ तदन्तविधि होने में ही तात्पर्यग्राहक है। तदन्तविधि के ज्ञापक इन दोनों में इतना ही भेद है कि यह सूत्र 'अनुपसर्जन' प्रातिपदिक से तदन्तविधि का ज्ञापन करता है। इससे पूर्व कहे गये सूत्रों में सामान्य रूप से 'उपसर्जन' और 'अनुपसर्जन' दोनों प्रातिपदिकों से तदन्तविधि का विधान होता है।

इस सूत्र के बनाने का मुख्य मूर्धाभिषिक्त प्रयोजन यह है कि 'कौम्भकारेय:' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। अन्यथा 'कुम्भकारेय:' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता। वह इस प्रकार है—'कुम्भं करोति इति कुम्भकार: स्त्री कुम्भ-कारी। कुम्भकार्या: अपत्यं कौम्भकारेय:' यहाँ 'कुम्भकार' शब्द में कर्मकारक 'कुम्भ' शब्द उपपद होने पर 'कृ' धातु से "कर्मण्यण्"[1] से 'अण्' प्रत्यय होता है। "अचो ञ्णिति"[2] से वृद्धि होकर 'कार' यह 'अण्णन्त' शब्द बन जाता है। 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा से 'कार' शब्द ही 'अण्णन्त' है, 'कुम्भकार' नहीं। क्योंकि 'कुम्भकार' शब्द से 'अण्' प्रत्यय का विधान नहीं हुआ है। "कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापिग्रहणं भवति"[3] इस परिभाषा से भी 'कुम्भ-कार' शब्द को 'अण्णन्त' नहीं माना जा सकता। क्योंकि यह परिभाषा वहाँ लगती है, जहां केवल 'कृत' प्रत्यय का ही ग्रहण हो। जहां 'कृत्' के साथ 'अकृत' का भी ग्रहण हो, वहां यह परिभाषा नहीं लगती। "टिड्ढाणञ्०" सूत्र में 'अण्' प्रत्यय "कर्मण्यण्"[4] से विहित कृतसंज्ञक भी लिया गया है। और 'प्राग्दीव्यतोऽण्' यह तद्धित संज्ञक 'प्राग्दीव्यतीय' भी लिया गया है। इसलिये 'कृद् ग्रहण परिभाषा' की यहां प्रवृत्ति न होने से 'कुम्भकार' शब्द में केवल 'कार' ही 'अण्प्रत्ययान्त' बनता है। इस सूत्र के अभाव में 'अण्' प्रत्ययान्त 'कार' शब्द से "टिड्ढाणञ्" सूत्र से 'ङीप्' होकर 'कारी' यह स्त्री प्रत्ययान्त शब्द होगा। 'कुम्भ' के साथ 'कारी' का एकार्थीभाव होने पर भी 'कुम्भकारी' के स्त्रीप्रत्ययान्त न होने से "स्त्रीभ्यो ढक्"[5] से अपत्य अर्थ में होने वाला 'ढक्' प्रत्यय केवल 'कारी' शब्द से प्राप्त होगा। 'कुम्भ' छूट

---

१. पा० ३.२.१।
२. पा० ७.२.११५।
३. परि० सं० २८।
४. पा० ४.१.८३।
५. पा० ४.१.१२०।

जायेगा। उस अवस्था में 'किति च'[1] से होने वाली आदि वृद्धि केवल 'कारी' को होगी। 'कुम्भ' को न होगी तो 'कुम्भकार्याः अपत्यम् कुम्भकारेयः' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। 'कौम्भकारेयः' यह अभीष्ट रूप सिद्ध नहीं हो सकेगा। इस सूत्र के बनाने पर तो 'अण्प्रत्ययान्त' से तदन्तविधि होकर 'अणन्तान्त अनुपसर्जन' प्रातिपदिक 'कुम्भकार' बन जाता है। तब केवल 'कार' से 'ङीप्' न होकर 'कुम्भकार' इस 'अणन्तान्त' से होगा तो स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द 'कुम्भकारी' बनेगा। उससे 'ढक्' होकर 'कुम्भ' शब्द को ही आदि वृद्धि होगी तो 'कौम्भकारेयः' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। इसलिए प्रधान प्रातिपदिक में तदन्तविधि द्वारा 'ङीप्' आदि प्रत्यय करने के लिए यह सूत्र अत्यन्त आवश्यक है।

परिभाषा के आधार पर सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन के सम्बन्ध में चुप हैं। यद्यपि भाष्यकार ने भी इस सूत्र का प्रत्याख्यान साक्षात् शब्दों में नहीं किया। अतः यह अस्पष्ट लिंगप्रत्याख्यान है तो भी 'सर्वादीनि' 'सर्वनामानि'[2] सूत्र के भाष्य में "संज्ञोपर्जनप्रतिषेधः" इस वार्तिक का खण्डन करते हुए कहते हैं—'उपसर्जनप्रतिषेधश्च न कर्तव्यः। अनुपसर्जनात् इत्येष योगः प्रत्याख्यायते। तमेवमभिसंभत्स्यामः—अनुपसर्जन अ-अ-अदिति। अकारान्तात् आकारात्कारौ शिष्यमाणावनुपसर्जनस्य द्रष्टव्यौ"[3]। इस भाष्य वचन का यह आशय समझा जा सकता है कि 'अनुपसर्जनात्', इस सूत्र का प्रत्याख्यान होना संभव है। यदि इसके प्रयोजनों को अन्यथासिद्ध कर दिया जावे तो इस सूत्र का प्रत्याख्यान हो सकता है। प्रत्याख्यात हुए इस सूत्र का किसी अन्य प्रयोजन के लिए उपयोग हो जायेगा। और वह प्रयोजन यह है कि "अनुपसर्जनात्' इसको पंचमी का एकवचन न मानकर 'अनुपनर्जन अ-अ-अत्' इस प्रकार अविभक्तिक सौत्र निर्देश माना जायेगा। उसका अर्थ होगा कि 'अकारान्त' से परे 'त्यदादीनामः'[4] से विहित अकार और 'अद्ड्डतरादिभ्यः पंचभ्यः'[5] से विहित 'अद्ड' (अत्) आदेश ये दोनों 'अनुपसर्जन' से होते हैं। उससे 'तमतिक्रान्तः अतितद् ब्राह्मणः'। 'कतरत् अतिक्रान्तं कुलम् अतिकतरं कुलम्' यहां सर्वादिगण पठित 'तद्' और 'कतर' शब्दों के 'उपसर्जन' होने के कारण क्रम से 'त्यदादीनामः' से अकार

---

१. पा० ७.२.११८।
२. पा० १.२.२७।
३. महा० भा० १, सू० १.१.२७, पृ० ८७।
४. पा० ७.२.१०२।
५. पा० ७.१.२५।

और "अद्ड्डतरादिभ्यः पंचभ्यः" से 'अद्ड' आदेश नहीं होंगे तो सर्वनामसंज्ञा में 'उपसर्जन' प्रतिषेध की आवश्यकता न रहेगी। "अनुपसर्जनात्" इस अद्भूत व्याख्या वाले सूत्र से ही 'उपसर्जन' का प्रतिषेध सिद्ध हो जायेगा। यद्यपि 'अनुपसर्जनात्' की इस विचित्र व्याख्या से केवल "त्यदादीनामः"[1] से विहित अकार तथा "अद्ड् उतरादिभ्यः"[2] से विहित 'अद्ड्' (अत) की ही 'उपसर्जन' से व्यावृत्ति होगी। अन्य "सर्वनाम्नः स्मै"[3] आदि से विहित स्मै' आदि आदेशों की 'उपसर्जन' से व्यावृत्ति न हो सकेगी। क्योंकि "अनुपसर्जनात्" में तो 'अ' और 'अत्' ही निर्दिष्ट किये हैं, 'स्मै' आदि नहीं। उससे "सर्वमतिक्रान्ताय, अतिसर्वाय' यहाँ 'उपसर्जन' बने 'सर्व' शब्द की सर्वनाम संज्ञा का निषेध न होकर 'स्मै' भाव प्राप्त होगा। इसलिये 'उपसर्जनप्रतिषेध' का खण्डन करने के लिये किया गया यह "अनुपसर्जनात्" का विशेष व्याख्यान एकांगी है। उससे सर्वांश में 'उपसर्जन' की सर्वनामसंज्ञा का निषेध सिद्ध नहीं हो सकता तथापि कुछ हद तक तो 'उपसर्जन' की समस्या का हल हो ही जाता है।

भाष्यकार की यह शैली रही है कि वे किसी वस्तु की सिद्धि में उसके एक देश पक्ष का भी उपन्यास कर देते हैं। उक्त व्याख्या से यह सिद्ध होता है कि "अनुपसर्जनात्" सूत्र का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। यह प्रत्याख्यान प्रायः ही है। यदि इस सूत्र का अन्य प्रयोजन होता तो भाष्यकार इसकी उक्त अनोखी व्याख्या न करते। इसीलिए प्रदीपकार यहाँ भाष्योक्त प्रत्याख्यान का समर्थन करने के लिए शंकापूर्वक समाधान करते हैं—"ननुप्रधानेन तदन्तविध्यर्थो योगः प्रारब्धव्यः। कौम्भकारेयः इति यथा स्यादिति। न चाण् इति कृद्ग्रहणम् तद्धितोऽप्यणस्तीति, नैतदस्ति,। स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' इति तदादिनियमाभावात् कारशब्दादपि ङीपि कुम्भकारीशब्दात् 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति ढक् भविष्यति"।[4]

यहाँ सूत्र की प्रयोजनवत्ता सिद्ध करने के लिए शंका की गई है कि 'प्रधान प्रातिपदिक से तदन्त विधि करने के लिए "अनुपसर्जनात्" इस सूत्र की आवश्यकता है जिससे "कौम्भकारेयः" यह इष्टरूप सिद्ध हो जाये। अन्यथा इस सूत्र के अभाव में 'कुम्भकारी' शब्द के स्त्रीप्रत्ययान्त न होने से केवल

१. पा० ७.२.१०२।
२. पा० ७.१.२५।
३. पा० ७.१.१४।
४. महा० प्र० भा० १, सू० १.१.२७, पृ० २७९-८०।

'कारी' शब्द से ही 'स्त्रीभ्यो ढक्'[१] से 'ढक्' हो जायेगा तो 'किति च'[२] से 'कारी' के आकार को ही आदि वृद्धि होगी। उससे 'कुम्भकारेयः' यह अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। इस सूत्र के बनाने पर तो 'कुम्भकारी' शब्द के 'अनुपसर्जन' स्त्रीप्रत्ययान्त होने के कारण 'कुम्भकारी' से ही 'ढक् होगा और उसी के आदि अक्षर 'कुम्भ' के 'उकार' को वृद्धि होकर 'कौम्भकारेयः' यह इष्ट रूप बन जायेगा। इस सूत्र के अभाव में 'कृद्ग्रहण' परिभाषा से भी 'कुम्भकार' शब्द के 'अणन्त' न होने से 'ङीप्' की प्राप्ति नहीं होगी। क्योंकि वह परिभाषा केवल 'कृत्' प्रत्यय के ग्रहण में ही लगती है। यहां "टिड्ढाणञ्" सूत्र में जो 'अण्' ग्रहण है, वह 'कृत' और 'तद्धित' दोनों प्रकार का लिया गया है।

इस प्रकार सूत्र की सार्थकता सिद्ध करने के बाद उसका प्रत्याख्यान करते हैं कि यह बात नहीं है। 'कुम्भकार' के कृदन्त न होने पर भी उसका अवयव 'कार' शब्द तो 'प्रत्ययग्रहण परिभाषा' से कृदन्त है ही। 'कुम्भकार' के अवयव 'कार' शब्द से ही "टिड्ढाणञ्"[३] सूत्र से 'ङीप्' कर लिया जायेगा। 'कुम्भ' के साथ उसका एकार्थीभाव भी बना रहेगा। फिर 'स्त्री प्रत्यये चानुपसर्जने न"[४] इस परिभाषा से 'अनुपसर्जन' स्त्री प्रत्यय में तदादिनियम का अभाव होने से 'कुम्भकारी' को भी स्त्री प्रत्ययान्त मानकर "स्त्रीभ्यो ढक्"[५] से 'ढक्' हो जायेगा तो आदिवृद्धि 'कुम्भ' के 'उकार' को ही होगी। उससे इस सूत्र के अभाव में भी कौम्भकारेयः' यही इष्ट रूप बन जायेगा। "स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न" यह परिभाषा अन्य प्रयोजनों के लिए भी स्वीकर्तव्य है ही। जैसे—'कारीषगन्धायाः पतिः कारीषगन्धीपतिः' यहां 'कारीषगन्ध्या' शब्द के 'ष्यङन्त' स्त्रीप्रत्ययान्त होने से "ष्यङः संप्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे"[६] से 'सम्प्रसारण' होता है। और "सम्प्रसारणस्य"[७] से दीर्घ हो जाता है। वैसे ही 'परमकारीषगन्ध्यायाः पतिः परमकारीषगन्धी पतिः' यहाँ भी 'अनुपसर्जन परमकारीषगन्ध्या' शब्द से 'प्रत्ययग्रहण परिभाषा' से 'ष्यङन्त' न होने पर भी

१. पा० ४.१.१२०।
२. पा० ७.२.११८।
३. पा० ४.१.१५।
४. परि० सं० २६।
५. पा० ४.१.१२०।
६. पा० ६.१.१३।
७ पा० ६.३.१३९।

"स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न" इस परिभाषा से 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा की बाधा होकर 'ष्यङ्' को सम्प्रसारण' और दीर्घ हो जाता है। परन्तु 'कारीषगन्ध्यामतिक्रान्ता अतिकारीषगन्ध्या तस्याः पतिः अतिकारीषगन्ध्यापतिः' यहां 'ष्यङन्त' स्त्री प्रत्ययान्त के 'उपसर्जन' होने के कारण यह परिभाषा नहीं लगती। उससे 'ष्यङन्त' न होने से यहाँ 'सम्प्रसारण' तथा दीर्घ नहीं होते। इस प्रकार "स्त्रीप्रयये चानुपसर्जने न"[1] इस परिभाषा का आश्रयण करने से 'कारी' के समान 'कुम्भकारी' को भी स्त्री प्रत्ययान्त मानकर उससे 'ढक्' हो जायेगा तो 'कौम्भकारेयः' के सर्वथा शुद्ध हो जाने से यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य हो जाता है। क्योंकि जो इसका मुख्य प्रयोजन था वह अन्यथा सिद्ध कर दिया गया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

"सर्वादीनि सर्वनामानि"[2] इस सूत्र के भाष्य तथा उस पर कैयट कृत व्याख्या के आधार पर "अनुपसर्जनात्" इस सूत्र का प्रत्याख्यान करने पर भी यह प्रश्न उठता है कि "स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न" इस परिभाषा से 'प्रत्यय-ग्रहण' में तदादिनियम का अभाव मानने पर यह कैसे समझा जायेगा कि 'कार' शब्द से ङीप् करने पर भी 'कुम्भकारी' शब्द से 'ढक्' प्रत्यय होगा, 'कारी' शब्द से नहीं होगा। जब अनियम ही हो गया तो जैसे 'कुम्भकारी' से 'ढक्' किया जायेगा वैसे कभी 'कारी' शब्द से भी 'ढक्' की प्राप्ति रहेगी। उस समय भी वही दोष उपस्थित होगा कि कभी 'कौम्भकारेयः' बनेगा और कभी 'कुम्भकारेयः' बनेगा। इष्ट है नियमपूर्वक 'कौम्भकारेयः' ही बने। उसके लिए इस सूत्र की परम आवश्यकता है।

यदि यह कहा जाये कि स्त्री प्रत्यय में तदादिनियम के अभाव द्वारा अधिक का ही ग्रहण होगा, न्यून का नहीं। 'कारी' से अधिक 'कुम्भकारी' को ही स्त्री प्रत्ययान्त माना जायेगा, केवल 'कारी' को नहीं तो इसमें कोई विनिगमना नहीं है। कहने वाला कह सकता है कि अनियम की दशा में जैसे अधिक का ग्रहण होगा वैसे न्यून का क्यों न हो। इसलिए स्थिर व्यवस्था के लिए इस सूत्र का बनाना आवश्यक है। भाष्यकार स्वयं भी कहते हैं—

"इदं तर्हि प्रयोजनम्—प्रधानेन तदन्तविधिर्यथास्यात्। कुम्भकारी। नगरकारी। अत्र हि प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं

---

१. परि० सं० २६।
२. पा० १.१.२७।

भवतीति अवयवात् कारीशब्दादुत्पत्तिः प्राप्नोति । अवयवादुत्पत्तौ सत्यां को दोषः । कौम्भकारेयो न सिध्यति । अवयवस्य वृद्धिस्वरौ स्याताम् । तस्मादनुपसर्जनाधिकारः"[1] ।

अर्वाचीन वैयाकरण चन्द्रगोमी तथा पूज्यपाद देवनन्दी भी भाष्यकार के साथ सहमत हैं[2] । उनकी दृष्टि में भी सूत्र की सार्थकता बनी रहती है ।

समर्थानां प्रथमाद्वा ॥४.१.८२॥

सूत्र का प्रतिपाद्य

यह अधिकारसूत्र है । यहाँ से लेकर "प्राग् दिशो विभक्तिः"[3] सूत्र से पहले २ 'अपत्यादि' अर्थों में विहित 'अण्' आदि तद्धितप्रत्ययों में इसका अधिकार है । सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—समर्थ सुबन्तों के मध्य में जो प्रथम समर्थ सुबन्त है उससे परे 'अण्' आदि प्रत्यय विकल्प से होते हैं । जैसे—'उपगोरपत्यम् औपगवः' । यहाँ 'उपगोः' यह षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त है । 'अपत्यम्' यह प्रथमान्त समर्थ सुबन्त है । "तस्यापत्यम्"[4] से अपत्य अर्थ में होने वाला 'अण्' प्रत्यय 'तस्य' शब्द द्वारा प्रथमानिर्दिष्ट षष्ठ्यन्त सुबन्त 'उपगु' से होता है । 'अण्' प्रत्यय के 'णित्' होने से "तद्धितेष्वचामादेः"[5] से 'उपगु' शब्द को आदिवृद्धि और "ओर्गुणः"[6] से गुण एवं अवादेश होकर 'औपगवः' बनता है । 'उपगु का अपत्य' इस अर्थ में दोनों का परस्पर सम्बन्ध होने से दोनों समर्थ हैं । दोनों में प्रथम समर्थसुबन्त 'उपगु' है इस लिए इस सूत्र के वचन से 'उपगु' शब्द से 'अण्' प्रत्यय होता है, अपत्यवाची 'देवदत्तादि' शब्द से नहीं ।

यदि सूत्र में 'समर्थ' ग्रहण न किया जाये तो 'कम्बल उपगोरपत्यं देवदत्तस्य' (कम्बल उपगु का है, अपत्य देवदत्त का है) यहां भी 'उपगोरपत्यम्'

---

१. महा० भा० २, सू० ४.१.१४, पृ० २०६ ।

२. चा० सू० २.३.१६—'स्वार्थे' ।
जै० सू० ३.१.१७—'अनीचः' ।
शाकटायनादि अन्य व्याकरणों में इस सूत्र का अभाव ही दीखता है ।

३. पा० ५.३.१ ।

४. पा० ४.१.९२ ।

५. पा० ७.२.११७ ।

६. पा० ६.४.१४६ ।

के अव्यवहित प्रयुक्त होने से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त हो जायेगा। उसकी व्यावृत्ति 'समर्थ ग्रहण से होती है। क्योंकि उक्त वाक्य में 'उपगु' का सम्बन्ध 'अपत्य' से न होकर 'कम्बल' से है और 'अपत्य' का सम्बन्ध 'देवदत्तः' से है। इसलिए 'उपगोरपत्यम्' इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध न होने से सामर्थ्य नहीं है। जो अर्थ 'कम्बल उपगोरपत्यं देवदत्तस्य' से निकलता है वह 'कम्बल औपगवो देवदत्तस्य' से नहीं निकलता। दोनों का परस्पर सामर्थ्य न होने से उक्त वाक्य में 'अण्' प्रत्यय नहीं होता यह इष्ट सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार 'ऋद्धस्य उपगोरपत्यम्' यहां भी 'उपगु' शब्द 'ऋद्ध' शब्द की अपेक्षा रखने से सापेक्ष है। 'सापेक्षतसमर्थ भवति'[1] इस वचन से वह 'असमर्थ' है। इसलिए वहां भी 'अण्' प्रत्यय न होकर वाक्य ही रह जायेगा।

'प्रथम' ग्रहण का प्रयोजन यही है कि 'प्रथम' षष्ठ्यन्त सुबन्त 'उपगु' से ही 'अण्' प्रत्यय हो, दूसरे समर्थ सुबन्त अपत्य वाचक शब्द से न हो। 'वा' ग्रहण करने से पक्ष में 'उपगोरपत्यम्' यह वाक्य भी रह जायेगा। अथवा 'उपग्वपत्यम्' यही षष्ठी समास भी हो जायेगा। अन्यथा 'औपगवः' इस तद्धित 'अण्' प्रत्यय से समास की बाधा हो जाती। 'वा' ग्रहण करने से नहीं होती।

स्वभाव सिद्ध होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

सूत्र की प्रयोजनवत्ता स्पष्ट होने पर भी भाष्यवार्तिककार इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"समर्थवचनमनर्थकं न ह्यसमर्थेनार्थाभिधानम्"[2] अर्थात् "समर्थानां प्रथमाद्वा" सूत्र में 'समर्थ' ग्रहण व्यर्थ है। 'असमर्थ' से अर्थ का अभिधान नहीं होता। सर्वत्र 'समर्थ' से ही अर्थ का अभिधान होता है। 'कम्बल उपगोरपत्यं देवदत्तस्य' यहाँ 'उपगोरपत्यम्' इस दोनों के परस्पर 'असमर्थ' होने से अभीष्ट अर्थ का बोध नहीं होता। इसलिए स्वत एव 'समर्थ' से अण्' प्रत्यय होगा, असमर्थ से होगा ही नहीं तो 'समर्थ' ग्रहण करना व्यर्थ है।

"प्रथमवचनमनर्थकं न हयप्रमेनार्थाभिधानम्"[3] अर्थात् सूत्र में 'प्रथमात्' यह 'प्रथम' शब्द का ग्रहण भी व्यर्थ है। क्योंकि 'प्रथम समर्थ सुबन्त' से ही

१. महा० भा० १, सू० २.१.१, पृ० ३६० ।
२. वही भा० २, सू० ४.१.८२, पृ० २३४ ।
३. वही ।

'अण्' प्रत्यय होकर अभीष्ट अर्थ का बोध होता है। दूसरे 'समर्थ' सुबन्त अपत्यवाचक शब्द से अर्थ का अभिधान नहीं हो सकता। इसलिए स्वत. प्राप्त प्रथम 'समर्थ' सुबन्त ही लिया जायेगा तो 'प्रथम' ग्रहण व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

रहा 'वा' शब्द का ग्रहण। उसका भी प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"वा वचने चोक्तम् किमुक्तम्। वावचनार्थक्यं च तत्र नित्यत्वात्सन इति"[1]। अर्थात् 'वा' शब्द के ग्रहण के विषय में भी पहले "समर्थः पदविधिः"[2] सूत्र के भाष्य में कहा जा चुका है। यही कि 'वा' वचन व्यर्थ है, स्वभाव सिद्ध होने से। यहां दो पक्ष हैं—एक 'वृत्तिपक्ष' तथा दूसरा 'अवृत्तिपक्ष'। 'वृत्ति-पक्ष' में समास तद्धित आदि वृत्तियां आती हैं[3] एवं 'अवृत्तिपक्ष' में वाक्य आता है। 'वृत्ति' और 'वाक्य' ये दोनों अपने-अपने विषय में व्यवस्थित हैं। जहां 'वृत्ति' होती है वहां 'वाक्य' नहीं होता और जहां 'वाक्य' होता है वहां 'वृत्ति' नहीं होती। जब 'औपगवः' इस 'वृत्ति' का प्रयोग होगा तब 'उपगोरपत्यम्' इस 'वाक्य' का प्रयोग नहीं होगा और जब 'उपगोरपत्यम्' इस 'वाक्य' का प्रयोग होगा तब 'औपगवः' इस वृत्ति का प्रयोग नहीं होगा। इस प्रकार 'वृत्ति' और 'वाक्य' दोनों के व्यवस्थितविषय होने से अपनी-अपनी विवक्षा में दोनों हो जायेंगे तो 'वा' कहने की आवश्यकता नहीं।

सूत्र के तीनों पदों का खण्डन करने के बाद भाष्यकार कहते हैं—"अथैतत् समर्थग्रहणं नैव कर्त्तव्यं। कर्तव्यं च। समर्थाद् उत्पत्तिर्यथा स्यात्। किं च समर्थम्, कृतवर्णानुपूर्वीकं पदम्। सु+उत्थितस्यापत्यम् सौत्थितिरित्येव यथा स्यात्। सावुत्थितिरिति मा भूत्" अर्थात् उक्त युक्तियों के आधार पर "समर्थानां प्रथमाद्वा" यह सूत्र क्या नहीं बनाना चाहिए? उत्तर देते हैं कि बनाना भी चाहिए। 'समर्थ' सुबन्त से ही तद्धित प्रत्ययों की उत्पत्ति जिससे हो, असमर्थ सुबन्त से न हो। समर्थ क्या है? जिस पद में सन्धिकार्य हो चुका है, जो अर्थाभिधान में शक्त है, वही 'समर्थ' है। जैसे 'सु+उत्थित' इन दोनों पदों में जब सवर्ण दीर्घ होकर 'सूत्थित' पद बन जाता है तब वह

१. महा० भा० २, सू० ४. १. ८२, पृ० २३४।
२. पा० २. १. १।
३. द्र० वै०सि०कौ० भा० २, सर्वसमास शेष प्रकरण—'कृत्तद्धितसमासैकशेष सनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः'।
४. महा० भा० २, प्रकृत सू०, पृ० २३४।

अर्थाभिधान में शक्त होने से 'समर्थ' है। अपत्य अर्थ में 'सूत्थित' शब्द से ही "अत् इञ्"[1] से 'इञ् प्रत्यय होकर 'सौत्थितिः' यह इष्टरूप बने। 'सु उत्थित' इस सन्धिकार्य रहित 'असमर्थ' शब्द से 'इञ्' होकर 'सावुत्थितिः' ऐसा अनिष्ट रूप न बने। इसलिए यह सूत्र बनाना अत्यन्त आवश्यक है।

सूत्र में 'वा' शब्द के प्रयोजन पर भी प्रकाश डालते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं—"वा वचनं च कर्तव्यम्। नित्येषु शब्देषु वाक्यस्यानेन साधुत्व-मन्वाख्यायते"[2]।

अर्थात् शब्द नित्य हैं। तद्धितवृत्ति से कहीं वाक्य की व्यावृत्ति न हो जाये, इसलिए 'वा' शब्द का ग्रहण भी करना चाहिए। इससे वृत्ति' के समान 'वाक्य' का साधुत्व भी शास्त्रबोधित हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

समस्त सूत्र का पर्यालोचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वार्तिककार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। अन्वाख्यान विषयक एक भी वार्तिक या वचन उन्होंने नहीं कहा है। इसके मूल में संभवतः दो कारण रहे हैं। एक तो इस सूत्र का प्रयोजन जो 'अकृत व्यूह परिभाषा का ज्ञापन करना है वह अन्यथासिद्ध हो सकता है। अर्थात्' 'अकृत व्यूह परिभाषा' तो 'यज याव यत'[3] सूत्र से विहित 'नङ्' प्रत्यय के 'ङित्व' से ही ज्ञापित हो सकती है। इसके अतिरिक्त उक्त परिभाषा भाष्य में पठित न होने से उतनी महत्वपूर्ण भी नहीं है[4]। दूसरा प्रयोजन जो परिनिष्ठित अर्थात् 'कृत सन्धि' शब्द से ही तद्धित प्रत्ययों का विधान करना है, वह भी पामादिगण, में पठित "विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः"[5] यहाँ 'अकृत सन्धि' ग्रहण से

---

१. पा० ४.१.९५।
२. महा० मा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० २३४।
३. पा० ३.३.९०।
४. द्र० बाल मनोरमा, भा० २, सू० ४.१.९२, पृ० २९०—'वस्तुतस्तु अकृत व्यूहपरिभाषा नास्त्येव भाष्ये क्वाप्यव्यवहृतत्वात् प्रत्युत भाष्य विरुद्धत्वाच्च'।
५. पा० ५. २. १०० पर पामादिगण सूत्र। द्र० बालमनोरमा 'इदमपि पामादिगणसूत्रमिति केचित्। भाष्ये तु न प्रकरणे इदं वार्तिकं पठितम्।'

गतार्थ हो जायेगा अर्थात् 'विष्वग्' यहाँ पर ही सन्धि कार्य किये बिना उत्तरपदलोप हो, अन्यत्र तो सन्धि कार्य कर लेने पर ही तद्धितोत्पत्ति हो, इस विषय में यह 'अकृतसन्धि' ग्रहण नियमार्थ बन जायेगा[१]। इस प्रकार वार्तिककार की दृष्टि में प्रकृतसूत्र प्रत्याख्यात हो जाता है। संभवतः इसी लिए आचार्य चन्द्रगोमी ने भी अपने व्याकरण में इस सूत्र को स्थान नहीं दिया है। उद्द्योतकार नागेश तो इनसे भी एक कदम और आगे जाकर इसी सूत्र के समानयोगक्षेम वाला होने से 'समर्थः पदविधिः' सूत्र को भी प्रत्याख्यान योग्य मानते हैं[२]।

किन्तु भाष्यकार आपाततः इस सूत्र के खण्डन का समर्थन करके भी वस्तुतः इसका प्रत्याख्यान नहीं चाहते हैं अपितु जैसा कि उनकी शैली है, उसके अनुसार उन्होंने इस सूत्र का आरम्भ ही समुचित माना हैं। भाष्यकार की यह शैली प्रायः अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होती है कि वे पहले आपाततः किसी सूत्र का खण्डन करने के बाद में "एवं तर्हि सूत्रं न कर्तव्यम्। कर्तव्यं च। आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन् योगे" इत्यादि कहकर फिर उसकी सत्ता को मूक स्वीकृति दे देते हैं। तात्पर्य यह है कि "स्थानिवत्" सूत्र[३] तथा "असिद्धवदत्राभात्"[४] सूत्र के समान प्रत्याख्यात हुआ भी प्रकृत सूत्र आरम्भ करने के योग्य ही है।

भाष्यकार के समर्थन में एक यह युक्ति भी उपोद्बलक है कि "विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः" यहाँ पर पठित 'अकृतसन्धेः' ग्रहण 'परिनिष्ठित से ही तद्धितोत्पत्ति हो' इस विषय में पूरी तरह से सार्थक नहीं हो सकता। क्योंकि यदि उसका यह अर्थ किया जाता है कि 'विष्वग्' में ही सन्धिकार्य से रहित को कार्य हो, अन्यत्र अनियम हो अर्थात् अन्यत्र कृतसन्धि-अकृतसन्धि दोनों से ही तद्धितोत्पत्ति हो, जबकि इष्ट है अन्यत्र भी नियम से 'कृत सन्धि' से ही तद्धित प्रत्यय हों, तो उस अवस्था में नियम से 'सौत्थिति' इत्यादि अभीष्ट

१. द्र० प्रकृत सूत्रस्थ प्रौ० म० 'यदि तु नङो ङित्करणेनाकृतव्यूह परिभाषा ज्ञाप्यते। पामादिगणे विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेरित्यत्र अकृतसन्धिग्रहणेन परिनिष्ठितात् तद्धितोत्पत्तिस्तर्हि समर्थग्रहणं शक्यमकर्तुम्।

२. प्रकृत सूत्रस्थ महा० प्र० उ० भा० ३, पृ० ५४१—"असमर्थशब्देनेतितुल्यन्यायात् समर्थः इत्यपि प्रत्याख्यातमिति बोध्यम्"।

३. पा० १. १. ५६।

४. पा० ६. ४. २२।

रूप न बन सकेंगे। अनियम होने से कभी-कभी 'सावुत्थिति' भी बनने लगेगा[1] अतः ऐसी स्थिति में सूत्र रहना ही चाहिए[2]। प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रदीपकार इस सूत्र को 'अकृतव्यूहपरिभाषा' के होने में तात्पर्यग्राहक मानते हैं[3]। इसकी प्रयोजनवत्ता होने के कारण ही अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी इसे कहीं अविकल रूप में तथा कहीं परिवर्तित रूप में ग्रहण किया है[4]।

इस प्रकार कुल मिलाकर समन्तात् समीक्षा करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि इस सूत्र का प्रत्याख्यान न मानकर अन्वाख्यान मानना ही

---

१. शब्दरत्न पा० ४. १. ६०—'यदि तु तत्राकृतसन्धेरित्युक्त्या तत्राकृतसन्धेरेव अन्यत्र तु अनियम इत्यर्थस्तदा परिनिष्ठितादेवेत्यर्थमावश्यकं तदिति बोध्यम्'।

२. प्रकृतसूत्रस्थ महा० प्र० उ० भा० ३, पृ० ५४३—'विषुण इत्यादावकृतसन्धेः प्रत्ययदर्शनेन सर्वत्र तद्धिते तथेति भ्रमवारणाय सूत्रे न्यायसिद्धार्थानुवाद एव समर्थग्रहणमिति भाष्याशयः'।

३. प्रकृत सूत्र महा० प्र०, पृ० ५४३—'एवं तर्हि एतदनेन समर्थवचनेन ज्ञाप्यते—अस्तीयं परिभाषाअकृतव्यूहा पाणिनीयाः इति'। उक्त परिभाषा का अर्थ यह है कि 'न कृतः व्यूहः विशिष्टः ऊहः शास्त्रप्रवृत्तिरूपो येः तादृशाः पाणिनीया भवन्ति' अर्थात् पाणिनीय लोग आगे होने वाले निमित्तविनाश को देखकर पूर्व प्राप्त शास्त्र की प्रवृत्ति को रोक लेते हैं। अथवा 'कृतमपि कार्यं (शास्त्रं) निवर्तयन्ति' अर्थात् पहले किए हुए शास्त्र के कार्य को भी निमित्त विनाश होने पर हटा लेते हैं। यहाँ 'सु+उत्थित' इस अवस्था में अन्तरंग होने से प्राप्त सवर्णदीर्घ 'वार्णादांगं बलीयः' (परि, ५५) इस परिभाषा के वचन से आगे होने वाले अंगशास्त्र आदि वृद्धि द्वारा निमित्तविनाश की सम्भावना से रोक लिया जाता या पहले किया हुआ भी हटा लिया जाता उससे 'सावुत्थितिः' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता। उसकी निवृत्ति के लिए यह सूत्र है। इस सूत्र से 'सु उत्थित' को सवर्णदीर्घ द्वारा 'समर्थ' बनाकर फिर इससे इञ् प्रत्यय होगा तो 'सोत्थितिः' यह इष्ट रूप बन जाता है।

४. जै० सू० ३. १. ६७—समर्थात् प्रथमाद्वा'।
शा० सू० २. ४. १—'वाऽपात्।
है० सू० ६. १. ११—वाऽपात्'।

अधिक युक्तिसंगत है। हाँ "समर्थानां प्रथमाद्वा" के स्थान पर 'समर्थात् प्रथमाद्वा" ऐसा एकवचनान्त प्रयोग अधिक सुवच है[1] ॥

शेषे ॥ ४. २. ९२ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह 'अधिकारसूत्र' है। साथ में 'लक्षणसूत्र' एवं 'विधिसूत्र' भी है। चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषम्' इत्यादि प्रयोगों में 'ग्रहणादि' अर्थों में 'प्राग्दीव्यतीय अण्'[2] प्रत्यय का विधान भी करता है। इसके अधिकार में आने वाले "राष्ट्रावारपाराद्घखौ"[3] इत्यादि सूत्रों से विहित 'घ' आदि प्रत्यय 'शैषिक' कहलाते हैं। इस सूत्र से पूर्व 'तस्यापत्यम्'[4] से प्रोक्त 'अपत्य' अर्थ "तेन रक्तं रागात्"[5] इत्यादि से प्रोक्त 'रक्ताद्यर्थक' तद्धित प्रत्यय तथा "तदस्मिन्निति देशे तन्नाम्नि"[6] "तेन निर्वृत्तम्"[7], "तस्य निवासः"[8], "अदूरभवश्च"[9] इन चार सूत्रों से प्रोक्त 'चातुरर्थिक प्रत्यय' जा चुके हैं। उनसे बाकी बचे जो "तत्र जातः"[10] "तत्र भवः"[11] "तस्येदम्[12], इत्यादि अर्थों में विहित प्रत्यय हैं वे शेष होने से 'शैषिक' कहलाते हैं। इन 'शैषिक' प्रत्ययों का अधिकार "तस्य

---

१. प्रकृत सूत्रस्य बालमनोरमा भा २ पृ० २७४—"समर्थात् प्रथमाद्वा इति सुवचम्। केचित्तु बहुवचनबलादनेकसमर्थसमयाय स्वास्य प्रवृत्तिः। एवं च प्राग्दिशः इत्यादिषु स्वार्थिकप्रत्ययविधिषु नास्य प्रवृत्तिरिति लभ्यते इत्याहुः"।

२. पा० ४. १. ८३।

३. पा० ४. २. ९३।

४. पा० ४. १. ९२।

५. पा० ४. २ १।

६. पा० ४. २. ३७।

७. पा० ४. २. ६८।

८. पा० ४. २. ६९।

९. पा० ४. २. ७०।

१०. पा० ४. ३. २५।

११. पा० ४. ३. ५३।

१२. पा० ४. ३. १२०।

विकारः"[1], "अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः"[2] इन दो सूत्रों में प्रोक्त 'विकार' और 'अवयव' अर्थों से पूर्व तक है। 'विकार' और 'अवयव' अर्थ 'शैषिक' नहीं है। क्योंकि "तस्येदम्" सूत्र में 'तस्य' ग्रहण करने पर फिर जो "तस्य विकारः" में 'तस्य' ग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि 'विकारः' 'अवयव' अर्थ 'शैषिकों' में नहीं आते। अन्यथा "तस्येदम्" (उसका सम्बन्धी यह) इस अर्थ में ही 'विकार' 'अवयव' अर्थ भी आ जाते। "तस्येदं विशेषाह्येते—अपत्यम्, समूहः विकारः, निवासः"[3] यह भाष्यकार का वचन है। जिसका उसके साथ सम्बन्ध है वह सब "तस्येदम्"[4] से गृहीत हो सकता है। फिर भी "तस्यविकारः"[5] में जो 'तस्य' यह षष्ठी 'समर्थ विभक्ति का निर्देश किया है वह "तस्येदम्" इस 'शैषिक' अर्थ से पृथक् रखने के लिए ही किया है। भाष्यवार्तिक भी है—"तस्येति प्रकरणे तस्येति पुनर्वचनं शैषिकनिवृत्यर्थम्"[6]। जिस प्रकार "तस्यापत्यम्"[7] से प्रोक्त 'अपत्य' अर्थ "तस्येदम्" का विषय होने पर भी पृथक् निर्देश से 'शैषिक' नहीं माना जाता। वैसे ही 'विकार', 'अवयव' अर्थ भी 'शैषिक' नहीं हैं।

इस सूत्र का प्रयोजन यह है कि इस 'शेषाधिकार' में आने वाले 'व' आदि प्रत्यय 'शेषाधिकार' से बहिर्भूत 'अपत्यादि' अर्थों में न होवें। जैसे—'वृद्धाच्छः"[8] यह 'वृद्धसंज्ञक' प्रातिपदिक से विहित 'छ' प्रत्यय 'शैषिक' है। 'तत्र जातः', "तत्र भवः"[9] इत्यादि अर्थों में इसका विधान है। जैसे—'शालायां भवः शालीयः', 'शालायां जातः शालीयः' यहाँ 'शाला' शब्द के 'वृद्धसंज्ञक' होने से 'शैषिक' 'छ' प्रत्यय होकर 'छ' को 'ईयादेश' हो जाता है और 'शालीयः' बन जाता है। किन्तु 'शैषिक' के अधिकार में होने से यह 'छ' प्रत्यय उससे बाहर 'अपत्यादि' अर्थ में नहीं हो सकता। उससे 'भानो-

१. पा० ४.३.१३४।
२. पा० ४.३.१३५।
३. महा० भा० २, प्रकृत सूत्र पृ० २६०।
४. पा० ४.३.१२०।
५. पा० ४.३.१३४।
६. महा० भा० २. सू० ४.३.१३४ पृ० ३२१।
७. पा० ४.१.६२।
८. पा० ४.२.११४।
९. पा० ४.३.२५, ५३।

रपत्यं भानवः' यहाँ 'भानु' शब्द के वृद्धसंज्ञक' होने पर भी 'अपत्य' अर्थ में "वृद्धाच्छः" से 'छ' प्रत्यय नहीं हुआ अपितु सामान्य 'प्राग्दीव्यतीय अण्'[1] प्रत्यय होकर "ओर्गुणः" से गुण हो जाता है तो 'भानवः' बन जाता है। इसी प्रकार 'द्रौपद्याः अपत्यं द्रौपदेयः' यहाँ 'द्रौपदी' शब्द के वृद्धसंज्ञक' होने पर भी "वृद्धाच्छः"[2] से 'छ' प्रत्यय न होकर अपत्याधिकारः का 'स्त्रीभ्यो ढक्'[3] से विहित 'ढक्' प्रत्यय हो जाता है। 'विकार' 'अवयवों' का भी यही हाल है। "हलसीराट्ठक्"[4] यह 'तस्येदम्' अर्थ में विहित 'ठक्' प्रत्यय है। 'हलस्येदम् हालिकम्'। 'सौरिकम्'। यहाँ 'शैषिक' अर्थ होने से 'ठक्' हो गया किन्तु 'हलस्य विकार अवयवो वा हालः' 'ह सैरः' यहाँ 'ठक्' न होकर सामान्य 'प्राग्दीव्यतीय अण्' प्रत्यय होता है।

'शेषाधिकार' के भी दो विभाग हैं—एक सामान्य 'शैषिक' दूसरा विशिष्ट अर्थों में विहित 'शैषिक'। 'शेषाधिकार' के प्रथम सूत्र राष्ट्रावार-पाराद् घखौ"[5] से लेकर "तत्र जातः"[6] से पूर्व विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्"[7] तक सामान्य 'शैषिक' प्रत्यय हैं जिनमें किसी विशिष्ट अर्थ का निर्देश नहीं किया गया। वे "तत्रजातः", "तत्र भवः" "तस्येदम्" इत्यादि सभी शैषिक अर्थों में हो सकते हैं। 'राष्ट्रे भवः' राष्ट्रेजातः' 'राष्ट्रस्येदम्' सभी अर्थों में "राष्ट्रावारपाराद्०" सूत्र से 'घ' प्रत्यय होकर 'राष्ट्रिय' रूप बनेगा। इसी तरह 'ग्राम्यः' 'ग्रामीणः' इत्यादि में सभी 'शैषिक' अर्थों का बोध होता है। "तत्र जातः" से लेकर अपने-अपने अर्थ विशेष को लक्ष्य करके विहित "तस्येदम्" सूत्र तक विशिष्ट 'शैषिक' हैं। आचार्य पाणिनि ने 'शेषाधिकार' की बहुत सुन्दर व्याख्या की है—'पाणिनिना प्रोक्तम् पाणिनीयम्। पाणिनेश्छात्राः पाणिनीयाः' यहाँ 'प्रोक्त' और 'तस्येदम्' से बोधित 'छात्र' ये दोनों अर्थ 'शैषिक' हैं। 'वृद्धसंज्ञक' पाणिनि शब्द से 'छ' प्रत्यय हो जाता है जो कि सामान्य विहित 'प्राग्दीव्यतीय अण्' का बाधक है। इस प्रकार की व्यवस्था उन्होंने 'अपत्याधिकार' से पूर्व भी की है। पहले सामान्य 'प्राग्दीव्यतीय' अर्थ वाले प्रत्यय हैं जो न केवल 'अपत्य' अर्थ में ही बल्कि 'अपत्य' के साथ 'शेष प्राग्दीव्यतीय' 'तत्र भवः' इत्यादि अर्थों

---

१. पा० ६. ४. १४६।
२. पा० ४. २. ११४।
३. पा० ४. १. १२०।
४. पा० ४. ३. १२४।
५. पा० ४. २. ९३।
६. पा० ४. ३. २५।
७. पा० ४. ३. १४।

में भी प्रयुक्त होते हैं। फिर 'अपत्य' आदि विशिष्ट अर्थों में विहित प्रत्ययों का निर्देश है।

जहाँ यह सूत्र अधिकार है और अपने अधिकार क्षेत्र की सीमा में रहता है वहाँ यह लक्ष्यसाधक भी है। जो अर्थ अन्यत्र सूत्रों में नहीं कहे गये हैं उनमें 'अण' प्रत्यय का विधान भी करता है। जैसे—'चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषम्' 'श्रवणेन गृह्यते श्रावणः शब्दः'। 'उपनिषदि दृष्टः कथितो वा औपनिषदः पुरुषः'। 'दृषदि पिष्टाः दार्षदा सक्तवः। 'उलूखलः' क्षुण्णः आंलूखलः। 'औश्वैरूह्यते आश्वः' 'चतुर्भिरूह्यते चातुरं शकटम्' 'चतुर्दशां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः' इत्यादि प्रयोगों में चतुरादि शब्दों से ग्रहणादि अर्थ में 'प्राग्दीव्यतीय अण्' प्रत्यय का विधान यह सूत्र करता है। क्योंकि उक्त अर्थ अन्यत्र कथित नहीं किये गये हैं। इस प्रकार यह सूत्र 'लक्षण' और 'अधिकार' दोनों बन जाता है

ज्ञापक द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार कात्यायन इस सूत्र के खण्डन के विषय में मौन हैं। केवल भाष्यकार पतंजलि ही वार्तिककार के साथ मिलकर पहले इस सूत्र का प्रयोजन बताते हैं। फिर प्रत्याख्यान करते हैं—

"शेषवचनं कादीनामपत्यादिष्वप्रसङ्गार्थम्। शेषवचनं क्रियते। शेषे घादयो यथा स्युः। अपत्यादिषु मा भूवन् इति। तस्येदं वचनात्प्रसङ्गः। तस्येदं विशेषा ह्येते—अपत्यम्, समूहः, निवासः विकार इति"[1]।

अर्थात् सामान्य विहित 'प्राग्दीव्यतीय अण्' प्रत्यय की अवश्य प्राप्ति में "राष्ट्रावारपारात्०" इत्यादि सूत्रों से 'घ' आदि प्रत्ययों का विधान किया गया है वह जैसे 'जात' आदि अर्थों में 'अण्' प्रत्यय को बांधता है वैसे 'अपत्यादि' अर्थों में भी बाधक प्राप्त होता है। उसको रोकने के लिये यह 'शेषे" सूत्र द्वारा 'शेषाधिकार' किया जाता है जिससे 'अपत्यादि' अर्थों से शेष बचे 'जात' आदि अर्थों में ही 'घ' आदि प्रत्यय 'अण्' के बाधक हों, अन्यत्र न हों। इस प्रकार सूत्र के प्रयोजन का अन्वाख्यान करके भाष्यकार आगे कहते हैं—'नैष दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नाण्विषये घादयो भवन्तीति। यदयं फेश्छ च इति फिञन्ताच्छं शास्ति"[2]।

अर्थात् 'शेषाधिकार' के बिना भी 'अपत्यादि' अर्थों में 'घ' आदि प्रत्यय नहीं होते इस बात को आचार्य का व्यवहार बता रहा है। उन्होंने "फेश्छ च"[3] सूत्र द्वारा 'फिञन्त' से 'युवापत्य' में 'ठक्' प्रत्यय के साथ जो 'छ'

---

१. महा० भा० २, सू० ४.२.९३, पृ० २९०।
२. वही, पृ० २९१।
३. पा० ४.१.१४९।

प्रत्यय का भी विधान किया है। उससे मालूम होता है कि "वृद्धाच्छः"[१] इस सूत्र से विहित 'शैषिक छ' प्रत्यय की 'अपत्य' अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि 'शैषिक' प्रत्यय भी 'अपत्य' अर्थ में प्रवृत होते तो 'यमुन्दस्यापत्यं यामुन्दायनिः'। 'तस्य युवापत्यं यामुन्दायनीयः' यहां "वृद्धाच्छः" से ही 'छ' प्रत्यय सिद्ध था। उसके लिये 'फेश्छ च' सूत्र में 'छ' ग्रहण करना व्यर्थ है। "फेश्छ च" के स्थान में "फेर्वा" 'ऐसा सूत्र आचार्य पढ़ सकते थे। उससे 'ठक्' के विकल्प में 'शैषिक छ' हो ही जाता। यदि यह कहा जाये कि यह तो केवल 'अपत्य' अर्थ में ही 'शैषिक घ' आदि प्रत्ययों की प्रवृत्यभाव का ज्ञापक है। अपत्य से भिन्न "तस्य समूहः"[२] से विहित 'समूह' अर्थ में 'शैषिकों' की प्रवृत्ति कैसे रुकेगी तो उसके लिये भी "गोत्र चरणाद वुञ्"[३] से 'तस्येदं बोधित समूह' अर्थ में गोत्र से विहित 'वुञ्' प्रत्यय के सिद्ध होने पर भी जो 'गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराज०"[३] से 'वुञ्' विधान किया है, वह ज्ञापक है कि 'समूह' अर्थ में भी 'शैषिक' नहीं होते।

इसी प्रकार यहां यह शंका करना कि "विषयो देशे"[५] के अर्थ में 'शैषिकों की प्रवृत्ति कैसे रुकेगी तो उसके लिये भी "राजन्यादिभ्यो वुञ्"[६] सूत्र के गणपाठ में 'दैवयातव' शब्द का ग्रहण ज्ञापक है कि 'देवयातू नामपत्यानि दैवयातवाः' यहाँ गोत्रप्रत्ययान्त 'दैवयातव' शब्द से 'तस्येदम्' बोधित "विषयो देशे" नामक अर्थ में "गोत्रचरणाद्वुञ्" से 'वुञ्' सिद्ध होने पर भी जो 'वुञ्' के लिये राजन्यादिगण में उसका पाठ है वह सिद्ध करता है कि 'विषयो देशे' अर्थ में भी 'शैषिक' नहीं होते। यदि पुनः यह कहा जाये कि "तस्यनिवासः"[७] इस 'चातुरर्थिक' अर्थ में शैषिकों की प्रवृत्ति कैसे रुकेगी तो उसके लिये भी 'अरीहणादि'[८] गण में 'भास्त्रायण' शब्द का ग्रहण ज्ञापक है। 'भास्त्रायण' शब्द गोत्र प्रत्ययान्त है। उससे

---

१. पा० ४.२.११४।
२. पा० ४.२.३७।
३. पा० ४.३.१२६।
४. पा० ५.२.३६।
५. पा० ४.२.५२।
६. पा० ४.२.५३।
७. पा० ४.२.६६।
८. पा० ४.२.८० सूत्र में पठित।

'तस्येदम् बोधित निवास' अर्थ में "गोत्रचरणाद्वुञ्"[1] से ही 'वुञ्' सिद्ध होने पर जो "वुञ् छण्०"[2] से 'वुञ्' विधान किया है वह सिद्ध करता है कि 'चातुरर्थिकों' में भी 'शैषिकों' की प्रवृति नहीं हो सकती। क्योंकि "तस्येदम्" में 'इदम्' यह 'सामान्य' शब्द है। 'अपत्यम्', 'समूहः', 'निवासः' इत्यादि उसके 'विशेष' हैं। 'विशेष' के साथ बोला गया 'सामान्य' शब्द उच्चरितविशेष से भिन्न 'विशेष' का बोध कराता है। जैसे—"दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयताम्, तक्रं कौण्डिन्याय"[3] यहाँ 'विशेष कौण्डिन्य' के साथ बोला गया 'सामान्य ब्राह्मण' शब्द कौण्डिन्यातिरिक्त 'विशेष ब्राह्मणों' को सूचित करता है। 'तस्येदम्', 'अपत्यम्', समूहः' यहाँ अपत्यादिविशेषों के साथ उच्चरित 'सामान्य इदम्' शब्द 'अपत्यादि' से अतिरिक्त अन्य विशेषों का बोध करायेगा तो 'अपत्यादि' में इसकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इस प्रकार "शेषे" सूत्र के बिना भी अभीष्ट-सिद्धि हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है अथवा अनावश्यक है, यह सिद्ध हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

'शेषाधिकार' में कहे गये 'घ' आदि प्रत्यय उसी अधिकार में कथित 'जात' आदि अर्थों में होवें, उस अधिकार से बहिर्भूत 'अपत्यादि' अर्थों में न होवें, यह जो इस सूत्र का प्रयोजन था, वह भाष्यकार ने ज्ञापकों द्वारा निरस्त कर दिया है। 'शेषाधिकार' के बिना भी 'घ' आदि प्रत्यय 'अपत्यादि' अर्थ में नहीं होंगे किन्तु अभीष्ट 'जात' आदि अर्थों में ही होंगे, यह तो सिद्ध हो गया। परन्तु यह सूत्र 'अधिकार' के साथ 'लक्षण' भी तो है। यह 'चाक्षुषम्' इत्यादि बहुत से लक्ष्यों का संस्कारक होने से 'विधिसूत्र' भी है। इसके अभाव में उक्त प्रयोग किस प्रकार सिद्ध होंगे। इसी लिये "तत्र जातः"[4] सूत्र के भाष्य में "तत्र जातादिषु वचनं नियमार्थम्" इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"नियमार्थोऽयमारम्भः। जातादिष्वेव छादयो यथा स्युः। इह मा भूवन्—तत्रास्ते, तत्र शेते इति"। इस प्रकार "तत्र जातः" सूत्र को नियमार्थ मानकर फिर उसका खण्डन करते हुए कहते हैं—"यदि नियमः क्रियम, दार्षदाः सक्तवः, औलूखलो यावकः इति

१. पा० ४.३.१२६।
२. पा० ४.२.८०।
३. महा० भा० १, सू० १.१.४६, पृ० ११५ पर पठित न्याय।
४. पा० ४.३.२५।

न सिध्यति" ऐसा कहते हुए भाष्यकार का यह स्पष्ट आशय है कि न केवल "तत्रजातः" इत्यादि अर्थों में ही 'घ' आदि प्रत्यय करने के लिये इस सूत्र की आवश्यकता है अपितु 'दृषदि पिष्टाः संस्कृता, वा दार्षदाः सक्तवः'। 'उलूखले संस्कृताः औलूखला यावकाः' इत्यादि प्रयोगों में 'पिष्ट' 'संस्कृत' आदि अर्थों के बोध के लिये भी सूत्र से 'अण्—विधान' की आवश्यकता है जो अन्य सूत्रों से सिद्ध नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाये कि 'चाक्षुषम्' इत्यादि प्रयोग तो अन्यथासिद्ध भी हो सकते हैं। 'चाक्षुषम्' में 'चक्षुषा गृह्यते' यह विग्रह न करके 'चक्षुषः इदम्' (चक्षुःसम्बन्धी) ऐसा अर्थ किया जायेगा तो "तस्येदम्" से ही 'अण्' प्रत्यय हो सकता है। 'दार्षदाः', औलूखला' में भी "संस्कृतं भक्षाः"[२] से अण्' निर्बाध है। इस प्रकार लक्ष्यसंस्कारता या विध्यर्थता तो खण्डित हो जाती है।

रहा 'शेषाधिकार', वह भी कुछ तो भाष्यकार ने स्पष्ट ज्ञापकों द्वारा निरस्त कर दिया है। कुछ "उत्करादिभ्यश्छः"[३] सूत्र के गणपाठ में आर्द्रा'[४] शब्द का पाठ इस बात का ज्ञापक है कि "शेषे" सूत्र से पूर्व अर्थों में 'घ' आदि प्रत्यय नहीं होते। यदि 'चातुरर्थिक' प्रत्ययों के अर्थ में भी 'शैषिक घ' आदि प्रत्यय होवें तो 'आर्द्रा' शब्द के वृद्धसंज्ञक' होने से "वृद्धाच्छः"[५] इस 'शैषिक सूत्र से ही 'छ' प्रत्यय सिद्ध हो जायेगा। उसके लिये उत्करादिगण में पाठ करके 'छ' प्रत्यय करना व्यर्थ है।

---

१. पा० ४.३.१२०।

२. पा० ४.२.१६।

३. पा० ४.२.६०।

४. उत्करादि के गणपाठ में 'आर्द्रा के स्थान में 'आर्द्रवृक्ष' शब्द मिलता है जो विचारणीय है। पदमंजरीकार तथा शब्दकौस्तुभकार की सम्मति में 'आर्द्रकाशाला' ऐसा पाठ मिलता है।
   प० मं०—'कांश्चिद् वृद्धान् शब्दान् पठति—आर्द्रका शालेति, अन्यथा वृद्धाच्छः"। श० कौ०—'तथाहि—आर्द्रकशालेत्यादयो वृद्धाः तेषां वृद्धाच्छः—'। तत्त्वबोधिनी में भी 'आर्द्रक शाला' ही पाठ मिलता है। किन्तु यह 'आर्द्रक' या आर्द्रकशाला' वाला पाठ कहाँ से लिया गया है, यह विचारणीय है। का० तथा वै० सि० कौ० के गणपाठ में तो 'आर्द्रवृक्ष' छपा है।

५. पा० ४.२.११४।

इस प्रकार यह सूत्र न 'लक्षण' बनता है और न अधिकार' ही। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी इस सूत्र की परम आवश्यकता है। क्योंकि इस शेषाधिकार के बिना----

"शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः।
सरूपः प्रत्ययों नेष्टः सनन्तान्न सनिष्यते"[1]॥

यह भाष्यकारिका कैसे संगत होगी। प्रत्ययविशेषों की 'शेषाधिकार में पठित होने से ही 'शैषिकसंज्ञा' है। वह इस सूत्र के बिना असंभव है, इसीलिये इस सूत्र को अधिकारार्थ आवश्यक मानते हुए भट्टोजीदीक्षित कहते हैं—"तस्माद् व्यर्थमिदं सूत्रमिति चेत्, अत्रोच्यते, अधिकारस्तावदावश्यकः शैषिकात् सरूपः शैषिको नेति वक्ष्यमाणस्यार्थस्य विषयलाभो यथा स्यात्। शैषित्वं प्रयुक्तं कार्यविशेषं ध्वनयितुं क्रियमाणः शेषाधिकारः एव ज्ञापयति—शैषिकान् मतुबर्थीयादित्यादि..." (प्रौ० म० प्रकृतसूत्र)। किन्तु कैयट इसे विधि सूत्र भी मानते हुए कहते हैं—

"तत्रजात इत्यत्र तु सूत्रेऽस्य लक्षणत्वमाश्रित्य चाक्षुषादीनां सिद्धिमभिधास्यति नागनाथः इति"[2]।

'तस्येदम्'[3] इत्यादि से चाक्षुपादि की सिद्धि को अपूर्ण मानते हुए उद्द्योतकार नागेश भी लिखते हैं—

"आख्यातवाच्यार्थस्येदमापरामर्शायोगादनेनैव साधनं युक्तमिति भगवतो नागनाथस्याभिप्राय इति। ज्ञापकेन वार्तिकोक्तार्थप्रत्याख्यानं त्वेकदेशिन इत्युक्तमेव। शैषिकान्मतुबर्थीयात्० इत्यस्य विषयलाभायाप्यधिकारसूत्रमिदमावश्यकमिति बोध्यम्"[4]।

काशिकाकार तो मूल में ही इस सूत्र का प्रयोजन दिखाते हैं—"सर्वत्र जातादिषु घादयो यथास्युः। अनन्तरेणैवार्थादेशेन सम्बन्धित्वेन कृतार्थता मा ज्ञायीति साकल्यार्थं शेषवचनम्"[5]।

इसी को स्पष्ट करते हुए पदमञ्जरीकार कहते हैं—

"असति हि शेषग्रहणे प्रथमेनैवार्थेन सम्बन्धमनुभवता कृतार्थता विज्ञायेत, द्वितीयादिषु त्वर्थेषु 'प्राग्दीव्यत' इति विशिष्टावधिपरिच्छिन्नेष्वर्थेषु विधीयमाना

१. महा० भा० २, सू० ३.१.७, पृ० १५।
२. महा० प्र० भा० ३, सू० ४.२.७२, प० ६७०।
३. पा० ४.३.१२०।
४. महा० प्र० उ० सू० ४.२.९२, पृ० ६७०।
५. का० भा० ३, सू० ४.२.९२, पृ० ५८२।

अणादयः एव स्युः । शेषशब्दस्तुपयुक्तादन्यतमान् जातादीनर्थान् वशीकृत्य शवनोत्यभिधातुमिति सर्वत्र घादयः सिध्यन्ति"[१] ।

न्यासकार आदि भी सूत्र के इस विशिष्ट प्रयोजन से सर्वथा सहमत हैं । अतः यह सूत्र अवश्यमेव रहना भी चाहिए । बृहच्छब्देन्दुशेखरकार के ये शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं—

"ज्ञापकसिद्धवचनकल्पनापेक्षया शेषाधिकारस्यैव लघुत्वात्"[२] ।

यही कारण है कि भाष्यवार्तिककार द्वारा बुझाये गये पाणिनिसूत्रस्थ परिवर्तनों, परिवर्धनों प्रत्याख्यानों एवं न्यासान्तरों को अपने तन्त्र में सम्मानीय स्थान देने वाले आचार्य चन्द्रगोमी आदि ने भी प्रकृत सूत्र की उपयोगिता को अनुभव करते हुए शेषाधिकार सूत्र को अपने व्याकरण में रखा है[३] ॥

संहितायाम् ॥ ६.१.७२ ॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह अधिकार सूत्र है । यहाँ से लेकर "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्"[४] इस शेषनिघात विधायक स्वर सूत्र से पूर्व तक 'संहिता' का अधिकार है । "इको यणचि"[५] इत्यादि सूत्र 'संहिता' के विषय में ही प्रवृत्त होंगे । इस अधिकार में सारी "अच्सन्धि' और कुछ 'स्वादि' सन्धि के सूत्र समाविष्ट हैं । 'हल्सन्धि' और 'विसर्गसन्धि' के विधान के लिये "तयोर्य्वावचि संहितायाम्"[६] यह दूसरा 'संहिताधिकार' है । 'संहितायाम्' यह विषय सप्तमी है । 'संहिता' के विषय में अर्थात् जब 'संहिता' या 'सन्धि' करनी अभीष्ट होगी तब 'यणादि' कार्य होंगे । जैसे—'दधि अत्र वतते' (यहाँ दही है) इस वाक्य में जब 'दधि' और 'अत्र' शब्दों का परस्पर अत्यन्त सन्निकर्ष विवक्षित होगा तो "इको यणचि"

---

१. प्रकृतसूत्रस्थ प० मं० ।
२. बृ० श० शे० भा० २, शैषिक प्रकरण, पृ० १३१५ ।
३. चा० सू० ३.२.१—शेषे ।
जै० सू० ३.२.७१ शेषे ।
स० सू० ४.३.१ शेषे ।
है० सू० ६.३.१ शेषे ।
४. पा० ६.१.१५४ ।
५. पा० ६.१.७७ ।
६. पा० ८.२.१०८ ।

से 'यण्' होकर 'दध्यत्र वर्तते' ऐसा बन जायेगा। 'संहिता' के विषय में यह स्मरण रखना चाहिये—

"संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते"[1] ॥

यह अभियुक्तों का वचन है। एक पद में 'संहिता' नित्य होती है। जैसे—'गौर्यौ'। यहाँ 'गौरी-औ' इस प्रकार 'सन्ध्यभाव' नहीं कर सकते। 'गौर्यौ' के एक पद होने से नित्य 'यण् सन्धि' करनी होगी। धातु और उपसर्ग में भी 'सन्धि' नित्य होती है। जैसे—'अनु—अभवत्—अन्वभवत्' यहाँ 'अनु अभवत्' यहाँ इस प्रकार 'सन्धि रहित' शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते। समास में भी 'सन्धि' नित्य होती है। जैसे—'सज्जनः'। यहाँ 'सत् जनः' ऐसा सन्धि रहित प्रयोग नहीं किया जा सकता। वाक्य में तो 'सन्धि' की विवक्षा है। यदि करना चाहें तो करें, अच्छा है। यदि न करना चाहें तो न भी करें। जैसे—'देवदत्तः, गच्छति' इस 'सन्धि विरहित' वाक्य में 'देवदत्तो गच्छति' इस प्रकार 'सन्धि' करके प्रयोग करना चाहिये। यदि 'सन्धि करने' की इच्छा नहीं है, स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए 'सन्ध्यभाव' ही अभीष्ट है, तो देवदत्तः गच्छति' ऐसा सन्धि रहित प्रयोग भी हो सकता है।

औपश्लेषिक सप्तमी मानकर सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार इस सूत्र के खण्डन-मण्डन में सर्वदा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्। अधिकरणं नाम त्रिप्रकारकम्। व्यापकम् औपश्लेषिकं, वैषयिकम् इति। शब्दस्य च शब्देन कोऽन्योऽभिसम्बन्धो भवितुमर्हति, अन्यदतः उपश्लेषात्। इको यणचि—अचि उपश्लिष्टस्येति। तत्रान्तरेण संहिताग्रहणं संहितायामेव भविष्यति"[2]।

यहाँ भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि 'संहितायाम्' यह अधिकरण सप्तमी है और अधिकरण तीन प्रकार का है—'व्यापक', 'औपश्लेषिक' और 'वैषयिक'। 'व्यापक' जैसे—'दध्नि सर्पिः' 'तिलेषु तैलम्'। यहाँ 'दही' में 'घी' और 'तिलों' में 'तेल' पूरी तरह व्याप्त है। इसलिये यह 'व्यापक' सप्तमी है। 'औपश्लेषिक' जैसे—'कटे आस्ते'। 'मथुरायां वसति'। यहाँ 'कट' और 'मथुरा' में बैठने और रहने का 'उपश्लेष' है, सम्बन्ध है। 'आसन' एवं 'वसन' क्रिया

---

१. वै० सि० को०, भा० ३, सू० ८.४.१८, पृ० ५३।

२. महा० भा० ३, सू० ६.१.७२, पृ० ५१।

'कट' और 'मथुरा' से सम्बद्ध है। इसलिए यह 'उपश्लेष' अर्थात् सम्बन्ध से होने वाली 'औपश्लेषिक' सप्तमी है। आसनादि क्रिया से कट और मथुरा को पूर्णरूप से व्याप्त न करने से यह 'व्यापक' सप्तमी नहीं है। कूपे 'गर्गकुलम्' यहाँ कूप शब्द 'कूप के किनारे' अर्थ में लाक्षणिक है। अतः वहाँ गौण उपश्लेष है। 'विषयसप्तमी' जैसे—'मोक्षे इच्छास्ति' (मोक्ष के विषय में इच्छा है। इत्यादि 'विषय सप्तमी' प्रसिद्ध हैं।

"इको यणचि"[1] इत्यादि 'संहिताधिकारस्थ' सूत्र में 'अचि' इत्यादि सप्तमी को 'औपश्लेषिक सप्तमी' मानकर 'अच्' से उपश्लिष्ट, अत्यन्त सम्बद्ध 'इक्' के स्थान में 'यण्' विधान कर लिया जायेगा तो इस 'संहिताधिकार' के बिना भी परस्पर अत्यन्त सन्निकृष्ट वर्णों में ही 'यणादि' कार्य हो जायेंगे। ऐसी अवस्था में यह सूत्र व्यर्थ है। जब 'संहितासंज्ञा' विधायक "परः सन्निकर्षः संहिता"[2] यह सूत्र ही खण्डित हो चुका है तो 'संहिताधिकार' तो स्वतः ही खण्डित हो जाता है। "आर्धधातुके"[3] इत्यादि तो विषयसप्तमी मानी जाती है। क्योंकि वहाँ आर्धधातुक' शब्द से 'सामान्य आर्धधातुक' का निर्देश है। 'सामान्य' के साथ पौर्वापर्य संभव नहीं है। 'इको यणचि'[4] इत्यादि में तो 'अचि' यह 'विशेष' सप्तमी का निर्देश है। 'विशेष' के साथ पौर्वापर्यसम्बन्ध संभव है। अतः 'अच् परे रहते उससे अत्यन्त सम्बद्ध व्यवधान रहित 'इक्' को 'यण्' हो, ऐसा अर्थ होने से यहाँ 'औपश्लेषिक' सप्तमी सर्वथा घट जाती है। इसमें "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य"[5] इस परिभाषा का व्यापार भी सहायक है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यद्यपि "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" इस परिभाषा के वचन से "इको यणचि" इत्यादि में 'अच्' परे रहते निर्दिष्ट वर्णान्तर के व्यवधान से रहित पूर्व को कार्य होगा। उससे 'दध्यत्र' इत्यादि में 'अत्र' का अकार परे रहते वर्णान्तर के व्यवधान से रहित पूर्ववर्ती 'दधि का इकार होने से 'यण्' होकर इस सूत्र के बिना भी इष्ट सिद्ध हो जाता है। 'दध्युदकम्' इत्यादि में इकार

---

१. पा० ६.१.७७।
२. पा० ७.४.१०९।
३. पा० २.४.३५।
४. पा० ६.१.७७।
५. पा० १.१.६६।

उकार दोनों के परस्पर उपश्लेष में व्यवधान रहित पूर्व को ही कार्य होगा तो 'उदकम्' के उकार को 'यण्' न होकर 'दधि' के इकार को 'यण्' होता है। इस प्रकार इस सूत्र की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती तथापि आधी मात्रा के काल से अतिरिक्त काल के व्यवधान में सन्धिकार्य रोकने के लिए यह सूत्र आवश्यक है। अन्यथा 'दधि' उच्चारण करके उसके एक घण्टे बाद 'अत्र' उच्चारण करने पर कालव्यवाय में भी 'यण्' की प्रसक्ति हो जायेगी जो कि अनिष्ट है। वर्णों के परस्पर अत्यन्त सन्निकर्ष या संश्लेष को 'संहिता' कहते हैं। वह काल का व्यवधान होने पर संभव नहीं। अतः संधित्स्यमान वर्णों का परस्पर संश्लेष एवं एक साथ उच्चारण अत्यन्त आवश्यक है। 'संहिता' का अधिकार इसी बात को सूचित करता है कि एक साथ उच्चरित वर्णों में ही सन्धिकार्य हो, उनके मध्य काल के व्यवधान होने पर न हो। यदि "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य"[1] इस परिभाषा से वर्ण के व्यवधान के साथ काल का व्यवधान भी प्रतिषिद्ध मान लिया जाये तब तो इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में पदमञ्जरीकार कहते हैं—

'अचि उपश्लिष्टस्य इको विधीयमानो यण् वर्णान्तरव्यवाये कालव्यवाये च न भविष्यतीति नार्थः संहिताधिकारेण। ज्ञापनार्थं तु—एतज्ज्ञापयति कालव्यवायो निर्दिष्टपरिभाषायां नाश्रीयते इति। तेनोत्तरपदाधिकारेऽपि विधीयमानं कार्यमलुगादि कालव्यवधानेऽपि भवत्येव। आखरेष्ठः इति आखरे स्थः। अग्ना विष्णू इति अग्ना विष्णू"[2] इत्यादि।

इसका तात्पर्य यह है कि अर्धमात्रा काल का व्यवधान वाले अवग्रह में तो काल व्यवधान होने पर भी सन्धिकार्य हो जाते हैं। 'आखरेष्ठः'[3] यहाँ उपपद समास में "तत्पुरुषे कृति बहुलम्"[4] से सप्तमी का 'अलुक्' होता है। समास में सन्धि के नित्य होने से वह 'अलुक्' अवग्रह बना रहता है। केवल अवग्रह में ही पदपाठकारों के वचन सामर्थ्य से अर्धमात्रा काल का व्यवधान द्रष्टव्य है। उतने काल के व्यवधान में तो सन्धिकार्य हो सकता है। तदतिरिक्त काल के व्यवधान में सन्धिकार्य को रोकने के लिए इस सूत्र का बनाना अत्यन्त आवश्यक है। इसी बात को नागेश आक्षेप-समाधानपूर्वक इसे प्रकार उपन्यस्त करते हैं—

१. पा० १.१.६६।
२. पा० मं० सू० ६.१.७२।
३. मा० यजु: २.१।
४. पा० ६.३.१४।

'यद्यपि वर्णव्यवाये तस्मिन्निति परिभाषया सिद्धम् । वर्णशून्यकालव्यवाये तु काल-व्यवहिततयोच्चारितवर्णानां शब्दानां भ्रमापादकानामसाधुशब्दत्वाच्छा-स्त्राप्रवृत्तौ संहिताधिकारो व्यर्थः, तथापि कालव्यवेतस्यापि साधुत्वबोधनद्वारा तद्व्यावृत्या सार्थक्यं बोध्यम् । अत एवावग्रहादौ संहिताधिकारबहिर्भूतानङसिद्धि अत एव निर्दिष्टपरिभाषया: वर्णशून्यकालव्यवायो न व्यावर्त्यते । केचित्तु निर्दिष्ट ग्रहणेन वर्णशून्यकालोऽपि व्यावर्त्यते । अवग्रहे तु सम्प्रदाय एव शरणमिति तत्र असाधुशब्दप्रयोगेऽपि न दोषः इतीदं सूत्रं व्यर्थमेव' ।[1]

यहाँ शेखरकार ने भाष्यकारोक्त इस सूत्र के प्रत्याख्यान के आधार पर 'केचित्तु' कह कर सूत्र का प्रत्याख्यान पक्ष भी उपस्थित कर दिया है । वस्तुतः वे इस सूत्र को 'संहिताधिकार' के लिये आवश्यक मानते हैं। इसी प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण में भी सूत्र की उपयोगिता को अनुभव किया गया है । वहाँ पाणिनि प्रयुक्त 'संहिता' शब्द के स्थान पर लोक प्रसिद्ध 'सन्धि' शब्द रखा गया है[2] । किन्तु चान्द्र आदि व्याकरणों में इस अधिकार सूत्र का समर्थन नहीं मिलता जो कि विचारणीय ही है ।।

अङ्गस्य ।। ६.४.१ ।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह अङ्गाधिकार का पहला सूत्र है । यहाँ से 'अंगाधिकार' का आरम्भ होता है । आगे आने वाले सूत्रों में 'अङ्गसंज्ञक' शब्द को कार्य विधान होगा । 'अङ्गसंज्ञाविधायक' सूत्र "यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्"[3] है । जिसका अर्थ है कि जिससे परे जो प्रत्यय किया जाये उस प्रत्यय के परे रहते वह प्रकृति है आदि में जिसके ऐसे शब्द समुदाय की 'अङ्गसंज्ञा' होती है । जैसे— 'भवति' यहाँ 'भू' धातु के 'तिप्' और 'शप्' दो प्रत्यय किये हैं । उनमें 'शप्' परे रहते 'भू' की ओर 'तिप्' परे रहते 'भू अ' की 'अंगसंज्ञा' होती है । यहाँ 'तदादि' ग्रहण का प्रयोजन ही यह है कि 'तिप्' परे रहते 'भू' की 'अङ्गसंज्ञा' न होकर 'भू अ' की हो । इसी प्रकार 'पाठयति' यहाँ 'पठ' धातु से 'णिच्' 'तिप्' 'शप्' ये तीन प्रत्यय किये हैं । उनमें 'णिच्' परे रहते 'पठ' की, 'शप्' परे रहते 'पाठि' इस णिजन्त की और 'तिप्' परे रहते 'पाठि अ' इस शब्द समुदाय की 'अङ्गसंज्ञा' होती है । इसी लिए 'करिष्यामि' में मिप् परे रहते

---

१. बृ० श० शे० भा० १, सू० ६.१.७२, पृ० २८४-८५ ।
२. जै० सू० ४.३.६० 'सन्धौ' ।
३. पा० १.४.१३ ।

'करिष्य' की 'अङ्गसंज्ञा' होकर "अतो दीर्घो यञि"[1] से अदन्त 'अङ्ग' को दीर्घ होता है। 'कुण्डानि' में 'शि' परे रहते 'कुण्डन्' की 'अङ्गसंज्ञा' होकर "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ"[2] से नान्त की उपधा को दीर्घ होता है। यहाँ 'अङ्गसंज्ञा' के सिद्धान्त को भली प्रकार समझ लेना चाहिए। यह 'अङ्गाधिकार' सप्तम अध्याय की समाप्ति तक जाता है। सारा सप्तमाध्याय और छठे अध्याय का यह चौथा पाद मिलकर सवा अध्याय 'अङ्गाधिकार' के अन्तर्गत आता है। 'अभ्यासविकारों' से पहले-पहले 'अङ्गाधिकार' है, यह भी एक पक्षान्तर है। अभ्यासविकार "सनि मीमा घु रभ लभ शक पत पदामच इस्", आप्ज्ञप्यृधामीत्", "दम्भ इच्च", "मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा", "अत्र लोपोऽभ्यासस्य"[3] इत्यादि सूत्रों से लेकर "ई च गणः"[4] इस सप्तमाध्याय के अन्तिम सूत्र तक बिधान किये गये हैं। "उन अभ्यासविकारों से पूर्व ही 'अङ्गाधिकार' की अवधि समाप्त हो जाती है", यह भी एक पक्ष है। इन दोनों पक्षों में पहला पक्ष ही न्याय्य होने से आचार्यसंमत है। सप्तमाध्याय की पूर्ण समाप्ति तक 'अङ्गाधिकार' है अथात् "अङ्गस्य" इस सूत्र का व्यापार अधिकृत रूप से चलता है। सप्तमाध्याय तक जो कार्य कहे जायेंगे वे 'अङ्ग' के सम्बन्ध में ही होंगे। सप्तमाध्याय की समाप्ति तक 'अङ्गाधिकार के होने में "गुणो यङ्लुकोः"[5] इस सूत्र में 'यङ्लुक्' का ग्रहण ही ज्ञापक है वहाँ 'यङ्लुक्' का ग्रहण इसलिये किया गया है कि जैसे 'बोभूयते' यहाँ 'भू' धातु से परे 'यङ् परे रहते 'भू' धातु के अभ्यास को "गुणो यङ्लुकोः" सूत्र से गुण होता है वैसे 'बोभवीति' यहाँ 'भू' धातु से परे "यङोऽचि च"[6] से 'यङ्' का लुक् होने पर भी उक्त सूत्र से अभ्यास को गुण हो जाये। यदि सप्तमाध्याय की समाप्ति तक 'अंगाधिकार' माना जाये तब तो 'यङ्लुक्' का ग्रहण करना सफल हो जाता है, अन्यथा व्यर्थ है। 'बोभवीति' में 'यङ्' के 'लुक्' को "प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्"[7] से प्रत्ययलक्षण मानकर "गुणो यङि" इतने सूत्र से ही 'बोभवीति' के अभ्यास को गुण हो जायेगा तो 'यङ्लुक्' ग्रहण की क्या आवश्यकता है किन्तु आचार्य देखते

---

१. पा० ७.३.१०१।
२. पा० ६.४.८।
३. पा० ७.४.५४-५८।
४. पा० ७.४.९७।
५. पा० ७.४.८२।
६. पा० २.४.७४।
७. पा० १.१.६२।

हैं कि 'अङ्गाधिकार' सप्तमाध्याय की पूर्ण समाप्ति तक जाता है। उसमें "गुणो यङ्लुकोः"[१] के भी अन्तर्गत होने से वह भी 'अङ्गाधिकार' का बन जाता है तो 'बोभवीति' में हुए यङ्लुक्' में प्रत्ययलक्षण का "न लुमताङ्गस्य"[२] से निषेध हो जाने से 'यङ्' न होगा तो केवल 'यङ्' ग्रहण करने से 'बोभवीति' में अभ्यास को गुण न हो सकेगा। उसके लिये सूत्र में यङ्' के साथ 'यङ्लुक्' ग्रहण करते हैं। "न लुमताङ्गस्य" सूत्रस्थ 'अङ्ग' शब्द का जब 'अङ्गाधिकार' अर्थ लेकर "अङ्गाधिकार के कार्य में जो 'लुमान्' शब्द से लुप्त हुआ है, उसमें प्रत्ययलक्षण नहीं होता," ऐसा अर्थ करते हैं, तब यह प्रयोजन बनता है। यदि 'अङ्ग' शब्द का 'अङ्गाधिकार' अर्थ न लेकर केवल 'अङ्ग' का कार्य चाहे वह 'अङ्गाधिकार' का हो या उससे बाहर का सब जगह प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाता है, ऐसा माना जाये तब 'यङ्लुक्' ग्रहण ज्ञापक नहीं बनता। अस्तु, 'यङ्लुक्' ग्रहण ज्ञापक बने या न बने, सूत्र में उसका ग्रहण किया हुआ ही है, अतः सप्तमाध्याय की समाप्ति पर्यन्त 'अङ्गाधिकार' चलता है इस सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं पड़ती।

इसके विपरीत अभ्यास विकारों से पूर्व पूर्व अंगाधिकार मानने में बड़ा दोष यह आता है कि 'वव्रश्च' में 'व्रश्च्' धातु के अभ्यास में स्थित वकार को "लिट्भ्यासस्योभयेषाम्"[३] से 'सम्प्रसारण' प्राप्त होता है। वकार को उकार 'सम्प्रसारण' होकर 'उव्रश्च' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। 'व्रश्च धातु से 'लिट्', 'तिप्', 'णल् होकर "लिटि धातोरनभ्यासस्य"[४] से 'व्रश्च' को द्वित्व होता है। 'व्रश्च' व्रश्च' इस अवस्था में अभ्यास संज्ञक पूर्व 'व्रश्च' में "लिट्यभ्या-सस्य०' से रेफ को ऋकार 'सम्प्रसारण' होकर 'व्रश्च' व्रश्च' बनता है। "उरत्"[५] से ऋकार को अकार, "उरण रपरः"[६] से रपरत्व और "हलादिः शेषः"[७] से आदि 'हल्' शेष रहकर 'वव्रश्च' बन जाता है। रेफ को ऋकार 'सम्प्रसारण' होकर बने 'वव्रश्च' में वकार को प्राप्त

१. पा० ७.४.८२।
२. पा० १.१.६३।
३. पा० ६.१.१७।
४. पा० ६.१.८।
५. पा० ७.४.६६।
६. पा० १.१.५१।
७. पा० ७.४.६०।

'सम्प्रसारण' 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्'[1] से रुक सकता है किन्तु "उरत्" से ऋकार को अकार हो जाने से ऋकार 'सम्प्रसारण' परे नहीं है। अतः, निषेध की प्राप्ति न हो सकने से वकार को 'सम्प्रसारण' अनिवार्यतः प्राप्त है। यदि किसी प्रकार "उरत्" से ऋकार को हुआ अकार "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ"[2] से स्थानिवत् हो जाये तो ऋकार 'सम्प्रसारण' परे मिल जाने से "न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्"[3] से वकार को 'सम्प्रसारण' का निषेध सिद्ध हो सकता है। वह तभी हो सकता है जब 'अङ्गाधिकार' को अभ्यासविकारों से पूर्व तक ही न मानकर सप्माध्याय की समाप्ति तक माना जाये। वैसा मानने पर "उरत्" सूत्र 'अङ्गाधिकार' में आ जायेगा। 'अङ्गाधिकार' में आ जाने से 'अंगसंज्ञा' द्वारा प्रत्यय का आक्षेप स्वतः हो जायेगा। क्योंकि प्रत्यय परे होने पर ही 'अंगसंज्ञा' होती है। उस अवस्था में "उरत्"[4] का अर्थ होगा—'अभ्यास के ऋवर्ण को अकार होता है प्रत्यय परे होने पर'। प्रत्यय को निमित्त मानकर होने वाला उरदत्व परनिमित्तक हो जायेगा। उससे "अचः परस्मिन्"[5] सूत्र से उरदत्व का स्थानिवद्भाव से ऋकार मान लिया जायेगा। ऋकार 'सम्प्रसारण' परे होने पर "न सम्प्रसारणे०" से वकार को 'सम्प्रसारण' का निषेध हो जायेगा तो 'वव्रश्च' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। सप्तमाध्याय की समाप्ति तक 'अंगाधिकार' मानने से ही यह इष्टसिद्धि हो सकती है। अभ्यास विकारों से पूर्व 'अंगाधिकार' मानने में "उरत्" के तदन्तर्गत न होने से परनिमित्तकता न आयेगी तो "अचः परस्मिन्०" से अकारादेश को स्थानिवत् न हो सकेगा। उससे 'सम्प्रसारण' परे न मिलने से वकार को 'सम्प्रसारण' का निषेध किसी प्रकार भी न होगा, यह महान् दोष प्राप्त होता है। इस लिये सप्तमाध्याय समाप्ति तक ही 'अंगाधिकार' मानना चाहिए, यह सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र के प्रयोजन भाष्यवार्तिककार कहते हैं—

"अङ्गाधिकारस्य प्रयोजनम्-सम्प्रसारणदीर्घत्वे। नाम्सनोदीर्घत्वे। लिङ्येत्वे अतो भिस ऐस्त्वे। लुङादिष्वडाटौ। इयङुवङ् युष्मदस्मत् तातङ् आमिनुड् आने मुक् के ह्रस्व यि मितत्वानि"[6]

---

१. पा० ६.१.३७।
२. पा० १.१.५७।
३. पा० ६.१.३७।
४. पा० ७.४.६६।
५. पा० १.१.५७।
६. महा० भा० ३, सु० ६.४.१, पृ० १७८-८०।

इन छः वार्तिकों के क्रम से उदाहरण इस प्रकार हैं । 'सम्प्रसारणदीर्घत्व' जैसे—'हूतः', 'जीनः' 'संवीतः' । यहां 'ह्वेञ्,' ज्या', 'वेञ्' धातुओं से निष्ठा-प्रत्यय 'क्त' परे होने पर "वचि स्वपि०", "ग्रहिज्यावयिः"[1] से 'सम्प्रसारण' होता है । "सम्प्रसारणाच्च"[2] से पूर्वरूप होकर 'हु', 'जि', 'वि' इन अङ्गों को 'हल'[3] से दीर्घ हो जाता है तो उक्त रूप बन जाते हैं । यहाँ 'हल्' से परे 'सम्प्रसारणान्त अङ्ग' 'हु', 'जि', 'वि' हैं । क्योंकि इन्हीं से निष्ठा प्रत्यय 'क्त' हुआ है । इसलिये 'अङ्ग' को कहा हुआ दीर्घ यहाँ सिद्ध हो जाता है । यदि "अङ्गस्य" इस सूत्र के द्वारा 'अंगाधिकार' न रखा जाये तो 'निरुतम', 'दुरुतम्' यहाँ 'अंग' रहित को भी दीर्घ होने लगेगा । 'निर' पूर्वक या 'दुर्' पूर्वक 'वेञ' धातु से 'क्त' प्रत्यय हुआ है । "वचि स्वपि०" से 'सम्प्रसारण' हो जाता है । यहाँ 'निर्' और 'दुर्' ये जो हलन्त हैं वे 'अंगसंज्ञक' नहीं हैं । क्योंकि उनसे प्रत्यय नहीं किया गया है और 'वेञ्' जो 'अंग' है, जिससे निष्ठा प्रत्यय 'क्त' हुआ है, वह अंगावयव 'हल्' से परे नहीं है । अतः पूर्ण 'अंग' न होने से 'हलः'[4] से दीर्घ नहीं होता ।

'नाम्सनोर्दीर्घत्व' जैसे—'अग्नीनाम्' 'वायूनाम्' यहाँ 'नाम्' प्रत्यय परे रहते 'अग्नि' 'वायु' अंग हैं । इसलिए "नामि"[5] से विहित 'अंग' को दीर्घ हो जाता है । 'अंगाधिकार' न होने से 'क्रिमिणाम्', 'पामनाम्' यहाँ भी 'नाम' का सादृश्य होने पर "नामि" से दीर्घ प्राप्त होता है । 'क्रिमिणा', 'पामना' ये मत्वर्थीय 'न' प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग द्वितीया के एकवचनान्त शब्द हैं । यहाँ जो अजन्त है उससे परे 'नाम्' प्रत्यय नहीं है । अतः अजन्त 'अंग' तथा 'नाम्' प्रत्यय परे न होने से "नामि" से दीर्घ नहीं होता । 'चिचीषति' में 'चि' 'अंग' सें परे 'सन्' प्रत्यय है इसलिये "अज्झनगमां सनि"[6] से दीर्घ हो जाता है । किन्तु 'दधि सनोति', 'मधु सनोति' यहाँ जो अजन्त है वह 'अंग' नहीं है । उससे परे 'सन्' धातु है, 'सन्' प्रत्यय नहीं है । इसलिये दीर्घ नहीं होता ।

'लिङ्येत्वे' जैसे—'ग्लेयात्', 'म्लेयात् यहाँ 'ग्लै', 'म्लै' ये संयोगान्त 'अंग' हैं । उनसे आर्धधातुक 'लिङ्' परे होने पर "वान्यस्य संयोगादेः"[7] से 'एत्व' हो

---

१. पा० ६.१.१५, १६ ।
२. पा० ६.१.१०८ ।
३. पा० ६.४.२ ।
४. वही ।
५. पा० ६.४.३ ।
६. पा० ६.४.१६ ।
७. पा० ६.४.६८ ।

जाता है किन्तु 'निर्यायात्', 'निर्वायात्' यहाँ जो 'या', 'वा' अंग हैं, वे संयोगादि नहीं हैं और जो 'निर्' का रेफ मिलाकर संयोगादि बनते हैं, वे 'अंग' नहीं हैं। इसलिये 'एत्व' नहीं होता।

'अतो भिस ऐस्त्व' जैसे—'वृक्षैः', 'प्लक्षैः' यहाँ 'वृक्ष', 'प्लक्ष' शब्दों के 'अंगसंज्ञक' होने से "अतो भिस ऐस्[1] से 'भिस्' को 'एस' आदेश हो जाता है किन्तु 'ब्राह्मण भिस्सा', 'ओदनभिस्सटा' यहाँ 'भिस्सा' का अवयव 'भिस्' शब्द प्रत्यय नहीं है। उसके परे रहते 'ब्राह्मण' यह अदन्त 'अंग' नहीं है। इसलिए 'ऐसादेश' नहीं होता। 'लुङादिष्वडाटौ' जैसे—'अकार्षीत्', 'ऐहिष्ट' यहाँ 'कृ' और 'ईह' धातुओं के 'अंग-संज्ञक' होने से 'लुङ', में "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः", "आडजादीनाम्"[2] से क्रमशः 'अट्', 'आट्' हो जाते हैं। किन्तु 'प्राकरोत्,' 'उपैहिष्ट' यहाँ 'प्र', 'उप' सहित 'कृ' और 'ईह' धातुओं के 'अंग' न होने से 'लुङ्', 'लङ्' में उनसे पूर्व 'अट','आट्' नहीं होते।

'इयङ्', उवङ्' आदि जैसे—'श्रियौ', 'भ्रुवौ' यहां 'श्री', 'भ्रू' शब्दों के 'अंग संज्ञक' होने से "अचि श्नु धातु भ्रुवाम्:"[3] से 'इयङ्', 'उवङ्' हो जाते है। किन्तु 'श्र्यर्थम्' 'भ्र्वर्थम्' यहां 'अर्थ' शब्द परे होने पर 'श्री', 'भ्रू' के 'अंग संज्ञक' न होने से 'इयङ्', 'उवङ्' नहीं होते। किन्तु 'अंगाधिकार' से बहिर्भूत "इको यणचि"[4] से सामान्य 'यणादेश' ही होता है। 'युष्मद् अस्मद्' जैसे—'युष्माकम्', 'अस्माकम्;। यहां 'युष्मद्', 'अस्मद्' शब्दों के अंगसंज्ञक' होने से "साम आकम्[5] से सुट्सहित 'आम्' को 'आकम्' आदेश होता है किन्तु 'युष्मत्साम्', 'अस्मत्साम' यहां 'साम' शब्द परे रहते 'युष्मद्', अस्मद्' के 'अंगसंज्ञक' न होने से "आकम्' आदेश नहीं होता।

'तातङ्' आदेश जैसे – 'जीवतु', 'जीवतात्' यहां 'अंगसंज्ञक' 'जीव्' धातु से परे 'तु' को 'तुह्योस्तातङाशिष्यन्तरस्याम्"[6] से 'तातङ्' होता है किन्तु 'पचतु तावत्' यहां 'तु' शब्द निपात है, प्रत्यय नहीं है। उसके परे रहते 'पच्' यह 'अंग' भी नहीं है, अतः 'तातङ्' नहीं होता।

---

१. पा० ७.१.९ ।
२. पा० ६.४.७१,७२ ।
३. पा० ६.४.७७ ।
४. पा० ६.१.७७ ।
५. पा० ७.१.३३ ।
६. पा० ७.१.३५ ।

'आमिनुट्' जैसे—'कुमारीणाम्' यहां 'कुमारी' शब्द के 'अंगसंज्ञक' होने से 'आम्' प्रत्यय को "ह्रस्वनद्यापो नुट्"[1] से 'नुडागम' होता है। किन्तु 'कुमारी आमित्याह' यहाँ 'आम्' शब्द प्रत्यय नहीं है। उसके परे होने पर 'कुमारी' के 'अंगसंज्ञक' न होने से 'आम्' को 'नुट्' नहीं होता।

'आने मुक्' यथा—'पचमानः', 'यजमानः' यहां 'पच्', 'यज्' धातुओं के 'आन' प्रत्यय परे रहते 'अंगसंज्ञक' होने से "आने मुक्"[2] से अदन्त 'अंग' को 'मुक्' का आगम होता है। किन्तु 'प्राणः' (प्र+आनः) यहाँ 'आन' के प्रत्यय न होने से 'प्र' शब्द 'अंगसंज्ञक' नहीं हैं। अतः उसको 'मुक्' का आगम नहीं होता।

'के ह्रस्व' जैसे—कुमारिका' यहाँ 'क' प्रत्यय परे रहते 'कुमारी' शब्द के 'अंगसंज्ञक' होने से "केऽणः"[3] से 'कुमारी' शब्द को ह्रस्व होता है। किन्तु 'कुमारी कायति कुमारीकः' यहाँ 'क' शब्द के प्रत्यय न होने से उसके परे होने पर 'कुमारी' शब्द 'अंगसंज्ञक' नहीं है अतः 'कुमारी को ह्रस्व नहीं होता।

'यि दीर्घ' जैसे—'चीयते', 'स्तूयते' यहाँ 'यक्' प्रत्यय परे रहते 'चि', 'स्तु' धातुओं के 'अंगसंज्ञक' होने से "अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः"[4] से दीर्घ होता है। किन्तु 'दधियानम्', 'मधुयानम्', में 'दधि', मधु' के 'अंगसंज्ञक' न होने से दीर्घ नहीं होता।

'भितत्व' जैसे—'अद्भिः', 'अद्भ्यः' यहां 'भिस्' 'भ्यस्' प्रत्यय परे रहते 'अप्' शब्द के अंगसंज्ञक' होने से "अपोभि"[5] से 'अप्' के पकार को तकार होता है किन्तु 'अब्भारः', 'अब्भक्षः' यहाँ 'अप्' शब्द के 'अंगसंज्ञक' न होने से पकार को तकार नहीं होता। वार्तिकानुसार ये सब प्रयोजन 'अंगाधिकार' के बनते हैं।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

अब भाष्यवार्तिककार स्वयं ही उक्त प्रयोजनों का निराकरण एवं प्रत्याख्यान करते हुये इस सूत्र को व्यर्थ सिद्ध करते हैं—

---

१. पा० ७.१.५४।
२. पा० ७.२.८२।
३. पा० ७.४.१३।
४. पा० ७.४.२५।
५. पा० ७.४.४८।

"नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । कथम् । अर्थवद्ग्रहण प्रत्ययग्रहणाभ्यां सिद्धम् । अर्थवद्ग्रहणप्रत्ययग्रहणाभ्यामेवैतानि सिद्धानि । क्वचित् अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य इत्येवं न भविष्यति इति । अथवा प्रत्यय इति प्रकृत्य अंगकार्यमध्येष्ये" ।[1]

सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार का यहां यह आशय है कि इस सूत्र के ऊपर कहे प्रयोजन अन्यथासिद्ध हैं । कहीं तो "अर्थवद्ग्रहणे नानार्थकस्य"[2] इस परिभाषा से गतार्थता है और कहीं "प्रत्ययाप्रत्यययोर्ग्रहणे प्रत्ययस्यैव ग्रहणम्"[3] इस परिभाषा से ये प्रयोजन गतार्थ हो जाते हैं । इसलिये निष्प्रयोजन होने से यह सूत्र व्यर्थ है । इसके व्यर्थ होने पर सारा 'अङ्गाधिकार' ही व्यर्थ हो जाता है । उक्त परिभाषाओं का अर्थ है कि अर्थवान् शब्द के ग्रहण में अनर्थक शब्द का ग्रहण नहीं होता । प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों के ग्रहण की सम्भावना में प्रत्यय का ही ग्रहण होता है, अप्रत्यय एवं प्रत्यय से भिन्न का नहीं । उपरिकथित उदाहरणों में ये दोनों परिभाषायें यथासम्भव घट जाती हैं । यदि यह कहा जाये कि 'निरुतम्', 'दुरुतम्' यहाँ उक्त दोनों परिभाषाओं में से किसी की प्रवृत्ति न होने से 'अङ्गाधिकार' के बिना "हलः"[4] से दीर्घ प्राप्त होगा ही । इसी प्रकार 'प्राकरोत्', 'उपैहिष्ट' यहाँ भी दोनों परिभाषाओं में से किसी की भी प्रवृत्ति सम्भव न होने से 'अट्', 'आट्' का आगम उपसर्ग से पूर्व प्राप्त होगा ही । उसके लिये 'अङ्गाधिकार करने की आवश्यकता है तो इसका उत्तर है कि "अङ्गस्य" न बनाकर उसके स्थान में "प्रत्यये" ऐसा सूत्र बना दिया जायेगा । 'प्रत्यय' शब्द 'अङ्ग' का आक्षेप स्वय कर लेगा । क्योंकि "यस्मात् प्रत्ययविधिः"[5] सूत्र से 'प्रत्यय' परे होने पर ही 'अङ्ग संज्ञा' होती है । "प्रत्यये" सूत्र का अर्थ होगा कि 'प्रत्यय' परे होने पर जो 'अङ्ग' है उसको कार्य होता है । इस तरह बिना "अङ्गस्य" इस सूत्र के ही सब कार्य 'अङ्ग' को हो जायेंगे । "प्रत्यये" कहने से एक लाभ यह भी होगा कि 'प्राकरोत्', 'उपैहिष्ट' यहाँ उपसर्ग से पूर्व 'अट्', 'आट्' नहीं होंगे । क्योंकि "प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति"[6] इस परिभाषा के वचन से

---

१. महा० भा० ३, सू० ६.४.१, पृ० १८० ।

२. परि० सं० १४ ।

३. परि० सं० १०२ ।

४. पा० ६.४.२ ।

५. पा० १.४.१३ ।

६. परि० सं० २३ ।

जिससे प्रत्यय किया है तदादि का ही ग्रहण होगा तो धातु से पूर्व ही 'अट्', 'आट्' होंगे, उपसर्ग से पूर्व नहीं। "प्रत्यये" कहने में एक और लाभ है कि अलग से "प्रत्यये" यह सूत्र भी न बनाना पड़ेगा। "यस्मात् प्रत्ययविधिः"[1] इस 'अंग संज्ञा' सूत्र में पठित 'प्रत्ययेऽङ्गम्' इस शब्द से ही 'प्रत्यय' और 'अङ्ग' का बोध हो जायेगा। 'प्रत्यय' परे होने पर 'अङ्ग संज्ञा' होगी और अङ्ग को ही 'प्रत्यय निमित्त' कार्य होगा। ऐसी अवस्था में कहीं दोष न आने से यह सूत्र प्रत्याख्येय है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

'अर्थवद्ग्रहण' परिभाषा और 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा दोनों को यथा-सम्भव स्वीकार करने पर भी सब प्रयोजनों की अभीष्ट सिद्धि हो जायेगी तथा अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोष नहीं आयेंगे, यह बात पूरी तरह बुद्धि में नहीं बैठती। 'अङ्गाधिकार' के अतिविस्तृत क्षेत्र को ये दोनों परिभाषायें व्याप्त कर लेंगी, ऐसा निःशंक होकर नहीं कहा जा सकता। 'अंगाधिकार' के केवल इतने ही प्रयोजन नहीं है जो पीछे वार्तिककार ने कहे हैं। यह तो "प्रयोजनानामुदाहरणमात्रम्" वाली बात है। इसलिये उक्त परिभाषाओं द्वारा समाधान से असन्तुष्ट होकर भाष्यकार ने "अथवा प्रत्यये इति प्रकृत्यांग-कार्यमध्येष्ये"[2] ऐसा उद्घोष किया है। उससे उनका हार्दिक भाव 'अङ्गाधिकार' को रखने में ही प्रतीत होता है। उद्द्योतकार नागेश लिखते भी हैं—

"तस्मात् अङ्गाधिकारः कर्तव्य इति भगवतो गूढोऽभिसन्धिरिति"।[3]

प्रदीपकार भी "अङ्गस्य" की जगह "प्रत्यये" सूत्र बनाने में अरुचि दिखाते हुए कहते हैं—

"अंगाधिकार प्रत्याख्यानाय प्रत्ययाधिकारे क्रियमाणे न किंचित् प्रयोजनं दृश्यते। अतो भिस ऐस् ईत्यादिषु विभिन्नविभक्तिकत्वात् भिसादीनां प्रत्ययेन सम्बन्धो दुरुपपादः। हल इति सम्प्रसारणदीर्घत्वं च अङ्गाधिकारं बिना निरुतम्, दुरुतम् इत्यादौ न परिहृतं भवति"।[4]

इसलिए भाष्यकार का गूढ़ आशय समझने वाले प्राचीन व्याख्याकारों की दृष्टि में इस सूत्र का रखना ही अत्यावश्यक है। इसका प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। "अङ्गस्य" हटाकर "प्रत्यये" रखने में क्या विशेष प्रयोजन या लाभ है,

---

१. पा० १.४.१३।

२. महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० १८०।

३. प्रकृत सूत्रस्थ महा० प्र० उ० भा० ४, पृ० ६६९।

४. वही।

कुछ नहीं । जैसे—'भ संज्ञा' का अधिकार "भस्य"[1] से तथा 'पदसंज्ञा' का अधिकार "पदस्य"[2] से विहित है, उसी प्रकार 'अङ्गसंज्ञा' का अधिकार भी "अङ्गस्य" इस सूत्र से विहित ही होना चाहिए। इसीलिए भाष्यकार द्वारा आपाततः खण्डन कर दिया जाने पर भी उनकी आन्तरिक इच्छा आदृत करते हुए अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी प्रायः इस सूत्र को स्वीकार किया है अथवा दूसरे शब्दों में सूत्र की सार्थकता को माना है ।[3]

असिद्धवदत्राभात् ॥६.४.२२॥

सूत्र का प्रतिपाद्यः

यह अधिकार सूत्र है । यहाँ से लेकर "भस्य"[4] सूत्र के द्वारा विहित 'भाधिकार' तक इसका अधिकार है । इसका अर्थ है कि इस 'आभीय' प्रकरण में जो जात 'आभीय' कार्य है वह भावी 'आभीय' कार्य के प्रति 'असिद्धवत्' होता है, सिद्ध नहीं माना जाता । यथा—'एधि' । 'शाधि' । यहाँ 'अस्' धातु के लोट लकार के मध्यम पुरुष एकवचन में 'एधि' रूप बनता है । 'सिप्' को 'हि' होकर "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च"[5] सूत्र से 'अस्' के सकार को 'एकार' हो जाता है । "श्नसोरल्लोपः"[6] से 'अस्' के अकार का लोभी हो जाता है । सकार को 'एकार' होकर झलन्त 'अङ्ग' न रहने से "हुझल्भ्यो हेर्धिः"[7] से 'हि' को 'धि' आदेश नहीं प्राप्त होता । इस सूत्र से जात 'आभीय' 'एकार' असिद्ध हो जाता है तो 'झलन्त अङ्ग' मिल जाने से भावी 'आभीय' कार्य 'धि' आदेश होकर 'एधि' यह इष्ट रूप बन जाता है ।

'शाधि' में 'शास्' धातु से लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन में 'सिप्' को 'हि' होकर "शा हौ"[8] से 'शास्' को 'शा' आदेश होता है । 'शा' आदेश के होने पर 'झलन्त अङ्ग' न रहने से 'हि' को 'धि' नहीं प्राप्त होता । इस सूत्र से

१. पा० ६.४.१२९ ।
२. पा० ८.१.१६ ।
३. चा० सू० ५.३.१—'प्रकृतेः' ।
जै० सू० ४.४.१—'गोः' ।
स० सू० ६.३.१—'प्रकृतेः' ॥
४. पा० ६.४.१२९ ।
५. पा० ६.४.११९ ।
६. पा० ६.४.१११ ।
७. पा० ६.४.१०१ ।
८. पा० ६.४.३५ ।

जात 'आभीय शाभाव' असिद्ध हो जायेगा तो भावी 'आभीय' कार्य 'धिभाव' होकर 'शाधि' यह इष्ट रूप बन जाता है।

सूत्र में 'अत्र' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि समान आश्रय वाले 'आभीय' कार्यों में ही 'असिद्धवत्' होता है, विभिन्न आश्रय वाले 'आभीय' कार्यों में नहीं। इससे 'पपुषः पश्य' यहाँ 'पपिवस्' शब्द के लिट्स्थानिक 'क्वसु' प्रत्यय से परे द्वितीया बहुवचन 'शस्' होने पर 'भ संज्ञा' द्वारा "वसोः सम्प्रसारणम्"[1] से 'क्वसु' के वकार को 'उकार' सम्प्रसारण होता है। सम्प्रसारण होकर 'क्वसु' प्रत्यय 'अजादि' हो जाता है तो "आतो लोप इटि च"[2] से 'पा' धातु के आकार का लोप होकर 'पपुषः' बन जाता है। यहां सम्प्रसारण का आश्रय या निमित्त तो 'शस्' है और अकार का लोप का आश्रय या निमित्त सम्प्रसारण है। दोनों का समान आश्रय न होने से जात 'आभीय' कार्य प्रम्सारण 'असिद्धवत्' नहीं होगा तो आकार का लोप हो जाता है।

'आभात्' शब्द में 'आङ्' शब्द 'अभिविधि' अर्थ में है। 'भाधिकार' को व्याप्त करके अर्थात् जहाँ तक "भस्य"[3] का अधिकार जाता है, षष्ठाध्याय के चतुर्थ पाद पर्यन्त, वहां तक 'असिद्धवत्' का अधिकार है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यकार पहले तो 'कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि' गिनाते हैं जो कि वार्तिककार को भी अभिमत हैं। तद्यथा—

"(१) प्रयोजनं 'शैत्वं धित्वे। एधि, शाधि। (२) हिलोप उत्वे। कुरु। (३) तास्ति लोपेण्यणादेशा अडाड्विधौ। अकारि, एहि, आयन्, आसन। (४) अनुनासिकलोपो हिलोपाल्लोपयोर्जभावश्च। आगहि, जहि, गतः, गतवान्। (५) सम्प्रसारणमवर्णलोपे। मघोनः, मघोना। (६) रेभाव आल्लोपे, दध्रे"।[4]

बाद में इन छः वार्तिकों द्वारा 'एधि', 'शाधि' आदि प्रयोजन, जो वार्तिककार ने निर्दिष्ट किये हैं, भाष्यकार इन सबका "एतदपि नास्ति प्रयोजनम्", "एतदपिनास्ति प्रयोजनम्" कहकर निराकरण कर देते हैं। उक्त प्रयोजनों में एक भी प्रयोजन ऐसा नहीं है जो भाष्यकार ने अन्यथा सिद्ध या प्रत्याख्यात न किया हो। सभी प्रयोजनों का खण्डन करने के बाद यह सूत्र स्वतः खण्डित हो जाता है।

---

१. पा० ६.४.१३१।
२. पा० ६.४.६४।
३. पा० ६.४.१२९।
४. महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० १८७-८९।

इस प्रकार वार्तिककार की दृष्टि में सूत्र का प्रयोजन होने पर भी भाष्यकार की दृष्टि में प्रयोजनों की अन्यथासिद्धि हो जाने से इस सूत्र का प्रत्याख्यान सम्भव हो जाता है। श्लोकवार्तिक के रूप में भाष्यकार कहते हैं—

"चं भगवान् कृतवांस्तु तदर्थं णेरपि चेटि भवेद् विनिवृत्तिः। म्वोरपि ये च तथाप्यनुवृत्तौ चिण्लुकि च क्ङित एव हि लुक् स्यात्"।[1]

इसका भाव यही है कि इस सूत्र के बिना भी इष्ट सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यद्यपि भाष्यकार ने सूत्र के सब प्रयोजनों को अन्यथासिद्ध करके इसका प्रत्याख्यान कर दिया है, तो भी आगे कहे गये भाष्यकार के ये वचन "आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन्" इत्यादि, यह सिद्ध करते हैं कि प्रयोजनों की अन्यथासिद्धि होने पर भी यह सूत्र आरम्भ करना ही चाहिए। इधर-उधर की क्लिष्ट कल्पनाओं में भटकने की बजाय इस सूत्र का बनाना ही उचित है।[2] इसीलिए पदमंजरीकार कहते हैं—

"प्रतिपत्तिगौरव परिहारार्थं सूत्रमिदमारब्धव्यम् इति"[3] अर्थात् स्पष्ट प्रतिपत्ति एवं ज्ञान के गौरव से बचने के लिए यह सूत्र बनाया गया है। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को लेकर अर्वाचीन वैयाकरणों ने भी प्रकृत सूत्र को अपने-अपने तन्त्रों में स्थान दिया है। हाँ, यह बात अलग है कि इन्होंने वार्तिककार द्वारा प्रस्तावित संशोधनों को लेकर इसे एक परिष्कृत सूत्र का रूप दिया है।[4]

अस्तु, भाष्यकार की यह शैली प्रायः अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होती है कि ये पहले आपाततः किसी सूत्र का प्रत्याख्यान करके फिर उसकी सत्ता को मूक

---

१. महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० १८९-९०।

२. द्र० महा० प्र० भा० ४, पृ० ६९५—'अनेकपरिहाराश्रयणे प्रतिपत्तिगौरवं मा भूदित्येवमर्थमारभ्यमाणे इत्यर्थः।

३. प० मं० सूत्र० ६.४.२२। तुलना करो बृ० श० शे०, भा० ३, पृ० १६०४—'स्पष्टार्थत्वात्। ध्वनितं चेदमारभ्यमाणेऽप्येतस्मिन् इत्यादिना भाष्येण'।

४. (क) चा० सू० ५.३.२१—'प्राग्युवोरवुग् युगसिद्धं समानाश्रये'।
(ख) जै० सू० ४.४.२१—'असिद्धवदत्राभात्'।
(ग) स० सू० ६.३.१९—'प्राग्युवोरवुग् युगसिद्धं समानाश्रये'।

स्वीकृति दे देते हैं। जैसे "समर्थानां प्रथमाद्वा"[१] यह सूत्र पहले प्रत्येक पद कृत्य के साथ खण्डित करके बाद में भाष्यकार पुनः पूछते हैं—"अथैतत् समर्थग्रहणं न कर्त्तव्यम्। कर्त्तव्यं च" अर्थात् तो फिर क्या यह समर्थ सूत्र नहीं बनाना चाहिए। उत्तर देते हैं—बनाना ही चाहिये। भाव यह है कि सूत्र के प्रत्याख्यान की अपेक्षा अन्वाख्यान ही उत्तम है। उससे प्रयोजनान्तर की सिद्धि सम्भव है। इसलिए यह सूत्र भी भाष्यकार की दृष्टि में प्रत्याख्येय न मानकर अन्वाख्येय ही माना जाना चाहिये। "श्नसोरल्लोपः"[२] सूत्र में अकार के तपर करने से आभीयासिद्धत्व प्रतिपादक इस सूत्र की अनित्यता तो स्पष्ट होती है किन्तु सर्वथा सत्ता का अभाव प्रकट नहीं होता।

---

१. पा० ४.१.८२।

२. वही, ६.४.१११।

सप्तम अध्याय

वैदिक सूत्रों का प्रत्याख्यान

दीधीवेवीटाम् ॥१.१.६॥

सूत्र की आवश्यकता पर विचार

'दीधीङ्' तथा 'वेवीङ्' ये दोनों धातु अदादिगण में पठित 'जक्षिति' आदि सात धातुओं के साथ पढ़ी गई हैं।[1] दोनों ही आत्मनेपदी[2] तथा अभ्यस्तसंज्ञक[3] हैं। उक्त सूत्र दोनों धातुओं को प्राप्त होने वाले इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध करता है। तथा साथ ही "आर्धधातुकस्यैड् वलादेः"[4] सूत्र से विहित इडागम को भी प्राप्त गुण का निषेध करता है। इडागम को वृद्धि तो स्वतः प्राप्त नहीं अतः उसका निषेध स्वतः सिद्ध है।[5] इनमें 'दीधीङ्' 'वेवीङ्' के उदाहरण यथा—

'दीध्यांचक्रे'। 'वेव्याञ्चक्रे'।

यहाँ लिट् में 'आम्' परे रहते प्राप्त सार्वधातुक गुण का इस सूत्र से निषेध होकर "एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य"[6] सूत्र से 'यण्' हो जाता है।

इसी प्रकार 'आदीध्यनम्' 'आवेव्यनम्' यहाँ भी 'आङ्'पूर्वक 'दीधी' 'वेवी' धातुओं से 'ल्युट्' प्रत्यय परे होने पर प्राप्त सार्वधातुक गुण का इस सूत्र से निषेध होकर "एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य" से 'याण्' होता है। "युवोरनाको"[7] से 'ल्युट्' के 'यु' को 'अनादेश' हो जाता है।

इसी प्रकार 'आदीध्यकः'। 'आवेव्यकः' यहाँ पर भी 'ण्वुल्' प्रत्यय परे रहते प्राप्त "अचोञ्णितिवृद्धिः"[8] का इस सूत्र से निषेध होकर "एरनेकाचोऽ-

---

१. पा० ६.१.६—'जक्षित्यादयः षट्'।

२. पा० १.३.१२—'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्'।

३. पा० ६.१.६—'जक्षित्यादयः षट्'।

४. पा० ७.२.३५।

५. द्र० का० भा० १, सू० १.१.६, पृ० ८९—'वृद्धिरिटो न संभवतीति लघूपधगुण स्यात्रप्रतिषेधः'।

६. पा० ६.४.८२।

७. पा० ७.१.१।

८. पा० ७.२.११५।

संयोगपूर्वस्य'' से 'यण्' होता है। 'युवोरनाकौ' से 'ण्वुल्' के 'वु' को 'अकादेश' होता है।

'दीधिता', 'दीधिष्यते', 'दीधिषीष्ट' इत्यादि में इणादि प्रत्यय परे रहते तो ''यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः''[1] सूत्र से 'दीधी, वेवी' के 'ईकार' का लोप होने से गुण की स्वतः ही प्राप्ति नहीं, अतः वहाँ इसकी आवश्यकता नहीं।

''यदादीध्ये न दविषाण्येभिः''[2] यहाँ 'आदीध्यै' इस प्रयोग में भी 'दीधी' धातु से लट् लकार के उत्तम पुरुष का एकवचन 'इट्' प्रत्यय है। वह 'सार्वधातुकमपित्''[3] से 'ङित्' है, अतः ''क्ङिति च''[4] से ही गुण निषेध सिद्ध है। वहाँ भी इसकी आवश्यकता नहीं। ये दोनों धातु वैदिक हैं। वेद में ही प्रायः इनका प्रयोग होता है। इनके वैदिक प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।[5]

'इट्' तथा—'भविता', 'पठिता' इत्यादि। यहाँ 'भू', 'पठ्' धातुओं से लुट् लकार में 'तिप्' प्रत्यय को 'डादेश'[6] हुआ। मध्य में 'तास्' विकरण है। उसे ''आर्धधातुकस्यैड्वलादेः'' से 'इट्' का आगम होता है। 'तास्' के परे रहते 'भू' की अङ्गसंज्ञा है,[7] इसलिए उसे सार्वधातुक गुण और अवादेश होकर 'भवितास्+डा' यह स्थिति बनती है। ''चुटू''[8] से 'डा' की इत्संज्ञा और लोप होकर डित्त्वसामर्थ्य से 'तास्' के टिसंज्ञक 'आस्' शब्द का ''टेः''[9] सूत्र से लोप हो जाता है। 'भवित्+आ' इस अवस्था में 'आ' के परे रहते 'भवित्' इसकी दूसरी 'अङ्ग' संज्ञा है।[10] वह लघूपध है, अर्थात् 'भवित्' इस 'अङ्ग'

---

१. पा० ७.४.५३।
२. ऋक्०, १०.३४.५।
३. पा० १.२.४।
४ पा० १.१.५।
५. (क) तुलना करो—माधवीयाधातुवृत्ति, सं० द्वारिकादास शास्त्री, पृ० ३८१—सेटावात्मनेभाषाविमौ छान्दसौ इति भाष्यवार्तिकयोः स्थितम्। दृष्टानुविधिश्छन्दसिभवति। अस्माभिस्तुकालापमतानुसारेणोदाहरणप्रदर्शनं कृतम्।
(ख) वै० सि० कौ०, भा० ३, पृ० ३०४—''दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः एतदादयः पञ्चधातवश्छान्दसाः''।
६. पा० २.४.८५—''लुटः प्रथमस्यडारौरसः''।
७. पा० १.४.१३—'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्'। यहाँ 'तास्' परे रहते 'भू' की 'अङ्ग संज्ञा' व्यपदेशिवद्भाव से होती है—'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' परि० सं० ३०।
८. पा० १.३.७।
९. पा० ६.४.१४३।
१०. यहाँ तो 'व्यपदेशिवद्भाव' के बिना ही 'तदादि' यह अंशघटने से 'अङ्ग संज्ञा' सिद्ध है।

की उपधा में लघु 'इकार' है जो 'इट्' आगम का है। 'पुगन्त लघूपधस्य च'[1] से प्राप्त गुण का इस सूत्र से निषेध हो जाता है तो 'भविता' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। अन्यथा 'भवेता' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। सभी इडागमों में जहाँ भी लघूपध अङ्ग सम्भव है, वहाँ इस सूत्र से ही 'इट्' को गुण का निषेध होता है।

यहाँ यह कहना उचित नहीं कि इस सूत्र में 'दीधी, 'वैवी' ये दो धातु ही क्यों ली गई। 'दीङ', 'धीङ', 'वेञ्', तथा 'वी' ये चार धातु पृथक्-पृथक् क्यों न मानी जायें।

क्योंकि "अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी"[2] इस परिभाषा के बल से जहाँ समुदाय में कार्य प्रसिद्ध हो वहाँ अवयव में कार्य नहीं माना जाता। 'दीधी' तथा 'वैवी' ये दो समुदाय हैं। इनके अवयव 'दीङ', 'धीङ', 'वेञ्' तथा 'वी' ये यहाँ नहीं लिए जायेंगे, 'दीधी' तथा 'वैवी' यह समुदाय ही लिया जाएगा। इसलिये 'दीधीङ' तथा 'वेवीङ' इन दो धातुओं को ही प्राप्त गुणवृद्धि का यह सूत्र निषेध करता है।[3]

इसके साथ ही यह शंका भी नहीं करनी चाहिये कि 'दीधी' तथा 'वैवी' धातुओं के साहचर्य से 'इट्' भी भ्वादिगण में पठित 'इट् किट् कटी गतौ' यह धातु ही क्यों न लिया जाये। 'इट्' आगम ही क्यों लिया जाये।

क्योंकि "सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्"[4] यह न्याय अनित्य है। सर्वत्र लागू नहीं होता। अतः साहचर्य नियम के अनित्य होने से 'इट्' धातु का ग्रहण नहीं होगा। साहचर्य नियम के अनित्य होने में "द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोर्थे"[5] इस सूत्र में 'कृत्वोर्थे' ग्रहण ही ज्ञापक है। यदि साहचर्य नियम नित्य होतो तो 'द्विः' 'त्रिः' इन दोनों कृत्वोर्थीय 'सुच्' प्रत्ययान्तों के साहचर्य से 'चतुः' भी 'सुच्' प्रत्ययान्त ही गृहीत होता। रेफान्त 'चतुर्' (चतुः) शब्द की स्वतः व्यावृत्ति हो जाती जिसकी व्यावृत्ति के लिये सूत्र में 'कृत्वोर्थ' ग्रहण किया है। यह 'कृत्वोर्थे' ग्रहण करना ही साहचर्य नियम की अनित्यता का सूचक है। इसीलिए जिस प्रकार "सनाशंसभिक्ष उः"[6] सूत्र में

---

१. पा० ७.३.८६।

२. पारि० सं० १०७।

३. द्र० श० कौ० भा० १, पृ० १०६—'अथ दीङ्क्षये, धीङ अनादरे, वेञ् तन्तुसन्ताने, वीगत्यादिषु तेषामिह ग्रहणं कुतो नेति चेत् ? न अवयवप्रसिद्ध्यपेक्षया समुदायप्रसिद्धेर्बलिवत्वात्।

४. परि० सं० ११२।

५. पा० ८.३.४३।

६. पा० ३.२.१६८।

'आङ्' पूर्वक् 'शंस्' धातु तथा 'भिक्ष्' धातु के साहचर्य में भी 'सन्' शब्द से 'वनुषणु संभक्तौ' धातु न लिया जाकर 'सन्' प्रत्यय ही लिया जाता है। उसी प्रकार 'दीधी' तथा 'वेवी' धातुओं के साहचर्य में भी 'इट्' धातु न लिया जाकर 'इट्' आगम ही लिया जाता है[1]।

यहां यह कहना भी उचित नहीं है कि 'दीधीङ्' तथा 'वेवीङ्' दोनों धातु ङित् है। अतः ङित् होने के कारण "क्ङिति च" सूत्र से ही गुणवृद्धि का निषेध सिद्ध हो जाने पर इस सूत्र की क्या आवश्यकता है।

क्योंकि 'क्ङितिच' सूत्र में "क्ङिति" यह निमित्त सप्तमी है। कित्, ङित् तथा गित् को निमित्त मानकर होने वाले गुण वृद्धि का यह निषेध करता है। 'दीधीङ्', तथा 'वेवीङ्' धातुओं का ङित् निमित्त नहीं है। अपितु कार्य को अनुभव करने वाला खुद कार्यभाक् है। "कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्तत्वेन नाश्रीयते"[2] इस परिभाषा के बल से कार्य को अनुभव करने वाला कार्यी का निमित्त नहीं बना करता।[3]

उक्त परिभाषा में "स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते"[4] यहां 'शयितरि' यह निर्देश ही ज्ञापक है।[5] अन्यथा 'शीङ्' धातु के ङित् होने पर 'शयितरि' में गुण कैसे हो गया। यदि कार्य को अनुभव करने वाले 'शीङ्' धातु का ङित् निमित्त माना जाता तो "क्ङिति च" सूत्र से ङित् को निमित्त मानकर 'शयितरि' इस प्रयोग में गुण का निषेध हो जाता। किन्तु यहां गुण हो रहा है, इससे सिद्ध होता है कि कार्यभाक् कभी निमित्त नहीं बना करता।

इसी सन्दर्भ में तुदादिगणान्तर्गत कुटादिगण में पठित 'कुङ् शब्दे' धातु का ङित् भी इस बात का ज्ञापक है कि जो कार्य को अनुभव करने वाला कार्यी है वह निमित्त नहीं माना जाता। अन्यथा 'कुङ् शब्दे' के ङित्व से ही

---

१. द्र०श०कौ०, भा० १, पृ० १०६—'इट् चात्रागम एव गृह्यते न इट् गतौ इति धातुः। ननु धातुसाहचर्याद्धातगृह्यताम्। मैवम्, साहचर्य नियमस्य सर्वत्रानियामाकत्त्वात्। अन्यथा द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोर्थे इति सूत्रे कृत्वोर्थं ग्रहणं न कुर्यात्'।

२. परि० सं० १०।

३. द्र० श० कौ०, भा० १, पृ० १०७—'दीधीवेव्योर्ङित्वात् क्ङिति च इति सूत्रेणैव निषेधोऽस्तु। किमिह दीधीवेवीग्रहणेन। मैवम्, इग्लक्षणयोर्हि स निषेध इत्युक्तम्। न च कार्यी निमित्ततया आश्रीयते च्यवते, प्लवते इत्यादावपि गुणनिषेधापत्तेः'।

४. पा० ४.२.१५।

५. द्र० शा० कौ०, भा० १, पृ० १०७—'अत्र च लिङ्गं कुटादिमध्ये कुङ्शब्दे इत्यस्यपाठः, स्थण्डिलाच्छयितरि इति निर्देशश्च।

गुण निषेध सिद्ध हो जाने पर भी जो उसे कुटादिगण में पढ़कर 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्'[1] सूत्र से 'कुङ्' से परे प्रत्यय का ङित्व विधान किया है, वह व्यर्थ हो जाता है।

"कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते" इस परिभाषा के होने से ही 'अरिरिषति' यहां "सन्यङोः"[2] से विहित अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को होने वाला द्वित्व 'रिस्' शब्द को सिद्ध हो जाता है। 'अरिरिषति' में 'ऋ' धातु से 'सन्' परे रहते "स्मिपूङ्रञ्ज्वशांसनि"[3] से 'इट्' का आगम होकर सार्वधातुक गुण होता है। 'अ+रिस्' इस अवस्था में 'रिस्' शब्द को द्वित्व होकर 'अरिरिषति' यह स्पष्ट रूप बन जाता है। यहां 'रिस्' शब्द स्वयं द्वित्व रूप कार्य का अनुभव करने वाला कार्यभाक् है अतः "सन्यङोः" के सप्तमी पक्ष में 'सन्' परे रहते द्वित्व होने में निमित्त नहीं बन सकता। कार्यी 'रिस्' में अजादि 'सन्' को द्वित्व का निमित्त न मानने के कारण ही "द्विर्वचनेऽचि"[4] सूत्र से 'ऋ' के स्थान में हुए 'अर्' इस सार्वधातुक गुण को 'स्थानिवत्' नहीं होता। 'ऊर्णुनविषति' में तो 'इस्' शब्द स्वयं द्वित्व रूप कार्य को अनुभव करने वाला कार्यभाक् नहीं है अतः वहां 'सन्' को निमित्त मानकर "द्विर्वचनेऽचि" से 'ऊर्णु' को हुए सार्वधातुक गुण तथा अवादेश को 'स्थानिवद्भाव' करके 'नु' शब्द को द्वित्व सिद्ध हो जाता है।[5] इस प्रकार सूत्र का प्रयोजन तथा उसकी स्थापना स्थिर हो जाती है।

छान्दस होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि उक्त सूत्र में तीन अंश हैं—'दीधी' और 'वेवी' ये दो धातु तथा 'इट्' का आगम। इन में भाष्यकार के साथ वार्तिककार ने तो केवल 'दीधी', 'वेवी' धातुओं का ही प्रत्याख्यान किया है। 'इट्' का नहीं। 'इट् ग्रहण' के प्रत्याख्यान के विषय में वे मौन हैं। 'इट् ग्रहण' के खण्डन की बात तो पतञ्जलि ने उठाई है तथा उन्होंने इसका प्रत्याख्यान भी किया है। यह बात अलग है कि पश्चाद्वर्ती वैयाकरणों को भाष्यकार द्वारा किया गया 'इट्' का खण्डन एकदेशी युक्ति-प्रयुक्त होने से मान्य नहीं है। यहाँ 'दीधी', 'वेवी' के प्रत्याख्यान के लिए वार्तिककार कहते हैं।

---

१. पा० १.२.१।
२. पा० ६.१.९।
३. पा० ७.२.७४।
४. पा० १.१.५९।
५. द्र० शा० कौ०, भा० १, पृ० १०८—'अरिरिषति इत्यत्र हि अजादेर्द्वितीयस्य इति रिस् शब्दे द्वित्वप्रवृत्तिः। तदन्तर्गतश्चेस् शब्द इति नासौ द्वित्वं प्रतिनिमित्तं कार्यं भाक्त्वात्। ऊर्णुनविषति इत्यत्र तु नव् शब्दस्य द्वित्वं प्राप्त तदनन्तर्गतश्चेस्शब्द इतिभवत्येव निमित्तं तद्भावभाविता-मात्रेणेहनिमित्तता—तथा च द्विर्वचनेऽचि इति स्थानिवद्भावान्नु शब्दस्य द्वित्वमुचितमेव'।

"दीधीवेव्योश्छन्दोविषयत्वाद् दृष्टानुविधित्वाच्च छन्दसः छन्दसि अदीधैत् अदीधयुरिति गुणदर्शनादप्रतिषेधः।"[1] अर्थात् 'दीधी, 'वेवी' ये दोनों धातु छान्दस हैं, वैदिक हैं और वेद में दृष्टानुविधि होती है, यानि जैसा प्रयोग देखते हैं वैसा कर लेते हैं, बल्कि इस निषेध सूत्र के रहते हुए भी 'अदीधेत्' 'अदीधयु' इत्यादि वैदिक प्रयोगों में गुण दिखाई पड़ता है—ऐसी अवस्था में यह सूत्र व्यर्थ प्रतीत होता है। जिस प्रयोजन के लिए यह सूत्र बनाया गया था, जब वह प्रयोजन ही सिद्ध नहीं हुआ तो सूत्र अनावश्यक है।

गुण निषेध वाले वैदिक प्रयोग तो शायद ही कोई हों, परन्तु गुण वाले प्रयोग तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। यथा—'अदीधेत्'[2] यहां लङ् लकार में 'तिप्' प्रत्यय परे रहते इस सूत्र से सार्वधातुक गुण का निषेध होना चाहिये। परन्तु हुआ नहीं।

इसी प्रकार 'अदीधयुः'[3] यहां भी लङ् में 'झि' को 'जुस्' होने पर "जुसि च"[4] तो "क्ङिति च" इस सामान्य विहित गुण निषेध को ही रोक सकता है। "दीधीवेवाटाम्" यह गुण निषेध तो विशेष है। उसको "जुसि च" नहीं रोक सकता फिर भी 'अदीधयुः' गुण का निषेध निखाई न देकर गुण का विधान ही दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त सूत्र निष्प्रयोजन हैं।

यदि वेद में कहीं पर 'दीध्यत्'[5] यह प्रयोग दिखाई पड़ता है तो उसके लिए भी इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि 'दीध्यत्' में 'दीधी' धातु से लेट् लकार में 'तिप्' प्रत्यय परे रहते "व्यत्ययो बहुलम्"[6] से 'श्यन्' विकरण कर लिया जाएगा। "यीवर्णयोदीधीवेव्योः"[7] सूत्र से 'यकार' परे रहते 'दीधी' की 'ईकार' का लोप हो जाएगा तो 'दीध्यत्' यह प्रयोग बन जाएगा। "इतश्च लोपः परस्मैपदेषु"[8] से 'तिप्' के 'इकार' का लोप लट् लकार में ही होता है। "लेटोऽडाटौ"[9] से 'तिप्' को 'अट्' का आगम भी हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'दीध्यत्' यदि यह शत्रन्त रूप माना जाये तो वहां भी 'शतृ' प्रत्यय के 'ङित्' होने से[10] स्वतः ही गुण का निषेध होकर "एरनेकाचोऽसंयोग-

१. महा० प्रकृतसूत्र, पृ० ५५।
२. द्र० ऋक् १०.९८.७—'होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्'।
३. द्र० ऋक् ७.३३.५—'अदीधयुर्दाशराज्ञे वृतासः'।
४. पा० ७.३.८३।
५. द्र० मा० यजु० ६.२०—'ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे निदीध्यत्' यहाँ 'निदीध्यत्' यह क्रियापद के रूप में प्रयोग मिलता है। कठकपिष्ठसंहिता २.१४।
६. पा० ३.१.८५।
७. पा० ७.४.५३।
८. पा० ३.४.९७।
९. पा० ३.४.९४।
१०. पा० १.२.४—'सार्वधातुकमपित्'।

पूर्वस्य"[1] से यण् हो जाएगा। इस प्रकार 'दीधी', 'वेवी' धातुओं के लिए तो इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं।

प्रकृत सन्दर्भ में भाष्यकार ने वार्तिककार का आन्तरिक अभिप्राय समझते हुए पूरे सूत्र का ही प्रत्याख्यान करना उचित समझा है। इनके कहने का आशय यह है कि 'दीधी', 'वेवी' धातुओं के खण्डन के साथ 'इट्' के आगम को भी गुणवृद्धि रोकने के लिए उक्त सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि 'भविता' इत्यादि में 'इडागम' को गुण रोकने के लिए ऐसा किया जाएगा कि सातवें अध्याय के द्वितीय पाद के "नेड्वशिकृति"[2] इस सूत्र से 'इट्' की अनुवृत्ति चलती है। वह "आर्धमातुकस्येड्वलादेः"[3] इस सूत्र में भी आती है। 'इट्' की अनुवृत्ति आने पर जो उस सूत्र में पुनः 'इड् ग्रहण' किया है; वह इस बात का ज्ञापक एवं बोधक माना जाएगा कि 'इट्', 'इट्' ही रहे। उसे कोई गुणादि विकार न हो।[4] ऐसी अवस्था में 'भविता' आदि में 'इट्' को निर्विकार रखने के लिए गुण का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाएगा।

'ग्रहिता', 'ग्रहीष्यति' इत्यादि में तो "ग्रहोऽलिटिदीर्घः"[5] इस वचन सामर्थ्य से 'इट् को दीर्घ कर लिया जाएगा।

किंच—'इट्' को कोई विकार नहीं होता, 'इट्' ही रहता है। यह नियम केवल अङ्गाधिकार सम्बन्धी कार्यों के लिए ही माना जायगा तो 'पिपठीः' यहां पदान्त में "वोरुपधायादीर्घ इकः"[6] से होने वाला 'इट्' को दीर्घ हो जायेगा।[7] अथवा दीर्घ के असिद्ध होने से 'पिपठीः' में 'इट्' अविकृत ही रहेगा।[8] 'अलावीत्' इत्यादि में 'सवर्णदीर्घ' के अंग कार्य से भिन्न होने के कारण वहां यह नियम लागू नहीं होगा तो 'इट्' का दीर्घ होता रहेगा। तथा 'पिपठिष्' शब्द के नपुंसक बहुवचन में 'इमानि कुलानिपिपठिषि' यही रूप बनता है, 'पिपठीषि' रूप अशुद्ध है। इसलिए वहां भी 'इट्' के अविकृत

१. पा० ६.४.८२।
२. पा० ७.२.८।
३. पा० ७.२.३५।
४. द्र० महा०, भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ५६—'आर्धधातुकस्येड्वलादेः इत्यत्र इडित्यनुवर्तमानेपुनरिड् ग्रहणस्येदं प्रयोजनम्—इड् इडैव यथा स्यात् यदन्येत्प्राप्नोति तन्माभूदिति।
५. पा० ७.२.३७।
६. पा० ८.२.७६।
७. द्र० महा०, भा० १, प्रकृत सूत्र, पृ० ५६—'आङ्गं यत्कार्यतन्नियम्यते न चैतदाङ्गम्'।
८. पा० पृ० ५६—'अथवा असिद्धं दीर्घत्वं तस्यासिद्धत्वात् नियमो न भविष्यति'।

रूप में रहने से कहीं दोष नहीं आएगा। इस प्रकार 'इट्' के आगम के साथ-साथ यह सूत्र ही अनावश्यक सिद्ध हो जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में उद्योतकार नागेश के मत में भाष्यकार द्वारा 'इट्' के आगम का खण्डन तथा उसका प्रकार दोनों ही एकदेश्युक्ति प्रतीत होती हैं, क्योंकि "इडिति वर्तमाने पुनरिड् ग्रहणस्येदं प्रयोजनम् इड् इडेव यथा स्यात्। यदन्यत् प्राप्नोति तन्माभूदिति"[1] भाष्यकार के इस कथन की प्रतिक्रिया में नागेश का विचार है कि "नेड्वशिकृति"[2] इस सूत्र से 'न' और 'इट्' ये दोनों आवृत्त चले आ रहे थे। "आर्धधातुकस्येड्वलादेः"[3] इस सूत्र में पुनः 'इट्' का ग्रहण 'नेट्' के एकदेश 'न' की निवृत्ति के लिए हो सकता है, क्योंकि उक्त सूत्र में 'इड्' ग्रहण ही अभीष्ट है, 'न' ग्रहण नहीं। अन्यथा 'न' भी अनुवृत्तिरूपेण उक्त सूत्र में उपस्थित होता था। इस प्रकार "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" सूत्र में पुनः 'इट्' का ग्रहण "इड् इडेव यथा स्यात् यदन्यत्प्राप्नोतितन्माभूत्" इसका ज्ञापक नहीं बन सकता। ऐसी स्थिति में 'इट्' को जो गुण-वृद्धि प्राप्त होते हैं उनको रोकने के लिए प्रयुक्त सूत्र में 'इड्' ग्रहण की आवश्यकता होने से वह प्रत्याख्येय नहीं हैं।[4] इस प्रकार नागेश के मत में भाष्यकार द्वारा किया 'इड्' ग्रहण का प्रत्याख्यान सिद्धान्तरूपेण किया गया नहीं लगता है, अपितु मनोविनोदार्थ या बुद्धिवैभव के प्रदर्शनार्थ ही 'इड्' ग्रहण का खण्डन किया गया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहां पर यह विचारणीय है कि वार्तिककार ने केवल 'दीधी', 'वेवी' का ही प्रत्याख्यान किया है और उसमें हेतु दिया है—दोनों धातुओं का वैदिक या छान्दस् होना। 'इट्' के विषय में इन्होंने स्पष्ट कुछ नहीं कहा। भाष्यकार ने ही लगे हाथों 'दीधी' 'वेवी' के साथ 'इट्' के आगम का भी खण्डन कर

---

१. महा० भा० १, सू० १.१.६, पृ० ५६।
२. पा० ७.२.८।
३. पा० ७.२.३५।
४. द्र०, महा० भा० १, प्र० उ० १.१.६, पृ० १५३-१५४—'भाष्ये पुनरिड्ग्रहणस्येति न च नेत्यस्य निवृत्त्यर्थं तत्, स्पष्टं चैदं नेड्वशिकृतीत्यत्र भाष्ये इति वाच्यम्। क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते इति न्यायेन नेड्वशीत्यत्र नञोनिवृत्तिसिद्धेरितिभावः। वस्तुतस्त्वत्रयमिदं भाष्यमेकदेश्युक्तिः। आर्धधातुकस्येति—सूत्रस्थेड्ग्रहणस्य नेड्वशीति सूत्रे भाष्ये प्रत्याख्यानात्। तत्करणेन नियमरूपगुरुतरयत्नमाश्रित्येतत् प्रत्याख्यानस्यायुक्तत्वात्'।

दिया। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में नागेश ने जो यह कहा कि "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" सूत्र में स्थित 'इड्' ग्रहण 'न' की निवृत्ति के लिए चरितार्थ होकर "इड् इडेव यथा स्यात् यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूत्" का ज्ञापक न होने से प्रकृत सूत्रस्थ 'इट्' के प्रत्याख्यान का निमित्त नहीं बन सकता—यह ठीक नहीं, क्योंकि "क्वचिद् एकदेशोप्यनुवर्तते"[1] इस न्याय के अनुसार "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" सूत्र में 'नेट्' के एकदेश 'इट्' की अनुवृत्ति स्वतः सिद्ध हो जाएगी। सम्भवतः इसी आधार पर भाष्यकार ने "आर्धधातुकस्येड्०" सूत्र के 'इड्' ग्रहण का 'नेड्वशिकृति' सूत्र में प्रत्याख्यान कर दिया है। ऐसी स्थिति में 'इड्' ग्रहण व्यर्थ प्रतीत होता है, किन्तु व्यर्थ कोई काम आचार्य करते नहीं। इसलिए व्यर्थ पड़कर "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" सूत्रस्थ 'इड्' ग्रहण, "इड् इडेव यथास्यात्" का ज्ञापक होने से प्रकृत सूत्र के 'इड्' ग्रहण के प्रत्याख्यान का निमित्त बन सकता है। इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

सम्भवतः यहाँ नागेश के द्वारा भाष्यकारोक्त 'इड्' ग्रहण के प्रत्याख्यान को 'एकदेशयुक्ति' कहने के पीछे उनका यह आशय प्रतीत होता है कि जब भाष्यकार "आर्धधातुकस्येड् वलादेः" सूत्रस्थ 'इड्' ग्रहण को "नेड् वशि कृति" सूत्रभाष्य में प्रत्याख्यात कर चुके हैं तो फिर आर्धधातुक सूत्रस्थ 'इड्' ग्रहण प्रस्तुत सूत्र के 'इड्' ग्रहणप्रत्याख्यान का आधार या निमित्त कैसे बन सकता है। इस प्रकार इनके मत में भाष्यकारोक्त प्रत्याख्यान एकांगी या एक तरफा ही माना जाना चाहिए। क्योंकि एक तरफ स्वयं उसीका प्रत्याख्यान तथा दूसरी तरफ उसी प्रत्याख्यात सूत्र के आधार[2] पर किसी अन्य का प्रत्याख्यान 'वदतोव्याघात' सा ही प्रतीत होता है। लेकिन यहाँ नागेश का मत इसलिए स्वीकार नहीं किया गया है कि ये भाष्यकार की प्रसिद्ध प्रत्याख्यान शैली "पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति"[3] को उचित महत्व नहीं दे रहे हैं।

---

१. परि० सं० १२।

२. द्र० महा० भा० ३, सू० ७.२.८, पृ० २८२ "इदमस्ति—नेड्वशि कृतीति। ततो वक्ष्यामि—आर्धधातुकस्य वलादेरिति। इडित्यवर्तते, नेति निवृत्तम। इस भाष्यकथन पर नागेश टिप्पणी करते हैं—"अत्रत्य भाष्याविरोधाद् दीधीवेवीटामिति सूत्रस्थ भाष्यमेकदेश्युक्तिः अत्रेड् ग्रहणं कृत्वा गुरुतरयत्नमाश्रित्य तत्तेड्ग्रहणंप्रत्याख्यानस्या नौचित्यादित्याहुः।

३. महा० भा० १, प्रत्याहाराह्निक ऋलक् सूत्र प्र० २०।

भाष्यकार की यह शैली रही है कि वे शिष्यबुद्धि के परीक्षार्थ या व्युत्पादनार्थ सूत्र को उसके प्रत्येक कोने से झांककर देखते हैं। उस समय वह सूत्र जिसके योग्य होता है, उसका वैसा ही खण्डन या मण्डन कर देते हैं और अन्त में निर्णय पुनः पाठकों पर छोड़ देते हैं। भाष्यकारीय वैज्ञानिक व्याख्यान शैली की यही पराकाष्ठा है कि ये पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों के समर्थन में जोरदार युक्ति प्रस्तुत करके भी निर्णय के समय मौन धारण कर लेते हैं। उस पर, इनकी दृष्टि में, पाठकों का ही अक्षुण्ण अधिकार है कि वे जो चाहें पक्ष ग्रहण करें। भाष्यकार की इस वैज्ञानिक चिन्ताशीलता को न समझने के कारण ही टीकाकार उन स्थलों को 'एकदेश्युक्ति कह देते हैं। इस प्रसंग में कुछ आधुनिक विद्वान तो इन टीकाकारों से भी आगे चले गए हैं। इनके मत में तो ऐसे स्थल भाष्य में प्रक्षिप्त अंश जानने चाहिए जो सर्वथा अयुक्त हैं[1]। यह सब भाष्यकारीय प्रत्याख्यान शैली से परिचित न होने का परिणाम ही कहा जा सकता है। अस्तु, प्रस्तुत सन्दर्भ में भी नागेश से ऐसा ही कुछ हुआ है। अतः उसे अधिक महत्व न देकर भाष्यकारीय प्रत्याख्यान शैली के आधार पर 'इड्' ग्रहण का प्रत्याख्यान मान्य ही है।

इस प्रकार इस सूत्र के प्रत्याख्यान के साथ ही "यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः" यह सूत्र भी स्वयमेव प्रत्याख्यात समझना चाहिए। क्योंकि 'दीधी', 'वेवी' के छान्दस् होने से तन्निष्ठ प्रयोगों में दृष्टानुविधान कर लिया जाएगा। अन्यत्र कहीं पर भी समग्र अष्टाध्यायी में 'दीधी', 'वेवी' के दर्शन नहीं होते। अतः 'दीधी', 'वेवी' सम्बन्धी ये दोनों ही सूत्र प्रत्याख्येय हैं। प्रस्तुत प्रसंग में उत्तरवर्ती वैयाकरणों में से केवल आचार्य चन्द्र, पूज्यपाद देवनन्दी तथा भोजराज ने ही प्रकृत सूत्र पर विचार किया है। इनमें चान्द्र तथा सरस्वती-कण्ठाभरण में तो सूत्र का रूप बदलकर इसका विधेय विषय ही बदल दिया गया है। यहाँ गुण के निषेध का विधान न करके सीधे 'यण्' का ही विधान कर दिया गया है।[2] जैनेन्द्र में दीधी; 'वेवी' इन दोनों धातुओं को छान्दस् होने से छोड़कर केवल 'इट्' को गुणवृद्धि का निषेध माना गया है।[3] दोनों ही स्थितियों में उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सूत्र प्रत्याख्येय ही ठहरता है।

---

१. इस विषय में विशेष विचार के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ का भूमिका भाग दृष्टव्य है।

२. चा० सू० ६.२.१५—यणचि।
स० सू० ७.२.१०८—योऽचि।

३. जै० सू० ५.२.८४—नेटः।

इन्धिभवतिभ्यां च ॥१.२.६॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'किद्वत्' अतिदेश करता है। इसका अर्थ है कि 'इन्ध्' और 'भू' धातुओं से परे 'लिट्' प्रत्यय 'कित्वत्' होता है। उसमें 'कित्' प्रत्यय के समान कार्य होते हैं। जिस प्रकार 'कित्' परे रहते "क्ङिति च"[1] से गुणवृद्धि निषेध तथा "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति"[2] से उपधानकार का लोप होता है उसी प्रकार 'इन्ध्' और 'भू' धातुओं से परे भी 'लिट्' को 'कित्' मानकर उसमें 'कित्' के कार्य हो जाते हैं। इससे पूर्व "असंयोगाल्लिट् कित्"[3] सामान्य रूप में 'अपित्' अर्थात्' 'पित् भिन्न' लिट् को 'कित्'—कहा गया है। 'इन्ध्' धातु के संयोगान्त होने से वहां पूर्व सूत्र द्वारा 'कित्व' प्राप्त नहीं होता, इसलिये इस सूत्र से 'कित्व' का विधान किया गया है। 'भू' धातु से परे 'पित् लिट्' को 'कित्व' अभीष्ट है, अतः 'भू' धातु का भी ग्रहण किया है। 'इन्धि' के धकार में इकार उच्चारणार्थ है। जैसे "सुट् तिथोः"[4] यहां तकार में इकार उच्चारणार्थ है। यहां "इक्श्तिपौ धातु निर्देशे"[5] से 'इक्' प्रत्यय का निर्देश नहीं है। 'इक्' प्रत्यय के 'कित्' होने से 'इन्ध्' के उपधाभूत नकार का लोप "अनिदिताम्" सूत्र से प्राप्त होता है, अतः 'इक्' प्रत्यय नहीं मानना चाहिये।[6] 'भवति' में तो 'श्तिप्' प्रत्यय है ही। इस प्रकार 'इन्ध्' का ग्रहण संयोगान्त होने से तथा 'भू' का ग्रहण 'पित् लिट्' में 'कित्वविधानार्थ' किया गया है। जैसे—'ईधे'।[7] 'समीधे।'[8] ये 'इन्ध्' धातु के वैदिक उदाहरण हैं। 'त्वं बभूविथ।' 'अहं बभूव।' ये 'भू' धातु के

---

१. पा० १.१.५।

२. पा० ६.४.२४।

३. पा० १.२.५।

४. पा० ३.४.१०७।

५. पा० ३.३.१०८ पर वार्तिक।

६. द्र० प्रकृत सूत्रस्थ, प० मं०—'इन्धेरागन्तुक इकारो न तु 'इक्श्तिपो धातु निर्देशे' इतीक् प्रत्ययः, तेन 'अनदिताम्' इति न लोपो न भवति।'

७. द्र० भा० यजु० ११.३३—"पुत्र ईधे अथर्वणः।'

८. द्र० वही—११.३४—'समीधे दस्यु हन्तमम्।'

उदाहरण हैं । 'ईधे' में 'इन्ध्' धातु के वैदिक होने से 'लिट्' लकार में "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ:"[1] से प्राप्त 'आम्' प्रत्यय "कास्प्रत्ययदाममन्त्रेलिटि"[2] से अनुवृत्त 'अमन्त्र' ग्रहण द्वारा मन्त्र में निषिद्ध हो जाता है तो 'इन्धांचक्रे' न बनकर 'ईधि' बनता है। वहां उक्त सूत्र से 'लिट्' स्थानिक 'एश्' आदेश को 'कित्' मानकर "अनिदितां हल उपधायाः०"[3] सूत्र से नकार का लोप हो जाता है । तब 'इध्' शब्द को द्वित्व तथा सवर्णदीर्घ होकर 'ईधे' यह रूप बन जाता है । यह इस सूत्र का ही माहात्म्य है जो 'इन्ध्' धातु से परे 'लिट्' को 'कित्' मानकर न लोप हो जाने से 'ईधे' यह वैदिक रूप बन जाता । इसी प्रकार 'भू' में भी 'त्वं बभूविथ' यहां 'लिट्' में 'सिप्' को 'थल्' हुआ है । वह 'पित्' है । उसको 'कित्' मानकर 'भू' धातु को सार्व-धातुकगुण नहीं होता, किन्तु 'वुक्'[4] का आगम होकर 'बभूविथ' यह इष्ट रूप बन जाता है । 'अहं बभूव' यहां उत्तम पुरुष के एक वचन में 'मिप्' के स्थान में 'णल्' हुआ है । उसे "णलुत्तमो वा"[5] से पक्ष में 'अणित्' माना जाता है। उस 'अणित्' अर्थात् 'णित् भिन्न णल्' को प्रकृत सूत्र से 'कित्' मानकर सार्वधातुक गुण का निषेध सिद्ध हो जाता है । गुण का निषेध हो जाने पर 'वुक्' का आगम होने से 'बभूव' यह इष्ट रूप बन जाता है। 'णल्' के 'णित्' पक्ष में तो गुण को बांधकर "अचो ञ्णिति"[6] से वृद्धि प्राप्त होती है । वह अज्लक्षण है इग्लक्षण नहीं हैं। इग्लक्षण न होने से "क्ङिति च"[7] से उसका निषेध प्राप्त नहीं होता । अतः वहां 'वुक्' का आगम वृद्धि का बाधक माना जाता है । क्योंकि 'वुक्' नित्य है । गुण और वृद्धि अनित्य हैं । इस प्रकार केवल 'थल्' और 'णल्' के 'अणित्' पक्ष में प्राप्त गुण को रोकने के लिये इस सूत्र द्वारा 'भू' से परे लिट् को 'कित्व' विधान किया गया है । यदि 'वुक्' का आगम नित्य होने से वृद्धि की तरह गुण को

---

१. पा० ३.१.३६ ।

२. पा० ३.१.३५ ।

३. पा० ६.४.२४ ।

४. पा० ६.४.८८—'भुवो वुग्लुङ्लिटोः ।

५. पा० ७.१.९१ ।

६. पा० ७.२.११५ ।

७. पा० १.१.५ ।

भी बांध ले तब तो 'भू' के लिये 'कित्व' विधान की आवश्यकता नहीं, यह बात प्रत्याख्यान के समय कही जायेगी।

छान्दस अथवा अन्यथासिद्ध होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों ही इस सूत्र के खण्डन में सहमत हैं। उक्त सूत्र की सप्रयोजन स्थापना के बाद भाष्यवार्तिककार इसका प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—'अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्। इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद् भुवो वुको नित्यत्वात् ताभ्यां लिटः किद्वचनानर्थक्यम्'[1] अर्थात् इस सूत्र के बनाने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि 'इन्ध्' धातु तो छन्दोविषयक है। उसके प्रयोग 'छन्द' अर्थात् वेद में ही देखे जाते हैं। लोक में तो 'इन्ध्' धातु से लिट् में 'आम्' प्रत्यय होकर 'इन्धाञ्चक्रे' यही रूप बनता है। वेद में 'अमन्त्रे' इस निषेध से 'आम' न होगा तो 'ईधे' यह रूप बनेगा। उसके लिये अन्य वैदिक अभ्युपायान्तर है। "छन्दस्युभयथा"[2] से 'छन्द' में 'लिट्' की सार्वधातुक आर्धधातुक ये दोनों संज्ञायें एक साथ हो जाती हैं। 'ईधे' में 'लिट्' स्थानिक 'एश्' की सार्वधातुक संज्ञा मानकर 'सार्वधातुकमपित्'[3] से वह 'ङित्' हो जायेगा तो "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति"[4] से 'इन्ध्' के नकार का लोप होकर 'ईधे' बन जायेगा। आर्धधातुक संज्ञा के होने से "रुधादिभ्यः श्नम्"[5] से प्राप्त 'श्नम्' भी न होगा। इस प्रकार इस सूत्र के बिना ही 'ईधे' यह रूप सिद्ध हो जायेगा। छन्द में वैसे भी "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते"[6] अथवा "व्यत्ययो बहुलम्"[7] से सब प्रयोगों की व्यवस्था होती है। इसलिये 'इन्ध्' धातु के लिये तो यह सूत्र बनाना व्यर्थ है।

'भू' धातु में भी 'बभूव' यहां तिप्स्थानिक 'णल्' के इस सूत्र द्वारा 'कित्' मानने पर भी "अचो ञ्णिति"[8] से प्राप्त वृद्धि का "क्ङिति च" से निषेध न

---

१. महा० भा० १, सू० १.२.६, पृ० १९४।
२. पा० ३.४.११७।
३. पा० १.२.४।
४. पा० ६.४.२४।
५. पा० ३.१.७८।
६. महा० भा० २, सू० १.४.९, पृ० ३१५। परि० सं० ३५।
७. पा० ३.२.८५।
८. पा० ७.२.११५।

हो सकेगा। क्योंकि वह इग्लक्षण वृद्धि का निषेध करता है। 'अचो ञ्णिति' तो अज् लक्षण है। इस तरह सूत्र बनाने पर भी इष्ट सिद्ध नहीं होता। हां, 'त्वं बभूविथ', 'अहं बभूव' यहां 'सिप्'—स्थानिक 'थल्' परे रहते तथा 'मिप्स्थानिक उत्तम णल्' के पक्ष में 'अणित्' होने से प्राप्त सार्वधातुक गुण को रोकने के लिये यदि इस सूत्र द्वारा 'कित्' विधान की आवश्यकता मानी जाये तो वह भी व्यर्थ है। क्योंकि "भुवो वुग्लुङ्लिटोः"[१] से होने वाला 'वुगागम' नित्य होने के कारण गुण को बाध लेगा तो पहले 'वुक्' हो जायेगा। फिर इगन्त न होने से गुण की प्राप्ति स्वतः ही रुक जायेगी। इसलिये 'भू' धातु के लिये भी यह सूत्र बनाना व्यर्थ है।

यदि यह कहा जाये कि 'शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति'[२] इस परिभाषा के बल से 'भू' और 'भो' इस प्रकार शब्दान्तर को प्राप्त होने वाला 'वुक्' अनित्य है, तो वह अयुक्त है। क्योंकि "कृताकृतप्रसङ्गि नित्यम्। यस्य कृतेऽपि प्रवृत्तिः, अकृतेऽपि, स नित्यो भवति"[३] इस नियम से 'वुक्' नित्य ही रहता है। वह गुण करने पर भी प्राप्त है और गुण से पूर्व तो प्राप्त है ही। गुण करने पर "एकदेश विकृतमनन्यवद्भवति"[४] इस परिभाषा से 'भू' ही रहता है, अतः 'बुक्' होने में कोई बाधा नहीं। "भुवो वुग् लुङ्लिटोः"[५] सूत्र में "ओः सुपि"[६] से 'ओः' अर्थात् उवर्णान्त की अनुवृत्ति मानने में कोई प्रमाण नहीं है जिससे 'भू' के गुण होने पर उवर्णान्त न रहने से 'वुक्' होने में कोई बाधा पहुंचे।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यकार ने जो 'इन्ध्' धातु के छान्दस होने से तथा 'भू' धातु के लिट् में 'वुक्' आगम के नित्य होने से गुण वृद्धि की निवृत्ति हो जायेगी, इसलिये इस सूत्र को अनावश्यक समझकर इसका प्रत्याख्यान कर दिया है, सामान्यतः ठीक ही है। 'इन्ध्' तो छान्दस है और 'छन्द' में जैसा देखते हैं, वैसा कर

---

१. पा० ६.४.८८।

२. परि० सं० ४३।

३. द्र० परि० सं० ४६—'क्वचित् कृताकृतप्रसङ्गमात्रेणापि नित्यता'।

४. परि० सं० ३६।

५. पा० ६.४.८८।

६. पा० ६.४.८३।

लेते हैं[1] यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। 'भू' धातु के 'लिट्' की बात विचारणीय है। 'बभूव' यहां 'तिप्स्थानिक णल्' में इस सूत्र द्वारा 'कित्' मानने पर भी इष्ट सिद्ध नहीं होता। "अचो ञ्णिति"[2] इस वृद्धि के इग्लक्षण न होने से "क्ङिति च" से वृद्धिनिषेध सिद्ध नहीं होता। उस वृद्धि का बाधक 'वुक्' को मानना ही पड़ेगा। 'नित्यो वुक् वृद्धि बाधते' यही न्याय्य मार्ग है।[3] वृद्धि अपने विषय में गुण को बाधती है। गुण को 'त्वं बभूविथ', 'अहं बभूव' यहां नित्य होने से 'वुक्' भी बाध लेता है। इस प्रकार सब इष्ट प्रयोगों की सिद्धि हो जाने से प्रकृत सूत्र की निरर्थकता स्पष्ट है। 'भू' धातु के 'लिट्' के विषय में यह बात निश्चितरूप से जान लेनी चाहिये कि नित्य 'वुक्' वृद्धि और गुण दोनों को बाध लेता है। पहले 'वुक्' हो जाने पर वृद्धि और गुण दोनों ही निरस्त हो जाते हैं। उनकी प्रवृत्ति को रोकने के लिये यह सूत्र अकिंचित्कर है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में न्यासकार तथा पदमंजरीकार दोनों अपना भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि इस सूत्र द्वारा 'इन्ध्' धातु से परे 'लिट्' को 'कित्व' विधान करना इस बात का ज्ञापक है कि 'आम्' प्रत्यय विकल्प से होता है अथवा अनित्य होता है। यदि 'आम्' प्रत्यय नित्य होता तो 'इन्ध्' से परे 'आम्' का व्यवधान हो जाने से 'लिट्' परे नहीं मिलता तो उसको 'कित्व' विधान करना व्यर्थ हो जाता। 'कित्व' विधान करने से आम्' की अनित्यता बोधित होती है। उससे न केवल वेद में, अपितु लोक में 'समीधे', 'ईधे' इस प्रकार 'आम्' प्रत्यय के अभावयुक्त प्रयोग बन सकते हैं। यह भी कोई नियम नहीं और न ही कोई प्रमाण है कि 'इन्ध्' धातु केवल वेदैकगम्य है। 'इन्धनम्', 'एधः' इत्यादि लोक में भी 'इन्ध्' धातु के प्रयोग उपलब्ध होते हैं। इसलिये लोक में प्रयुक्त होने वाले 'समीधे' इस प्रयोग में 'लिट्' को 'कित्व' करने के लिये इस सूत्र की

---

१. द्र० महा० भा० १, सू० १.१.६, पृ० ५५—'दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति'।

२. पा० ७.२.११५।

३. द्र० प्रकृत सूत्रस्थ प० मं०—'अवश्यं चैतद्विज्ञेयम्—वुका गुणवृद्धी बाध्येते इति'।

आवश्यकता रहती है ।[1]

'भू' धातु के विषय में भी जो 'वुक्' को नित्य माना गया है, वह ठीक नहीं। क्योंकि वुगागम विधायक सूत्र में "औः सुपि"[2] से उवर्णान्त की अनुवृत्ति मानी गई है। उवर्णान्त 'भू' को ही वुगागम इष्ट है, उवर्णान्त-भिन्न को नहीं। गुणवृद्धि करने पर उवर्णान्त 'भू' रहता नहीं अतः 'वुक्' की प्राप्ति न रहने से वह अनित्य हो जाता है। यदि उवर्णान्त की अनुवृत्ति न मानी जाये तो 'यङ्लुक्' के 'बोभाव', 'अहं किल बोभव' इन प्रयोगों में

---

१. (क) द्र० प्रकृत सूत्रस्थ न्यास—'ज्ञापनार्थम् । एतदनेन ज्ञाप्यते—अनित्योऽयमामिति । नित्ये ह्यामि तेन व्यवधानादेवेन्धेः परो लिण् न सम्भवतीति कित्वविधानं नोपपद्यते । तस्मादनित्योऽयमामिति । तेन भाषायामपि समीधे इति प्रयोग उपपन्नो भवति' ।

(ख) द्र० प्रकृत सूत्रस्थ प० मं०—'एवं तर्हि ज्ञापनार्थमिन्धिग्रहणम्, एतज्ज्ञापयति—इन्धेर्भाषायामप्यनित्य आम् इति, समीधे समीन्धाञ्चक्रे इति भाषायामपि भवति' । लौकिक संस्कृत के व्याकरण का तन्त्र में भी "परोक्षायामिन्धिश्रन्थि ग्रन्थि दम्भीनामगुणे" (कातन्त्र, ३.६.३) कह कर 'इन्ध्' धातु को लौकिक माना गया है। आचार्य चन्द्रगोमी ने भी अपने व्याकरण में "लिटीन्धिश्रन्थग्रन्थाम्" (चा० सू० ५.३.२५) यह 'इन्धी' धातु का निर्देश किया है और स्वोपज्ञवृत्ति में 'समीधे' आदि प्रयोग दर्शाये हैं। अतः इसके मत में 'इन्धी' का प्रयोग भाषा में अवश्य होता है। लौकिक व्याकरणमात्र शाकटायन तथा हैम व्याकरणों में भी 'इन्धी' से विकल्प से 'आम्' विधान किया गया है (शा० सू० १.४.८४ 'जागुषसमिन्धे वा'—है० सू० ३.४.४६ 'जागृ उषसमिन्धेर्न वा) ऐसी स्थिति में उक्त विवेचन के आधार पर यह मानना होगा कि पाणिनि जिन प्रयोगों को केवल वेदैकगम्य या छान्दस मानता है उनके लिए सूत्र में 'छन्दसि', 'निगमे' आदि शब्दों का व्यवहार करता है और जिन सूत्रों में पाणिनि ने विशेष निर्देश नहीं किया उनसे निष्पन्न शब्द अवश्य लोक भाषा में प्रयुक्त थे।

२. पा० ६.४.८३ ।

'वुक्' की प्राप्ति होती है। क्योंकि 'वुक्' नित्य होने से वहां गुणवृद्धि को बांध लेगा जोकि अनिष्ट है। "इन्धिभवतिभ्यां च" इस सूत्र में 'भवति' इस 'श्तिपूनिर्देश' से "श्तिपा शपानुबन्धेन"[1] इस वचन द्वारा 'यङ्लुक्' में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये 'बोभाव', 'बोभव' यहां 'कित्व' न होने से गुणवृद्धि का निषेध नहीं होता है और 'वुक्' का आगम उवर्णान्त 'भू' के न होने से नहीं होता है। "इन्धिभवतिभ्यां च" इस 'श्तिप्' निर्देश की तरह "भुवो वुग् लुङ्लिटोः" इस वुगागमविधायक सूत्र में 'भुवः' के स्थान में 'भवतेः' ऐसा 'श्तिप्निर्देश' तो नहीं किया जा सकता। वैसा करने पर 'बोभूवतुः', 'बोभूवुः' इन 'यङ्लुगन्त' प्रयोगों में 'श्तिप्' निर्देश के कारण 'वुगागम' नहीं प्राप्त होगा। इसलिये इस 'कित्वविधायक' सूत्र में ही 'श्तिप्' निर्देश न्याय्य है। 'यङ्लुक्' के 'पित्' लिट् में इससे 'कित्व' नहीं होगा तो 'बोभाव', 'बोभव' यहां गुणवृद्धि हो जाते हैं और उवर्णान्त न होने से 'वुगागम' नहीं होगा तो 'बोभूवतुः', 'बोभूवुः' इन 'अपित् लिट्' के 'यङ्लुगन्त' प्रयोगों में "असंयोगाल्लिट् कित्"[2] इस पूर्वसूत्र से 'कित्व' हो जायेगा तो गुणवृद्धि का प्रतिषेध होकर उवर्णान्त रह जाने से 'वुक्' सिद्ध हो जाता है।[3] इसके अतिरिक्त जो यह कहा कि 'बभूव' इस तिप् स्थानिक 'णल्' को इस सूत्र

---

१. परि० सं० १३१—'प्रकृत सूत्रस्थ न्यास से उद्धृत अथवा 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (पा० ७.२.१०) पर वै० सि० कौ० में उद्धृत।

२. पा० १.२.६।

३. द्र० प्रकृत सूत्रस्थ न्यास—'भवतेरपि वुगनित्यः, किं कारणम्, उरिति वर्तते, न च गुण वृद्ध्योः कृतयोः उवर्णान्तो भवतिर्भवति, उरिति निवर्तिष्यते ? यदि निवर्तते, बोभाव, अहं किल बोभव यङ्लुक्यपि नित्यत्वाद् वुक् प्राप्नोति। अनुवर्तमाने पुनरुरित्यस्मिन् उभयोरनित्ययोः परत्वाद् गुणवृद्ध्योः कृतयोरनुवर्णान्तत्वाद् वुङ् न भवति। अथेदानीं यङ्लुक्यप्यनेनैव लिटः कित्वं कस्मान्न भवति ? श्तिपा निर्देशात्। यदि पुनर्वुग्विधावेव श्तिपानिर्देशः क्रियते ? नैवं शक्यम्, इह हि दोषः स्यात्—बोभूवतुः, बोभूवुः। यदा पुनः कित्वविधौ श्तिपा निर्देशः क्रियते, न वुग्विधौ, तदा यङ्लुकि पित्सु वचनेषु लिटः कित्त्वाभावाद् गुणवृद्ध्योः कृतयोरुरित्यधिकाराद् वुक्न भवति। अपित्सु वचनेषु 'असंयोगाल्लिट् कित्' इति कित्वे सति गुणाभावादुवर्णान्तित्वाद्वुक् भवति'।

द्वारा 'कित्' मानने पर भी "अचो ञ्णिति०" से प्राप्त वृद्धि का निषेध नहीं होता। क्योंकि वह वृद्धि अज्लक्षणा है। इग्लक्षण नहीं है, तो इसका भी यह समाधान है कि "सार्वधातुकमपित्" इस पूर्व सूत्र से 'ङित्' की भी अनुवृत्ति करेंगे। उसके साथ-साथ इस सूत्र द्वारा 'कित्विधान' के सामर्थ्य से अनिग्लक्षण "अचो ञ्णिति वृद्धि" का भी निषेध सिद्ध हो जायेगा।[२] इस प्रकार न्यास तथा पदमंजरीकार हरदत्त दोनों ही इस सूत्र की सत्ता का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। पदमंजरीकार कहते हैं—"सत्यम्, अस्त्ययं शुष्कस्तर्कः। वार्तिककारस्तु न क्षमते। यदाह—इन्धेश्छन्दोविषयत्वात्०"[३] इत्यादि।

शब्दकौस्तुभकार तो 'वुक्' को अनित्य नहीं मानते हैं। उनके मत में शब्दान्तर को प्राप्त विधि की अनित्यता गौण है प्रत्युत 'कृताकृतप्रसङ्गि' विधि की नित्यता ही मुख्य है।[४] इसके साथ इस सूत्र से विहित 'कित्व' का सामर्थ्य भी नहीं बनता जिससे 'बभूव' यहां अनिग्लक्षण "अचो ञ्णिति वृद्धिः" का निषेध हो सके। 'बभूविथ', 'अहं बभूव' यहां 'थल्' तथा पाक्षिक 'णित्वाभाव' वाले 'णल्' में गुण को रोकने के लिये 'कित्व' की आवश्यकता होने से उसका सामर्थ्य उपक्षीण हो जाता है। इसलिये सूत्र के रहते हुए जब इष्ट सिद्ध नहीं होता और उसके अभाव में इष्ट सिद्ध हो जाता है तो सूत्र का प्रत्याख्यान ही युक्तियुक्त है। किन्तु जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि 'भू' धातु के लिए तो प्रकृत सूत्र अनावश्यक है क्योंकि 'वुक्' नित्य होने से गुणवृद्धि को बाध लेगा। परन्तु 'इन्ध्' धातु के लौकिक 'समीधे'

---

१. पा० १.२.४।

२. द्र०—प्रकृत सूत्रस्थ, प० मं०—'ननुचोक्तम्—आरभ्यमाणेऽपि कित्वे वृद्धेः प्रतिषेधो न सिध्यति, अनिग्लक्षणत्वाद् इति, नैष दोषः, ङिद्ग्रहण-मप्यनुवर्तते, तत्सामर्थ्यादनिग्लक्षणाया अपि वृद्धेः प्रतिषेधो भविष्यति'।

३. प्रकृत सूत्रस्थ प० मं०।

४. द्र० शा० कौ० भा० २, पृ० ३—'न च शब्दान्तरप्राप्त्या वुगनित्य इति वाच्यम्, कृताकृतप्रसङ्गित्वमात्रेणापि लक्ष्यानुरोधात् नित्यत्वस्या-श्रयणात् शब्दान्तरप्राप्त्या स्वरभिन्नस्य प्राप्त्या चानित्यतायाः सिद्धान्ते बहुधा त्यक्तत्वात्'।

तथा 'समिन्धाञ्चक्रे' इन दोनों वैकल्पिक प्रयोगों में 'समीधे' यहां 'नलोप' करने के लिए सूत्र की आवश्यकता बनी रहती है। क्योंकि 'समीधे' को लौकिक प्रयोग भी मानने पर वहां वेद की तरह एक साथ ही 'सार्वधातुक', 'आर्धधातुक' आदि संज्ञा प्रयुक्त कार्य कैसे उत्पन्न हो सकेंगे अर्थात् "छन्दस्युभयथा" सूत्र 'समीधे' को लौकिक प्रयोग मानने पर वहां प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसलिये 'समीधे' इस लौकिक प्रयोग की सिद्धि के लिए सूत्र की आवश्यकता बनी रहती है। इसीलिए अर्वाचीन वैयाकरणों ने सूत्र रचना करते समय 'भू' धातु को छोड़कर केवल 'इन्ध्' धातु विषयक ही सूत्र निर्माण किया है।[1] इस प्रकार 'इन्ध्' धातु के लिए तो सूत्र आवश्यक ही ठहरता है।

छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम् ॥ १.२.६१॥

विशाखयोश्च ॥१.२.६२॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

'पुनर्वसु' नामक नक्षत्र दो हैं तथा 'विशाखा' नामक नक्षत्र भी दो हैं। उनके द्वित्व अर्थ में द्विवचन ही प्राप्त था। दोनों जगह पक्ष में एकवचन करने के लिये उक्त दोनों सूत्र बनाये हैं। इनका अर्थ है कि वेद में 'पुनर्वसु' नामक नक्षत्रों के द्वित्व में भी विकल्प से एकवचन होता है। जैसे—'पुनर्वसु नक्षत्रम्"[2]। "पुनर्वसू वा"। "विशाखा नक्षत्रम्"।[3] "विशाखे वा"।

छान्दस होने से अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार तथा भाष्यकार दोनों ही इन दोनों सूत्रों को अनावश्यक समझकर प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"पुनर्वसुविशाखयोः सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णेति सिद्धम्"[4]।

---

१. चा० सू० ५.३.२५—'लिटीन्धिश्रन्थग्रन्थाम्'।
शा० सू० ४.१.१४८—'किद्धलिलटि इन्धेश्चासंयोगात्।
स० सू० ६.३.२३—'श्रन्थिग्रन्थिष्वञ्जीन्धीनां लिटि'।
है० सू० ४.३.२१—इन्ध्यसंयोगात् परोक्षा विद्वत्।
२. कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणी संहिता, २,१३.२०.।
३. द्र० वही 'विशाखं नक्षत्रम्'।
४, महा० भा० १, सू० १.२.६२, पृ० २३१।

इसका भाव यह है कि 'पुनर्वसु नक्षत्रम्' यहां एकवचन इष्ट है। इसी प्रकार 'विशाखा नक्षत्रम्' यहां भी एकवचन इष्ट है। 'पुनर्वसू', 'विशाखे' ये द्विवचन के रूप तो बनते ही हैं। एकवचन के रूप बनाने के लिए यह बहुत सुन्दर अभ्युपाय है कि पक्ष में द्विवचन 'औ' विभक्ति का "सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्याभाजालः"[1] इस वैदिक सूत्र से 'लुक्' मान लिया जाये तो 'पुनर्वसु', 'विशाखा' ये एक वचनान्त रूप स्वतः सिद्ध हो जायेंगे। उनकी सिद्धि के लिये इन दोनों सूत्रों की आवश्यकता नहीं है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

उक्त नक्षत्रवाची शब्दों में एकवचन की सिद्धि के लिये भाष्यवार्तिककार ने जो समाधान किया है वह सर्वथा न्याय्य ही है। ये दोनों छान्दस अथवा वेद में प्रयुक्त होने वाले शब्द हैं। छान्दस प्रयोगों की सिद्धि के लिये तो अनेक समाधान हो जाते हैं। यथा—"बहुलं छन्दसि",[2] 'दृष्टानुविधिश् छन्दसि भवति"[3] "सर्वेविधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते",[4] "व्यत्ययो बहुलम्",[5] "सुपांसुलुक्"[6] इत्यादि। वस्तुतः द्वित्व में एकत्व की तथा एकत्व में द्वित्व की विवक्षा करना वक्ता के अधीन है। वेद में तो विशेष रूप से शब्द का प्रयोग स्वतः प्रमाण है। इस दृष्टि से विचार करने पर छन्दः सम्बन्धी इन दोनों सूत्रों का प्रत्याख्यान अनिवार्य हो जाता है। यहां अर्थ का बोध करना मुख्य है। जिस प्रकार से भी बोध हो वह प्रकार स्वीकार कर लेना चाहिये। न केवल इन दोनों वैदिक सूत्रों का ही अपितु "जात्याख्यायाम्०"[7] से लेकर "फल्गुनी प्रोष्ठपदानां च न क्षत्रे"[8] इन सभी लौकिक वैदिक सूत्रों का प्रत्याख्यान युक्तिसंगत समझकर भाष्यकार ने

---

१. पा० ७.१ ३९।
२ पा० ३.२.८८।
३. पा० २.१.६ पर भाष्य वचन।
४. पा० १.४.९ पर भाष्यवचन तथा परि० सं० ३५।
५. पा० ३.१.८५।
६. पा० ७.१.३९।
७. पा० १.२.५८।
८. पा० १.२.६३।

सबका खण्डन कर दिया है। "तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे०"[1] इसका प्रत्याख्यान साक्षात् शब्दोपात नहीं है, वचन प्रकरण वाले शेष सूत्रों का प्रत्याख्यान इस सूत्र का भी उपलक्षण समझना चाहिये। जब एक वचन में बहुवचन का, द्विवचन में एकवचन का, किसी न किसी हेतु से खण्डन कर दिया है तो बहुवचन में द्विवचन का खण्डन करने में क्या रुकावट है। अतः वचन प्रकरण वाले ये सभी सूत्र भाष्यवार्तिक की दृष्टि से प्रत्याख्येय सिद्ध हो जाते हैं।

तृतीया च होश्छन्दसि ॥२.३.३॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र वैदिक प्रयोग विषय का है। इसका अर्थ है कि जुहोत्यादिगण-पठित 'हु दानादानयोः' इस धातु के कर्म में द्वितीया विभक्ति के साथ तृतीया भी हो जाती है, वेद में'। जैसे—"यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति"[2]। "यवागू-मग्निहोत्रं जुहोति"[3]। यहां 'हु' धातु के प्रयोग में 'यवागू' शब्द से कर्मकारक में तृतीया और द्वितीया विभक्ति हो गई। वैसे 'पयसा जुहोति', 'आज्येन जुहोति' 'दध्ना जुहोति', इत्यादि में तृतीया विभक्ति प्रायः दृष्टिगोचर होती है किन्तु वह करण कारक में है। यहां तो कर्म में तृतीया की गई है। "यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति" यहां 'अग्निहोत्र' शब्द का अर्थ 'अग्नौ हूयते इति अग्निहोत्रम्' (जो अग्नि में हवन किया जाये, डाला जाये) इस व्युत्पत्ति से जब लिया जाता है तब उक्त वाक्य का अर्थ होता है कि 'यवागू' रूप हवि को देवता के उद्देश्य से अग्नि में डालता है। यहां यह विचित्रता है कि 'यवाग्वा' में तृतीया है और 'अग्निहोत्रम्' में द्वितीया है। दोनों कर्म हैं। समानार्थक होने से दोनों का ही अभेदान्वय होता है। विभक्ति भिन्न होते हुए भी अर्थ अभिन्न है। जो "यवागूमग्निहोत्रं जुहोति" का अर्थ है वही "यवाग्वाग्निहोत्रं जहोति" का अर्थ है। 'अग्निहोत्र' शब्द की जब "अन्नाद्यम्' की तरह

---

१. पा० १.२.६३।

२. शतपथ ब्राह्मण, १.१.१.१०। कपिष्ठलकठसंहिता, ४.२, पृ० ४५।

३. यह उद्धरण अनुपलब्ध है। अतः अन्वेष्टव्य है। अन्य स्थानापन्न सत्यापित उपलब्ध उदाहरण के लिए देखें, ऋक्, २,१४,६—"इन्द्राय सोमं मदिरां जुहोति"। काठकसंहिता, ६.३ "हविषा जुहोमि"। कपिष्ठलकठसंहिता, ४.२ "आज्येन जुहोति"।

'ह्रयतेस्मिन् इति होत्रम्, अग्निश्च तद् होत्रं चेति अग्निहोत्रम्' (जिसमें हवन किया जाये वह अग्नि) इस व्युत्पत्ति से 'अग्नि' अर्थ होता है, तब 'हु' धातु का अर्थ 'प्रक्षेप' न होकर 'प्रीणन' या 'तर्पण' हो जाता है। 'यवागू' से अग्निदेव को तृप्त करता है। इस प्रकार 'हु' धातु के तथा 'अग्निहोत्र' शब्द के अर्थभेद से तृतीया-द्वितीया विभक्तियों का प्रयोग होता है। कर्म में द्वितीया की प्राप्ति में इस सूत्र से पक्ष में तृतीया का विधान किया गया है। मीमांसक तो तृतीया की प्राप्ति में द्वितीया का विधान किया है, ऐसा कहते हैं,[1] जोकि सूत्र भाष्यविरुद्ध है।

अर्थभेद द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"किमर्थमिदमुच्यते। तृतीया यथा स्यात्। अथ द्वितीयासिद्धा। सिद्धा। कथम्। कर्मणीत्येव। तृतीयापि सिद्धा। कथम्। सुपां सुपो भवन्तीत्येव। असत्येतस्मिन् सुपां सुपो भवन्तीति तृतीयार्थोऽयमारम्भः। यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति। एवं तर्हि तृतीयापि सिद्धा। कथम्—कर्तृकरणयोः इत्येव। अयमग्निहोत्रशब्दोऽस्त्येव ज्योतिषि वर्तते। तद्यथा—अग्निहोत्रं प्रज्वलितम् इति। अस्ति हविषि वर्तते। तद्यथा अग्निहोत्रं जुहोतीति। जुहोतिश्चास्त्येव प्रक्षेपणे वर्तते। अस्ति प्रीणात्यर्थे वर्तते। तद्यदा तावद् यवागू शब्दात् तृतीया, तदाग्निहोत्रशब्दो ज्योतिषि वर्तते। जुहोतिश्च प्रीणात्यर्थे। तद्यथा - यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोतीति। अग्निं प्रीणाति। यदा यवागू शब्दात् द्वितीया तदाग्निहोत्रशब्दो हविषि वर्तते जुहोतिश्च प्रक्षेपणे। तद्यथा—यवागूमग्निहोत्रं जुहोति। यवागूं हविरग्नौ प्रक्षिपति"।[2]

---

१. द्र०—शा० कौ० भा० २, सू० २.३.३. पृ० २२४—'मीमांसकास्त्वाहु-अग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयम्। तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रमिति न्यायात्। दृश्यते च एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रदशपूर्णमासावित्यादि। एवं स्थिते भावार्थाधिकरणन्यायेन करणकोटिनिक्षिप्ते होमे समानाधिकरण्यापन्नस्याग्निहोत्रस्य करणत्वात् तृतीयायां प्राप्तायां पक्षे द्वितीयार्थमिदं वचनमिति, तत् तु सूत्रसन्दर्भविरुद्धम्। कर्मणीति ह्यनुवर्तते।

२. महा० भा० १, सू० २.३.३, पृ० ४४४।

इस भाष्यसन्दर्भ का संक्षिप्त अर्थ यह है कि 'हु' धातु के प्रयोग में तृतीया और द्वितीया दोनों विभक्तियां इस सूत्र के बिना सिद्ध हो जाती हैं। जब कर्म की विवक्षा होगी तब "कर्मणि द्वितीया"[1] से द्वितीया हो जायेगी और जब करण की विवक्षा होगी तब "कर्तृकरणयोस्तृतीया"[2] से तृतीया विभक्ति हो जायेगी। 'अग्निहोत्र' शब्द के दो अर्थ हैं एक 'अग्नि' और दूसरा 'हवि', हव्य द्रव्य। 'हु' धातु के भी दो अर्थ हैं एक 'प्रक्षेपण' और दूसरा 'प्रीणन', तर्पण। जब 'यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति' यहां 'यवागू' शब्द से तृतीया विभक्ति होगी तब 'अग्निहोत्र' शब्द का अर्थ 'अग्नि' होगा और 'हु' धातु का अर्थ 'प्रीणन' होगा। 'यवागू' से 'अग्निदेव' को तृप्त करता है। यहां करणकारक में तृतीया हो गई क्योंकि 'यवागू' अग्निदेव की तृप्ति का साधन है। और जब 'यवागूमग्निहोत्रं जुहोति' यहां 'यवागू' शब्द से द्वितीया होगी तब 'अग्निहोत्र' का अर्थ 'हवि' होगा और 'हु' धातु का अर्थ 'प्रक्षेपण' होगा। 'यवागू' रूप हवि को देवता के उद्देश्य से आग में डालता है। यहां 'प्रक्षेपण' क्रिया का कर्म होने से 'यवागू' में "कर्मणि द्वितीया"[3] से द्वितीया हो जायेगी। इस प्रकार अर्थभेद से दोनों विभक्तियां बिना इस सूत्र के बनाये ही सिद्ध हो जाती हैं तो यह सूत्र बनाना व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वास्तव में यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य ही है। प्रथम तो यह छान्दस है। छन्द में सर्वत्र दृष्टानुविधि होती है।[4] वहां जैसा देखते हैं वैसा कर लेते हैं। यदि जुहोति के प्रयोग में वेद में या वैदिक मन्त्र ब्राह्मणादि ग्रन्थों में तृतीया विभक्ति दीखती है तो वह वेद वचन से मान ली जायेगी। दूसरी बात यह है कि "यवाग्वाग्निहोत्रम्" यहां दोनों के कर्म होने पर भी 'यवाग्वा' में तृतीया और 'अग्निहोत्रम्' में "द्वितीया सर्वथा असंगत लगती है। भाष्यकार ने 'हु' धातु तथा 'अग्निहोत्र' शब्द का अर्थभेद दिखाकर बहुत सुन्दर ढंग से दोनों विभक्तियां सिद्ध कर दी हैं, उसमें कोई विसंगति नहीं है।

---

१. पा० २.३.२।

२. पा० २.३.१८।

३. पा० २.३.२।

४. महा० भा० १, सू० १.१.६, पृ० ५५—'दृष्टानुविधिश्च छन्दसि भवति'।

वस्तुतः पाणिनि व्याकरण के व्याख्याकारों का यह विचार है कि 'हु' धातु के कर्म में द्वितीया और तृतीया दोनों विभक्तियों का प्रयोग मिलता है। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति' और 'यवागूमग्निहोत्रं जुहोति' इन दोनों प्रयोगों को समानार्थक मानते हुए अर्थात् दोनों में 'यवागू' को कर्म मानते हुए ही द्वितीया और तृतीया विभक्ति वाले प्रयोगों की बात स्वीकार की गई है और कर्म मानने पर 'यवागू' शब्द में तृतीया की सिद्धि पाणिनि-व्याकरण से संभव नहीं है। अतः उस दृष्टि से पाणिनि को यह सूत्र बनाना पड़ा।[1]

भाष्यकार पतंजलि 'दृष्टानुविधिछन्दसि भवति' इस न्याय का सहारा लेते हुए 'यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति' यहां 'यवाग्वा' में करणत्व की विवक्षा स्वीकार करते हुए तृतीया विभक्ति की सिद्धि "कर्तृकरणयोस्तृतीया" से कर लेते हैं। इसलिए इनकी दृष्टि में तृतीया करने के लिए प्रकृत सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है।[2] मीमांसकों के मत में 'अग्निहोत्र' यह कर्म का

---

१. द्र० भाष्य (जोशी) अनभिहिताह्निक, व्याख्या भाग, सू० २.३.३, पृ० ६०-६३

"This difficulty with the grammarians who have assigned यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति as an example to p. 2.3.3 is that they equate the word यवाग्वा in this phrase with यवाग्वा in यवाग्वा जुहोति which is synonymous with यवागूं जुहोति. In other words the confusion is due to contamination of i. and iii. of the following, sentences, namely—

i. अग्निहोत्रं जुहोति where हु is used in the general meaning or pertaining.

ii. यवागूं जुहोति and

iii. यवाग्वा जुहोति

in 2 & 3 the verb हु retains its proper meaning. The question for Pāṇini must have been phrased how to sanction the usage यवाग्वा जुहोति that is why, he phrased p. 2.3".

२. वही, इण्ट्रोडक्शन, सर्वे आफ टापिक्स, पृ० xli

"Still, Patanjali's conclusion, that p. 2.3.3 is not required may be correct. We can treat यवागूं as an usual कर्मन् or करण by adopting the following interpretations.

नाम है। यज्ञविशेष का नाम 'अग्निहोत्र' है।[1] उस अर्थ में भी तृतीया और द्वितीया की उपपत्ति हो सकती है। 'यवागू' से 'अग्निहोत्र' नामक यज्ञ करता है और 'यवागू' को 'अग्निहोत्र' में डालता है। 'अग्निहोत्र' शब्द हवन या होम में भी उपचार से प्रयुक्त होता है। तुमने 'अग्निहोत्र' या हवन या होम कर लिया इत्यादि व्यवहार से दोनों ही इष्ट प्रयोग बन जाते हैं। इसलिये इस सूत्र का प्रत्याख्यान ही उपयुक्त है। केवल 'हु' धातु के लिये इतना बड़ा अलग सूत्र बनाना ऐसे ही निरर्थक है जैसे "दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे"[2] यह सूत्र केवल 'दाण्' धातु के लिये और वह भी अशिष्ट व्यवहार के प्रदर्शन के लिये ही बनाना निरर्थक है।

उपसंवादाशङ्कयोश्च ॥३.४.८॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र छन्दोविषयक है। 'उपसंवाद' और 'आशङ्का' गम्यमान होने पर धातुमात्र से वेद में 'लेट्' लकार होता है। 'उपसंवाद' का अर्थ शर्त है। 'यदि आप मेरा यह काम कर देंगे तो मैं आपको यह चीज दे दूंगा—' इस प्रकार की शर्त का नाम 'उपसंवाद' है। 'आशंका' का अर्थ संभावना या ख्याल है। दोनों अर्थों में यह सूत्र 'लेट्' लकार का विधान करता है। जैसे—"अहमेव पशूनामीशै"[3] (मैं ही पशुरूप संसारी मनुष्यों का शासक हूं)। त्रिपुर विजय में देवों से प्रार्थित महादेव का यह वचन है। यहां 'ईशै' यह 'उपसंवाद'

---

i. यवाग्वाग्निहोत्रं जुहोति : he performs the अग्निहोत्र sacrifice with the help of barley grual.

ii. यवागूं जुहोति : he offers barley grual.

iii. And यवागूमग्निहोत्रं जुहोति : he offers an अग्निहोत्र हविः in the form of barley grual".

१. इस विषय में 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' (जैमिनीय मीमांसादर्शन १.४.४) यह सूत्र द्रष्टव्य है। 'स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासाविति' प्रकृतसूत्रस्थ न्यास से उद्धृत)।

२. पा० १.३.५५।

३. कपिष्ठल कठसंहिता, ३८.४ पृ० २४३। काठक संहिता, २५.१, पृ० २६४।

अर्थ में 'ईश्' धातु से 'लेट्' हुआ है। 'ईश्' धातु से उत्तम पुरुष का एक वचन 'इट्' प्रत्यय होकर 'टेरेत्व' हो जाता है। उसे "वैतोन्यत्र"[1] सूत्र से 'ऐकार' आदेश होकर 'ईशै' यह रूप बन जाता है। पक्ष में 'ईशे' रूप भी बनता है। 'अहमेव पशूनाम्०' इस वाक्य में महादेव और देवताओं के संभाषण में कोई शर्त है जो प्रकरणगम्य है।

आशङ्का का उदाहरण जैसे—"नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम"[2] (कहीं ऐसा न हो कि हम कुटिलता करते हुए पापाचरण के कारण नरक में गिर जायें) यहां संभावना अर्थ स्पष्ट है। नरक में गिरने की संभावना से ऐसा कहा जा रहा है। 'पताम' में 'पत्' धातु से 'लेट्' लकार होकर उत्तम पुरुष का बहुवचन 'मस्' प्रत्यय होता है। "लेटोऽडाटौ"[3] से 'आट्' का आगम 'मस्' प्रत्यय को हो जाता है "लिङर्थे लेट्"[4] इस पूर्व सूत्र से विकल्प से 'लेट्' प्राप्त था। प्रकृत सूत्र से नित्य हो जाता है। यह सूत्र वेद में नित्य 'लेट्' लकार विधान करने के लिये बनाया गया है। यदि वेद में उक्त दोनों अर्थों में नित्य 'लेट्' का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता तो उसे ढूंढने का यत्न करना चाहिये।

अन्यथासिद्धि या छान्दसत्वात् सूत्र का प्रत्याख्यान

इस वैदिक सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं—"उपसंवादाशङ्कयोर्वचनानर्थक्यं लिङर्थत्वात्। उपसंवादाशङ्कयोर्वचमनर्थकम्। किं कारणम्। लिङ्र्थत्वात्। लिङर्थे लेट् इत्येव सिद्धम्। कः पुनर्लिङर्थः। केचित् तावदाहुः—हेतुहेतुमतोर्लिङ् इति। अपरे आहु—वक्तव्य एवैतस्मिन् विशेषे लिङ्। प्रयुज्यते हिलोके—यदि मे भवान् इदं कुर्यात् अहमपि ते इदं दद्याम्।"[5]

तात्पर्य यह है कि 'उपसंवाद' और 'आशंका' इन दोनों अर्थों में इस सूत्र से 'लेट्' लकार विधान करना व्यर्थ है। "लिङर्थे लेट्" इस पूर्व सूत्र से भी 'लेट्' सिद्ध हो जायेगा। वह 'लिङ्' के अर्थ में 'लेट्' करता है।

---

१. पा० ३.४.९६।

२. ऋक्० खिल० १०।१०६.१।

३. पा० ३.४.९४।

४. पा० ३.४.७।

५. महा० भा० २, सू० ३.४.८, पृ० १७१।

हेतुहेतुमद्भाव या कारणकार्यभाव ही 'लिङ्' का अर्थ है । "हेतुहेतुमतोर्लिङ्"[1] यह सूत्र हेतुहेतुमद्भाव अर्थ में 'लिङ्' करता है। 'उपसंवाद' और 'आशङ्का' में भी कार्यकारणभाव है। 'यदि आप ऐसा करेंगे तो मैं भी यह करूंगा या दूंगा' यहां कार्यकारणभाव स्पष्ट है। जैसे 'विद्यां चेत् पठेत् सुखं यायात्' यहां विद्या और सुख का कार्यकारणभाव है वैसे ही शर्त में भी स्पष्ट है। 'आशङ्का' में तो कार्यकारणभाव और स्पष्ट है। "डर है कि यदि कुटिलता रूप पापाचरण करेंगे तो नरक में पड़ेंगे। इस प्रकार हेतुहेतुमद्भाव गम्यमान होने पर "हेतुहेतुमतोर्लिङ्"[2] से प्रतिपादित 'लिङ्' लकार के अर्थ में पूर्वसूत्र से ही 'लेट्' लकार सिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ है। यदि 'उपसंवाद' और 'आशङ्का' में हेतुहेतुमद्भाव से कुछ विशिष्ट प्रतीति मानी जाये तो उस विषय में 'लिङ्' का विधान विशेष रूप से कर देना चाहिये। उस लिङर्थ में पूर्व सूत्र से 'लेट्' सिद्ध हो जाने पर यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहां यह विचारणीय है कि 'उपसंवाद' में यदि करने के बदले कुछ देने की ही शर्त है, अन्य वस्तु की शर्त नहीं है, तब तो यह लिङर्थ अन्य लिङर्थों से विलक्षण है, विशिष्ट है। उस अवस्था में "लिङर्थे लेट्" से 'लेट्' लकार सिद्ध नहीं हो सकता। उक्त अर्थ विशेष में 'लेट्' लकार करने के लिये इस सूत्र की आवश्यकता है। भाष्यकार ने इस सूत्र से 'उपसंवाद रूप' अर्थविशेष में 'लेट्' करने के लिये सामान्य 'लिङर्थ से इसको पृथक् माना है। यदि 'लिङ्' विधान करने वाले लकारार्थ प्रक्रिया के अन्तर्गत सूत्रों में किसी प्रकार यह 'उपसंवाद' अर्थ भी 'लिङर्थ' बन जाये तब पूर्वसूत्र से 'लेट्' लकार सिद्ध हो जाने पर यह सूत्र अनर्थक अथवा अन्यथासिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य बन जाता है। वस्तुतः "अहमेव पशूनामीशै",[3] "मदग्रा एव वो ग्रहा गृह्यान्तै",[4] "मद्देवतान्येव वः पात्राण्युच्यान्तै",[5]

---

१. पा० ३.३.१५६ ।

२. वही ।

३. कपिष्ठलकठ संहिता, ३८.४, पृ० २४३ । काठक संहिता, ३५.१, पृ० २६४ ।

४. कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, ६.४.७१ ।

५. वही ६.४.७२ ।

"पताम"[१] इत्यादि सब छान्दस प्रयोग हैं। छन्द में 'दृष्टानुविधि' होती है। वहां जैसा देखते हैं, वैसा कर लेते हैं।[२] इस सूत्र के बिना भी 'लेट्' लकार सिद्ध हो सकता है। अतः यह सूत्र अप्रयोजक है, अनावश्यक है।

अनुब्राह्मणादिनिः ।।४.२.६२ ।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'प्राग्दीव्यतीय' प्रकरण में "तदधीते तद्वेद"[३] इस अर्थ के अन्तर्गत आता है। इसका अर्थ है कि 'अनुब्राह्मण' शब्द से 'तदधीते तद्वेद' (उसको पढ़ता है और उसको जानता है) इन दोनों अर्थों में 'इनि' प्रत्यय होता है। ब्राह्मण सदृश ग्रन्थ का नाम 'अनुब्राह्मण'[४] है। वैदिक साहित्य में जहां ब्राह्मण ग्रन्थ हैं वहां 'अनुब्राह्मण' भी हैं। 'अनुब्राह्मणमधीते वेद वा अनुब्राह्मणी।' 'अनुब्राह्मणिनौ।' 'अनुब्राह्मणिनः।' 'अनुब्राह्मण' शब्द से 'इनि' प्रत्यय होकर 'भसंज्ञा' द्वारा "यस्येति च"[५] से अकार लोप हो जाता है तो "सौ च"[६] से उपधा दीर्घ होकर 'अनुब्राह्मणी' यह इष्ट रूप बन जाता है। "तदधीते तद्वेद" से सामान्य प्राप्त 'प्राग्दीव्यतीय अण्' प्रत्यय को बाधने के लिये यह सूत्र बनाया गया है। यही इसका मुख्य प्रयोजन है कि 'अनुब्राह्मण' शब्द से 'अण्' न होकर 'इनि' प्रत्यय हो जाये।

अन्यथासिद्धि तथा अभिधान द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर भी वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही लाघव की दृष्टि से इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम्—अनुब्राह्मणी, अनुब्राह्मणिनौ, अनुब्राह्मणिनः इति। इनिनैतन्मत्वर्थीयेन सिद्धम्"।[७]

---

१. ऋक्० खिल० १०.१०६.१।
२. द्र० महा० भा० १, सू० १.१.६, पृ० ५५—'दृष्टानुविधिछन्दसि भवति।
३. पा० ४.२.५६।
४. द्र० वै० सि० कौ० भा० २, सू० ४.२.६२, पृ० ३६६—'ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम्'।
५. पा० ६.४.१४८।
६. पा० ६.४.१३।
७. महा० भा० २, सू० ४.२.६२, पृ० २८४।

भाव यह है कि 'इनि' प्रत्यय विधान के लिये यह सूत्र भी अनावश्यक है। "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्"[1] प्रत्ययविधायक मत्वर्थीय प्रकरण में आने वाले "अत इनिठनौ"[2] इस सूत्र से यहां 'इनि' प्रत्यय सिद्ध हो जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ है। 'इनि' के साथ 'ठन्' तो अनभिधान से नहीं होगा। साथ "तदधीते तद्वेद"[3] से सामान्य प्राप्त 'प्राग्दीव्यतीय अण्' प्रत्यय भी अनभिधान से नहीं होगा। यह बात भाष्यकार द्वारा इस सूत्र के प्रत्याख्यान से विदित होती है। 'निन्दा', 'प्रशंसा', 'बहुत्व', 'संसर्ग' आदि अर्थों में मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय होता है। इसमें 'संसर्ग' अर्थ की विवक्षा में 'अनुब्राह्मण' शब्द से 'इनि' हो जायेगा तो इस सूत्र की आवश्यकता नहीं रहती। जो 'अनुब्राह्मण' ग्रन्थ का अध्ययन या वेदन करता है वह 'अनुब्राह्मण' ग्रन्थ से सम्बन्ध तो रखता ही है। अतः अवान्तर विशेष को छोड़कर सामान्य सम्बन्ध मात्र को मान लेने से मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय होने में कोई बाधा नहीं है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

यहां भी भाष्यकार ने शब्द साधन में लाघव से काम लिया है। मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय से ही 'अनुब्राह्मणी' शब्द की सिद्धि मानकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया गया है जो समुचित ही है। सामान्य प्राप्त 'अण्' की निवृत्ति अनभिधान से मान ली जायेगी। 'अध्येतृ', 'वेदितृ' अर्थों में 'अनुब्राह्मण' शब्द से 'अण्' का अभिधान नहीं होता, किन्तु 'इनि' प्रत्यय का ही अभिधान होता है। यह भाष्यकार के वचन से समझा जायेगा। यदि भाष्यकार की दृष्टि में 'अनुब्राह्मण' शब्द से 'अण्' प्रत्यय भी अभीष्ट है तो उसका अनभिधान न मानकर 'अण्' प्रत्यय भी हो जायेगा। शब्द प्रयोग की व्यवस्था आप्त एवं शिष्ट जनों के वचनाधीन है। साधु शब्दों के अन्वाख्यान में वही सर्वाधिक प्रमाण हैं। प्रस्तुत प्रसंग में भाष्यकार स्वयं एक प्रामाणिकतम आचार्य हैं।[4] अतः उनके वचन से ही अभिधान-अनभिधान की व्यवस्था सुसंगत हो जायेगी। ऐसी स्थिति में सूत्र प्रत्याख्येय हो जाता है। इस विषय में हैम

---

१. पा० ५.२.९४।

२. पा० ५.२.११५।

३. पा० ४.२.५९।

४. द्र० वै० सि० कौ० भा० १, सू० १.१.२९, पृ० २२३—'यथोत्तरे मुनीनां प्रामाण्यम्'।

व्याकरण में विद्यमान यह सूत्र विचारणीय ही है।[1] क्योंकि एक तो उनके यहां प्रायः वैदिक सूत्र नहीं मिलते हैं। अतः केवल यह सूत्र ही वहां कैसे आ गया। दूसरे, यह सूत्र इतना महत्त्वपूर्ण भी नहीं है। अतः इसके न रहने से भी कोई असर नहीं पड़ता। जो भी हो, प्रकृत सूत्र इतना संकेत अवश्य देता है कि इन व्याकरणों में भी न्यूनाधिक अंश में वैदिक सूत्र रहे हैं। अथवा यह 'अनुब्राह्मण' शब्द वैदिक न होकर लौकिक भी हो सकता है।

तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य ॥६.१.७॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र षष्ठाध्याय के द्वित्व प्रकरणान्तर्गत है। इसका अर्थ है कि 'तुज्' आदि धातुओं के अभ्यास को दीर्घ होता है। यहां 'आदि' शब्द प्रकारवाची है, व्यवस्थावाची नहीं। प्रकार का अर्थ 'सादृश्य' है। 'तुज्' धातु के सदृश, 'तुज्' धातु जैसे अन्य धातुओं का यहां ग्रहण है। व्यवस्थित तुजादिगणपठित धातु कहीं नहीं है। जैसे 'तुज्' धातु के अभ्यास में दीर्घ दिखाई देता है, वैसे जहां-जहां भी धातुओं के अभ्यास में दीर्घ दृष्टिगोचर होता है, वे सब 'तुजादि' शब्द से यहां ली गई है। जैसे—'तूतुजानः'[2] 'मामहानः'।[3] 'दाधार'।[4] 'मीमाय'।[5] 'तूताव'[6] इत्यादि। 'तूतुजानः' में 'तुज् हिंसायाम्' धातु से 'छन्दसि लिट्' होकर "लिटः कानज्वा"[7] से 'लिट्' के स्थान में 'कानच्' आदेश हो जाता है। "लिटिधातोरनभ्यासस्य"[9] से 'तुज्' को द्वित्व होकर अभ्यास को "हलादिशेष"[10] और इससे दीर्घ होता है तो 'तूतुजानः' रूप बन

---

१. है० सू० ६.२.१२३—'अनुब्राह्मणादिन्'।
२. ऋक्० १.३.६।
३. मा० यजुः १७.५५।
४. ऋक्० १०.१२१.१।
५. शौनकीय अथर्व० ५.११.३।
६. ऋक् १.६४.२।
७. पा० ३.२.१०५।
८. पा० ३.२.१०६।
९. पा० ६.१.८।
१०. पा० ७.४.६०।

जाता है। इसी तरह 'मह्' धातु से 'मामहानः' बनता है। 'दधार' में 'धृञ् धारणे' धातु से 'लिट्', 'तिप्', 'णल्' होकर द्वित्व होता है। अभ्यास को 'उरदत्व'[1] 'रपरत्व', 'हलादिशेष' होकर इस सूत्र से दीर्घ हो जाता है तो 'दाधार' बन जाता है। 'दाधार' में अङ्ग को "अचोञ्णिति"[2] से वृद्धि होती है। 'मीमाय' में 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' धातु से 'लिट्', 'तिप्,' 'णल्' आदि होकर अभ्यास को ह्रस्व होता है। फिर इस सूत्र से दीर्घ होकर 'मीमाय' बन जाता है। 'तूताव' में 'तु' धातु है। उसी प्रकार द्वित्वादि होकर अभ्यास को इस सूत्र से दीर्घ हो जाता है।

'तुजादियों' से भी सर्वत्र दीर्घ नहीं होता। विशेष प्रत्ययों में ही दीर्घ विधान है। इसीलिये 'तुतोज' यहां दीर्घ नहीं हुआ। 'दाधार' की तरह 'अद्या ममार'[3] यहां दीर्घ नहीं हुआ। यह सूत्र वेद में ही दीर्घ विधान करता है।

छान्दस तथा अपरिगणित होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं--

"अनारम्भो वाऽपरिगणितत्वात्। अनारम्भो वा पुनश्छन्दसि दीर्घत्वस्य न्याय्यः। कुतः। अपरिगणितत्वात्। न हि छन्दसि दीर्घत्वस्य परिगणनं कर्तुं शक्यम्। किं कारणम् अन्येषां च दर्शनात्। येषामपि दीर्घत्वं नारभ्यते तेषामपि छन्दसि दीर्घत्वं दृश्यते। तद्यथा— पूरुषः, नारक इति। अनेकान्तत्वाच्च। येषां चाप्यारभ्यते तेषामप्यनेकान्तः। यस्मिन्नेव च प्रत्यये दीर्घत्वं दृश्यते तस्मिन्नेव च प्रत्यये न दृश्यते। मामहान ममहान इति'।[4]

इसका भाव यह है कि 'तुजादियों' को अभ्यास में दीर्घ करने के लिये इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका अनारम्भ ही न्याय्य है। क्योंकि वेद में दीर्घ अभ्यास वाले धातुओं का परिगणन नहीं किया जा सकता। जिनको दीर्घ विधान किया है, उनसे अन्यत्र भी दीर्घ दिखाई देता है और विधान किये हुओं में भी सब जगह दिखाई नहीं देता है।

---

१. पा० ७.४.६६।

२. पा० ७.२.११५।

३. ऋक्० १०.५५.५।

४. महा० भा० ३, सू० ६.१.७, पृ० १२।

जैसे—'पुरुषः' की जगह 'पूरुषः',[1] 'नरकः' की जगह 'नारकः'[2] यह दीर्घ दिखाई देता है, इसका कहीं विधान नहीं किया है। "अन्येषामपि दृश्यते"[3] से संहिता में दीर्घ विधान है, सर्वत्र नहीं। 'तूतुजानः' में दीर्घ विधान करने पर भी 'तुतोज' में दीर्घ नहीं दिखाई देता। इस प्रकार दीर्घ विधान के अनैकान्तिक होने से यह सूत्र व्यर्थ है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

प्रथम तो 'तुजादि' धातुओं के अभ्यास को, जो इस सूत्र से दीर्घ विधान किया है, वे 'तुजादि' धातु वैदिक हैं। वेद के प्रयोगों में ही दीर्घ दीखता है। 'दाधार' यह वैदिक प्रयोग है। लोक में तो 'दधार' ही बनता है। 'तूताव' यह भी वैदिक प्रयोग है। वेद में दृष्टानुविधि[4] होने से जैसा दीखता है, वैसा कर लिया जाता है। जिन प्रयोगों में अभ्यास को दीर्घ दीखता है, उनमें दीर्घ समझ लिया जायेगा, अन्यत्र नहीं। इसीलिए 'तुतोज' में दीर्घ विधान करने पर भी दीर्घ का अभाव देखने से यह सूत्र अनावश्यक हो जाता है। दूसरे कुछ निश्चित धातु न होने के कारण अपितु अव्यवस्थित होने के कारण भी इसका प्रत्याख्यान सर्वथा समुचित ही है।

शेश्छन्दसि बहुलम् ॥६.१.७२॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र वैदिक प्रयोग विषयक है। इसका अर्थ है कि "जश्शसोः शिः"[5] से 'जस्', 'शस्' के स्थान में होने वाले 'शि' आदेश का वेद में बहुलतया लोप होता है। कहीं होता है और कहीं नहीं भी। जैसे—'विश्वानि', 'विश्वा'।[6]

---

१. ऋक् १०.९०.३।
२. भा० यजु० ३०.५।
३. पा० ६.३.१३७।
४. द्र० महा० भा० १, सू० १.१.६, पृ० ५५—'दृष्टानुविधिछन्दसि भवति'।
५. पा० ७.१.२०।
६. मा० यजु० २३.६५।

'दुरितानि', 'दुरिता'।[१] 'त्रीणि', 'त्री'।[२] 'तानि', 'ता'[३] इत्यादि। 'विश्वानि' में 'विश्व' शब्द से नपुंसक लिङ्ग में 'जस्', 'शस्' के स्थान में "जश्शसोः शिः" से 'शि' आदेश होता है। "शि सर्वनामस्थानम्"[४] से उसकी 'सर्वनाम स्थान संज्ञा' होकर "नपुंसकस्य झलचः"[५] से 'नुम्' होता है "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ"[६] से नान्त की उपधा को दीर्घ हो जाता है तो 'विश्वानि' बन जाता है। इसी प्रकार 'दुरित' शब्द से 'दुरितानि', 'त्रि' शब्द से 'त्रीणि', 'तद्' शब्द से 'तानि' ये प्रयोग तो लोक वेद में तुल्य हैं। वेद में इतना विशेष है कि इस सूत्र से बहुल करके पक्ष में 'शि' का लोप हो जाता है तो 'विश्वानि' की जगह 'विश्वा' इत्यादि बन जाते हैं। 'विश्वानि' के 'शि' का लोप हो जाने पर पदान्त नकार का "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य"[७] से लोप हो जाता है तो 'विश्वा' बन जाता है। इसी प्रकार 'दुरिता', 'त्री', 'ता' ये रूप भी 'शि' का लोप होने पर बनते हैं। 'ता' में 'तद्' शब्द के दकार को "त्यदादीनामः"[८] से अकार होता है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र पर वार्तिककार कात्यायन सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र को अन्यथासिद्ध समझते हुए इसका प्रत्याख्यान करते हैं—

"अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथमग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था। ता ता पिण्डानाम् प्रजुहोम्यग्नौ इति। पूर्वसवर्णेनाप्येतत् सिद्धम्। न सिद्ध्यति। नुमा व्यवहितत्वात् पूर्वसवर्णो न प्राप्नोति। छन्दसि नपुंसकस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः। मधोर्गृह्णाति, मधोस्तृप्ता इवासते इत्येवमर्थम्। तत्र पुंवद्भावेन नुमो निवृत्तिः। नुमि निवृत्ते पूर्वसवर्णेन सिद्धम्। भवेत् सिद्धम्—अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था इति। इदं तु न सिध्यति—ताता पिण्डानाम् इति।

---

१. ऋक्० ६.२.११।
२. ऋक्० ३.२०.२।
३. ऋक्० १.१६२.१९।
४. पा० १.१.४२।
५. पा० ७.१.७२।
६. पा० ६.४.८।
७. पा० ८.२.७।
८. पा० ७.२.१०२।

इदमपि सिद्धम् । कथम्-साप्तमिके पूर्वसवर्णे कृते पुनः षाष्ठिको भविष्यति । एवमपि जसि गुणः प्राप्नोति । वक्ष्यत्येतत् जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ्णौ चङ्युपधायाः इति" ।[१]

तात्पर्य यह है कि 'त्री', 'ता' इत्यादि रूप सिद्ध करने के लिये यह सूत्र अनावश्यक है । 'त्री', 'ता' इत्यादि में 'शि' का लोप न करके "सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णा०"[२] से पूर्वसवर्ण कर लिया जायेगा तो उससे 'त्री', 'ता' इत्यादि रूप बन जायेंगे । 'त्रि+इ' इस अवस्था में "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः"[३] से पूर्वसवर्ण दीर्घ ईकार एकादेश हो जायेगा तो 'त्री' यह इष्ट रूप बन जायेगा । "व्यत्ययो बहुलम्"[४] से लिङ्ग व्यत्यय मानकर 'नुम्' की निवृत्ति हो जायेगी । "जसि च"[५] से प्राप्त गुण "जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ्णौ चङ्युपधायाः"[६] से वैकल्पिक होने से रुक जायेगा तो 'त्री' के बनने में कोई बाधा नहीं है । रहा 'ता', उसमें भी 'त+इ' इस अवस्था में 'इ' के स्थान में "सुपां सुलुक्०"[७] से पूर्वसवर्ण अकार होकर षष्ठाध्याय पठित "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः"[८] से पूर्वसवर्णदीर्घ हो जायेगा तो 'ता' बन जायेगा ।[९] इस प्रकार इष्ट रूप सिद्ध हो जाने पर 'शिलोप विधान' करना व्यर्थ है ।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

इस सूत्र का प्रत्याख्यान भी अन्यथासिद्ध होने से ठीक ही है । वैदिक प्रयोगों के साधन के लिये अनेक उपाय हैं । यहां भाष्यकार ने "सुपां सुलुक्०" से पूर्वसवर्ण करके 'शिलोप' विधान को अनावश्यक सिद्ध कर दिया है ।

---

१. महा० भा० ३, सू० ६.१.७०, पृ० ४९ ।
२. पा० ७.१.३९ ।
३. पा० ६.१.१०२ ।
४. पा० ३.१.८५ ।
५. पा० ७.३.१०९ ।
६. पा० ७.३.१०९ पर वार्तिक ।
७. पा० ७.१.३९ ।
८. पा० ६.१.१०२ ।
९. पदमंजरीकार हरदत्त ने तो 'ता' की सिद्धि के लिये 'सुपां सुलुक्०' से विहित 'डादेश' माना है 'डादेशेन सिद्धत्वात्' ।

केवल 'शि' के लोप का विधान करने के लिये अलग एक सूत्र बनाना गौरवग्रस्त भी तो है। अतः इसका न होना ही न्याय्य है।

अर्वणस्त्रसावनञः ॥६.४.१२७॥

मघवा बहुलम् ॥६.४.१२८॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

ये दोनों सूत्र अङ्गाधिकार प्रकरण के हैं। इनमें पहले सूत्र का अर्थ यह है कि 'नञ् भिन्न अर्वन्' शब्द को 'तृ' आदेश होता है, 'सु' परे न होने पर। 'अर्वन्तौ', 'अर्वन्तः', 'अर्वद्भ्याम्' इत्यादि उदाहरण हैं। 'अर्वन्तौ' इत्यादि में 'अर्वन्' शब्द से 'औ' विभक्ति परे होने पर 'तृ' आदेश हो गया। 'तृ' के ऋकार की 'इत्संज्ञा' होकर 'त्' शब्द शेष रह जाता है। उसके 'एकाल्' होने से "अलोऽन्त्यस्य"[१] के नियम से 'अर्वन्' के अन्तिम अक्षर नकार के स्थान में तकार हो जाता है। ऋकार की 'इत्संज्ञा' होने से 'अर्वत्' शब्द 'उगित्' है। "उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः"[२] से 'नुम्' होकर 'अर्वन्तौ बन जाता है। सर्वनामस्थान में 'नुम्' होगा, अन्यत्र नहीं।

'असौ' कहने का प्रयोजन यह है कि 'सु' परे होने पर 'तृ' आदेश न हो। 'सु' परे रहते 'अर्वा' यही रूप बनेगा। 'अनञ्' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि 'नञ्' समास में 'तृ' आदेश न हो। 'अनर्वाणम्'।[३] 'न अर्वा अनर्वा'। यहां 'नञ् तत्पुरुष समास' में 'तृ' आदेश न हुआ तो 'अनर्वन्' शब्द से द्वितीया के एकवचन 'अम्' प्रत्यय परे होने पर "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ"[४] से नान्त की उपधा को दीर्घ हो गया। "नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्"[५] इस परिभाषा के वचन से ऋकार अनुबन्ध को लेकर 'तृ' यह 'अनेकाल्' नहीं होगा। इसलिये "अनेकाल् शित् सर्वस्य"[६] से सर्वादेश न होकर अन्तादेश ही होता है।

दूसरे सूत्र का अर्थ यह है कि 'मघवन्' शब्द को बहुलतया 'तृ' आदेश होता है। अर्थात् 'मघवन्' शब्द 'मघवत्' बन जाता है, कहीं 'मघवन्' ही रहता

---

१. पा० १.१.५२।
२. पा० ७.१.७०।
३. ऋक्० १.१०६.१।
४. पा० ६.४.८।
५. परि० सं० ६।
६. पा० १.१.५५।

है । 'मघवन्', 'मघवन्तौ', 'मघवन्तः' ये 'तृ' आदेश पक्ष के उदाहरण हैं । और 'मघवा', 'मघवानौ', 'मघवानः' ये 'तृ' आदेशाभाव पक्ष के उदाहरण हैं । 'तृ' आदेश पक्ष में 'मघवत्' शब्द के उगित् होने से 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातो:'[१] से 'नुम्' हो जाता है । 'मघवन् त्+सु' इस अवस्था में "हल्ङ्याब्भ्यः०"[२] से 'सुलोप' और "संयोगान्तस्य लोपः"[३] से तकार का लोप हो जाता है । 'बहुल' ग्रहण करने से संयोगान्तलोप की असिद्धता नहीं होगी तो नकारान्त हो जाने से उसकी उपधा को दीर्घ होकर 'मघवान्' बन जाता है । यह 'अतु प्रत्ययान्त' नहीं है अतः "अत्वसन्तस्य चाधातोः"[४] से दीर्घ प्राप्त नहीं है । संयोगान्तलोप को असिद्ध न मानकर "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ"[५] से उपधादीर्घ होता है, उसमें 'बहुल' ग्रहण ही कारण है । 'तृ' आदेश के अभाव पक्ष में तो 'मघवा', 'मघवानौ' इस प्रकार 'राजन्' शब्द की तरह रूप चलेंगे । यहां तो 'मघवन्' शब्द के स्वतः नकारान्त होने से उपधा दीर्घ स्पष्ट ही है ।

छान्दस होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

उक्त दोनों सूत्रों का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यश्लोकवार्तिककार कहते हैं—

"अवर्णस्तृ मघानेश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत्"[६] अर्थात् "अर्वणस्त्रसावनञः" और "मघवा बहुलम्" ये दोनों ही सूत्र छान्दस होने से प्रत्याख्येय हैं । इनमें 'तृ' आदेश का विधान व्यर्थ है । 'अर्वन्' और 'मघवन्' इन दोनों शब्दों का प्रयोग छन्द एवं वेद में ही प्रायः होता है । और वेद में 'दृष्टानुविधि' होती है ।' वहां जैसा प्रयोग देखते हैं, वैसा ही अनुविधान हो जाता है । "मतुब्वन्योर्विधानाच्च छन्दस्युभयदर्शनात्"[७] अर्थात् वेद में "छन्दसोवनिपौ"[८]

---

१. पा० ७.१.७० ।

२. पा० ६.१.६८ ।

३. पा० ८.२.२३ ।

४. पा० ६.४.१४ ।

५. पा० ६.४.८ ।

६. महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० २२० ।

७. वही ।

८. पा० ५.२.१०९ पर वार्तिक ।

से 'वनिप्' प्रत्यय का विधान किया गया है। वह प्रातिपदिकमात्र से होता है। 'मघ' शब्द से 'वनिप्' होकर 'मघवन्' शब्द बन जायेगा। और सामान्य विहित "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्"[1] से 'मतुप्' होकर 'मघवत्' शब्द बन जायेगा। 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः"[2] से 'मतुप्' के मकार को वकार हो जाता है। इस प्रकार 'मघवन्' और 'मघवत्' ये दोनों शब्द क्रमशः 'वनिप्' और 'मतुप्' प्रत्यय के योग से 'तृ' आदेश बिना किये भी बन जायेंगे तो यह "मघवा बहुलम्" सूत्र व्यर्थ है। इसके बनाने की आवश्यकता नहीं। वैसे भाष्यवार्तिककार का इन दोनों सूत्रों को छान्दस मानना विचारणीय है। क्योंकि कातन्त्र व्याकरण में उपर्युक्त प्रयोगों के साधक "अर्वन्नर्वन्तिरसावनञ्", सौ च मघवान् मघवा वा" (कातन्त्र, २.३.२२, २३) सूत्र उपलब्ध होते हैं। कातन्त्र व्याकरण केवल लौकिक संस्कृत का व्याकरण है और वह भी अत्यन्त संक्षिप्त। अतः उसमें इन सूत्रों के विद्यमान होने और पाणिनीय सूत्रों में 'छन्दसि' पद का प्रयोग न होने से स्पष्ट है कि 'अर्वन्तौ' आदि प्रयोग कभी लौकिक संस्कृत में विद्यमान थे। अतएव कातन्त्र की वृत्ति टीका में दुर्गसिंह लिखते हैं—

"छन्दस्येतौ योगाविति भाष्यकारो भाषते। शर्ववर्मणो वचनाद् भाषायामप्यवसीयते। तथा च—मघवद् वज्र लज्जानिदाने, श्लथीकृतप्रग्रहमर्वतां व्रजम् इति दृश्यते"।[3] 'अर्वन्' शब्द में 'ऋ' धातु से "अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते"[4] से 'विच्' प्रत्यय करके सार्वधातुक गुण द्वारा 'अर्' यह रूप होता है। 'विच्' प्रत्यय का सर्वापहारी लोप हो जाता है। कृदन्त 'अर्' शब्द से मत्वर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय होकर 'अर्वत्' बन जाता है। उससे 'अर्वन्तौ', 'अर्वन्तः' ये रूप बनते हैं। 'अर्' शब्द से 'वनिप्' प्रत्यय होने पर 'अर्वन्' भी बन जाता है। उससे 'अर्वा', 'अर्वणः' इत्यादि अभीष्ट रूप बनते हैं। वेद में "छन्दसीवनिपौ"[5] से 'वनिप्' प्रत्यय विहित है और 'मतुप्' प्रत्यय लोकवेद उभयसाधारण है। वह जैसे लोक में होता है, वैसे वेद में भी हो जाता है। इस प्रकार

---

१. पा० ५.२.९४।

२. पा० ८.२.९।

३. सं० व्या० शा० ३, भा० १ पृ० ३६ से उद्धृत।

४. पा० ३.२.७५।

५. पा० ५.१.१०९।

'मतुप्' और 'वनिप्' इन दोनों प्रत्ययों का वेद में विधान होने से तथा दोनों प्रकार के प्रयोग वेद में दृष्टिगोचर होने से 'तृ' आदेश करने वाला यह सूत्र व्यर्थ ही है। 'मघवन्' के लिये तो आचार्य ने स्वयं 'बहुलम्' कहकर दोनों प्रकार के प्रयोग की खुली छूट दे दी है। 'अर्वन्' के लिये भी दोनों प्रकार के प्रयोग मिलने के कारण 'बहुलम्' की कल्पना सहज है। अथवा 'बहुलम्' यह दोनों का शेष समझ लिया जायेगा।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

'अर्वन्' और 'मघवन्' शब्दों के केवल वेदैकगम्य होने के कारण "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति"[1] के आधार पर प्रत्याख्यान करना समुचित ही है। वैदिक प्रयोगों के साधन में कोई निश्चित एक प्रकार नहीं है। वहां स्वर को देखकर भी व्युत्पत्ति का निर्णय करना होता है। इसीलिये 'मघवन्' शब्द से द्वितीया विभक्ति का बहुवचन 'शस्' परे रहते 'भ संज्ञा' होकर "श्वयुवमघोनामतद्धिते"[2] से वकार को उकार सम्प्रसारण होता है। वहां पर "मस्येति च"[3] से प्राप्त 'मघ' शब्द के अकार का लोप छान्दस मानकर ही प्रतिषिद्ध होता है। तभी 'मघोनः' बनता है। 'मघवन्' शब्द को अव्युत्पन्न मानने पर तो बात दूसरी है।[4] "श्वनुक्षन्०"[5] इत्यादि उणादि सूत्र में तो 'कनिन्' प्रत्ययान्त 'मघवन्' शब्द निपातित है। 'मह पूजायाम्' धातु से 'कनिन' प्रत्यय होकर 'ह' को 'घ' और 'अवुक्' का आगम हो जाता है तो 'मघवन्' बन जाता है। 'वनिप् प्रत्ययान्त मघवन्' मध्योदात्त[6] है। 'कनिन् प्रत्ययान्त' आद्युदात्त है।[7] 'कनि' प्रत्यय के पक्ष में तो अन्तोदात्त है। और

---

१. महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० २२०।

२. पा० ६.४.१३३।

३. पा० ६.४.१४८।

४. 'असिद्धवदत्राभात्' (पा० ६.४.२२) सूत्र के प्रयोजनों में परिगणित 'सम्प्रसारणमवर्णलोपे प्रयोजनम्' इस वार्तिक का खण्डन करते हुए भाष्यकार ने कहा है—
'मघवन्शब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम् इति'।

५ उणादि १.१६५।

६. द्र० पा० ३.१.४—'अनुदात्तौ सुप्पितौ'।

७. द्र० पा० ६.१.१९७—'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'।

वह लोक में भी प्रयुक्त होता है। "हविर्जक्षिति निःशङ्को मखेषु मघवानसौ०"[1] यह भट्टिकाव्य का प्रयोग है। उणादिसूत्र निष्पन्न 'मघवन्' शब्द के विषय में तत्त्वबोधिनीकार लिखते हैं—

"यद्यपि श्वन्नुक्षन् इत्यत्र कनिन्नता एते इत्युज्ज्वलदत्तादिग्रन्थपर्यालोचनया आद्युदात्तत्वं लभ्यते तथापि उक्षा समुद्रो अरुणः सुपर्णः, पूषात्वेतो नयतु, अग्निर्मूर्धा दिवः इत्यादौ तत्सूत्रोपात्तानामुक्षादीनामन्तोदात्तत्वस्य निर्विवादतया कनिप्रत्यय एवोचित इति भावः"।

मघवन् की तरह अर्वन् का प्रयोग भी लोक में होता है, इस विषय में यह कोष का वचन ही प्रमाण है—"वाजि वाहार्व गन्धर्व हय सैन्धवसप्तमः इति"।[2] ऐसी स्थिति में भाष्यकार तथा वार्तिककार ने जो इन दोनों को वैदिक कहा है, वह प्रायिक ही समझना चाहिये। जो भी हो, चाहे इन्हें लौकिक माना जाये या वैदिक, दोनों ही हालत में ये सूत्र अन्यथासिद्ध होने से प्रत्याख्येय ही हैं।

बहुलं छन्दसि ।७.१.८।।

बहुलं छन्दसि ।।७.१.१०।।

सूत्रों की सप्रयोजन स्थापना

ये दोनों सूत्र अङ्गाधिकार प्रकरण के हैं। इनमें पहले सूत्र का अर्थ है कि वेद में बहुलतया 'रुट्' का आगम होता है। 'वेत्तेर्विभाषा'[3] इस पूर्वसूत्र से 'विद्ज्ञाने' धातु से परे 'झ' के स्थान में आदेश हुए 'अत्' को विकल्प से 'रुट्' का आगम कहा है। इस सूत्र से 'विभाषा' की अनुवृत्ति आने पर भी जो 'बहुल' ग्रहण किया गया है वह सर्वोपाधिव्यभिचारार्थ है।[4] 'विद्' से भिन्न अन्य धातुओं से परे भी 'रुट्' करने के लिये तथा 'झादेश अत्' से भिन्न 'अन्त' आदेश को भी 'रुट्' करने के लिये और 'विद्' से भिन्न अन्य धातुओं से परे कहीं न भी करने के लिये 'बहुल' ग्रहण किया गया है। जैसे—

---

१. भट्टिकाव्य, सर्ग १८, श्लोक १६।

२. अमरकोष, २.८.४४।

३. पा० ७.१.७।

४. तुलना करो—'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति'।।

'देवा अदुह्र' ।[१] यहां 'दुह्' धातु से आत्मनेपद में 'लङ्' लकार के बहुवचन में 'झ' प्रत्यय होता है । "अदि प्रभृतिभ्यः शपः"[२] से 'शप्' का 'लुक्' होकर "आत्मनेपदेष्वनतः"[३] से 'झ' को 'अत्' आदेश हो जाता है । 'अदादेश' को इस सूत्र से 'रुट्' का आगम होकर 'लोपस्त आत्मनेपदेषु"[४] से 'अत्' के तकार का लोप हो जाता है तो शेष अकार का "अतो गुणे"[५] से पररूप होकर 'अदुह्र' बन जाता है । लोक में 'अदुहत' रूप होता है तथा वेद में 'अदुह्र' । वेद में भी 'बहुल' कहने से 'रुट्' न होकर तथा तकारलोप का अभाव होने से 'अदुहत' बनता है ।

इसी प्रकार 'अदृश्रन्'[६] अथवा 'अदृश्रम्'[७] यहां भी 'दृश्' धातु से परे 'झि' के स्थान में हुए 'अन्त' आदेश को 'रुट्' हो जाता है । 'अदृश्रन्' में 'दृश्' धातु से 'लुङ्' में 'झि' प्रत्यय हुआ है । 'अदृश्रम्' में 'दृश्' धातु से 'लुङ्' में 'मिप्' हुआ है । उसको 'अमादेश' होकर 'रुट्' हो जाता है । लोक में 'अदर्शन्' और 'अदर्शम्' ये रूप बनते हैं । वहां "ऋदृशोऽङि गुणः"[८] से गुण हो जाता है । 'दृश्' धातु के 'इरित्' होने से पक्ष में "इरितो वा"[९] से 'च्लि' को 'अङ्' होता है । 'अतो गुणे"[१०] से दोनों अकारों को पररूप होकर 'अदर्शन्' 'अदर्शम्' ये बन जाते हैं । वेद में 'बहुल' वचन से ही "ऋदृशोऽङि गुणः" से विशेष विहित गुण भी नहीं हुआ ।[११] इस प्रकार 'बहुल' वचन से वेद में 'विद्' से

---

१. कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणी संहिता ४.२.१ ।

२. पा० २.४.७२ ।

३. पा० ७.१.५ ।

४. पा० ७.१.४१ ।

५. पा० ६.१.९७ ।

६. मा० यजुः १६.७ ।

७. ऋक्० १.५०.३ । मा० यजुः ८.४० ।

८. पा० ७.४.१६ ।

९. पा० ३.१.५७ ।

१०. पा० ६.१.९७ ।

११. द्र० (क) अदृश्रम्—दृशिर् प्रेक्षणे अस्य कर्मणि प्रथमपुरुषबहुवचनस्थाने छान्दसं रूपमिति उव्वटः' ।

भिन्न 'दुह्', 'दृश्' आदि धातुओं से परे भी 'झादेश अत्' या 'अन्त' को 'रुडागम' होता है और 'झादेश' से भिन्न 'मिप्' के आदेश 'अम्' को भी 'रुट्' होता है। वह भी सब जगह नहीं होता, यह 'बहुल' ग्रहण का ही प्रभाव है।

दूसरे "बहुलं छन्दसि" (पा० ७.१.१०) सूत्र का अर्थ है कि वेद में 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश बहुलतया होता है। 'बहुल' ग्रहण से जहां होना चाहिये, वहां नहीं होता और जहां नहीं होना चाहिये वहां हो जाता है। यही 'बहुल' ग्रहण का माहात्म्य है। उदाहरण—'नद्यैः'। यहां 'नदी' शब्द से तृतीया का बहुवचन 'भिस्' प्रत्यय हुआ है। "अतो भिस् ऐस्"[1] इस पूर्वसूत्र से विहित 'ऐस्' आदेश अकारान्त शब्द से परे होता है किन्तु यहां 'बहुल' ग्रहण से 'नदी' इस ईकारान्त शब्द से परे भी हो गया। फिर 'यणादेश' होकर 'नद्यैः' बन जाता है। 'देवेभि', 'तेभिः', 'कर्णेभिः'[2] यहां 'देव' आदि अकारान्त शब्दों से परे 'भिस्' को 'ऐस्' होना चाहिये किन्तु 'बहुल' ग्रहण से वेद में नहीं होता। न्यासकार के मत में यहां 'बहुल' ग्रहण विस्पष्टार्थ है। वे कहते हैं—"शक्यते हि मण्डूकप्लुतिन्यायेन बहुलग्रहणमनुवर्तयितुम् इति"। जैसे मेंढक उछल-उछल कर चलते हैं, क्रम प्राप्त स्थान को भी छोड़कर आगे कूद जाते हैं, वैसे यहां भी पूर्वसूत्रस्थ 'बहुल' ग्रहण "अतो भिस ऐस्" को छोड़कर यहां आ कूदेगा तो दुबारा 'बहुल' ग्रहण करने की आवश्यकता न होगी।

लाघवार्थ अनुवृत्ति द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इन दोनों के खण्डन-मण्डन में वार्तिककार सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही उक्त दोनों वेदविषयक सूत्रों में से एक का प्रत्याख्यान आवश्यक समझते हुए कहते हैं—

"इदं बहुलं छन्दसीति द्विः क्रियते। एकं शक्यमकर्तुम्। कथम्। यदि तावत् पूर्वं क्रियते परं न करिष्यते। अतो भिस ऐस् इत्यत्र बहुलं छन्दसि

(ख) 'उत्तमैकवचने अदर्शमितिप्राप्ते शीङो रुट्, वेत्तेर् विभाषा, बहुलं छन्दसि इति दृशेरुत्तरस्य मिबादेशस्य अमो रुडागमो धातोः गुणाभावश्छान्दसः' (मा० यजु: उव्वट महीधर भाष्य)।

१. पा० ७.१.९।

२. साम०, १.२, मा० यजु: ३४.२७, मा० यजु: २५.२।

इत्येतदनुवर्तिष्यते । अथ परं क्रियते पूर्वं न करिष्यते । बहुलं छन्दसि इत्यत्र रुडप्यनुवर्तिष्यते । अपर आह--उभे बहुल ग्रहणे एकं छन्दोग्रहणं शक्यमकर्तुम् । कथम्—इदमस्ति, वेत्तेर् विभाषा । ततश्च छन्दसि । छन्दसि च विभाषा । ततोऽतो भिस ऐस् भवति । घन्दसि विभाषेति" ।[1]

अर्थात् ये जो दो "बहुलं छन्दसि" सूत्र बनाये गये हैं, इनमें से एक हट सकता है । कैसे । यदि "वेत्तेर्विभाषा"[2] के बाद आने वाला पहला "बहुलं छन्दसि" सूत्र रखा जाता है तो "अतो भिस ऐस्"[3] के बाद आने वाले "बहुलं छन्दसि" की आवश्यकता नहीं होगी । "अतो भिस ऐस्" में पहले पढ़े हुए "बहुलं छन्दसि" की अनुवृत्ति हो जायेगी तो उससे वेद में 'रुडागम' और 'ऐस्' आदेश दोनों की बहुतलतया प्रवृत्ति सिद्ध हो जायेगी । क्योंकि "बहुलं छन्दसि" के 'रुडागम' और 'ऐस्' आदेश के मध्य में पठित होने से उसका पूर्वोत्तर सूत्र विहित कार्यों से सम्बन्ध हो जायेगा जोकि सर्वथा उपपन्न है । इसके विपरीत यदि "अतो भिस् ऐस्" के बाद आने वाला "बहुलं छन्दसि" सूत्र रखा जाता है तो पहले पढ़े हुए 'बहुलं छन्दसि" की आवश्यकता न 'रहेगी । क्योंकि "अतो भिस ऐस्" के बाद आने वाले "बहुलं छन्दसि" में जहां पूर्वसूत्र से 'ऐस्' की अनुवृत्ति होगी वहां उससे अव्यवहित पूर्व गये 'रुट्' की भी अनुवृत्ति हो जायेगी तो उस सूत्र से भी वेद में 'रुट्' तथा 'ऐस्' आदेश दोनों बहुलतया सिद्ध हो जायेंगे ।

पक्षान्तर में भाष्यकार कहते हैं कि यदि दोनों सूत्र नहीं हटाये जा सकते तो कम से कम दोनों 'बहुल' ग्रहण और एक 'छन्दसि' शब्द का ग्रहण तो अवश्य हटाया जा सकता है । सो कैसे ? "वेत्तेर्विभाषा" के बाद केवल "छन्दसि" इतना सूत्र रखना चाहिये । उसका अर्थ होगा कि वेद में 'रुडागम' का विकल्प होता है । वह विकल्प 'व्यवस्थित विकल्प' माना जायेगा जो 'बहुल' ग्रहण का काम करेगा । उसके बाद "अतो भिस ऐस्" सूत्र में ऊपर से 'विभाषा छन्दसि' की अनुवृत्ति की जायेगी तो उससे लोक में 'भिस् को 'ऐस्' नित्य होकर वेद में 'ऐस्' का विकल्प हो जायेगा । वह विकल्प भी व्यवस्थित होने से 'बहुल' का ही काम करेगा । इस पक्ष में केवल "छन्दसि' इतना एक सूत्र ही पर्याप्त रह जाता है जिससे सभी वैदिक प्रयोगों में 'रुडागम' और 'ऐस्' आदेश की यथोचित व्यवस्था बन जाती है ।

---

१. महा० भा० ३, सू० ७.१.१०, पृ० २४४ ।

२. पा० ७.१.७ ।

३. पा० ७.१.९ ।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

इस विषय में तो किसी को कोई सन्देह ही नहीं कि ये दोनों सूत्र केवल वेद विषयक हैं। एक 'रुडागम' की और दूसरे 'ऐसादेश' की वेद में बहुलतया प्रवृत्ति होती है, इसके सूचक हैं। आचार्य पाणिनि ने पहले 'रुडागम' का विकल्प वेद में देखा तो उसके लिये पहला "बहुलं छन्दसि" सूत्र पढ़ दिया। उसके बाद उन्होंने वेद में 'ऐसादेश' का विकल्प देखा तो उसके लिये दूसरा "बहुलं छन्दसि" सूत्र पढ़ दिया। उससे अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति हो गई, सूत्र तो जरूर दो बनाने पड़े। भाष्यकार ने लाघव की दृष्टि से[1] (शब्दकृत-लाघव की दृष्टि से न कि अर्थकृत लाघव की दृष्टि से, जबकि उभयकृत लाघवों में अर्थकृत लाघव ही मुख्य माना गया है) जो एक सूत्र ही रखकर अभीष्ट अर्थ को सिद्ध कर दिया है, यह न्यायोचित है। किन्तु यहाँ भाष्यकार का तात्पर्य यदि यह लिया जाये कि "पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टं तत्पठितम्—तत उत्तरकाले इदं दृष्टं तदपि पठितम्। न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति"[2] तो भी कोई अनौचित्य या आपत्ति नहीं है। तथापि सूत्र का प्रत्याख्यान ही ठीक मानना चाहिए।[3] क्योंकि एक तो वेद में दृष्टानुविधि होती ही है। साथ ही प्रस्तुत प्रसंग में कोई अस्पष्ट प्रतिपत्ति भी नहीं होती।

श्रीग्रामण्योश्छन्दसि ॥७.१.५६॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र अङ्गाधिकार प्रकरण का है। इसका अर्थ है कि 'श्री' और 'ग्रामणी' शब्द से परे 'आम्' को 'नुट्' का आगम होता है वेद में। जैसे—'श्रीणाम्'।[4] 'सूतग्रामणीनाम्'।[5] 'श्रीणाम्' में 'श्री' शब्द से षष्ठी विभक्ति का बहुवचन 'आम्' प्रत्यय हुआ है। 'श्री' शब्द के ह्रस्वान्त, नद्यन्त या

---

१. द्र० महा० पस्पशा, पृ० १—'लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्'।

२. महा० भा० १, पस्पशा, पृ० १२।

३. वै० सि० कौ० भा० १, पृ० २२३—'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'।

४. ऋक्० १०.४५.५।

५. कठकपिष्ठलसंहिता, ४४.३, पृ० ३०१।

आबन्त न होने से "ह्रस्वनद्यापो नुट्"[1] से 'नुट्' प्राप्त नहीं था। इस सूत्र से उसका विधान होकर 'अट्कुप्वाङ्नुम् व्यवायेऽपि"[2] से 'न' को 'ण' हो जाता है तो 'श्रीणाम्' बन जाता है। 'सूत ग्रामणी' शब्द में सूताश्च ग्रामण्यश्च इति सूतग्रामण्यः' इस प्रकार 'इतरेतरयोग द्वन्द्वसमास' है। उसमें 'आम्' परे रहते 'ग्रामणी' शब्द के ह्रस्व न होने से और न ही नद्यन्त या आबन्त होने से "ह्रस्वनद्यापो नुट्" से "नुट्" नहीं प्राप्त होता था। प्रकृत सूत्र से 'नुट्' होकर 'सूतग्रामणीनाम्' यह इष्ट रूप वेद में बन जाता है। लोक में तो 'श्री' शब्द की "वामि"[3] से नदीसंज्ञा' विकल्प से होती है। 'नदी संज्ञा' पक्ष में 'ह्रस्वनद्यापः" से ही 'नुट्' सिद्ध है। 'नदीसंज्ञा' के अभाव में 'नुट्' न होने से "अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ"[4] से 'इयङ्' हो जायेगा तो 'श्रियाम्' बनता है ! 'ग्रामणी' शब्द में भी "एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य"[5] से 'यण्' होकर 'ग्रामण्याम्' बनता है। 'नदी संज्ञा' के अभाव में भी वेद में 'श्री' शब्द से 'आम्' परे होने पर 'नुट्' होकर 'श्रीणाम्' ही बने, इसलिये यह सूत्र बनाया गया है। 'ग्रामणी' में तो 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य" से विहित 'यण्' को बांधकर वेद में 'नुट्' होता है, उससे 'ग्रामणीनाम्' बनता है।

छान्दस होने से अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

वार्तिककार कात्यायन इस सूत्र के खण्डन-मण्डन में सर्वथा मौन हैं। केवल भाष्यकार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—

"अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथं श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्। अपि तत्र सूतग्रामणीनाम् इति। इह तावत् श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्, विभाषा आमि नदी संज्ञा। सा छन्दसि व्यवस्थितविभाषा भविष्यति। अपि तत्र सूत-ग्रामणीनाम् इति, सूताश्च ग्रामण्यश्च सूतग्रामणि, तत्र ह्रस्वनद्यापो नुडित्येव सिद्धम्"।[6]

तात्पर्य यह है कि 'श्रीणाम्' और 'ग्रामणीनाम्' में 'नुट्' अन्यथासिद्ध है।

---

१. पा० ७.१.५४।

२. पा० ८.४.२।

३. पा० १.४.५।

४. पा० ६.४.७७।

५. पा० ६.४.८२।

६. महा० भा० ३, सू० ७.१.५६, पृ० २६०।

"ह्रस्वनद्यापो नुट्"[1] से ही 'नुट्' हो सकता है तो यह सूत्र व्यर्थ है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि 'श्रीणाम्' में 'इयङुवङ्' स्थान वाले 'श्री' शब्द की 'आम्' परे रहते "वामि:"[2] से विकल्प से 'नदी' संज्ञा होती है। वह विकल्प वेद में 'व्यवस्थित विकल्प' मानने पर 'श्री' शब्द से 'आम्' परे होने पर "ह्रस्व नद्याप:०" से ही 'नुट्' हो जायेगा। "व्यवस्थित विभाषयापि कार्याणि क्रियन्ते"[3] इस परिभाषा के वचन से वेद में 'श्रीणाम्' ही बनेगा। वहां नित्य 'नुट्' ही इष्ट है। 'ग्रामणीनाम्' में 'इतरेतरयोग द्वन्द्व' न मानकर 'सूताश्च ग्रामण्यश्च तेषां समाहार: सूतग्रामणि' इस प्रकार 'समाहार द्वन्द्व' माना जायेगा। 'समाहार' में एकत्व होने से "सनपुंसकम्"[4] से नपुंसकलिङ्ग होकर "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य"[5] से 'ग्रामणी' को ह्रस्व हो जायेगा। उससे षष्ठी के बहुवचन 'आम्' परे रहते "ह्रस्व नद्याप:०" से ही 'नुट्' सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है। 'सूतग्रामणीनाम्' में 'समाहार द्वन्द्व' करके 'एकशेष' किया जायेगा। 'एकशेष' करके 'समाहार द्वन्द्व' नहीं होगा। अन्यथा 'समाहार' के एक होने से 'ग्रामणीनाम्' में बहुवचन नहीं हो सकेगा।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

'श्रीणाम्' में तो स्पष्ट ही नित्य 'नदी संज्ञा' मानकर "ह्रस्वनद्याप:०" सूत्र से 'नुडागम' सिद्ध है। 'व्यवस्थित विकल्प' मानने से वहां 'श्रियाम्' यह रूप नहीं बनेगा। 'सूतग्रामणी' शब्द में भी 'समाहार द्वन्द्व' करके 'सूत-ग्रामणि' शब्द बन जाता है। इसके ह्रस्व होने से षष्ठी बहुवचन में "ह्रस्व नद्याप:०" से ही 'नुट्' सिद्ध है। ऐसी अवस्था में इस सूत्र का प्रत्याख्यान होना ही चाहिये। वैसे भी छान्दस प्रयोगों में 'दृष्टानुविधि' होती है। इसलिए इस सूत्र के बिना भी उक्त दोनों प्रयोग बन सकते हैं तो इस सूत्र की क्या आवश्यकता है। 'श्री' शब्द के विषय में काशिकाकार लिखते हैं— "श्रीशब्दस्य वामि इति विकल्पेन नदी संज्ञा, तत्र नित्यार्थं वचनम्, अन्यथा

---

१. पा० ७,१.५४।

२. पा० १.४.५।

३. परि० सं० ९९।

४. पा० १.१.१७।

५. पा० १.२.४७।

भाषायामिव विकल्पः स्यात्'' ।[1] इस पर पदमंजरीकार लिखते हैं—''छन्दसि नुडेव चेद् दृश्यते, तस्य च लक्षणमस्ति, कोऽयं विकल्प प्रसङ्गः इति चिन्त्य-मेतत्'' ।

बात साफ है । काशिकाकार ने तो वृत्तिकार होने के नाते सूत्र को सार्थक सिद्ध करना था किन्तु पदमंजरीकार ने भाष्य के आधार पर सूत्र का खण्डन ही कर दिया । अतः काशिकाकार स्वतः चिन्त्य हो गये । इस तरह सूत्र का प्रत्याख्यान पक्ष ही प्रबल है ।

ये यज्ञकर्मणि ॥८.२.८८॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'ये' शब्द को प्लुतविधान करता है । इसका अर्थ है कि यज्ञ कर्म में प्रयुक्त होने वाले 'ये' शब्द को प्लुत होता है । प्रत्येक 'ये' शब्द को यह सूत्र प्लुत नहीं करता अपितु 'ये यजामहे' इस वाक्य में आने वाले 'ये' शब्द को ही यह प्लुत करता है । जैसे—'ये ३ यजामहे' ।[2] इस सूत्र में 'यज्ञकर्मणि' ग्रहण का प्रयोजन यही है कि यज्ञक्रिया में बोले जाने वाले 'ये' शब्द को प्लुत हो, सर्वत्र न हो । जहां यज्ञ न करते हुए केवल स्वाध्याय काल में 'ये यजामहे इति पञ्चाक्षरम्''[3] इस प्रकार पाठ कर रहे हैं वहां 'ये' शब्द को प्लुत नहीं होता ।

अतिव्याप्तिदोषग्रस्त होने से लाघवार्थ अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान भाष्यवार्तिककार ने स्पष्ट रूप से तो नहीं किया है किन्तु प्रकारान्तर से इसका प्रत्याख्यान हो जाता है । वार्तिककार शंका करते हैं —

''ये यज्ञकर्मणीत्यतिप्रसङ्गः । ये यज्ञकर्मणि इत्यतिप्रसङ्गो भवति । इहापि प्राप्नोति ये देवासो दिव्येकादश स्थ इति'' ।[4]

---

१. का० भा० ५, प्रकृत सूत्र, पृ० ४६२ ।

२. तैत्तिरीय संहिता, ३.३.७ ।
शतपथब्राह्मण, १.५.२.१६ ।

३. कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणी संहिता, काण्ड १, प्रपाठक ४ अनुवाक ११ ।

४. महा० भा० ३, सू० ८.२.८८, पृ० ४१६ ।

यहां शंका की गई है कि "ये यज्ञकर्मणि" इतना कहने से तो यज्ञकर्म में प्रयुक्त होने वाले सभी 'ये' शब्दों को प्लुत प्राप्त होता है। "ये देवासो दिव्येकादश स्थ"[१] यहां मन्त्र में पढ़े गये 'ये' शब्द को भी प्लुत होना चाहिये। क्योंकि यह मन्त्र भी यज्ञकर्म में बोला जाता है, तो इस शंका का उत्तर देते हुए आगे कहते हैं—

"सिद्धं तु ये यजामहे इति ब्रूह्यादिषूपसंख्यानम्। सिद्धमेतत्। कथम्। ये यजामहे इति शब्दो ब्रूह्यादिषूपसंख्येयः"।[२]

इसका तात्पर्य यह है कि 'यजामहे' के साथ पढ़ा जाने वाला 'ये' शब्द ही यहां लिया गया है। उसको ही प्लुत करना है और वह 'ये यजामहे' शब्द भी "ब्रूहि प्रेष्य-श्रौषड् वौषडावहानामादेः"[३] इस सूत्र में उपसंख्यान करने योग्य है। वहां जहां 'ब्रूहि', 'प्रेष्य' आदि शब्द पढ़े गये हैं और उनके आदि अक्षर को प्लुत होता है, 'ये यजामहे' को भी उनके साथ पढ़ देने से आदि का 'ये' अक्षर प्लुत हो जायेगा। उससे यह सूत्र व्यर्थ होकर प्रत्याख्यान के योग्य हो जाता है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वार्तिककार ने यह ठीक ही कहा है कि इस 'ये यजामहे' शब्द को 'ब्रूहि', 'प्रेष्य' आदि विशिष्ट शब्दों के साथ ही पढ़ देना चाहिये। उससे एक सूत्र की बचत हो जायेगी और दोष भी कहीं न आयेगा। क्योंकि 'ये यजामहे' यह भी एक विशिष्ट शब्द है। पदमंजरीकार कहते हैं—'ये यजामहे' के समान 'पित्र्यायां ये स्वधा' यहां भी 'ये' शब्द को प्लुत होता है। क्योंकि 'ये स्वधा' का स्थानापन्न 'ये यजामहे' शब्द है। जब 'ये यजामहे' में प्लुत होता है तो 'ये स्वधा' में भी प्लुत आवश्यक है।[४] इस प्रकार प्राचीन यज्ञप्रक्रिया में 'ये यजामहे' के 'ये' शब्द को प्लुत करने वाला यह सूत्र "ब्रूहिप्रेष्य०"

---

१. मा० यजु: ७.१९, ऋ० १.१३९.११।
२. महा० भा० ३, सू० ८.२.८८, पृ० ४१९।
३. पा० ८.२.९१।
४. द्र० प० मं० प्रकृत सूत्र—'पित्र्यायां ये स्वधा इत्यत्रापि भवति, एतत् स्थानापन्नत्वात् तस्य'। 'पित्र्यायां ये स्वधा' यह वचन कहां का है और इसका क्या अर्थ है इसका क्या अर्थ है, यह अन्वेष्टव्य है।

सूत्र में समावेश के कारण अनावश्यक हो जाता है।

स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि ।।पा० ८.३.१०५।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र वैदिक षत्वप्रक्रिया का है। इसका अर्थ है कि 'स्तुत' और 'स्तोम' शब्द के सकार को षकार होता है वेद में, कुछ आचार्यों के मत में। यहां "यजुष्येकेषाम्"[1] इस पूर्वसूत्र से 'एकेषाम्' की अनुवृत्ति आती है। उससे यह षत्वविधान कुछ एक आचार्यों के मत में होता है, सबके नहीं। इस प्रकार षत्व का विकल्प हो जाता है। जैसे 'त्रिभिष्टुतस्य'। 'त्रिभिस्तुतस्य'। 'गोष्टोमम्'।[2] 'गोस्तोमम्' यहां जिस पक्ष में षत्व हो गया वहां "ष्टुना ष्टुः"[3] से 'ष्टुत्व' भी हो गया। 'स्तुत' और 'स्तोम' का सकार पाद के आदि में होने से यहां "सात्पदाद्योः[4] से षत्व का निषेध प्राप्त था। उसका पुनः प्रतिप्रसव करने के लिये यह सूत्र बनाया गया है। यदि "सात्पदाद्योः" न होता तो "आदेशप्रत्यययोः"[5] से ही षत्व सिद्ध था किन्तु उसे "सात्पदाद्योः" रोक देता है। उसको भी रोक कर षत्व करने के लिये यह सूत्र है। 'अभिष्टुतः' इत्यादि में तो "उपसर्गात् सुनोति सुवति स्यति स्तौति०"[6] से भी षत्व सिद्ध हो सकता है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं—

"स्तुतस्तोमयोश्छन्दस्यनर्थकं वचनं पूर्वपदादिति सिद्धत्वात्। पूर्वपदादित्येव सिद्धम्"।[7]

तात्पर्य यह है कि "पूर्वपदात्"[8] से ही षत्व सिद्ध हो जाने पर यह व्यर्थ

---

१. पा० ८.३.१०४।

२. जैमिनीय ब्राह्मण, ३.१०।

३. पा० ८.४.४१।

४. पा० ८.३.१११।

५. पा० ८.३.५९।

६. पा० ८.३.६५।

७. महा० भा० ३, प्रकृत सूत्र, पृ० ४४८।

८. पा० ८.३.१०६।

है। "पूर्वपदात्" का अर्थ है कि पूर्वपद से परे विद्यमान सकार को वेद में षकार हो जाता है। यहां 'त्रिभिः' और 'गो' ये पूर्वपद हैं। उनसे परे 'स्तुत' और 'स्तोम' के सकार को षत्व हो सकता है। यह सूत्र तो उसी का प्रपञ्च होने से अनर्थक है। "पूर्वपदात्" सूत्र में 'पूर्वपद' शब्द से समास का अवयव पूर्वपद नहीं लिया गया है अपितु सामान्य रूप से जो किसी से पूर्व विद्यमान पद है, वही पूर्वपद मान लिया है। समास के अभाव में भी वह सूत्र पूर्व विद्यमान पद से परे षत्व करता है। इसलिये अन्यथासिद्ध होने से यह सूत्र अनावश्यक है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

वार्तिककार के साथ भाष्यकार भी इस सूत्र के प्रत्याख्यान में सहमत हैं। "पूर्वपदात्" यह षत्व करने वाला सूत्र व्यापक है, किसी भी पूर्वपद से परे किसी भी सकार को षत्व कर सकता है। यह सूत्र तो केवल 'स्तुत', 'स्तोम' शब्दों के सकार को षत्व करने के लिए बनाया गया है इसलिये इसका क्षेत्र व्यापक नहीं है। व्यापक सूत्र से यह गतार्थ हो सकता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में कैयट लिखते हैं—

"तदत्र स्तुत स्तोम ग्रहणं प्रत्याख्यायते। छन्दोग्रहणं तु उत्तरार्थं वक्तव्यमेव"।[1]

इस प्रकार इनकी सम्मति में समस्त सूत्र का प्रत्याख्यान नहीं हुआ। किन्तु वार्तिककार ने ऐसा नहीं माना। वे 'छन्दो' ग्रहण के बिना भी इसमें तथा इससे आगे आने वाले सूत्रों में छन्द विषयक प्रयोगों में ही षत्वविधान मानते हैं। वस्तुतः इसके आगे पीछे आने वाले सभी सूत्र वैदिक षत्व प्रक्रिया से ही सम्बद्ध हैं। यह बात इस सूत्र के प्रत्याख्यान से प्रकट हो जाती है।

इस प्रकार भाष्यवार्तिककार ने विभिन्न दृष्टियों से उपर्युक्त वैदिक सूत्रों का खण्डन कर दिया है। इनमें इनकी मुख्य प्रत्याख्यान दृष्टि उक्त सूत्रों को 'छान्दस' मानकर आगे बढ़ी है। क्योंकि 'छन्द' में जैसे दिखाई देता है, वैसा ही अनुविधान कर लिया जाता है। वेद में तो विशेष रूप से शब्द का प्रयोग स्वतः प्रमाण है। इसके अतिरिक्त वैदिक प्रयोगों के साधन के लिए अनेक उपाय होते हैं। वहां कोई एक निश्चित प्रकार नहीं है। वहां तो स्वर को देखकर भी व्युत्पत्ति का निर्णय करना होता है। लक्ष्यानुरोध से प्रयोगों

---

१. प्रकृतसूत्रस्थ महा० प्र० भा० ५, पृ० ४०५।

की व्यवस्था और विवक्षा करके भी इष्ट सिद्ध हो सकता है। संक्षेप में, भाष्यवार्तिककार के द्वारा प्रत्याख्यात वैदिक सूत्रों के निम्न तथ्य तथा युक्तियां आधार रही प्रतीत होती हैं—

१—"सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते"।

२—"दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति"।

३—"बहुलं छन्दसि"।

४—"व्यत्ययो बहुलम्"।

५—"सुपां सुलुक् पूर्वसवर्ण०"। इत्यादि ॥

---

१. परि० ३५।

२. महा० भा० १, सू० १.१.६,

३. पा० ३.२.८८।

४. पा० ३.१.८५।

५. पा० ७.२.३९।

अष्टम अध्याय

निपातन सूत्रों का प्रत्याख्यान

गोचर संचर वह व्रज व्यजापण निगमाश्च ॥३.३.११९॥

सूत्र की सप्रयोजना स्थापना

'गोचर' आदि शब्द 'घ' प्रत्ययान्त निपातित हैं करण या अधिकरण अर्थ में। "हलश्च"[1] सूत्र से प्राप्त 'घञ्' प्रत्यय का यह अपवाद है। 'गावश्चरन्ति अस्मिन् इति गोचरः'। यहां 'गो' पूर्वक 'चर्' धातु से अधिकरण में 'घ' प्रत्यय हुआ है। 'संचरन्तेऽनेन इति संचरः'। यहां 'सम्' पूर्वक 'चर्' धातु से करण में 'घ' हुआ है। 'वहन्ति तेन इति वहः'। यहां 'वह्' धातु से करण में 'घ' हुआ है। 'व्रजन्ति तेन इति 'व्रजः'। यहां 'व्रज्' धातु से करण में 'घ' हुआ है। व्यजन्ति तेन इति व्यजः'। यहां 'व्यज्' (विपूर्वक अज्) धातु से करण में 'घ' प्रत्यय हुआ है। 'व्यज्' इस निपातनसामर्थ्य से 'अज्' को 'वी' आदेश नहीं होता। 'आ समन्तात् पणन्ति अस्मिन् इति आपणः'। यहां 'आङ्' पूर्वक 'पण्' धातु से अधिकरण में 'घ' हुआ है। 'निगच्छन्ति तस्मिन् इति निगमः' यहां नि पूर्वक 'गम्' धातु से अधिकरण में 'घ' हुआ है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

प्रकृत सूत्र के प्रत्याख्यान में भाष्यकार तथा वार्तिककार दोनों सहमत हैं। वे कहते हैं—"घोचरादीनामग्रहणं प्राय वचनाद्यथा कषो निकष इति गोचरादीनां ग्रहणं शक्यमकर्तुम्। घञ् कस्मान्न भवति। प्रायवचनात्। यथा कषो निकष इति प्रायवचनाद् घञ् न भवति"।[2] इसका तात्पर्य यह है कि 'गोचर' आदि शब्दों के निपातन की आवश्यकता नहीं है। "हलश्च" से

१. पा० ३,३.१२१।

२. महा० भा० २, सू० ३.३.११९, पृ० १५५।

से प्राप्त 'घञ्' का "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण"[1] सूत्र में प्रोक्त 'प्राय' ग्रहण से बांध हो जायेगा तो 'घञ्' न होकर 'घ' ही होगा। इसलिये उक्त रूप 'घ' प्रत्ययान्त ही निष्पन्न हो जायेंगे। जैसे 'कषः', 'निकषः' यहां अधिकरण में 'कष्' धातु से 'घ' प्रत्यय होता है। 'प्राय' ग्रहण से 'घञ्' का अभाव रहता है। उसी प्रकार "हलश्च" सूत्र में 'प्राय' ग्रहण की अनुवृत्ति करके 'घञ्' प्रत्यय प्रायः करके होगा, सर्वत्र नहीं होगा। उससे गोचर आदि में 'घञ्' न होकर 'घ' ही हो जायेगा तो 'घ' प्रत्ययान्त निपातन करने की आवश्यकता नहीं है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यवार्तिककार द्वारा उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान ही न्याय्य है। क्योंकि जब 'कषः', 'निकषः' में 'घ' प्रत्यय विधान करने वाला कोई सूत्र नहीं बनाया फिर भी वहां 'घ' होता है। "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" सूत्र में 'प्राय' ग्रहण किया ही है इसलिये कि उसकी अनुवृत्ति "हलश्च" सूत्र में भी चली जाये। उससे 'घ' के साथ 'घञ्' भी 'प्रायः' करके होगा तो लक्ष्यानुरोध से 'गोचर' आदि में 'घञ्' न होकर 'घ' हो जायेगा। इस प्रकार 'घ' और 'घञ्' ये दोनों प्रत्यय 'प्रायः' करके होते है। यदि यह कहा जाये कि उक्त सूत्र के बनाये बिना कैसे जाना जायेगा कि 'गोचर' आदि में 'घ' ही होता है, 'घञ्' नहीं तो इसका उत्तर है कि 'कषः', 'निकषः' ये भी तो सूत्र में कहे बिना ही 'घ' प्रत्ययान्त समझे जाते हैं इसलिये अन्यथासिद्ध होने से यह सूत्र व्यर्थ है। वैसे भी ये सब संज्ञायें हैं। 'गोचर' का अर्थ गोचर भूमि है।[2] 'संचर' का अर्थ मार्ग है। 'वह' का अर्थ कन्धा है। 'व्रज' का अर्थ 'व्रजभूमि' है। 'व्यज' का अर्थ 'बिजना' है। 'आपण' का अर्थ 'दुकान' है। 'निगम' का अर्थ 'वेदशास्त्र' या 'शहर' है। संज्ञा होने से सर्वत्र "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" से 'घ' स्वतः सिद्ध है। घञ्' की निवृत्ति 'प्राय' ग्रहण से हो जायेगी। इसीलिये पूज्यपाद देवनन्दी ने इस सूत्र का भाष्यकार के समान सर्वथा प्रत्याख्यान कर दिया है। चान्द्र व्याकरण में तो 'व्रज' और 'व्यज' को निपातन सिद्ध करके

---

१. पा० ३.३.११८।
२. लोक में भी यह देखा जाता है कि जहां गाय चरती हैं उस स्थान को 'गोचरान' या 'गोचरान्द' कहते हैं।

शेषों का ही खण्डन माना गया है।[1] इसी प्रकार शाकटायन आदि वैयाकरणों ने न केवल पाणिनि प्रोक्त 'गोचर' आदि का ही प्रत्युत अन्य अनेक शब्दों का भी अन्वाख्यान किया है।[2] अतः उनकी दृष्टि में यह सूत्र प्रत्याख्येय नहीं लगता। किन्तु यह शास्त्र में अनावश्यक गौरव ही है। क्योंकि जब बिना कोई क्लिष्ट कल्पना किये ही प्रयोग निष्पन्न हो सकते हैं तो उनके लिये अलग से सूत्र का निर्माण करना युक्ति संगत नहीं है। ऐसी स्थिति में सूत्र स्वतः प्रत्याख्येय हो जाता है।

उदङ्कोऽनुदके ॥३.३.१२३॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह निपातन सूत्र है। 'उद्' पूर्वक 'अञ्च्' धातु से 'घञ् प्रत्ययान्त 'उदङ्क' शब्द निपातित है, 'उदकभिन्न' उपपद परे होने पर। 'उदच्यते उद्ध्रियतेऽस्मिन् इति उदङ्कः'। जिसमें तेलादि चीज डाली जाये वह तेल या घृत का पात्र 'उदङ्क' होता है। 'घञ्' प्रत्यय होकर "चजोः कु घिण्यतोः"[3] से 'अञ्च्' के चकार को 'कुत्व' हो जाता है। 'उदक' या जल के खींचने का पात्र तो 'उदकोदञ्चन' कहलाता है (पानी का डोल)।

'अनुदके' ग्रहण का प्रयोजन यही है कि 'उदक' उपपद होने पर 'घञ्' न हो। 'घञ्' का निषेध होकर 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण"[4] से 'घ' प्राप्त होता है। परन्तु 'घञ्' और 'घ' के होने में 'उदङ्क' में कोई अन्तर नहीं पड़ता। 'अञ्च्' के चकार को 'कुत्व' तो 'घ' परे होने पर भी हो सकता है। 'घञ्' में 'ञित्' होने पर भी वृद्धि का संभव नहीं है। 'अञ्च्' धातु न तो अजन्त है और न ही इसकी उपधा में अकार है। इसलिये अज्लक्षण या उपधालक्षण दोनों

---

१. चा० सू० १.४.१०१—'व्रजव्यजौ'।

२. (क) शा० सू० ४.४.९२—'गोचर संचर कषनिकष खल भग वह व्रज व्यजापण निगमम्'।

(ख) स० सू० २.४.१७४—'गोचरसंचर वहव्रज व्यज क्रमापण निगम-बकभग्नाकर्ष निकषाश्च'।

(ग) है० सू० ५.३.१३१—'गोचर संचर वह व्रज व्यज खलापण निगम वक भग कषाकष निकषम्'।

३. पा० ७.३.५२।

४. पा० ३.३.११८।

ही वृद्धियों में यहाँ कोई प्राप्त नहीं है। 'घञ्' और 'घ' के होने में स्वर में भी भेद नहीं होता। घञ्' पक्ष में 'थाथघञ् क्ताजवित्रकाणाम्''[1] से अन्तोदात्त होगा। 'घ' पक्ष में भी ''गतिकारकोपपदात् कृत्''[2] से कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर अन्तोदात्त ही होगा इसलिये 'उदक' उपपद होने पर ''करणाधिकरणयोश्च''[3] से करण कारक में 'ल्युट्' प्रत्यय होता है। 'ल्युट्' के 'यु' को ''युवोरनाकौ''[4] से 'अनादेश' होकर 'उदकोदञ्चनः' यह रूप बन जाता है। 'उदच्यते अनेन स उदञ्चनः'। 'उदकस्य उदञ्चनः उदकोदञ्चनः' (पानी खींचने का डोल या पीपा) 'उदङ्क' में अधिकरण में 'घञ्' हुआ है और 'उदञ्चन' में करण में 'ल्युट्' हुआ है। तेल की कुप्पी या घी के कनस्तर को 'उदङ्क' कहते हैं।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार 'अनुदक' ग्रहण के प्रत्याख्यान के साथ इस सूत्र का ही प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—''किमर्थमिदमुच्यते। न हलश्चेत्येव सिद्धम्। अनुदके इति वक्ष्यामि इति। इह मा भूत्—उदकोदञ्चनः। उदङ्कोऽनुदक-ग्रहणानर्थक्यं च प्राय वचनाद् यथा गोदोहनः प्रसाधन इति''[5] अर्थात् ''हलश्च''[6] से 'घञ्' सिद्ध होने पर भी यह सूत्र क्यों बनाया। यदि यह कहा जाये कि 'अनुदके' ग्रहण करके 'उदक' उपपद होने पर 'घञ्' न हो किन्तु 'ल्युट्' हो जाये, इसलिये यह सूत्र बनाया है तो इसका उत्तर है कि न तो 'उदङ्क' निपातन की जरूरत है और न 'अनुदक' ग्रहण द्वारा 'उदक' उपपद होने पर 'घञ्' निषेध की। ''हलश्च'' सूत्र में 'प्राय' ग्रहण की अनुवृत्ति होने से प्रायः करके 'घञ्' होता है तो वह कहीं पर नहीं भी होगा। उससे 'उदक' उपपद होने पर 'घञ्' का अभाव रहेगा। उसी 'प्राय' वचन के कारण 'घ' प्रत्यय भी न होगा तो 'ल्युट्' होकर उदकोदञ्चनः' बन जायेगा। जैसे 'गोदोहनः', 'प्रसाधनः' यहाँ 'ल्युट्' हो जाता है। 'गावो दुह्यन्ते अनेन स गोदोहनः'। 'प्रसाध्यते अनेन स प्रसाधनः' (गायें दुहने का साधन, सजावट का सामान)।

---

१. पा० ६.२.१४४।

२. पा० ६.२.१३९।

३. पा० ३.३.११७।

४. पा० ७.१.१।

५. महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० १५६।

६. पा० ३.३.१२१।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

दोनों मुनियों द्वारा उक्त सूत्र का प्रत्याख्यान ठीक ही है। "हलश्च"[1] सूत्र इतना व्यापक है कि करण, अधिकरण में सभी हलन्त धातुओं से 'घञ्' सिद्ध हो जाता है। 'उदङ्क' तो उससे बन ही गया। रहा 'अनुदके' यह निषेध, वह भी 'प्राय' ग्रहण से सिद्ध हो जायेगा। 'उदक' में भी 'घ' न होकर ल्युट्' ही हो जायेगा तो इष्ट रूप बन जायेगा। इसीलिए आचार्य चन्द्रगोमी तथा पूज्यपाद देवनन्दी ने इस सूत्र को अपने व्याकरणों में नहीं रखा है। शाकटायन आदि तो इस सूत्र को रखने के पक्ष में ही हैं।[2] किन्तु यह विचारक्षम न होने से स्वीकार्य नहीं है। अतः सूत्र प्रत्याख्येय ही ठहरता है।

पङ्क्ति विंशति त्रिंशच्चत्वारिंशत् पञ्चाशत् षष्टि सप्तत्यशीत नवतिशतम् ॥५.१.५९॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र आर्हीय प्रकरणान्तर्गत "तदस्य परिमाणम्"[3] के अधिकार में आता है। इसका अर्थ है कि 'पङ्क्ति' 'विंशति' आदि शब्द "तदस्य परिमाणम्" इस अर्थ में निपातित हैं। इनमें प्रकृति-प्रत्यय और उनके अर्थ का साक्षात् निर्देश न करके केवल बना बनाया समुदाय ही 'निपातन' से प्रकट कर दिया गया है। 'विधि' और 'निपातन' में यही अन्तर है कि "यदिह लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात् सिद्धम्"[4] अर्थात् जो बात सामान्यलक्षण से नहीं सिद्ध होती वह 'निपातन' से सिद्ध हो जाती है। 'विधि' में प्रकृति प्रत्यय आदि अवयव श्रूयमाण होते हैं, प्रत्यक्ष होते हैं। उनका बना हुआ समुदाय अनुमेय होता है। 'निपातन' में इससे विपरीत प्रकृति प्रत्यय आदि अनुमेय होते हैं,

१. पा० ३.३.१२१।

२. (क) शा० सू० ४.४.९७—'उदङ्कोजले'।

(ख) स० सू० २.४.१७७—'उदङ्कोऽनुदके'।

(ग) है० सू० ५.३.१३५—'उदङ्कोऽतोये'।

३. पा० ५.१.५७।

४. का० भा० २, सू० ३.१.१२३, पृ० ५१६।

उनका बना हुआ समुदाय प्रत्यक्ष होता है।[1] 'निपातन' का प्रयोजन भर्तृहरि ने इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

"धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च।
अनुबन्धविकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम्॥"[2]

वस्तुत: 'पङ्क्ति' आदि शब्द अव्युत्पन्न एवं रूढ़ि हैं। फिर भी उनकी व्युत्पत्ति की जाती है। 'पङ्क्ति' शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहाँ 'पङ्क्ति' का अर्थ दस संख्या है। 'पंक्ति' नाम का एक छन्द भी है जिसमें ४० अक्षर होते हैं। कतार या लाइन को भी 'पंक्ति' कहते हैं। 'यह ब्राह्मणों की 'पंक्ति' है' ऐसा प्रयोग होता है। दस संख्या के अर्थ में 'पंक्ति' शब्द का प्रयोग महाकवि कालिदास ने किया है—

"नृपते: प्रतिषिद्धमेव तत् कृतवान् पंक्तिरथो लिङ्घ्य यत्"[3]

यहाँ दशरथ के लिये 'पंक्तिरथ' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'विंशति' से लेकर 'शतम्' तक सब २०, ४०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, १०० इस क्रम से संख्या और संख्येय के वाचक लोक में प्रसिद्ध हैं। जब 'विशंति' शब्द संख्या वाचक होगा तो संख्येय द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य न होने से व्यतिरेक में षष्ठी होकर 'गवां विंशति:' (गायों की बीस संख्या) 'शतं ब्राह्मणाम्' (ब्राह्मणों की सौ संख्या) ऐसा प्रयोग होगा और जब 'विंशति' शब्द संख्येयवाची होगा तो संख्येय द्रव्य के साथ सामानाधिकरण्य होकर व्यतिरेक के न होने से षष्ठी नहीं होगी। 'विंशति: गाव:', 'शतं ब्राह्मणा:'

---

१. महा० प्र० भा० ४, सू० ५.१.५९, पृ० ४७ 'विधिनिपातनयोश्चायं भेद: यत्रावयवा निर्दिश्यन्ते समुदायोऽनुमीयते स विधि यत्र तु समुदाय: श्रूयतेऽवयवाश्च अनुमीयन्ते तन्निपातनम्'।

२. प्रदीपकार कैयट द्वारा सूत्र ५.१.११४ तथा शब्दकौस्तुभकार द्वारा शब्दकौस्तुभ में सूत्र ३.१.१०१ पर भर्तृहरि के नाम से उद्धृत। किन्तु वाक्यपदीय में सम्प्रति यह कारिका नहीं मिलती। यह विद्वानों की खोज का विषय है। तुलना करो—
'अप्राप्ते: प्रापणं चापि प्राप्तेर्वारणमेव च।
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनम्॥'

३. रघुवंश, ९. ७४।

इस प्रकार समान विभक्त्यन्त प्रयोग होगा। 'विंशतिः गावः' (बीस गायें), 'विंशतिगवम्' (विंशतेः गवां समाहारः) (बीस गायों का समूह) इन प्रयोगों में 'विंशति' शब्द संख्येयवाची है। 'गवां विंशतिः', 'गौः विंशतिः', 'ब्राह्मणानां शतम्', 'ब्राह्मणशतम्' ये प्रयोग 'विंशति' को और 'शत' शब्द को संख्यावाची सूचित करते हैं। स्वभाव से ही 'विंशति' आदि शब्द एकत्व अर्थ में संख्या और संख्येय के वाचक है। 'विंशति' से 'नवति' तक सब स्त्रीलिंग हैं। 'शतम्', 'सहस्रम्', 'लक्षम्' इत्यादि नपुंसकलिङ्ग है। यह सब शक्ति का स्वभाव है। 'विंशति' आदि अव्युत्पन्न शब्दों की यदि व्युत्पत्ति करनी अभीष्ट हो तो काशिका आदि वृत्तिकार इस प्रकार करते हैं—"द्वौ दशतौ परिमाणमस्य संघस्य इति विंशतिः"। 'द्विदशत्' शब्द के स्थान में निपातनात् 'बिन्' या बिं' आदेश होकर 'शति' प्रत्यय हो जाता है तो 'विंशति' बन जाता है। इसी प्रकार "त्रयः दशतः परिमाणमस्य संघस्य त्रिंशत्" यहाँ 'त्रिदशत्' शब्द के स्थान में निपातनात् 'त्रिन्' या 'त्रिं' आदेश होकर 'शत्' प्रत्यय हो जाता है तो 'त्रिंशत्' बन जाता है। 'चतुर्दशत्' को 'चत्वारिन्' अथवा 'चत्वारिं' आदेश होकर 'शत्' प्रत्यय हो जाता है तो 'चत्वारिंशत्' बन जाता है। 'पञ्चदशत्' को 'पञ्चा' आदेश होकर 'शत्' प्रत्यय होता है तो 'पञ्चाशत्' बन जाता है। 'षड्दशत्' को 'षष्' आदेश होकर 'ति' प्रत्यय हो जाता है तो 'षष्टि' बन जाता है। 'ति' को षकार के योग में "ष्टुना ष्टुः"[1] से ष्टुत्व हो जाता है। 'सप्तदशत्' को 'सप्त' आदेश होकर 'ति' प्रत्यय हो जाता है तो 'सप्तति' बन जाता है। 'अष्टदशत्' को 'अशी' आदेश होकर 'ति' प्रत्यय होता है तो 'अशीति' बन जाता है। 'नवदशत्' को 'नव' आदेश होकर 'ति' प्रत्यय हो जाता है तो 'नवति' बन जाता है। 'दशदशत्' को 'श' आदेश होकर 'त' प्रत्यय हो जाता है तो 'शतम्' बन जाता है। 'दस' से लेकर 'सौ' तक इन संख्यावाचक शब्दों का सूत्र में निर्देश 'सहस्र' आदि संख्याओं का भी उपलक्षण समझना चाहिये। काशिकाकार लिखते हैं—"विंशत्यादयो गुणशब्दाः ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्याः। नात्रावयवार्थेऽभिनिवेष्टव्यम् इति। तद्यथा—पंक्तिरिति क्रमसन्निवेशेऽपि वर्तते ब्राह्मणपंक्तिः। पिपीलिकापंक्तिः। न चात्रावयवार्थः कश्चिदस्ति"।[2]

---

१. पा० ८.४.४१।

२. का० भा० ४, सू० ५.१.५९, पृ० ६५।

लोकनिरूढ या लोक प्रसिद्ध होने से सूत्र का प्रत्याख्यान

इस सूत्र के विषय में एक विशेष बात यह है कि यहाँ वार्तिककार सूत्र का खण्डन करते हैं और भाष्यकार उनका पूर्ववत् समर्थन न करके उल्टे सूत्रकार के सूत्र को ही समर्थित करते हैं। इस प्रसङ्ग में भाष्यकार की निष्पक्ष आलोचना बड़ी सटीक बन पड़ी है। अस्तु, वार्तिककार इस सूत्र में कहे गये 'पंक्ति', 'विंशति' आदि शब्दों को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक तथा लोक प्रसिद्ध समझते हुए इसका प्रत्याख्यान करते हैं—

"अनारम्भो वा प्रातिपदिकविज्ञानाद् यथा सहस्रादिषु"।[1]

भाष्यकार इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—"अनारम्भो वा पुर्नविंशत्यादीनां न्याय्यः। कथं सिध्यति। प्रातिपदिकविज्ञानात्। कथं प्रातिपदिकविज्ञानम्। विंशत्यादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि। यथा सहस्रादिषु। तद्यथा—सहस्रम्, अयुतम्, अर्बुदमिति। न चामुगमः क्रियते, भवति चाभिधानमिति।"[2] यहाँ वार्तिककार का यही भाव है कि 'विंशति' आदि शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं। जैसे 'सहस्र', 'अयुत' आदि हैं। जैसे उनका अन्वाख्यान शास्त्र द्वारा नहीं किया जा रहा है वैसे इनका भी अन्वाख्यान करना व्यर्थ है। जब बिना शास्त्रीय अन्वाख्यान के 'सहस्र' आदि शब्दों से अर्थ की स्पष्ट प्रतीति हो रही है तो 'विंशति' आदि से भी शास्त्रीय अन्वाख्यान के बिना ही अर्थ की प्रतीति हो जायेगी, जैसा कि होती भी है। ऐसी अवस्था में केवल 'विंशति' आदि का ही शास्त्रीय अन्वाख्यान विशेष महत्व नहीं रखता। इसलिए सूत्र का अनारम्भ ही अच्छा है। इस प्रकार वार्तिककार द्वारा इस सूत्र के अनारम्भ पक्ष को प्रकट करके भाष्यकार इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—"यथा सहस्रादिषु इत्युच्यते। अथ सहस्रादिष्वपि कथं भवितव्यम्। सहस्रं गवाम्। सहस्रं गावः। सहस्रगवम्। गोसहस्रम् इति। यावतात्रापि सन्देहः, नासूया कर्तव्या यत्रानुगम आचार्येण क्रियते इति।"[3] यहाँ भाष्यकार के कहने का भाव यह है कि 'सहस्र' आदि ग्रहण करने पर भी बात नहीं बनती। क्योंकि सहस्र' आदि में भी कहाँ स्पष्ट अर्थ की प्रतीति होती है। वहाँ भी सन्देह ही है—'सहस्रं गावः'। यहां 'सहस्र' शब्द गायों

१. महा० भा० २, सू० ५.१.५९ पर वार्तिक, पृ० ३५५।

२. वही।

३. महा० भा० २, सू० ५.१.५९, पृ० ३५५-५६।

का विशेषण है। उसका समानविभक्तिक है, संख्येयवाची है। किन्तु 'गवां सहस्रम्' यहां 'सहस्र' शब्द संख्यावाची है। संख्यावाची न होने से गायों का समानाधिकरण नहीं है अतः व्यतिरेक में षष्ठी हो रही है। ऐसी अवस्था में यदि आचार्य पाणिनि ने 'विंशति' आदि कुछ शब्द अन्वाख्यान के लिये गिना दिये हैं और 'सहस्रादि' नहीं गिनाये तो इसमें बुरा क्या लग रहा है। आचार्य से असूया क्यों कर रहे हो। यह सूत्र तो 'सहस्र' आदि का उपलक्षण है। उन्होंने अन्वाख्यान ही तो किया है, प्रत्याख्यान तो नहीं किया। किसी वस्तु का अन्वाख्यान या अनुगमन एवं अनुविधान करना समुचित ही है। वह सब का न होकर यदि कुछ का भी हो जाता है तो भी ठीक ही है। व्याकरण तो विशेषरूप से उदाहरणों या प्रयोगों का निदर्शन-मात्र होता है। उसमें अपवाद या एकाध प्रयोग अछूता छूटा रह सकता है।[1] अतः इस दृष्टि से पाणिनि ने जितने 'पंक्ति' आदि शब्दों का अन्वाख्यान किया है, वह अनुमोदनीय ही है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

भाष्यकार के स्पष्टीकरण से बात साफ हो जाती है कि यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य नहीं है। यह लोक प्रसिद्ध शब्दों का भी अन्वाख्यान करता है, यह इस सूत्र के रखने से सिद्ध हो जाता है। अर्वाचीन वैयाकरण भी प्रायः भाष्यकार के साथ सूत्र के रखने में सहमत हैं।[2] केवल चन्द्राचार्य तथा शाकटायन ही वार्तिककारकृत प्रत्याख्यान में रुचि रखते हैं।[3] लेकिन ये

---

१. द्र० महा० प्र० भा० ४ सू० ५.१.५९, पृ० ५०—'अशक्यो वानन्त्यात् सर्वशब्दानुगमः'। शब्दों की इस अपरिमेयता तथा व्याकरण सामर्थ्य की ससीमता को देखकर ही पाणिनि ने अनेक सूत्रों में 'बहुलम्', 'दृश्यते' जैसे शब्दों का व्यवहार किया है।

२. (क) जै० सू० ३.४.५८—'पंक्ति विंशत् त्रिंशच्चत्वारिंशत् पंचाशत् षष्टिसप्तत्यशीति नवतिशतम्।'

(ख) स० सू० ५.१.६३-६४—'पंक्तिः'। 'विंशति त्रिंशच्चत्वारिंशत् पंचाशत्षष्टि सप्तत्यशीति नवति शतम्।'

(ग) है० सू० ६.४.१७३—'विंशत्यादयः।'

३. तुलना करो—शा० सू० ३.२.१६४ की अमोघवृत्ति, पृ० २७२ 'विंशत्यादयो गुणशब्दा गुणे गुणिनि चायत्वालिङ्ग संख्या एव वर्तन्ते। विंशतिविंशतिर्गावः इति साधुत्वमेषां पृषोदरादय उणादयो बहुलमिति वा तन्निर्देशाद्वा विज्ञायते।'

दोनों विचारणीय ही हैं। क्योंकि 'सहस्रादि' अव्युत्पन्न शब्दों के उपलक्षणार्थ यह सूत्र आवश्यक ठहरता है।

ऐकागारिकट् चौरे ।।५.१.११३।।

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह सूत्र 'प्राग्वतीय' प्रकरणान्तर्गत "प्रयोजनम्" के अधिकार में आता है। इसका अर्थ है कि 'चोर' अर्थ के कहने में 'ऐकागारिक' शब्द निपातित होता है, 'उसका प्रयोजन' इस अर्थ की विवक्षा में। निपातन होने पर भी इसकी व्युत्पत्ति एवं विग्रह इस प्रकार किया जाता है—'एकमगारं प्रयोजनमस्य स ऐकागारिकः चौरः'। एक अगार अर्थात् खाली घर है प्रयोजन जिसका उसको 'ऐकागारिक' कहते है। वह चोर ही होता है क्योंकि खाली घर को देखकर ही चोर चोरी करता है। जो घर खाली न हो, जहां आदमी विद्यमान हो, वहां चोर चोरी नहीं कर सकता। उसे भय रहता है। चोर का यही प्रयोजन है कि उसे खाली घर मिले तो वह चोरी करे। 'एकागार' शब्द से प्रयोजन अर्थ में "प्रयोजनम्" सूत्र से 'ठञ्' सिद्ध ही है। केवल 'चोर' अर्थ में नियम कर देने के लिये यह सूत्र बनाया गया है। उससे 'एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोः' इस वाक्य में 'एकागारिक' रूप नहीं बनेगा।[1] वहां 'ठञ्' नहीं होगा। क्योकि वहां 'भिक्षु' अर्थ है, 'चोर' नहीं है। 'भिक्षु' का भी एक ही घर भिक्षार्थ अभीष्ट होता है। कुछ भिक्षु ऐसे होते हैं जो केवल एक ही घर से भिक्षा ग्रहण करते हैं अर्थात् वे एक बार ही भिक्षा लेते हैं, दूसरी तीसरी बार नहीं। इसलिए उनकी भिक्षा का प्रयोजन भी एक ही अगार है। 'चोर' में नियम कर देने से 'भिक्षु' को 'ऐकागारिक' नहीं कहा जायेगा।

सूत्र में 'ऐकागारिक' निपातन में 'टकार' इसीलिये लगाया है कि "टिड्ढाणञ्०"[2] सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' हो जाये। उससे 'ऐकागारिकी' यह रूप भी बन जाता है। काशिकाकार लिखते हैं कि "टकारः कार्यव-

---

१. द्र० प्रकृत सूत्रस्थ प० मं० 'एकागारं चरेद् भैक्ष्यं तत्पुराणमुनेर्व्रतम्।' यह वचन मूलतः कहां से है, अन्वेष्टव्य है।

२. पा० ४.१.१५।

धारणार्थः ङीबेव भवति न तु ञित्स्वरः इति"।[1] उनका मतलब यह है कि 'ङीप्' तो 'ठञ्' से भी हो सकता है। "टिड्ढाणञ्०" सूत्र में 'ठञ्' प्रत्यय भी गिनाया है फिर 'टकार' लगाने का यही प्रयोजन है कि 'ङीप्' ही हो। 'ठञ्' के ञित् होने के कारण "ञ्नित्यादिर् नित्यम्"[2] से प्राप्त आद्युदात्त स्वर न हो। कुछ लोग 'ऐकागारिक' में 'इकट्' प्रत्यय और वृद्धि का निपातन मानते हैं।[3]

अन्यथासिद्धि या अनभिधान द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

भाष्यवार्तिककार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"एकागारान्निपातनानर्थक्यं ठञ् प्रकरणात्। एकागारान्निपातनमनर्थकम्। किं कारणम्। ठञ् प्रकरणात्। ठञ् प्रकृतः सोऽनुवर्तिष्यते। इदं तर्हि प्रयोजनम्—चौरे इति वक्ष्यामीति। इह माभूत्—एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षो इति। यद्येतावत् प्रयोजनं स्यात् एकागाराच्चौरे इत्येव ब्रूयात्।"[4] यहां वार्तिककार के साथ भाष्यकार का भी यह तात्पर्य है कि 'एकागार' शब्द से 'प्रयोजन' अर्थ में 'ठञ्' हो ही जायेगा। इससे 'ऐकागारिक' रूप बन जायेगा तो यह सूत्र व्यर्थ है। यदि यह कहा जाये कि 'चोर' अर्थ में निपातन करने के लिए यह सूत्र बनाया गया है 'चोर' में ही 'ऐकागारिक' बने, भिक्षु में न बने, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि उस अवस्था में "एकागाराच्चौरे" ऐसा सूत्र बनाया जा सकता था जिससे 'चोर' अर्थ में ही 'एकागार' शब्द से 'ठञ्' हो, अन्य अर्थ में न हो। जैसा कि आचार्य चन्द्रगोमी आदि ने अपने व्याकरणों में "एकागाराच्चौरे" यह बनाया ही हुआ है। किन्तु आचार्य ने वैसा सूत्र न बनाकर निपातन किया है, उससे भिक्षु अर्थ में अनभिधान से 'ठञ्' न होगा। 'चोर' अर्थ में इस सूत्र के बिना भी हो जायेगा तो यह व्यर्थ है। 'ञित्स्वर' निवृत्ति के लिये भी इस निपातन की आवश्यकता नहीं है 'ऐकागारिक' में 'ठञ्' प्रत्यय का 'ञित्स्वर' अभीष्ट ही माना जायेगा। जब निपातन ही नहीं रहा तब उसमें 'टकार' लगाना भी सर्वथा उच्छिन्न

---

१. का० भा० ४, प्रकृत सूत्र, पृ० ६६।

२. पा० ६.१.१९७।

३. द्र० का० भा० ४ प्रकृत सूत्र, पृ० ६६—'अपरे पुनरिकट्प्रत्ययं वृद्धिं च निपातयन्ति'।

४. महा० भा० २, सू० ५.१.११३, पृ० ३६२-६३।

हो जाता है ।[1]

समीक्षा एवं निष्कर्ष

जब अभिधान या अनभिधान ही शब्द प्रयोग में नियामक है तो 'चोर' में 'ऐकागारिक' स्वतः बन जायेगा । 'एकागारं प्रयोजनमस्य ऐकागारिकः' 'चोर' ही समझा जायेगा, भिक्षु नहीं । क्योंकि 'ऐकागारिक' शब्द से उसका अभिधान नहीं है । ऐसी अवस्था में सूत्र का प्रत्याख्यान ठीक ही है । निपातन से 'ञित् स्वर' की निवृत्ति मानना भी सर्वथा अनुचित है । 'एकागार' शब्द से जब 'ठञ्' करेंगे तो उसका स्वर भी मानना आवश्यक है । भाष्यवार्तिककार के प्रत्याख्यान से यह ज्ञापित हो जाता है कि 'ऐकागारिक' में 'ञित्स्वर' होगा । अभिधान स्वाभाव्य से उसका 'चोर' अर्थ में प्रयोग भी होगा ।

किन्तु जिस प्रकार 'ऐकागारिक' रूप की सिद्धि भाष्यवार्तिककार दोनों के मत में इस निपातन सूत्र के बिना भी हो सकती है और भिक्षु को छोड़कर केवल 'चोर' अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग व्यवस्थित हो जाता है वैसे इससे अगले निपातन सूत्र "आकालिकडाद्यन्तवचने"[2] में भी शब्द प्रयोग की व्यवस्था हो सकती है । उससे 'आद्यन्तवचन' अर्थात् क्षणप्रध्वंसि अचिरद्युति विद्युत् आदि अर्थ में ही शब्दशक्ति स्वभाव से 'आकालिक' शब्द का प्रयोग माना जायेगा तो वह निपातनसूत्र भी प्रत्याख्येय संभव हो जाता है । वार्तिककार ने तो उसका प्रत्याख्यान किया भी है—"आकालान्निपानानर्थक्यं ठञ्प्रकरणात्" ।[3] यह वार्तिक उस निपातन सूत्र का खण्डन करता है । किन्तु भाष्यकार ने वार्तिककार के समान उस सूत्र का खण्डन नहीं किया है । इस सूत्र के खण्डन में दोनों एकमत हैं । यदि 'ऐकागारिक' बिना निपातन के बन सकता है तो 'आकालिक' क्यों नहीं बन सकता, यह विचारणीय है । यदि यह कहा जाये कि 'आकालिक' निपातन में जो आसानी है, वह 'ऐकागारिक' में नहीं है । क्योंकि 'ऐकागारिक' तो 'एकागार' शब्द

---

१. तुलना करो—वा० प० २, १७३

"वैरवासिष्ठगिरिशाः तथैकागारिकादयः ।
कैश्चित्कथंचिदाख्याता निमित्तावधिसंकरैः ।।"

२. पा० ५.१.११४ ।

३. महा० भा० २, सू० ५.१.११४ पर वार्तिक, पृ० ३६३ ।

से बनता है। वह बिना निपातन के भी बन सकता है किन्तु 'आकालिक' में यह बात नहीं है। वहां तो 'समानकाल' शब्द को 'आकाल' आदेश होकर वह रूप बनाना है। उसके लिये इतना टंटा कौन करे। सीधा 'आकालिक' निपातन ही कर दिया जाये। उस निपातन में सब बातें आ जायेंगी। 'समानकाल' के स्थान में 'आकाल' आदेश भी निपातन के बल से समझा जायेगा इसलिए उसका तो निपातन सूत्र ही ठीक है। तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि 'आकाल' शब्द से ही 'ठञ्' करके 'आद्यन्तवचन' अर्थ में 'आकालिक' बना लिया जायेगा। 'समानकाल' शब्द को 'आकाल' आदेश नहीं माना जायेगा। वार्तिककार ने 'आकाल' शब्द से ही 'ठञ्' प्रत्यय स्वीकार किया है। वहां 'समानकाल' शब्द का प्रयोग ही नहीं है। "आवृत्तः कालः आकालः। न च कालस्यावृत्तिः संभवति इति सामर्थ्यादयमर्थो भवति—उत्पत्तिकालेन समानो यस्य विनाशकालः"[1] यह कहकर प्रदीपकार ने 'आकाल' शब्द से ही 'समानकाल' शब्द का अर्थ प्रकट कर दिया है।

"आकालाट्ठंश्च"[2] यह अगला वार्तिक भी 'आकाल' शब्द से ही प्रत्यय का विधान करता है। स्वयं आचार्य पाणिनि ने 'समानकाल' शब्द से 'ठञ्' प्रत्यय का निपातन नहीं किया है। यह तो वृत्तिकारों की महिमा है जो 'समानकाल' के स्थान में 'आकाल' आदेश मानकर उससे प्रत्यय विधान करते हैं। सीधा 'आकाल' शब्द ही जब 'ठञ्' प्रत्यय विधान में समर्थ है तो उससे 'ठञ्' प्रत्यय करके 'आकालिक' रूप बन जायेगा तो "आकालिकडाद्यन्तवचने" यह निपातन सूत्र भी व्यर्थ हो जाता है। उस सूत्र के प्रत्याख्यान से बचकर भाष्यकार यह कहकर चल देते हैं—"इदं तर्हि प्रयोजनम्—एतस्मिन् विशेषे निपातनं करिष्यामि समानकालस्याद्यन्तविवक्षायाम् इति"।[3] यह भाष्यकार का वचन सर्वथा चिन्त्य है। विशेष विचार की अपेक्षा रखता है। 'ऐकागारिक' और 'आकालिक' में क्या अन्तर है। कुछ भी नहीं। एक 'चोर' में निपातित है और दूसरा 'आद्यन्तवचन' में। यदि निपातन सूत्र रखते हैं तो दोनों ही रखने चाहियें और यदि नहीं रखते हैं तो दोनों का ही

१. महा० प्र० भा० ४, सू० ५.१.११४, पृ० ६८।
२. महा० भा० २, सू० ५.१.११४ पर वार्तिक, पृ० ३६३।
३. वही।

समानयोगक्षेम होने से प्रत्याख्यान न्याय्य है। इन दोनों के प्रत्याख्यान में भाष्यकार की अपेक्षा वार्तिककार ही अधिक प्रशस्य है। विद्वान् लोग इस पर विचार करें।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में अर्वाचीन वैयाकरण भी कोई विशेष युक्ति नहीं प्रस्तुत कर सके हैं। इन्होंने प्रायः दोनों ही सूत्रों को रखा है।[1] हां, वार्तिककार के अनुसार इन्होंने 'आकाल' शब्द से प्रत्यय विधान स्वीकार किया है, 'समानकाल' से नहीं। इस प्रकार सब तरह से विचारकर इसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि इन दोनों सूत्रों के विषय में वार्तिककार कात्यायन का प्रत्याख्यान ही ठीक है।

आकालिकडाद्यन्तवचने ॥५.१.११४॥

सूत्र की सप्रयोजन स्थापना

यह निपातन सूत्र है। इसका अर्थ है कि 'आदि' और 'अन्त' के एक साथ वचन में 'आकालिकट्' शब्द निपातित होता है। यहां 'समानकाल' शब्द के स्थान में 'आकाल' शब्द आदेश माना गया है। 'आद्यन्तौ समानकालौ यस्य स आकालिकः" इसमें 'टकार' का अनुबन्ध "टिड्ढाणञ्०"[2] से 'ङीप्' विधान के लिये लगाया गया है। 'आकालिकी विद्युत्' यहां विद्युत् रूप स्त्रीलिङ्ग अर्थ में 'ङीप्' हो जाता है। जिसकी उत्पत्ति के साथ ही विनाश हो जाये वह 'आकालिक' है। विद्युत् 'आकालिकी' इसलिए है कि वह उत्पत्ति के साथ ही नष्ट हो जाती है, इसलिए अचिरद्युति कहलाती है। प्राग्वतीय प्रकरण में "प्रयोजनम्"[3] इस की अनुवृत्ति होने पर भी यह सूत्र

---

१. चा० सू० ४.१.११८-११९—'एकागाराच्चौरे। आकालाद्ठश्च।'
जै० सू० ३.४.१०३—"वैशाखाषाढषाष्टिकैकागारिकडाकालिकट्'।
शा० सू० ३.२.११८; १२४—'एकागाराच्चौरे। आकालिकं ठश्चाद्यन्ते'।
स० सू० ५.१.११९-१२०—'एकागाराच्चौरे। आकालाट्ठंश्च'।
है० सू० ६.४.११८; १२८—'एकागाराच्चौरे। आकालिकमिकश्चाद्यन्ते'।

२. पा० ४.१.१५।

३. पा० ५.१,१०९।

'आद्यन्तवचन' इस अर्थ विशेष में 'आकालिक' शब्द का निपातन करता है। समानकालार्थक 'आकाल' शब्द से स्वार्थ में 'अर्थात् 'आकाल' शब्द का अपना जो 'समानकाल' अर्थ है, उसमें 'ठञ्' प्रत्यय का निपातन है। काशिकाकार 'इकट्' प्रत्यय का निपातन मानते हैं।[1] निपातन करने का अभिप्राय यही है कि जो काम विधि से न सिद्ध हो सके, वह निपातन से सिद्ध कर लिया जाये। यही इस सूत्र का प्रयोजन है।

अन्यथासिद्धि द्वारा सूत्र का प्रत्याख्यान

प्रस्तुत सूत्र के खण्डन में भाष्यकार की सहमति नहीं है। केवल वार्तिककार ही इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं—"आकालान्निपातनानर्थक्यं ठञ्प्रकरणात्। ठञ् प्रकृतः सोऽनुवर्तिष्यते।"[2] अर्थात् 'समानकाल वाची' जो 'आकाल' शब्द है उससे इस सूत्र द्वारा 'ठञ्' प्रत्यय का निपातन करना व्यर्थ है। 'ठञ्' प्रत्यय तो "प्राग्वतेष्ठञ्"[3] इस अधिकार से अनुवृत्त होता आ ही रहा है। 'टकार' अनुबन्ध लगाने की भी आवश्यकता नहीं। 'ठञ्' प्रत्यय होने पर "टिड्ढाणञ्०"[4] से ङीप् स्वतः सिद्ध है। 'ठञ्' के ञित्' होने से "ञ्नित्यादिर्नित्यम्"[5] से आद्युदात्त स्वर भी सिद्ध हो जाता है। जैसे 'एकागार' शब्द से 'ठञ्' होकर 'ऐकागारिकः' यह प्रयोग पूर्वसूत्र से बन जाता है, वैसे 'आकाल' शब्द से भी 'ठञ्' होकर 'आकालिकः' बन जायेगा। इस प्रकार वार्तिककार द्वारा इस सूत्र का प्रत्याख्यान हो जाता है। उसको स्वीकार न करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"इदं तर्हि प्रयोजनम्—एतस्मिन् विशेषे निपातनं करिष्यामि, समानकालस्याद्यन्त विवक्षायामिति।"[6] यहां भाष्यकार का आशय यह है कि 'समानकाल' शब्द के स्थान में 'आकाल' आदेश करने तथा 'आद्यन्तवचन' रूप अर्थ विशेष को प्रकट करने के लिये यह निपातन आवश्यक है। 'ऐकागारिकः' में तो 'एकागारः प्रयोजनमस्य'

---

१. द्र० का० भा० ४, प्रकृत सूत्र, पृ० ६७—'इकट् प्रत्ययश्च निपात्यते'।

२. महा० भा० २, सू० ५.१.११४ पर वार्तिक, पृ० ३६३।

३. पा० ५.१.१८।

४. पा० ४.१.१५।

५. पा० ६.१.१६७।

६. महा० भा० २, प्रकृत सूत्र, पृ० ३६३।

इस प्रकृत 'प्रयोजन' अर्थ में 'एकागार' शब्द से 'ठञ्' हो जायेगा किन्तु 'आकालिकः' में 'प्रयोजन' अर्थ को छोड़कर 'आद्यन्तवचन' यह विशेष अर्थ कहने के लिए 'समानकाल' शब्द को 'आकाल' आदेश करके 'ठञ्' करना है, इसलिए उसका निपातन किया गया है।

समीक्षा एवं निष्कर्ष

इसकी समीक्षा "ऐकागारिकट् चौरे" (पा० ५.१.११३) इस पूर्वसूत्र में की जा चुकी है। यह वहीं द्रष्टव्य है।[1]

---

१. इस विषय में देखें, पृ० ५१८-२१।

उपसंहार

विषयवस्तु के विभाजन की दृष्टि से प्रस्तुत शोध ग्रन्थ को संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश, अधिकार वैदिक तथा निपातन सूत्र नामक आठ अध्यायों में विभाजित किया गया है। इनसे पूर्व भूमिका भाग में सूत्रशैली, सूत्रों में प्रक्षेप, महाभाष्य में प्रक्षेप तथा प्रत्याख्यान प्रकाररूप प्रतिपाद्य विषय पर संक्षेप में विचार प्रस्तुत किये गए हैं।

अस्तु, सूत्रों के प्रत्याख्यान की समालोचना करते समय कुछ नूतनतथ्य प्रकट हुए हैं जो भाष्यवार्तिककार द्वारा किये गये सूत्रों के प्रत्याख्यानों का आधार रहे हैं। सर्वप्रथम तो देखा गया है कि प्रत्याख्यान करते समय भाष्यकार ने विविध पक्षों का आश्रयण किया है। जहां जो पक्ष अनुकूल लगा उसका ग्रहण कर लिया और दूसरा छोड़ दिया अर्थात् जैसा समय देखा प्रसङ्ग के अनुकूल वैसा समाधान या परिहार कर दिया। दूसरे शब्दों में— "पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति" इस न्याय का आश्रयण करते हुए वे खण्डन करते समय एक बार तो मण्डनीय वस्तु का भी खण्डन करने से नहीं चूकते। भले ही वह खण्डन सिद्धान्त रूपेण मान्य न हो। लृकारोपदेश का प्रत्याख्यान इसमें प्रमाण है। इसी प्रकार कुछ प्रत्याख्यान स्थल अन्योन्याश्रित भी हैं। इस विषय में "न धातुलोप आर्धधातु के" सूत्र का प्रत्याख्यान तात्पर्यग्राहक है। ऐसे स्थानों पर भाष्यकार का अपना अभिमत जान पाना दुर्बोध हो जाता है। इसी आधार पर कुछ विद्वान् भाष्य में न्यूनाधिक अंश प्रक्षिप्त भी मानते हैं। किन्तु यह मत भाष्यकारीय प्रत्याख्यान शैली के प्रतिकूल होने के कारण स्वीकार नहीं किया गया है।

लक्ष्यानुरोध से शब्द साधन में लक्षणों में किया गया परिवर्तन (न्यासान्तर) भी सूत्रों के प्रत्याख्यान का कारण रहा है। पाणिनीय परम्परा में रहते हुए ही पाणिनि अपेक्षा अन्य लघु एवं सुन्दर उपाय से सब लक्ष्यों का संग्रह करना

किसी तरह से अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि यह सब स्फुटबोध की दृष्टि से मन्द बुद्धियों के लिए कठिन हो सकता है तथापि व्युत्पन्नमतियों के लिये तो यह ग्राह्य ही है। इसी प्रकार 'स्थान्यादेशभाव' के विषय में भी भाष्यकार ने नितान्त भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया है। इस पद्धति में 'स्थानी' और 'आदेश' दोनों को 'नष्टाश्वदग्धरथवत्' या 'पङ्ग्वन्धवत्' परस्पर सम्बद्ध न मानकर स्वतन्त्र प्रकृत्यन्तर माना जाता है। यह बात अलग है कि उक्त दोनों प्रकृतियों के रूप अपने-अपने निश्चित प्रयोग क्षेत्र वाले अर्थात् 'नियत विषय' हैं।

"इहेङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्र निबन्धनेनाचार्याणामभिप्रायो लक्ष्यते" इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए भाष्यकार विभिन्न सूत्रों से कुछ ऐसे संकेत ग्रहण किये हैं जिनके आधार पर भाष्यवार्तिककार द्वारा किया गया किसी सूत्र का प्रत्याख्यान स्वयं पाणिनि द्वारा भी ज्ञापित हो जाता है। इस दृष्टि से "शेषे" सूत्र देखा जा सकता है। इसी प्रकार यह ठीक है कि आचार्यों द्वारा "यथा लोके तथा व्याकरणे?" यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है जिसकी पुष्टि स्वयं आचार्य पाणिनि ने लोक को प्रमाण मानते शास्त्र को 'संज्ञाप्रमाण' मानकर की है। किन्तु "यश्चार्थो लोकतः सिद्धः किं तत्र शास्त्रीयेण यत्नेन" इस सिद्धान्त के आधार पर सभी सूत्रों का प्रत्याख्यान न्याय्य नहीं प्रतीत होता। लोकसिद्ध होने पर भी कुछ अत्यावश्यक कार्यों का अन्वाख्यान तो शास्त्र द्वारा करना ही चाहिये जिससे वे कार्य शास्त्रानुमोदित हो सकें। संहिता तथा अवसान संज्ञासूत्र इस श्रेणी में आते हैं।

एक तरफ तो भाष्यकार स्वयं यह मानते हैं—"एते खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषु लक्षणं प्रपञ्चश्च। केवलं लक्षणं केवलं प्रपञ्चो वा न तथाकारकं भवति" और दूसरी तरफ स्वयं ही 'ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस सामान्य सूत्र के प्रपञ्चभूत "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यादि सभी अपादान प्रकरणगत सूत्रों का गौण अपादान या बौद्धिक अपाय मान कर प्रत्याख्यान कर रहे हैं। उनकी यह स्थिति या शैली प्रशंसनीय नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार भाष्यकार ने एक दिशा दिखाई है कि वस्तु के निर्णय में उसके अवान्तर छोटे-छोटे भेद नहीं गिने जाते। सामान्य में विशेष का अन्तर्भाव हो ही जाता है। इस दृष्टि से भाष्यवार्तिककार ने सारा एकशेष प्रकरण ही प्रत्याख्यात कर दिया है। ऐसा करने में दोनों का यही भाव रहा है कि

किसी प्रकार इन विशेष सूत्रों से बनने वाले शब्द 'सरूप' बना लिये जाएं। एक स्थान पर उपसंख्यानवार्तिक के आधार पर सूत्र का खण्डन किया गया है जोकि आपाततः रुचिकर नहीं लगता। क्योंकि सूत्रकार की सूत्र रचना के समय वह वार्तिक नहीं था। तो भी अधिक लक्ष्यसंग्रह की दृष्टि से उपसंख्यानवार्तिक ही समर्थित किया गया है।

"शिष्टानां ततोऽर्थबोधस्वरूपम्" अर्थात् शिष्टों में अर्थबोध हो जाना ही अभिधान का स्वरूप है। इस अभिधान-अनभिधान रूपी ब्रह्मास्त्र से भी अनेक सूत्रों का प्रत्याख्यान किया गया है। अभिधान के विषय में जिज्ञासा होने पर यही कहा जाता है कि शब्द की ऐसी ही शक्ति है कि अमुक शब्द तो निष्पन्न (परिनिष्ठित) होता है और अमुक नहीं। शब्दशक्तिस्वाभाव्य से लोक में ऐसे प्रयोग का अभिधान (प्रयोग या व्यवहार) नहीं है। शब्दार्थ-सम्बन्ध की लोक सिद्धता (संज्ञाप्रामाण्य) के विषय में भाष्यकार का यह वचन अवश्य ध्यातव्य है—"अभिधानलक्षणः कृत्तद्धितसमासाः"। इसके स्पष्टीकरण के लिए प्रदीपकार कहते हैं—"कृत्तद्धितसमासानामभिधानं नियामकं लक्षणं त्वनभिज्ञानां तद्भिज्ञानसूचकम् अर्थात् कृत्, तद्धित और समास सूत्रों का प्रयोग पूर्णरूपेण अभिधान के अनुसार ही होता है। दूसरे शब्दों में प्राप्ति होने पर भी सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा यदि उस शब्द से उस अर्थ की प्रसिद्धि लोक में न हो। शब्द से जिस अर्थ का अभिधान अभीष्ट है, वह अर्थ मुख्यरूप से अभिहित होने पर भाष्यवार्तिककार उसके साधन विशेष की परवाह नहीं करते। इनका पदे-पदे "अनभिधानात्" कहना ही साधन प्रक्रिया को गौण सूचित कर रहा है। किन्तु इतनी महत्ता होने पर भी अभिधान-अनभिधान को व्याकरण-शास्त्र में "अगतिकगति" भी माना गया है। अभिधान के समान ही विवक्षा का भी संस्कृत व्याकरण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्या कारक, समास, तद्धित तथा सन्धि इत्यादि सर्वत्र विवक्षा का ही व्यापार परिलक्षित होता है। "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति" यह न्याय तो प्रसिद्ध ही है। इस विवक्षा के आधार पर भी कुछ सूत्रों का प्रत्याख्यान किया गया हो तो युक्ति संगत ही है। वस्तुतः अर्थ का बोध मुख्य है। वह जिस प्रकार से भी हो सके उसे स्वीकार कर लेना चाहिये। सब विवक्षा या आरोप का ही खेल है। विवक्षा के महत्त्व को समझने के कारण ही संभवतः पाणिनि ने भी अनेकत्र 'बहुलम्' तथा 'दृश्यते' इत्यादि शब्दों का व्यवहार किया है।

जहां तक वैदिक सूत्रगत प्रयोगों का सम्बन्ध है, उनके साधन के लिए कोई एक निश्चित प्रकार नहीं है। वैदिक प्रयोगसिद्धि के लिए अनेक उपाय हैं। इस विषय में "इन्धिभवतिभ्यां च" सूत्र का उल्लेख किया जा सकता है। वेद में तो विशेष रूप से शब्द का प्रयोग स्वतः प्रमाण है। इसके अतिरिक्त वहां स्वर को देख करके भी व्युत्पत्ति का निर्णय करना होता है। प्रायः सभी वैदिक सूत्र इसी शैली में अर्थात् शब्द के प्रयोग को स्वतः प्रमाण मानते हुए ही प्रत्याख्यात किये गए हैं। यथा—

१. "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति"।
२. "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते"। इत्यादि।

भाष्यकार प्रायः अतिशय लाघव से काम लेते हैं। किन्तु शब्दकृतलाघव में अर्थकृतलाघव तिरोहित नहीं होना चाहिए। प्रत्याख्यान करते समय स्पष्ट प्रतिपत्ति (असन्देह) के दृष्टिकोण पर भी ध्यान रखना चाहिए। यही कारण है कि भाष्यकार अनेकत्र आपाततः किसी सूत्र का खण्डन करके भी उसकी गरिमा का अनुभव करते हैं और अन्त में पुनः "आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन् योगे······" इत्यादि कहकर सूत्र की सत्ता को मौन स्वीकृति दे देते हैं। भाष्यकार की इस स्थिति को उनका अद्भुत कल्पना कौशल या बौद्धिक व्यायाम का चमत्कार भी कहा जा सकता है जिसका अभिप्राय संभवतः आगे आने वाले शिष्य-प्रशिष्यों को सूत्र के पक्ष, विपक्ष, गुण-दोष आदि सभी से सम्यक्तया परिचित कराना है। भाष्यकार के शब्दों में—"अन्वाख्यानमेव तर्हीदं मन्दबुद्धेः"। इस दृष्टि से "स्थानिवत्" सूत्र तथा "अङ्गस्य" इत्यादि सूत्र द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकार अनेकत्र दार्शनिक सिद्धान्तों के मतभेद के कारण भी भाष्यवार्तिककारकृत किसी सूत्र का प्रत्याख्यान विचारणीय हो जाता है। इस प्रसङ्ग में "अस्मदो द्वयोश्च" सूत्र को लिया जा सकता है। यहां साङ्ख्य न्याय' वेदान्त एवं वैयाकरण सिद्धान्तों के अनुसार तो इन्द्रियों के भी अहम्भाव वाली होने के कारण उनके कर्ता होने से बहुवचन सिद्ध है। अतः सूत्र प्रत्याख्येय बन जाता है। किन्तु वैशेषिक आदि दर्शनों के अनुसार इन्द्रियों में कर्तृत्व न होने से उनमें बहुवचन सिद्ध नहीं है। अतः सूत्र प्रत्याख्येय नहीं बनता। ऐसी स्थिति में सही निर्णय सुकर नहीं रहता है ऐसे और भी अनेक स्थल हैं।

वास्तव में सूत्रकार ने सूत्र रचना करते समय लाघव की अपेक्षा स्पष्ट प्रतिपत्ति को अधिक महत्त्व किया लगता है। जिससे मन्द बुद्धियों को भी

सुगमतया बोध हो उसके। क्योंकि व्याकरण का उद्देश्य सन्देह की निवृत्ति करता है, न कि सन्देहयुक्त पदों का उपदेश करना—"दृश्यते च भ्रमकिवृत्तयेऽपि सूत्रवृतो यत्नः"। इसी उद्देश्य की रक्षा के लिए सूत्रकार ने अनेक सूत्रों में सन्ध्यभाव आदि गौरवग्रस्त निर्देश किये हैं तथा जिन्हें सौत्र या आर्ष प्रयोग मानकर साधु ही माना जाता है। किन्तु बाद में प्रत्याख्यान करने वाले भाष्यवार्तिककार दोनों की प्रत्याख्यानदृष्टि "नैकं प्रयोजनं (उदाहरणम्) योगारम्भं प्रयोजयति" तथा "अर्धमात्रालाघवे, पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः" इस प्रकार के सिद्धान्तों को आधार मानकर आगे बढ़ी है। परिणामतः इन्होंने सूत्रकार सम्मत स्पष्ट प्रतिपत्ति वाली पद्धति का अनेकत्र परित्याग कर दिया, चाहे इस सरणि को त्यागने में कितना ही दूरारूढ क्लिष्ट कल्पनाओं का आश्रय ही क्यों न लेना पड़ा हो। किन्तु इस प्रक्रिया में 'प्रतिपत्तिगौरव' होने से व्याकरण सुगम न होकर बह्वायाससाध्य हो गया। इस प्रकार केवल सूत्रकार के सूत्र का प्रत्याख्यान करने के लिए किसी लम्बी कल्पना या गौरवग्रस्त प्रक्रिया को अपनाना स्पष्ट प्रतिपत्ति के दृष्टिकोण से दोषावह ही माना जा सकता है। इसे ही स्वयं भाष्यकार के शब्दों में कुछ इस तरह समझा जा सकता है—"सैषा महती वंशस्तम्बाल्लट्वानुकृष्यते" अर्थात् परिश्रम अधिक तथा लाभ अत्यन्त कम। हां, यदि ऐसे स्थलों को "शिष्याणां सुखावबोधाय" तथा "शिष्यबुद्धिव्युत्पादनाय" स्वीकार किया जाए तब वैसे प्रत्याख्यात स्थल नाम हो सकते हैं।

आलोचना तु शास्त्रे या यथामति कृता मया ।
सा सर्वथा शुद्धभावेन विहितेत्यवधार्यताम् ।।

परिशिष्ट

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

(क) संस्कृत ग्रन्थ

क्रम संख्या

१. **अथर्ववेद संहिता :** (सायणभाष्यसहित), विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १९६१, ६२।

२. **अमरकोष :** हरगोविन्द, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, प्रथम सं०, १९६०।

३. **अष्टाध्यायी :** श्रीधरशास्त्री तथा सिद्धेश्वरशास्त्री, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, प्रथम सं०, १९३५।

४. **अष्टाध्यायी भाष्यम् :** स्वामी दयानन्द, वैदिक पुस्तकालय, दयानन्द आश्रम, अजमेर, द्वितीय सं०, वि० २०१८।

५. **उत्तररामचरितम् :** ब्रह्मानन्द शुक्ल, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९६१।

६. **ऋग्वेद-प्रातिशाख्य :** डा० वीरेन्द्रकुमार वर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्र० सं०, १९६०।

७. **ऋग्वेदसंहिता :** विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १९६४-६५।

८. **एकादशोपनिषद् :** सत्यव्रत सिद्धांतालंकार, विद्याविहार देहरादून, प्रथम सं०, १९७६।

९. **कपिष्ठलकठ संहिता :** रघुवीर, लाहौर, १९३२।

१०. **काठक संहिता :** श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, भारत मुद्रणालय, आन्धनगर (सतारा प्रदेश), बम्बई।

११. **कालिदास ग्रन्थावली :** रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७६।

१२. **काव्यप्रकाश :** श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, द्वितीय सं०, वि० २०३३।

१३. **काव्यमीमांसा** : ('प्रकाश' हिन्दी व्याख्योपेता) डा० गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम सं० १६६४ ।

१४. **काव्यालंकारसूत्राणि** : डा० बेचन झा, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १६७१ ।

१५. **काशिकावृत्ति** : (न्यासपदमञ्जरी संहिता) द्वारिकाप्रसाद शास्त्री तथा कालिकाप्रसाद शुक्ल, प्राच्य भारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सं०, १६६५ ।

१६. **कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयब्राह्मण** : नारायण शास्त्री गोडबोले, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १६३४ ।

१७. **कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता** : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी १६४१ ।

१८. **कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणीसंहिता** : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १६४१ ।

१६. **गोपथ ब्राह्मण** : राजेन्द्रलाल मिश्र तथा हरचन्द विद्याभूषण, कलकत्ता, १६७२ ।

२०. **चान्द्रव्याकरण** : (दो भाग) क्षितीशचन्द्र चटर्जी, डेक्कन कालेज, पूना, प्रथम सं०, १६५३, ६१ ।

२१. **जैनेन्द्रमहावृत्ति** : पं० शम्भूनाथ त्रिपाठी तथा पं० महादेव चतुर्वेदी, भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी, प्रथम सं० १६५६ ।

२२. **जैमिनीय मीमांसादर्शन** : सुब्बा शास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, १६३३ ।

२३. **निरुक्त** : डा० लक्ष्मण स्वरूप, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय सं०, १६६७ ।

२४. **न्यायदर्शन** : (वात्स्यायन भाष्यम्) दिगम्बर शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १६२२ ।

२५. **न्यायसिद्धांतमुक्तावली** : सी० शंकरराम शास्त्री, मैलापुर मद्रास, १६२३ ।

२६. **परिभाषेन्दुशेखर** : के० वी० अभ्यङ्कर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इस्टीट्यूट, पूना, १६६२ ।

२७. **पाणिनीय शिक्षा** : मनमोहन घोष, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३८।

२८. **पिंगल छन्दःसूत्रम्** : रामगोविन्द शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९४७।

२९. **प्रत्याख्यान विमर्श** : (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) प्रस्तुतकर्ता—कोदण्डराम, निर्देशक—रामानुज प्राचार्य, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति (आन्ध्रप्रदेश) १९७४।

३०. **प्रौढ मनोरमा** : अव्ययीभाव समासान्त (बृहद्धब्दरत्न तथा लघु शब्द रत्न सहित) डा० सीताराम शास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, प्रथम सं०, १९६४।

३१. **प्रौढ मनोरमा, यङन्त पर्यन्त** : (शब्द रत्न सहित) गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९६९।

३२. **बुद्धचरित** : सूर्यनारायण चौधरी, संस्कृत भवन कठोतिया, बिहार तृतीय सं०, वि० २०११।

३३. **बृहच्छब्देन्दुशेखर** : डा० सीताराम शास्त्री, वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालय, वाराणसी, प्रथम सं० १९६०।

३४. **ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य** : विन्ध्येश्वरी प्रसाद, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९२७।

३५. **भट्टिकाव्य** : शेषराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, १९५२।

३६. **महाभारत** : (उद्योगपर्व) श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी, प्रथम सं०, १९६४।

३७. **महाभाष्य** : (तीन भाग) कीलहार्न, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, तृतीय सं०, १९६२-७२।

३८. **महाभाष्य** : (प्रदीपोद्द्योत सहित) आचार्य देवव्रत, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल, झज्जर, प्रथम सं०, १९६२।

३९. **महाभाष्य** : (प्रदीपोद्द्योत सहित) भार्गव शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, पंचम सं०, १९५१।

४०. **महाभाष्य शब्दकोश** : श्रीधर शास्त्री तथा सिद्धेश्वर शास्त्री, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९२७ ।

४१. **याज्ञवल्क्य स्मृति** : (मिताक्षराटीका सहित) नारायण राम आचार्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, पंचम सं०, १९४९ ।

४२. **वर्णोच्चारण शिक्षा** : स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, त्रयोदश० सं०, वि० २०२७ ।

४३. **वाक्यपदीय** : के० वी० अभ्यङ्कर तथा वी० पी० लिमये, संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरिज, पूना विश्वविद्यालय, १९६५ ।

४४. **वाचस्पत्यम्** : तारानाथ भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६२ ।

४५ **वाजसनेयि-माध्यन्दिन-शुक्लयजुःसंहिता** : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल पारडी, द्वितीय सं०, १९७० ।

४६. **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** : श्री वेंकटेश्वर मन्त्रालय, बम्बई ।

४७. **वैदिकपदानुक्रमकोष** : विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १९६२ ।

४८. **वैयाकरण भूषण सार** : बालकृष्ण पंचोली, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९६९ ।

४९. **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** : (तत्त्वबोधिनी तथा बालमनोरमा सहित) गिरिधर शर्मा तथा परमेश्वरानन्द शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, तृतीय सं०, १९७५ ।

५०. **वैयाकरणसिद्धान्त-परमलघुमञ्जूषा**, डा० कपिलदेव शास्त्री, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, प्रथम सं०, १९७५ ।

५१. **व्याकरणवार्तिक—एक समीक्षात्मक अध्ययन** : डा० वेदपति मिश्र, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम सं० १९७० ।

५२. **व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि** : (तृतीयाध्याय पर्यन्त, दो भाग) माधव शास्त्री भण्डारी तथा दधिराम शर्मा, विद्याविलास प्रेस, बनारस, १९२०-२४ ।

५३. **शतपथ-ब्राह्मण** : डा० अल्बर्त वेबर, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, द्वितीय सं०, १९६४ ।

५४. **शब्दकल्पद्रुम** : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१।

५५. **शब्दकौस्तुभ** : (प्रथम दो भाग) गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९३३।

५६. **शब्दकौस्तुभ** : (अन्तिम दो भाग) विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी तथा गणपति शास्त्री मोक्ते, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस।

५७. **शाकटायन व्याकरण** : पं० शम्भूनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन काशी, प्रथम सं० १९७१।

५८. **शिशुपालवध** : रामप्रताप त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम सं०, १९७१।

५९. **श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण** : गीता प्रेस गोरखपुर, वि० २०१७।

६०. **संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि** : डा० कपिलदेव शास्त्री, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, प्रथम सं०, वि० २०१८।

६१. **संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास** : युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, तृतीय सं०, वि० २०३०।

६२. **सरस्वतीकण्ठाभरण** : (हृदय हारिणी व्याख्या समेत) के० साम्बशिव शास्त्री, राजकीय मुद्रण मन्त्रालय, त्रिवेन्द्रम् १९३५।

६३. **सांख्यसूत्रम्** : रामाशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय सं०, १९७७।

६४. **सिद्धहेमशब्दानुशासन** : (स्वोपज्ञलघुवृत्ति) मुनि हिमांशु विजय, श्री आनन्दजी कल्याणजी द्वारा प्रकाशित, अहमदाबाद, १९५०।

६५. **सामवेद संहिता** : (हिन्दु पद्यानुवाद) आचार्य विद्यानिधि शास्त्री, रोड़ क्षत्रिय महासभा, करनाल, १९७७।

६६. **सूत्रशैली और अपभ्रंश व्याकरण** : परममित्र शास्त्री, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम सं०, वि० २०२४।

(ख) **हिन्दी ग्रन्थ**

१. **पतञ्जलिकालीन भारत** : डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६३।

२. **पाणिनिकालीन भारतवर्ष** : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६८।

३. **पाणिनि व्याकरण का अनुशीलन** : डा० रामशंकर भट्टाचार्य, इण्डोलोजिकल बुक हाऊस, वाराणसी प्र० सं०, १६६६ ।

४. **महाभाष्य** : (प्रथम नवाह्निक का हिन्दी अनुवाद तथा विवरण) पं० चारुदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

५. **महाभाष्यम्** : (हिन्दी व्याख्यासहितम्) युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत), प्रथम सं०, वि० २०२६, ३१ ।

अंग्रेजी ग्रन्थ

1. *A Dictionary of Sanskrit Grammar* : K. V. Abhyankar, Oriental Research Institute, Baroda, Ist. ed., 1961.

2. *A Sanskrit English Dictionary* : Monier William, Oxford University, Press, 1956.

3. *Evolution of Sanskrit from Pāṇini to Patañjali* : S. D. Laddu University of Poona, 1974.

4. *Gaṇapāṭha ascribed to Pāṇini* : Dr. K. D. Shastri, Kurukshetra University, Ist ed., 1967.

5. *Kātyāyana and Patañjali* : F. Keilhorn, Indological Book House, Benaras, 1963.

6. *Lectures on Patañjali* : by P. S. Subrahmanyam Shastri, the trichinopoly United Press, Tiruchirapally 2, 1960.

7. *Pāṇini as a variationist* : by Paulkiparsky, University of Poona, Ist ed.. 1979.

8. *Pāṇini : A Survey of Research* : George Cardona, Motilal Banarasidass, Delhi, Ist Indian ed., 1980.

9. *Pāṇini : His Place in Sanskrit Literature* : To Gold Stucker, Chaukhamba Sanskrit Series Office, Benaras, Ist Indian ed., 1965.

10. *Patañjali's Vyākaraṇa Mahābhāṣya* : S. D. Joshi and J.A.F. Roodbergen, Centre of Advance Study in Sanskrit, University of Poona, class C, No. 6, Ist ed., 1901.

11. *Patañjali's Vyākaraṇa Mahābhāṣya* (*Tatpurṣāhnika*) : S. D. Joshi and J. A. F. Roodbergen, C. A. S. S., University of Poona, Class C. No. 7, Ist ed., 1973.

12. *Patañjali's Vyākaraṇa Mahābhāṣya* : (Kārakāhnika)

S. D. and J. A. F. Roodbergen, C. A. S. S., University of Poona, Class C. No. 10, Ist ed., 1975.

13. *Patañjali's Vyākaraṇa Mahābhāṣya* : (Anabhihitāhnika), S. D. Joshi and J. A. F. Roodbergen, C. A. S. S., University of Poona, Class C. No. 10, Ist ed. 1976.

14. *Practical Sanskrit English Dictionary*, ; P. K. Gode, Prasad Prakashana, Poona, 1959.

15. *Studies in Pāṇini* : H. P. Dwivedi Inter India Publication, Delhi, 1st ed., 1978.

16. *Systems of Sanskrit Grammar* : S.K. Belvelkar Bharatiya Vidya Prakashan, 2nd ed., 1976.

17. *Technique and Technical Terms of Sanskrit Grammar* : K.C. Chatterjee, Calcutta University, 2nd ed. 1964.

18. *The Development of Sanskrit from Pāṇini to Patañjali* : A. C. Sarangi, Bharatiya Vidya Prakashana, Delhi, Ist ed., 1985.

पत्रिकायें :

१. **गुरुकुल पत्रिका** : (शिक्षाविशेषाङ्क) भगवद्दत्त वेदालंकार, गुरुकुल कांगड़ी विश्ववद्यालय, हरिद्वार, १७, ८ मार्च-अप्रैल१९६५ ।

२. **भारती शोध सारसंग्रह** : डा० सुधीरकुमार गुप्त, भारती मन्दिर अनुसंधान शाला, विश्वविद्यालय पुरी, जयपुर, वर्ष ७, अङ्क १-२, दिसम्बर १९८० ।

३. **विश्वसंस्कृतम्** : वेदप्रकाश विद्यावाचस्पति, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १८-३, सितम्बर १९८१ ।

४. **स्वरमङ्गला** : कलानाथ शास्त्री, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर, सितम्बर, १९८४ ।

५. **सारस्वती सुषमा (प्रत्याख्यानसंग्रहः)** : मुख्य सम्पादक, डा० मङ्गलदेव शास्त्री, लघुग्रन्थ रत्नावली के अन्तर्गत "प्रत्याख्यानसंग्रह" के सम्पादक सूर्यनारायण शुक्ल तथा अनन्तशास्त्री फड़के, भूतपूर्व काशिक राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, (वर्तमान सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) द्वितीय वर्षाङ्क (पृ० १-२४) दिसम्बर १९४३ ।

६. **सारस्वती सुषमा : प्रत्याख्यानसंग्रहः)** मुख्य संपादक डा० मंगलदेव शास्त्री, रघुग्रन्थरत्नावली के अन्तर्गत **प्रत्याख्यानसंग्रहः** के संपादक सूर्यनारायण शुक्ल तथा अनन्तशास्त्री फड़के, भूतपूर्व काशिक राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (वर्तमान सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, तृतीय वर्षाङ्क (पृ० २५-५५) दिसम्बर १९४५।

7. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, R. N. Dandekar, vol. LXIV, 1983.

8. *Language* : Linguistic Society of America, Review of *Pāṇini as a Variationist*, March, 1984.

ग्रन्थ में उद्धृत ग्रन्थ-पत्रिका तथा ग्रन्थकार

२३, २४, २५, २६, २८, २९,
३०, ३१, ३२, ३३, ३४; १, २,
४, ६, ७, ९, ११, १२,१३, १४,
१५, १६, १७, १८, १९, २०,
२१, २२, २४, २५, २६, २८,
३०, ३१, ३२, ३६, ३७, ३९,
४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४८,
४९, ५०, ५१, ५४, ५७, ६१,
६२, ६४, ६५, ६६, ६८, ६९,
७०, ७२, ७३, ७५, ७६, ७७,
७८, ७९, ८०, ८२, ८५, ८६,
८८, ८९, ९०, ९१, ९५, ९६,
९७, ९९, १००, १०३ ४, ५, ७,
१०, ११, १२, १३, १४, १५,
१७, १८, १९, २०, २२, २३,
२७, २८, २९, ३०, ३१, ३२,
३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८,
३९, ४१, ४२, ४४, ४५, ४६,
४७, ४८, ४९, ५०, ५३, ५४,
५५, ६०, ६१, ६२, ६३, ६६,
६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२,
७३, ७५, ७७, ७८, ७९, ८०,
८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६,
८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९३,
९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९,
२००, २०१, २, ३, ४, ५, ७,
१०, ११, १२, १८, १९, २०,
२१, २२, २३, २४, २५, २६,
२७, २८, २९, ३०, ३१, ३२,
३५, ३६, ३८, ३९, ४०, ४२,
४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५२,

८३, ८७, ९०, ९७, ९९, २०१,
५, ७, १३, १८, २८, ३३, ३६,
४३, ५१, ५४, ५६, ५९, ६१,
६९, ७३, ७९, ८७, ९२, ९३,
९६, ३००, ३, ७, १४, २०, २५,
४९, ५८, ९०, ९३, ४०४, २७,
२९, ३३, ३८

ग्रन्थ में विवेचित प्रत्याख्यात सूत्रों की सूचा

ग्रन्थ में उद्धृत अन्य सहायक सूत्र तथा प्रमुख वार्तिक

ग्रन्थ में उद्धृत परिभाषाएं तथा न्याय

क्रम० सं०	परिभाषाएं/न्याय	पृष्ठ० सं०
५५.	यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् अथवा यथोत्तरं हि मुनित्रयस्य प्रामाण्यम्	भू० २६, ३३; २०, २२६, ९५, ९८, ९९, ४०३, १७, ४०३, १७
५६.	यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्	भू० ३
५७.	यावतामभिधानं तावतां प्रयोगो	१५४
५८.	लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव	८८, ९०
५९.	वार्णादाङ्गं बलीयः	२८६, ८७, ३४९
६०.	वाऽसरूपन्याय	भू० ५
६१.	विभाषामध्ये ये विधयः	२९०, ९१
६२.	विवक्षातः (विवक्षाधीनानि) कारणानि भवन्ति	७८, १९५, ९६, ४४३
६३.	विशेष्ये यल्लिङ्गं तद्विशेषणेऽपि	१६७
६४.	व्यपदेशिवदेकस्मिन्	३१२, ७६
६५.	व्यवस्थितविभाषयापि कार्याणि	१९९, २००, ४१९
६६.	व्याख्यानते विशेषप्रतिपत्तिः	भू० ४; १२२, ९६, २४२
६७.	शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन् विधिः	२८०, ३८८, ९२
६८.	शब्दान्तरात् प्राप्नुवत् विधिः	२८१
६९.	संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे	९, १०३, ६
७०.	सन्निपातलक्षणो विधिः	भू० २०
७१.	समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दाः	९६
७२.	सर्वे विधयश्छन्दसि बिकल्प्यन्ते	२३५, ३०७, ८७, ९८, ४२४, ४४
७३.	सर्वे सर्वपदादेशाः	१०७
७४.	सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव	३७७
७५.	सूत्रलिङ्गवचनमतन्त्रम्	९४
७६.	स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेन	३४२, ४३
७७.	स्वल्पान्तरं न दोषाय	१२९
७८.	स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितः	१००

ग्रन्थ में उद्धृत मन्त्र, श्लोक तथा कारिका

क्रम० सं०	मन्त्रादि	पृष्ठ० सं०
२८.	उपाया: शिक्षमाणानाम्	३२८
२९.	गकागारं चरेद् भैक्ष्यम्	४३४
३०.	एकोऽन्ये प्रधाने च	३१०
३१.	एण्यह्मः	२१६
३२.	एवं गते कृत्यपि तुल्यमेतद्	२५
३३.	एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्	८१
३४.	ऐन्द्र प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यत्	३८०
३५.	ओङ्कारं पृच्छामः को धातुः	भू० ६
३६.	कर्णेभिः	४१५
३७.	कस्य विभ्यति देवाश्च	५२
३८.	कीदृगसौ जगन्माता	१५१
३९.	क्रियावाचित्वनाख्यातुम्	७१, १८६
४०.	क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः	४१३
४१.	क्षिप्तश्येनाय वर्तिका	२१७
४२.	कामाय पिकः	२१७
४३.	गुणः कृतात्मसंस्कारः	२१०
४४.	गोष्टोमम्	४२२
४५.	चं भगवान् कृतवांस्तु	३७३
४६.	जगतः पितरौ वन्दे	१७४
४७.	जरामयं वै एतत्सत्रम्	भू० ६
४८.	तन्त्रान्तरप्रणीतानाम्	५२
४९.	तस्मात्स्वरादिग्रहणं च कार्यम्	२६
५०.	ता	४०७
५१.	तूताव	४०४, ५, ६
५२.	तूतुजानः	४०४, ५, ६
५३.	तेभिः	४१५
५४.	त्रिभिष्टुतय्य	४२२
५५.	त्री	४०७
५६.	त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुः	१४०
५७.	क्षतवै	१३२
५८.	दाधार	४०४, ५, ६

क्रम० सं०	मन्त्रादि	पृष्ठ० सं०
१२१.	शरीरस्य न चैतन्यम्	१४३
१२२.	शश्वत्कृत्वः	११
१२३.	शैशिकान्मतुबर्थीयात्	३५७
१२४.	श्तिपा शपानुबन्धेन	३६१
१२५.	श्रीणाम्	४१७, १८, १६
१२६.	सन्क्यच्काम्यच् क्यङ्क्यषः	१०१
१२७.	समीधे दस्यु हन्तमम्	३८५, ८६, ६०, ६२, ६३
१२८.	संज्ञा च परिभाषा च	भू० २
१२६.	संज्ञिनी व्यक्तिमिच्छन्ति	४३
१३०.	संयोगो विप्रयोगश्च	१८६
१३१.	संहितैकपदे नित्या	८३, ३५६
१३२.	सत्यं वै देवाऽनृतम्	भू० ६
१३३.	सरूपशेषं तु पुमान्	१६५
१३४.	सायेवमुर्वीमनिशम्	२०८
१३५.	सामर्थ्यनौचितीदेशः	१८६
१३६.	सितं सितिम्ना सुतराम्	१६३
१३७.	सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः	३२८
१३८.	सूतग्रामणीनाम्	४१७, १८, १६
१३६.	सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वम्	भू० ६, ३३
१४०.	स्वं रूपमिति कैश्चित्तु	४३
१४१.	हविर्जक्षिति निःशङ्को	४१३
१४२.	हविषा जुहोति	३६५
१४३	होत्राय वृतः कृपयन्न दीधेत्	३८०
१४४.	ह्रियै शल्यकः	२१७

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध
अडउण्	३१५	६	अइउण्
अंग शास्त्र	३४६	२२	आङ्ग शास्त्र
अङ्गाधिकार	३३१	१६	अङ्गाधिकारः
अगाधिकार	३३२	३	अङ्गाधिकार
अग्रण्यता	भू० १०	८	अगण्यता
अङ्	२८२	६	अड्
अङ्गुलित	२३२	४	अङ्गुलि
अच् सहृशस्य	भू० २२	३०	अच्सदृशस्य
अज् प्रत्यय	२४४	१७	अञ् प्रत्यय
अञ् समास	२६६	३	नञ् ममासः
अञादिसुप्	३१५	१७	यञादि सुप्
अटो मे	३१७	१	अटों में
अण्डिका	भू० ६	२४	कण्डिका
अतिदेशनाम	भू० ३	३०	अतिदेशो नाम
अतो गुण	१३१	७	अतोगुणे
अथात्	३६३	१४	अर्थात्
अथेदानी	३६१	२४	अथेदानीं
अदीधैत्	३८०	२	अदीधेत्
अदौ	३१६	४	अदो
अदडआदेश	३४०	२५	अद्ड् आदेश
,, ,,	३४१	१	,, ,,
अधिकारी नाम	भू० ४	१७	अधिकारोनाम
अनभिधानान्	२३१	२२	अनभिधानात्
अनल्विद्यौ	३२०	६	अनल्विधौ
अनुअमवत् यहां इस	३५६	८,६	अनुअभवत् इस
अनुपनर्जन	३४०	२३	अनुपसर्जन
अनेक सूत्र	भू० ६	५	अनेकत्र
अन्त भी	भू० २२	५	अन्तर भी

अन्तरिक्ष	भू० १७	७	अन्तरिक्षं
अन्तर्धोविषये	५८	२७	अन्तर्धौ विषये
अपार	६३	३	अपर
अपरिभाषिक	३३६	१८	अपारिभाषिक
अप्राप्तिस्यादर्शनात्	३२०	१	अप्राप्तिस्तस्यादर्शनात्
अमिसंमंत्स्यामः	भू० २१	३	अभिसंभंत्स्यामः
अभ्यवहर्रति	२१८	११	अभ्यवहरति
अमहत्वपूर्वा	३३८	२२	अमहत् पूर्वा
अयन्	२८४	१६	कायन्
अर्थक्ता	३२४	३०	अर्थवत्ता
अर्घोवितादय	१०१	१५	अर्धोक्तादयः
अल्ः विधिः	२१६	८	अलः विधिः
अल्विद्यौ	३२०	१	अल्विधौ
अविशेषेणेतद्	भू० २१	१६	अविशेषेणैतद्
,, ,,	भू० २८	१३	,, ,,
अशिष्योंवा	भू० ३१	१७	अशिष्यो वा
अशूङ् व्याप्ता	३२२	२६	अशूङ्व्याप्तौ
अहङ्कार को	१४३	२१	अहङ्कार का
आकालाद् उश्च	४३८	२१	आकालाट् ठंश्च
आक्षाः	१५१	१२	अक्षाः
आक्षेपोऽयं	भू० ४	२८	आक्षेपोऽथ
आधुदात्त	२४६	२३	आद्युदात्त
आङ्ग	२८६	१६	आङ्गं
आदीध्यै	३७६	६	आदीध्ये
आदेश	२८०	२३	लादेश
आदैजेवाघटः	२८७	२७	आदैजेवाद्यटः
आन्तर्य	१२६	१	आन्तर्यं
आन्तोदात्त	१३२	७	अन्तोदात्त
आरण्यको	भू० ६	७	आरण्यकों
आरम्यमाणः	६६	४	आरभ्यमाणः
आर्डकशाला	३५६	२७	आर्दकाशाला
आर्धधातुकस्येङ्	३६१	१३	आर्धधातुकस्येड्

आर्धधातुकस्यैङ्	३७५	६	आर्धधातुकस्येड्
,, ,,	३७६	१३	,, ,,
आर्धम्रातुकस्य	३८१	६	आर्धधातुकस्य
आर्धधातु के	४४१	१६	आर्धधातुके
ओलूखल:	३५३	७	औलूखल:
आश्रित्येतत्	३८२	३२	आश्रित्यैतत्
आसन	३७२	२०	आसन्
इकारचवर्गो	१२०	११	चवर्गौ
इक्श्तिपो	३८५	२६	० श्तियौ
इडित्यवर्तते	३८३	२६	इडित्यनुवर्तते
इडैव	३८१	२८	इडेव
,,	३८२	५	,,
,,	३८३	११	,,
इड्वधौ	२८६	१४	इड्विधौ
इणादि	३७६	३	इडादि
इतना	भू० १०	१८	इनका
"इतिमतुप्" प्रत्यय	४०३	२	"इति मतुप्" इस मतुप्प्रत्यय
इति वा पुन:	१७१	५	इति वा पुत्र:
इती	११६	२६	इति
इत्यसंज्ञोत्तर	१	२३	इत्संज्ञोत्तर
इत्येधृशेषो	१६३	२८	इत्येकशेषो
इत्येशेषो	१६५	१३	इत्येकशेषो
इद	३९	१६	इह
इनिम्नौ	२२७	१७	इनिठनौ
इनि नैतन्	२५४	२१	इनिनैतन्
इन्द्रयों	१४२	२५	इन्द्रियों
इन्द्रो	१६४	१	इन्द्रौ
इष्ठत्वात्	१७६	२३	इष्टत्वात्
इहारख्यातं	५२	२१	इहाख्यातुं
इहि हि दोष:	३९१	२६	इह हि दोष:
ईत्यादिषु	३७०	२३	इत्यादिषु
ईधि	३८६	४	ईधे
ईशौ	३९९	१८	ईशै ,,

ईषादादय:	३०७	७	ईषदादय:
उट्	२८८	५	इट्
उणादि	३२७ २६८	२६	उणादि ३२०
उतरादिभ्य:	३४१	५	डतरादिभ्य:
उत्कन्द:	भू० १५	२१, २२, २५	उत्कन्द:
,,	भू० १६	१	,,
उत्थानम्	भू० १६	४	उत्थानम्
उत्पन्न	२७०	११	उपपन्न
,,	३३६	२३	,,
उत्सर्गकृत	१०४	१	उत्सर्गकृतं
उदकौदञ्चन	४२८	२२	उदकोदञ्चन
उदङ्को जले	४२६	२३	उदङ्कोऽजले
उदङ्हलो:	१२१	१०	इदङ्हलो:
उदाहरण तो	भू० २७	२६-३०	उदाहरणभूत
उद्धोत	भू० २३	६	उद्द्योत
उधोतकार	३८२	३	उद्द्योतकार
उपधाया: विङति	३८५	६	० क्ङिति
,, ,,	३८७	१५	,, ,,
उपाग्निकमित्को	३४	२४	उपाग्निकमित्यको
उपाधाया	१११	८	उपधाया:
उलूखल:	३५३	७	उलूखले
उवर्णन्तित्वादुक्	३६१	३०	उवर्णान्तित्वाद्बुक्
एकदेशयुक्ति	३८३	१४	एकदेश्युक्ति
एकशष	१६८	१	एकशेष
एकत्वादैकवचनम्	१४८	१	एकत्वादेकवचनम्
एकाकिमि क्षुद्रके	३११	२६	एकाकिभि: क्षुद्रकै
एकागारिक	४३४	१६	ऐकागारिक
एवं शब्द	२३१	२८	एव शब्द:
ऐकत्व	१५६	११	एकत्व
ओदेनं	१६१	१५	ओदनं
औरचाद्यच:	२८७	२८	आरैचाद्यच:
और्गुण:	२४४	१६	ओर्गुण:
,,	३४४	१७	,,

औश्वैः	३५३	७	अश्वैः
औष्ट्क्	२५१	२१	औष्ट्रक
औष्ट्का	२५१	१९	औष्ट्रिका
औः सुपि	३९०	३	ओः सुपि
कण्ठोष्ठ	१२०	१३	कण्ठौष्ठ
कथं स्मृतिः[१]	१४३	८	० स्मृतिः[२]
कनिन्नताः	४१३	४	कनिन्नन्ताः
कन्धा	४२६	२१	कन्धा
करति	३२२	१२	धरति
करन	भू० २२	१	करने
कर ही	१६२	२२	का ही
कात्यायन का	भू० ३२	१९	० को
कादीनां	३५३	१६	घादीनां
कारकाह्निके	६५	२४	कारकाह्निक
कारण भी	१६३	६	कारण थी
कार्य	३४९	१९	कार्यं
कार्यसम्प्रत्ययौ	७	१०	० सम्प्रत्ययो
कितना ही	४४५	१०	कितनी ही
कित्वत्	३८५	४	किद्वत्
किद्धल्लिटि	३९३	२४	किद्वल्लिटि
किम्: कः	३१५	२६	किमः कः
किमशब्द प्रथमा	३१६	११	किम् शब्द के प्रथमा
किया जानेवाला था	२११	२०	…वाला है।
कुङ् शब्दै	३७८	३४	कुङ् शब्दे
कुम्म	३४२	१८	कुम्भ
कुष्णसारङ्ग	८८	१६	कृष्णसारङ्ग
कूरस्य	३३	११	क्रूरस्य
कृत एव	१८५	४	कुत एव
कृतभोरनुवर्ण	३९१	२४	कृतयोरनुवर्ण
कृतार्तत्वात्	२३७	१६	कृतार्थत्वात्
कृति	भू० १२	१८	कृतिः
कृत्तद्धित समासाः	२५५	२२	कृत्तद्धितसमासाः[६]
कृत्रिम	भू० १८	२५	कृत्रिमं

कृत्वा	३१६	७	क्त्वा
कृदधारा	२६८	१८	कृदाधारा
कृशा	१२७	१७	कृशाः
के चि ए	२६८	२६	के लिए
केऽणः	३६८	११	केऽणः
को भी	१७३	१२	का भी
कोशेयमिति	२४०	२६	कौशेयमिति
किङ्ति च	३८६	१६	क्ङिति च
क्ति	२८८	११	कित्
क्त्व	२८८	२०	कित्व
क्त्वौ	२८८	११	क्त्वा
क्रय	१७४	८	क्रम
क्रियादिम्यः	२१४	७	क्र्यादिभ्यः
क्रोष्टु	३२१	४	क्रोष्टृ
क्रोष्टुजो 'तच्'	३२१	२६	क्रोष्टृजो 'तृच्'
क्रोष्टे	३२५	१५	क्रोष्ट्रे
क्रोष्टृ	३२२	५	क्रोष्टृ
,,	३२४	६	,,
क्रौड्मादिषु	२२६	२६	क्रौड्यादिषु
श्विद्	२६२	२२	श्विदि
गया हो तो	४४३	२७	गया है जो
गार्ग्यो	१६२	५, ६	गार्ग्यौ
,,	१६३	७	,,
गुचु	२६७	२४	ग्रुचु
गुणो	३६३	१६	गुणो
गौः विशंतिः	४३१	३	गोविंशतिः
ग्रन्थित	१३६	१७	ग्रथित
ग्राह्य	भू० ६	६	गृह्य
घखौ	२३७	७	घखौ
घन्दसि	४१६	४	छन्दसि
घरूपकल्पचेलङ्	१०६	१३	० चेलट्
घिण्यतोः	२६६	१७	घिण्यतोः
,, ,,	४२७	१४	,,
घीङ	३७७	११	धीङ्

ङमि	२९२	११	ङसि
ङ्त विभक्तियाँ	२९३	२०	ङित् विभक्तियों
ङिस्	३८०	२५	ङित्
चतुर्थात्येव	१९७	१४	चतुर्थीत्येव
च न क्षेत्रे	३९४	२०	च नक्षत्रे
चाक्षुपादि	३५७	१६	चाक्षुषादि
चाचार्य	भू० ३१	१३	चाचार्यः
चात्रेकार	१	२६	चात्रेकारः
चामहत्त्वपूर्वा	३३८	२२	चामहत्पूर्वा
चेतद्	३०२	२१	चैतद्
चेवा	२७	२९	च वा
चैतद्विशेयम्	३८९	२८	चैतद्विज्ञेयम्
चैदं	३८२	२८	चेदं
चैदेव	१५७	१	चेदेव
छन्दसि वनिपौ	४१०		छन्दसीवनिपौ
छान्दस्	३८४	१८	छान्दस
छेपाङाड्याभाजालः	३९४	५	ट्टेयाडाड्यायाजालः
छैरंसों	२५७	७	छरसों
जरायौ	३२३	२६	जराया
जाए	४२६	१३	जाएगी
जागुषमिन्धे वा	३९०	२३	जाग्रुषमिन्धेर्न वा
जिह्वभूले भवं	२३८	१५	जिह्वामूले भवं
जे० सू०	४१	२६	जैः सू
जैसा हि	भू० १६	७-८	जैसा कि
ञ्नित्यादिनित्यम्	२३०	२२	ञ्नित्यादिर्नित्यम्
टिड्ढाणाम्	३३७	३	टिड्ढाणञ्
टिढन्त	३३६	१२	टिदन्त
ट्लज्	२५१	३	ट्लञ्
डित्त्वे	भू० २३	३	ङित्त्वे
ढञञ्	२४०	१३	ढञ्
त्तत्पुरुष	२६२	१४	तत्पुरुष
तत्तेड्ग्रहणं प्रत्याख्यान	३८३	२९	तत्रेड्ग्रहणप्रत्याख्यान
तदभिज्ञान	४४३	१५	तदभिज्ञान
तदाधनार्थं	११३	२६	तद्बाधनार्थं

तदैव	३२८	३०	तदेवं
तिक्ति	३१६	८	तिकिति
तीयी	२६२	६	तीय
ते काफी	भू० १०	३०	ने काफी
ते लादि	४२७	१२	तैलादि
त्यादादियो	१७६	१५	त्यदादियों
त्र्यण्याय	१५	१८	त्र्यन्याय
त्वत्कपितक	२२	२६	त्वत्कपितृक
थकार में जाता	भू० १५	२४	थकार हो जाता
दन्तु	३६	२०	इदन्तु
दम्मीनामगुणे	३६०	१५	दम्भीनामगुणे
दर्शनेचछ	५६	१०	दर्शनेच्छा
दा० महा० प्रकृत सूत्र[1]	३१६	२५	द० महा० भा० १ प्रकृतसूत्र
दातवै	१३२	२	दात् वै
दीङ	३७७	११	दीङ्
दीधीवेवाटाम्	३८०	१४	दीधीवेवीटाम्
दीर्घो	३६३	१	दीघो
दृष्टव्य	३८४	२६	द्रष्टव्य
देखनाथा	२०६	२५	देखता था
देखें, पृ० ५१८-२१	४४०	८	देखें, पृ० ४३६-३८
देवदत्या	२२१	१८	दैवदत्याः
देवयातूनामपत्यानि	३५४	१६	देवयानूनामपत्यानि
देशोऽग्रामः	२१७	२६	देशोऽग्रामाः
दोषम्	३२३	२५	दोषन्
द्वयात्	२५१	२६	द्रुवयात्
द्विकिपुत्रः	१७	१३	द्वकिपुत्रः
द्वचन्याय	१५	१८	द्व्यन्याय
द्वितीयामपि	१६७	१८	द्वितीयापि
द्वित्रचतुर	१००	३०	द्वित्रिचतुर
धम्	२०१	१	घञ्
धनभाक	१७४	२५	धनभाक्
धातुर्गह्यताम्	३७८	२४	धातुरेव गृह्यताम्
धात्वो	२०६	२२	धात्वर्थो
धिति	३००	२४	घिति

धीङ	३७७	७	धीङ्
धूत्रॄदितो	३९	२१	धूॄदितो
ध्येयम	६१	३०	ध्येयम्
नकार कालोप	१११	७	नकार का लोप[४]
न चामुगमः	४३२	१२	न चानुगमः
नञ्र्थापेक्ष	२६९	२	नञर्थापेक्ष
न द्विरद्ववय	२५१	२९	न द्विरद्रुवय
न द्विरद्ववय	२५१	२८	न द्विरद्रुवय
न पत्युरभावः	२६७	९	न पत्युर्भावः
न पुंसकपुंसकेन	१७९	१७-१८	नपुंसकमनपुंसकेन
नपुंसकलिङ्ग	१७७	९	नपुंसकलिङ्ग
न हो पर	१५१	४	न होने पर
नानार्थकस्य	३६९	६	नानर्थकस्य
'नाम' का	३६६	१७	'नाम्' का
नियसः कियम	३५५	२७	नियमः क्रियते
नियमन सूत्रों	३०५	१	नियम सूत्रों
,, ,,	३०६	१	,, ,,
,, ,,	३०७	१	,, ,,
निदाॅश्यमान	१२३	२९	निर्दिश्यमान
निवृत्तम	३८३	२७	निवृत्तम्
नुक्तसंशयेन	२३७	१७	मुक्तसंशयेन
नैति	भू० २२	२०	नेति
नैतिदस्ति	२६२	२४	नैतदस्ति
न्यथासिद्धि	९५	१९	अन्यथासिद्धि
न्याय	३१४	४	न्याय्य
न्यायेंन	४१५	१४	न्यायेन
पङ्गन्धवत्	४४२	५	पङ्गवन्धवत्
पञ्चविंशतिर्गणः	१४३	१	पञ्चविंशतिर्गणः[१]
पभरतद्	१२४	६	परमतद्
परितृटं	३७०	२५	परिहृतं
परोक्षाविद्वत्	३९३	२६	परोक्षा किद्वत्
पा०	१९३	२३	पा० २३, ६५
पा० ७, २४९	२७७	३०	पा० ७, २, ४९

पाठेस	२५१	२४	पाठेन
पा० पृ० ५६	३८१	३४	वही पृ० ५६
पाण्डुकम्बलिनो	२२७	३	पाण्डुकम्बलिनौ
पा० मं०	२४६	२८	पं० मं
पा० मं० सू०	३६१	३०	पं० मं० सू०
पारशेष	११८	३	परिशेष
पारि० सं	३७७	२८	परि० सं०
पाराद् घरवौ	३५०	८	पाराद् घखौ
पितृ	१३१	६	पित्
पिपठी	३८१	१८	पिपठी:
पिपठींषि	३८१	२३	पिपठींषि
पुनपुंसकतो	१८०	१	पुंनपुंसकतो
पुंयोगादाख्यायाम्	१४५	६	पुंयोगादाख्यायाम्
पुमान् स्त्रियां	१६३	१२	पुमान् स्त्रिया
पुलिङ्ग चास्मे	२०२	२२	परि लुङ चास्मे
पुक्ति	२८८	२१	पुवित:
पुक्तिवान्	२८८	२१	पुवितवान्
पुस्तकैष	भू० २३	१०	पुस्तकेषु
पूङ: क्त्वाच	२८८	१८	पूङ: क्त्वा च
पूङ क्लिशोवा	२९२	२१	पूङ् क्लिशो वा
पूछते है	भू० २६	२१	पूछते हैं[१]
पृष्टप्रतिवचनेइत्यशिष्यो	२०३	१५	वचनेत्यशिष्यो
पृ० ३६-४४	३३०	३०	पृ० १८-२३
पौत्रपमृति	१५७	८	पौत्रप्रभृति
पौपुव:	१०६	१०	पोपुव:
प्रक्तसूत्रस्य	३५०	१६	प्रक्त सूत्रस्थ
प्रक्ते सूत्र	२	२८	प्रक्त सूत्र
प्रतिपादित:	भू० ११	२८	प्रतिपादिता:
प्रतिसिद्ध	३२६	७	प्रतिषिद्ध
प्रतिषेध	३३७	१७	प्रतिषेध:
प्रत्यऽङ्गम्	३७०	४	प्रत्ययेऽङ्गम्
प्रत्याखान	१३६	१	प्रत्याख्यान
प्रत्याख्यात	भू० २८	२५	प्रत्याख्यायत
प्रत्याख्यानेस्यानौचित्य	३८३	२६	प्रत्याख्यानस्यानौचित्य

प्रत्ययानंमिह	३२४	३०	प्रत्ययानमिह
प्रथमानिर्दिष्ट	३४४	१५	प्रथमनिर्दिष्ट
प्रपञ्च एव	भू० ३१	४	प्रपञ्चश्च
प्रम्सारण	३७२	१२	सम्प्रसारण
प्रयत्याख्यान	१३७	१	प्रत्याख्यान
प्रयुक्तसूत्र	३८२	१४	प्रस्तुत सूत्र
प्रयोजन व्यापार	३३३	१४	प्रयोजक व्यापार
प्रवृत	३५४	३	प्रवृत्त
प्रवृति	३५५	३	प्रवृत्ति
प्रवृत्तिविमेश	भू० २५	१२	प्रवृत्ति विशेष
प्रसिद्ध अनुरोध	२७१	१५	प्रसिद्ध्यनुरोध
प्रस्नुत	३८४	६	प्रस्तुत
प्राग्धातोस्ते	३०७	२८	प्राग्धोस्ते
प्राप्त	१७	१३	प्राप्त
प्रार्थने	१९५	८	प्रार्थन
प्रावृषष्ठम्	२३३	२	प्रावृषष्ठप्
प्रै, परा	३०४	५	प्र, परा
प्रो० म०	१७६	२१	प्रौ० म०
प्लावमिष्यन्ति	२०९	२२	प्लावयिष्यन्ति
,,	२१०	१	,, ,,
बन जाता	३८६	९	बन जाता है।
बलिवत्वात	३७७	३१	वलवत्वात्
वहुवचनन्	१३८	१३	बहुवचनम्
बहुव्रीसि	१६	९	बहुव्रीहि
वहुव्रीहि ह्यर्थानि	१६	२५	बहुव्रीह्यर्थानि
बांध	२८०	२५	बाध
,,	२८१	११	,,
,,	२८३	५	,,
,,	२८४	१८	,,
,,	२८७	२	,,
,,	४२६	२	,,
बांधकर	१७३	२५	बाधकर
,,	२४६	२१	,,
,,	२४८	१२	,,
,,	३२९	६	,,

,,	३८६	१७	,,
,,	३८७	१	,,
,,	४१८	१५	,,
बांधता है	३५३	२१	बाधता है
बांधने	२७५	४	बाधने
बांध लेना	३९१	२	बाध लेना
बैलवस्यविकार:	२४९	१५	बैल्वस्य विकार:
ब्राह्मणो	१६२	१५,१८	ब्राह्मणौ
,,	१६३	८	,,
भग्राकर्ष	४२७	२६	भगाकर्ष
भवतौ	२९५	३	भक्तौ
भवितव्यम	२४८	२९	भवितव्यम्
भवो	१६४	१	भवौ
भा० यजु:	३८५	२८	मा० यजु:
भाष्यकार को	भू० ३१	१३	भाष्यकार का
भाष्यकार विभिन्न	४४२	१०	भाष्यकार ने विभिन्न
भिक्षो इति	४३५	१२	भिक्षो: इति
भूतानेङसिद्धि	३६२	४	भूतानङ्सिद्धि:
भूरिकृत्व	११	२४	भूरिकृत्व:
भ्रात्य च	१७२	९	भ्राता च भ्राता च
मरवेषु	४१३	१	मखेषु
मधोनेश्च	४१०	१७	मघोनश्च
मद्वृत्तौ	भू० ९	१७	यद्वृत्तौ
भनुष्या	भू० ६	२४	मनुष्या:
मन्दबुद्धि:	४४४	२०	मन्दबुद्धे:
भस्येति च	४१२	१४	यस्येति च
महत्व	४३२	१९	महत्त्व
महा० प्र० भा० २	९८	२२	महा० प्र० उ०भा० २
महा० भा० १ प्र० उ०	३८२	२७	महा० प्र० उ०भा० १
महा० भा० ३ सु०	३६५	३४	महा० भा० ३ सू०
महा० सू०	३२	२४	महा० प्र० सू०
महा० सू० सू०	२४९	२७	महा० प्र० सू०
माक्षा	१७६	२२	मात्रा
मातसै	१७५	१७	मातरौ
मीत्रार्थानां	४८	१७	भीत्रार्थानां

मुनित्रस्य	२२६	२३	मुनित्रयस्य
मृडो	१६४	२	मृडौ
में	भू० ३	६	वहीं ये
भौखर्या	२२२	४	मौखर्या
भ्र्ुवाम्	२८८	२३	भ्रुवाम्
पङ्लुकों:	३६३	१६	यङ्लुको:
यजयाव	३४७	१७	यजयाच
यञदित्व	३१५	१८	यञादित्व
यजिभोश्च	१५८	२४	यञञोश्च
यण	३१७	१६	यण्
यत्र	भू० २६	६	यत्र तत्र
यथोत्तरे	४०३	२६	यथोत्तरं
यदन्येत्	३८१	२६	यदन्यत्
यद्वत्तो	भू० ३३	१३	यद्वृत्तौ
यम्	१७६	२१	यद्
यल्लक्षणविशेष	१६१	५	तल्लक्षणविशेष
यवान्वाग्निहोत्रं	३६५	१७	यवाग्वाग्निहोत्रं
,, ,,	३६५	१६	,,
याण्	३७५	१५	यण्
याणिनि	३०७	१	पाणिनि
यातु:	१७४	२७	मातु:
युवोरनाको	३७६	१	युवोरनाकौ
ये: तादृशा:	३४६	१७	यै: तादृशा:
योगे[३]	भू० ३०	१	योगे
योपधाद्० वुत्र्	२६३	२	योपधाद् वुञ्[१]
रक्षार्थे	भू० १२	२२	रक्षार्थं
ारा	१५३	८	द्वारा
रिक्त: रिक्त:	१३२	७	रिक्त: रिक्त:
रुडो	१६३	२७	रुडौ
,,	१६५	११	,,
रूपो	२३५	१४	रूपों
रौरवीति	११०	१७	रोरवीति
लघूपधगुणस्यान्न	३७५	२४	लघूपधगुणस्यात्र

लङ्	२०६	१५	लड्
,,	२०७	२३	,,
लडादि	२१२	१८	लडादिः
लिङ्घ्य	४३०	११	विलङ्घ्य
लिङ्येत्वे	३६५	२५	लिङ्येत्वे
,,	३६६	२५	,,
लिटिधातोः	३१२	१३	लिटि धातोः
लिट् कित् सामान्य	३८५	६	लिट् कित् से सामान्य
लिट्भ्यासस्य	३६४	१७	लिट्यभ्यासस्य
लुड्	२०५	३	लुङ्
लुडादिषु	३६७	८	लुङादिषु
लृङ्यमाडाट्	२८७	२६	लृङ्यमाङाट्
लो भी	३७१	१५	लोप भी
व आदि	३५१	१५	घ आदि
वचनार्थक्यं	३४३	६	वचनानर्थक्यं
वणष्वनेते	६१	२८	वर्णष्वनेते
वदतो व्याधात	३८३	२१	वदतो व्याघात
वमाना	२०७	२६	वर्तमाना
वरुणो	१६४	१	वरुणौ
वर्णन के	२८५	१३	वर्ण के
वर्तमानंकालो	२०६	१३	वर्तमानकालो
वस्तुतस्त्वत्रयमिदं	३८२	३०	वस्तुतस्त्वत्रत्यमिदं
भू० वही०	२७७	२६	पू० पा० ७,२.४६
वाक्येनान्मत्र	१	२६	वाक्येनात्र
वाक्साने	भू० १६	२२	वावसाने
वाऽपात्	३४६	२६, ३०	वाऽद्यात्
वा भौ	२००	१५	वा यौ
वार्तकिकार	४४	११	वार्तिककार
विक्रमाय	१८५	५	विक्रयाय
विगृह्योः	१७४	२८	विग्रहयोः
विञ्	११०	१३	विच्
विधिग्रहणस्यनुवृत्त्यर्थं	३२०	१०	विधिग्रहणस्यानुवृत्त्यर्थं
विधीयमानस्थानो	२६५	२१	विधीयमानस्यानो
वियष	३६	२५	विषय

विवृत्ति	भू० ३	१३	विकृति
विंशति विंशतिर्गाविः	४३३	३०	विंशतिर्गवां विंशतिर्गावः
विशिष्टलिङ्ङ्गे	२१७	२६	विशिष्टलिङ्गो
विश्राण्यतामुपङ्क्ते	१६०	२०	विश्राण्यतामुपभुङ्क्ते
विश्वेश्वरसुटि	१७३	२८	विश्वेश्वर सूरि
विषय प्रवेश	३३०	२६	भूमिका
वुक्न	३६१	२६	वुक् न
वुञ्ति	२५१	१७	वुञिति
बृतज्ञ	भू० ६	७	वृत्तज्ञ
वृतिकार	३०२	७	वृत्तिकार
वृत्रिभादित्य	२५१	२२	वृत्तिमाश्रित्य
वृतिर्वर्तते	२७८	६	वृत्तिर्वर्तते
वृद्धिबाधते	३८६	५	वृद्धि बाधते
वेञ्ः	२००	३	वेञः
वेम्	३६६	६	वेञ्
वैम्	३७७		,,
बैरपृक्तस्य	११०	२६	वेरपृक्तस्य
वैवी	३७७	६	वेवी
,,	३७८	२७	,,
वोरुपधाया	३८१	१८	र्वोरुपधाया
व्यक्तेः संज्ञोप	४३	२२	व्यक्तिः संज्ञोप
व्यवस्थित विषय	३२५	३	व्यवस्थितविषयः
व्याकरण का तन्त्र	३६०	१५	व्याकरण कातन्त्र
व्याख्या ननं	भू० ४	२५	व्याख्यानं
व्यापतां	भू० ३	२३	व्याप्ततां
व्यास	३६१	२०	न्यास
व्यूढारस्केन	३१६	२१	व्यूढोरस्केन
व्रश्च ब्रश्च	३६४	२१	वृश्च व्रश्च
शतं ब्राह्मणाम्	४३०	१७	शतं ब्राह्मणानाम्
श० भा०	१२४	२७	श० कौ० भा०
शम्पाष्टलञ्	२४४	८	शम्याष्ट लञ्
शर्वो	१६४	१	शर्वौ
,,	१६५	१५	,,
शवनोति	३५८	२	शक्नोति
शा० कौ	२६१	२७	श० कौ०

,,	३३४	२५	,,
,,	३७८	३३	,,
,,	३७९	३२	,,
,,	३९२	२६	,,
,,	३९६	२२	,,
शा० सू० १,२,१३१,१३२, १३१	३२५	१५	शा० सू० १.२,१३१, १३२, १३३
शास्य	३०९	१९	सास्य
शाहो	३७१	२१	शा हौ
शुक्लंश्चशुक्लंच	१७६	८	शुक्लश्च शुक्लाच शुक्लंच
श्तिपूनिर्देश	३९१	३	श्तिप्निर्देश
श्रुयमाण	१५२	२१	श्रूयमाण
श्रे: सम्प्रसारणम्	२९२	८	त्रे: सम्प्रसारणम्
श्रयुक: किति	२८८	६	श्र्युक: किति[२]
श्वनुक्षन्	४१२	४	श्वन्नुक्षन्
श्वास्मलंकार	२३३	२५	श्वास्यलंकार
षित्	२४९	१८	ञित्
ष्वादीनां	१३०	६	प्वादीनां
सू०	भू० ९	२१	सं०
संज्ञापित:	२७७	२४	संज्ञपित:
संज्ञायोरेनुर्वतिष्यते	३३५	२३	संज्ञयोरनुर्वतिष्यते
संड्ग्रहणेन	२७८	४	सेड्ग्रहणेन
सत्रों	भू० ९	६	सूत्रों
संयुतिक	३२५	८	संयुक्तिक
संसर्गेऽति	२५५	९	संसर्गेऽस्ति
संसृष्ठे[६]	२५५	२०	संसृष्टे
सकता है।	भू० १९	४	चुकने पर
स० क्रोष्टुर् सू०	३२५	१६	'क्रोष्टुर्' स० सू०
सगत	२०८	२१	संगत
स च यश्च र्तम	१८१	१६	स च यश्च तौ
सत्र	२८८	२	सूत्र
श्तवीं	भू० ६	१८	२०वीं
सप्तत्यशीत	४२९	११	सप्तत्यशीति
सब शक्ति	४३१	७	सव शब्दशक्ति
समयाय स्वास्थ	३५०	१७	समवाय एवास्य
समाससोऽभिधीयते	१५	३०	समास: सोऽभिधीयते

समें शेर्धनवा	१००	१८	समेंऽशेऽर्धेन वा
स विधि	४३०	२१	स बिधिः
सहपुक्ते प्रधाने	१८८	१९	सहयुक्तेऽप्रधाने
सहोपमुङ्क्ते	१९०	१८	सहोपभुङ्क्ते
सागहचयति	१४५	११	साहचर्यात्
सान्द्य	भू० १५	४	साम्य
सापेक	२६९	६	सापेक्ष
सापेक्षत समर्थ	३४५	९	सापेक्षमसमर्थं
सार्थवयं	३६२	४	सार्थक्यं
सा० सू०	२९६	२६	स० सू०
सित्व	२८८	२३	कित्व
सिद्धि	२६०	१५	सिद्ध
सिद्धी	३१	१४	सिद्धि
सुपर्याप्तेश्चैव	भू० २३	४	सुपर्याप्तश्चैव
सूत्र	२७४	२७	सूत्रे
सूत्रकमः	भू० १६	२३	सूत्रक्रमः
सूत्रयमपि	३२५	४	सूत्रत्रयमपि
सूत्रवृतो यत्नः	४४५	३	सूत्रकृतोयत्नः
सूत्र से आने	२१५	१	सूत्र से आगे आने
सूत्रार्थवयमपि	भू० ११	३०	सूत्रार्थद्वयमपि
सूत्राश्च	४१८	३	सूताश्च
से	१५९	१२	जैसे
से आदेश	२९३	२४	से स्मै आदेश
से परे	३६६	२२	से परे
से सूत्र	९९	२०	सूत्र से
सैन्धवसप्तमः	४१३	९	सैन्धवसप्तयः
सोच	२२७	५	सौ च
सोत्थिति	३४९	२७	सौत्थिति
स्त्रीप्रत्य	३३९	१	स्त्री प्रत्यय
स्त्रीप्रययें	३४३	६	स्त्रीप्रत्यये
स्थानीय	३१५	११	स्थानी
स्थानीवत्	१०५	६	स्थानिवत्
स्थापन	१७	१६	स्थापना
"स्पष्टप्रतिपत्यर्थपूङश्च	२८९	१७	स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं "पूङश्च"
स्मे च नीयात्	२९६	२७-२८	स्मै चनीयात्

स्याङ्डश्वश्च	२९२	१६	स्याड् ह्रस्वश्च
स्रघ्न	२३७	३	स्रुघ्न
स्रघ्ने	,,	१	स्रुघ्ने
स्वत प्राप्त	२४६	२	स्वतः प्राप्त
स्वरादिति	२६	१	स्वरादिगणपठित
हकार ज के	१२७	३	हकार के
हल	३६६	५	हलः
हाल ट सैरः	३५२	६	हालः, सैरः
हुआ है कि	१३६	७	हुआ है।
हे० सू०	१६८	२६	है० सू०
,,	१७६	३०	,,
हैं	भू० १०	१५	हैं
,,	भू० ११	१२	,,
,,	भू० २७	३०	,,
,,	भू० ३१	१,७	,,
,,	३६०	१	,,
हैं	भू० ४	१६	हैं
हो तो तो	३७७	२२	होता तो
होने के	२८१	१०	होने से
ल्यप्रमेनार्था	३४५	२७	ह्यप्रथमेनार्था
ह्ययसमर्थानाम्	१२७	२६	ह्यसमर्थानाम्
Admireor	भू० ३२	२७	Admirer or
Appcent	भू० १६	१५	Apparent
Aṣtādhyāye	३६	२६	Aṣṭādyāyā
Citigue	११६	२६	critique
Crtique	३६	२६	critique
he phrased p. २.३.	३६८	२८-२६	he phrased P. २.३.३
lips	भू० १६	२८	like
poon	११६	२६	Poona
This	६१	१६	his

